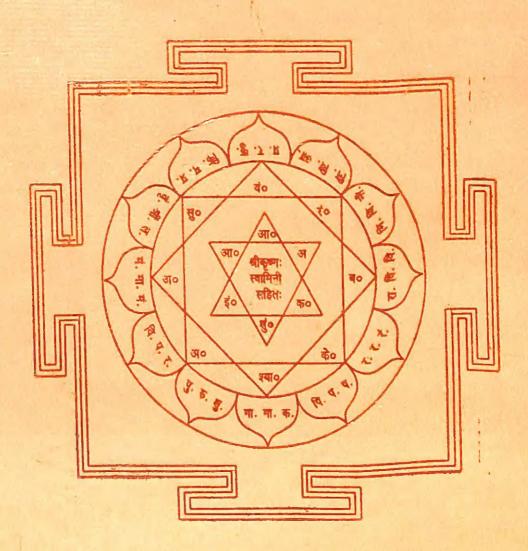
विट्टनदास संस्कृत सोरीज ५

नार**द**पाञ्चराश्रान्तगंतम्

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्

'सरला' हिन्दी व्याख्योपेतम्

सम्पादकः व्याख्याकारक्च डाँ० सुधाकर मालवीपः



कृष्णदासं अकादमी, वाराणसी

4

श्री सा है श्व र त ल्ल

T.



बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज ५

अपौरुषेयम् नारदपाञ्चरात्रान्तर्गतम्

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्

श्रीसुमङ्गलया पराशक्त्याविर्भावितं श्रीशिवेनोमाया उपदिष्टं ब्रह्मरहस्यात्मकम् 'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

. सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्यः संस्कृत विभाग, कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - 9

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५४

© कृष्णदास अकादमी

पो० बा० नं० १११८ कें ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी - २२१००१ (भारत) फोन : ३३५०२०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस

के० ३७/६६, गोपाल मन्दिर लेन गोलघर (मैदागिन) के पास पोस्ट बाक्स १००८, वाराणसी - २२१००१ (भारत)

फोन : आफिस : ३३३४५८

आवास : ३३४०३२, ३३५०२०

BITTHALADAS SANSKRIT SERIES 5

Narad Pāñcarātrāntaragatama

ŚRĪMĀHEŚVARATANTRAM

With 'Saralā' Hindi Commentary

Edited & Translated by DR. SUDHĀKAR MĀLAVĪYA

M.A., Ph. D., Sāhityācārya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University
Varanasi – 5



KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI – 221001 1997

© Krishnadas Academy

Oriental Publishers and Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221001 (INDIA)

Phone: 335020

MARIESVARATANTHAM

First Edition 1997

W. Ph. D. Sandyald

Also can be had from:

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)

Phone: Office: 333458

Res.: 334032, 335020

भूमिका

तन्त्र शब्द एक विशेष शास्त्र या दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक समझा जाता है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न देवी—देवताओं की रहस्यात्मक एवं अभिचार प्रधान पूजा पद्धति तथा तत्सम्बन्धी दार्शनिक मत एवं ग्रन्थों का बोध होता है । आधुनिक काल में वस्तुतः यही 'तन्त्र शब्द' का विशेष एवं लोकप्रिय प्रयोग साहित्य जगत् में दिखाई पड़ता है । इस रूप में तन्त्र एक अत्यन्त व्यापक शास्त्र के रूप में लिया जाता है । जिसमें शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर तथा बौद्ध, जैन आदि सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत या प्रचलित विशेष तान्त्रिक पूजा पद्धति और विचारधारा का समावेश होता है ।

इस प्रकार तन्त्र विद्या का अन्य अनेक शास्त्रों के दृष्टिकोणों से नितान्त स्वतन्त्र एक विशेष और रहस्यात्मक दृष्टिकोण हैं, जिसे संक्षिप्त परिभाषा के रूप में व्यक्त करना या समझ सकना सम्भव नहीं हैं । कुछ विद्वानों ने तन्त्र की परम्परा को अवैदिक माना है । कुछ आचार्य तन्त्र से तात्पर्य मात्र 'शाक्त—पूजा पद्धति' से लेते हैं । कुछ विद्वानों ने और आगे बढ़कर तन्त्र की उत्पत्ति अभारतीय धर्मों अथवा मान्यताओं से बताई है । किन्तु इस प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण केवल सीमित रूप में ही उचित हो सकते हैं ।

वस्तुतः तान्त्रिक मान्यता, विचारधारा और उसकी व्यावहारिक पूजा—पद्धति एक अत्यन्त प्राचीन सनातन परम्परा के रूप में भारतीय धर्म में दिखाई देती है। किन्तु उसका भारतीय विचार—धारा से कोई मूलभूत भेद नहीं है। वह उसी का एक अनिवार्य भाग है, क्योंकि समान रूप से शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर तथा बौद्ध, जैन, आदि सभी सम्प्रदायों में तन्त्र का समावेश और उन उन मत की एक विशेष दार्शनिक एवं व्यावहारिक तान्त्रिक पूजा—पद्धति के रूप में दिखाई देती है।

तन्त्रों की रहस्यात्मकता

तन्त्र का ज्ञान और व्यवहार पक्ष सदैव रहस्यात्मक तथा गुह्य माना गया है। तान्त्रिक ग्रन्थों की शब्दावली और उनकी दार्शनिक परिभाषाएँ प्रायः गूढ़ हैं। यह शब्दावली नितान्त रूप से प्रतीकात्मक तथा सूत्रात्मक है। इनका पूरा रहस्य तन्त्र विद्या के ज्ञाता या सिद्ध साधक ही समझ सकते हैं। वस्तुतः 'तान्त्रिक—विद्या' की यह मुख्य मान्यता है कि 'तान्त्रिक—विद्या' का ज्ञान आन्तरिक अनुभव की वस्तु है और उसे शब्द अथवा अन्य बाह्य साधनों से व्यक्त करना सम्भव नहीं है। इसीलिए तन्त्रों की भाषा नितान्त सांकेतिक एवं परम्परा से प्राप्त पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक है।

तन्त्र और आगम

'तन्त्र' शब्द 'तित्र' धातु से बना है जिसका अर्थ है— धारणा अर्थात् ज्ञान ! पिहुला मत के अनुसार जिसके द्वारा चारों ओर की वस्तुओं को जाना जाय वह (ज्ञान) अगम है और जो फैलाता है अर्थात् ज्ञान का विस्तार करता है और सदैव दैवी एवं भौतिक आपदाओं से रक्षा करता है वह तन्त्र है ! विश्वसार तन्त्र में दी गई परिभाषा के अनुसार जो इसमें है वह और जगह भी हो सकता है । किन्तु जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है । वस्तुतः इससे तात्पर्य यह है कि समस्त विश्व के प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभवों का सार तन्त्र मार्ग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । अन्ततः इसमें आपदाओं से मुक्ति के सभी प्रकार के उपाय एवं साधन प्रयुक्त होते हैं । शैव सिद्धान्त के कामिकागम में तन्त्र की परिभाषा इस प्रकार हैं —

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् । त्राणाच्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

"यह इसलिए तन्त्र कहलाता है क्योंकि यह उन महान् अर्थों का विस्तार करता है जो (आध्यात्मिक) तत्त्व एवं मन्त्रों से युक्त हैं और इस प्रकार तन्त्र (विपदाओं) से हमारी रक्षा करता है।"

तन्त्रों की विषय वस्तु

वाराही तन्त्र के अनुसार १, सृष्टि २, प्रलय ३, देवताओं की पूजा ४, सभी प्रकार की साधना अथवा सिद्धि, ५, पुरश्चरण, ६, षट्कर्म—साधन ७, तथा चार प्रकार का ध्यान—योग—इन सात लक्षणों से युक्त 'आगम' अर्थात् तन्त्र को विद्वान् लोग जानते हैं —

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् । साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥ षट्कर्मसाधनं चैव सर्वेषां ध्यानयोगाश्चतुर्विधाः । सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ॥

इस प्रकार तन्त्रों की परम्परा में व्यवहार या क्रियापक्ष ही प्रधान तथ्य है । (१) ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और उनके (२) प्रलय से सम्बन्धित सिद्धान्त सृष्टि एवं प्रलय

तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः ।। (पिङ्गलामत तन्त्र)

१. 'तत्रीति' धातोरिह धारणार्क्षात्' ।
 (ईशानशिवगुरुदेव पद्धति', त्रिवेन्द्रम. सं, सी०, भाग ३ पृ० २८) ।
 २. आज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यत इत्यागमो मतः ।

के अन्तर्गत आते हैं । (३) देवी-देवताओं की उपासना एवं उनके व्यापक स्वरूप का चिन्तन देवार्चन के अन्तर्गत आता है । देवार्चन के पाँच प्रमुख अंग हैं - १. पटल, २. पद्धति, ३. कवच, ४. सहस्रनाम तथा ५. स्तोत्र । (४) तन्त्रों में सभी प्रकार की साधनाओं का वर्णन है जो विभिन्न शारीरिक तथा आध्यात्मिक रिद्धियों की प्राप्ति के उपाय हैं । तान्त्रिक साधना में इन सिद्धियों का सर्वोपरि महत्त्व है । (५) पुरश्चरण से अभिप्राय है – तान्त्रिक-साधना का व्यवस्थित विधान, जिनके माध्यम से साधक विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करता है । इन्हीं के अन्तर्गत मारण, मोहन एवं उच्चाटन आदि विविध प्रकार की प्रक्रियाएँ है जो विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। (६) षट्कर्म का अर्थ है - १. मारण, २. मोहन, ३. उच्चाटन, ४. कीलन, ५. विद्वेषण, और ६. वशीकरण । इन्हीं के लिए मन्त्रों का निर्देश षट्कर्म है और उसका क्रिया पक्ष 'पुरश्चरण' है । (७) ध्यान-योग के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के ध्यान एवं चर्या का वर्णन आता है । तन्त्र विद्या का आधारभूत रिद्धान्त शरीर-साधना' है जिसके कारण योग शास्त्र तन्त्र का अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है । इसके अन्तर्गत समस्त शारीरिक शक्तियों का संयमन होता है । इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन का केन्द्रीकरण ही योग एवं ध्यान की पद्धति है । इस प्रकार तान्त्रिक-सःधना के लिए प्रधान रूप से मन्त्र, यन्त्र, योग, ध्यान, समाधि ही सिद्धि प्राप्ति की आधारभित्ति है ।

मन्त्र – 'मन्त्र' वस्तुतः तन्त्र-पूजा-पद्धित का प्राण हैं । 'शब्द ब्रह्म' माना गया है । अतः वर्ण-माला के पचास अक्षर अथवा इक्यावन अक्षर ब्रह्माण्ड की प्रमुख शित्तयों के मूल माने जाते हैं । प्रत्येक अक्षर बीज-मन्त्र हैं जो शक्ति की विभिन्न आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का रूप हैं । तन्त्र के अनुसार 'अ' से लेकर 'इा' तक के अक्षर वर्ण मानृका' बनाते हैं जो साक्षात् शक्ति के स्रोत हैं और यही बीज-मन्त्रों के मूल हैं । इन्हीं से तान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुसार बने मन्त्र प्रत्यक्ष ऊर्जा का रूप धारण कर अद्भुत आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण होते हैं । वस्तुतः शब्द ब्रह्म होने से मन्त्र साधन से उत्पन्न 'स्फोट' द्वारा शक्ति की अत्यन्त सूक्ष्म तरङ्गे या कम्पन नाड़ियों में क्रियाशील होती हैं जो साधक को उसके लक्ष्य की ओर ले जाते हैं । शारदातिलक के अनुसार जिसके द्वारा विश्व विज्ञान का मनन, अनुभव, तथा सांसारिक बन्धन से त्राण प्राप्त होता है वह सिद्ध मन्त्र है –

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात् । यतः करोति संसिद्धो 'मन्त्र' इत्युच्यते ततः ॥ (शारदातिलकतन्त्रम्, पृ० १२६)

सात्वत और पाञ्चरात्र मत

वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख सात्वत धर्म के रूप में महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय अन्तरध्याय में और भीष्मपर्व के विष्णोपाख्यान में पाया जाता है। यहाँ कहा गया है कि इसका सर्वप्रथम उपदेश कृष्णवासुदेव ने कुरू—पाण्डव युद्ध के पूर्व अर्जुन के प्रति किया था। श्रीमद्भागवत के सात्वतधर्म को "भागवत—धर्म" कहा गया है। भागवत धर्म का उपदेश स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के प्रति किया था। ब्रह्मा ने नारद के प्रति और नारद ने व्यास के प्रति।

भागवत धर्म के इतिहास में पाञ्चरात्र मत का विशेष महत्त्वे है । जिसका प्रादुर्भाव भण्डारकर के मत से ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ और राय चौधरी के मत से ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में हुआ ।⁸

पाञ्चरात्र साहित्य पाञ्चरात्र आगम के नाम से पुकारा जाता था, जिसके अन्तर्गत १०८ संहिताएँ थीं । भागवतगण इन्हें वेदों से भी अधिक ऊँचा स्थान देते थे, क्योंकि इनमें वासुदेव या नारायण के उपदेश थे जो उन्होंने समय समय पर शाण्डिल्य प्रहलाद और सुग्रीवादि को दिए थे । इन उपदेशों को ही शाण्डिल्य और नारद ने अपने भक्ति सूत्रों में ग्रन्थित किया था ।

वहाँ भगवान् नारद जी स्वयं श्रीभगवान् के ही कहे हुए सांख्य और योगशास्त्र के सहित 'भगवद् महिमा' को प्रगट करने वाले 'पाञ्चरात्रदर्शन' का साविर्णि मनु को उपदेश करने के लिए भारतवर्ष की वर्णाश्रमावलम्बिनी प्रजा के सहित अत्यन्त भक्तिभाव से भगवान् श्री नर—नारायण की उपासना करते और इस मन्त्र का जप करते तथा स्तोत्र को गाकर स्तुति करते हैं ' — 'ओम् नमो भगवते नरनारायणाय नमो नम इति' ।

> तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैकर्म्यं कर्मणां यतः ॥

> > (भाग० १. ३. ८)

कुछ विद्वानों का मत है कि वासुदेव और कृष्ण भिन्न—भिन्न व्यक्ति थे ।

२. भाग ० २. ६. ४२-४३।

^{3.} भण्डारकर - Vaisnavism, Saivism and Mind Religious p. 39.

^{8.} Hemachandra Raychaudhauri: The Early History of Vaisnava Sect. p. 176.

५. सावर्णि मनु को नारद ने पञ्चरात्रागमतन्त्र का उपदेश किया था — तं भगवात्रारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत् प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति ।। (भा० ५. १६. १०)

'ऋषियों की सृष्टि में उन्होंने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्र का (जिसे 'नारद—पाञ्चरात्र' कहते हैं) उपदेश किया; उसमें कर्मों के द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है ।

स्यात्रस्तवाङ्घिरशुभाशयधूमकेतुः

क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।

यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्गि-

र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥

(भाग० ११. ६. १०)

मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने प्रेम से पिघले हुए हृदय के द्वारा जिन्हें लिये—लिये फिरते हैं, पाञ्चरात्र विधि से उपासना करने वाले भक्त जन समान ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध — इस चतुर्व्यूह के रूप में जिनका पूजन करते हैं और — जितेन्द्रिय धीर पुरुष स्वर्गलोक का अतिक्रमण करके भगवद्धाम की प्राप्ति के लिए तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, वे हमारे पाप ताप को नष्ट कर दें।

माहेश्वर तन्त्र और उसका प्रयोजन

माहेश्वर तन्त्र श्रीशङ्करोक्त चौसठ तन्त्रों ⁹ में परमार्थ का प्रकाशक है और यह जीवमात्र के लिए परमोपयोगी है । यह तथ्य स्वयं माहेश्वर तन्त्र के छब्बीसवें पटल में कहा गया है ।² क्योंकि समाधि की अवस्था में यह तन्त्र ईश्वर के द्वारा प्रोक्त है, अतः यह **माहेश्वर तन्त्र** के नाम से प्रख्यात हुआ।³

माहेश्वर तन्त्र में परमार्थ का प्रतिपादन इस प्रकार बतलाया गया है — वस्तुतः वही ज्ञान विज्ञान है जिससे आत्मा का साक्षात्कार हो जाए । वह स्फुट रूप से भासित होने लगे । वह आत्मा नित्य मोहरूप अज्ञान से आवृत होती है । वस्तुतः तभी तक संसार का भाव साधक में होता है जब तक उसकी आत्मा अज्ञान से आवृत रहती है और तभी तक मोह और भ्रम एवं तभी तक भय भी रहता है । जभी तत्वज्ञान का उदय साधक में हो जाता है तभी न यह लोक होता है और न तो किसी प्रकार की कल्पना ही उसमें होती है । साधक आत्मसाक्षात्कार होने पर अपने में ही समाहित हो जाता

 ⁽क) त्वया प्रोक्तानि तन्त्राणि चतुःषष्टिमितानि भोः । १.१५, पृ० २,

⁽ख) चतुःषष्टीनि तन्त्राणि मयैवोक्तानि पार्वति...... २६, ११, पृ० २४४ ।

२. प्रबोधसाधनीभूतं...अन्यथेश्वरविज्ञानात्नान्यवेतत्प्रयोजनम् । २६.१५, पृ० २४५ ।

३. (क) समाधावीश्वरेणोक्तम् २६.१०। पृ० २४४ ।

⁽ख)समाधौ यच्छुतं मया । २६.१४ । पृ० २४५ू ।

है । उस समय वह साधक सुख के साक्षात् समुद्र में रहता है । क्योंकि आत्मा ही साक्षात् अक्षर ब्रह्म है । वही एक शेष रहती है । वही शिव, विष्णु और इन्द्र भी है । इस आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया माहेश्वर तन्त्र के चालिस से लेकर पैंतालिस तक के अध्यायों में विशेष रूप से उल्लिखित है ।

माहेश्वर तन्त्रः ५१ पटलों एवं ३०६० श्लोकों में निबद्ध है जो इदं प्रथमतया चौ० सं० सी० से १६४० में प्रकाशित है । इसमें ६४ तन्त्रों का उल्लेख है और पच्चीस वैष्णव तन्त्रों के नाम भी आये हैं (२६. १६–२०) । इसमें ऐसा मत प्रकाशित है कि बौद्ध तन्त्र भ्रामक है और क्रूर कर्मों के लिए हैं (२६. २१–२२) । इस सम्बन्ध में एक कथा छब्बीसवें पटल में इस प्रकार कही गई है –

भगवान् शङ्कर पार्वती से कहते हैं कि — एक बार एकान्त स्थान में चिन्तन करते हुए, हे प्रिये ! मुझे मन में वितर्क हुआ कि मैं ही संसार का स्वामी हूँ या मुझसे अन्य भी कोई है ? हे देवि ! ऐसा सोचते हुए मैं समाधिस्थ हो गया और उस समाधिस्थ अवस्था में पाँच हजार युग बीत गए । हे देवेशि ! उस समाधि में मैंने ईश्वर के वचन सुने और उसे सुनकर मेरा हृदय निर्विकल्प हो गया । तभी से एकान्त में रहकर मैं इनकी लीला का ध्यान निर्विकल्प चित्त से किया करता हूँ । समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर ने मुझे इस (माहेश्वर) तन्त्र को कहा था । अतः यह 'माहेश्वर तन्त्र' (अर्थात् माहेश्वर प्रोक्त तन्त्र) के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ । हे पार्वति ! मेरे द्वारा चौसठ तन्त्र कहे गए हैं, जिनमें मारण, मोहन एवं उच्चाटन तथा वशीकरण की प्रक्रिया वर्णित है । ये ६४ तन्त्र सद्यः विश्वास के योग्य तथा नाना मन्त्रों से युक्त हैं । इस प्रकार इन्द्रजाल आदि कलाओं से लोक को मोहित कर लेने वाली यह विद्या है । किन्तु, हे सुरेश्वरि उसमें कोई परमार्थ नहीं है माया में पड़े हुए जीवों के लिए उन तन्त्रों में मात्र मायावी—विद्या का ही वर्णन है ।

यह माहेश्वर तन्त्र, जिसे मैंने समाधि में सुना था, मेरा यही मत है कि यह ब्रह्मज्ञान के प्रिय जिज्ञासुओं (के तत्त्व ज्ञान) के प्रबोध का साधनीभूत है । इस माहेश्वर तन्त्र का ईश्वर के तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं है । 'पञ्चरात्र' नाम से विख्यात अन्य भी विष्णु प्रोक्त वैष्णव तन्त्र हैं, जो हे देवेशि ! संख्या में कुल पच्चीस हैं उनमें प्रथम हयशीर्षतन्त्र है, दूसरा समोहन तन्त्र' है ३. वैभव, ४. पौष्करतन्त्र, ५. प्रह्लाद, ६. गार्ग्य, ७. गालव, ८. नारदीय, ६. श्रीप्रश्न, १०. शाण्डिल्य, ११. ऐश्वरतन्त्र, १२. सत्योक्त, १३. शौनक, १४. विसष्ठतन्त्र, १५. ज्ञानसागर, १६. स्वायम्भुव, १७. कापिल, १८. तार्क्य, १६. नारायणीय, २०. आत्रेय, २१. नारसिंह, २२. आनन्द, २३. आरुण, २४. वैहायस, २५. विश्वोक्त ज्ञान (तन्त्र) है ।

इस प्रकार हे सुन्दिर ये पच्चीस वैष्णव—तन्त्र वेदमार्ग से अत्यन्त स्खलित मनुष्यों के लिए कहे गए हैं, क्योंकि— 'पाञ्चरात्र' आदि के मार्ग समय पर ही उपकारक होते हैं । फिर हे देवेशि ! बहुत से बौद्धतन्त्र भी हैं वे सभी बुद्ध रूप में विष्णु—प्रोक्त ही हैं । किन्तु उसमें भी धर्म (= आचार) का लेश मात्र भी नहीं है । वह तो मात्र दुरात्माओं के संमोहन के लिए ही हैं । फिर इन मार्गों पर चलने वाले साधकों को अन्त में नरक ही प्राप्त होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है । पार्वती ने कहा — सत्त्वमूर्ति, देवों के देव भगवान् विष्णु ने दयावान् होकर भी क्यों यह लोक के प्रतारण का कार्य किया ? फिर हे देव ! निर्दोष पुरुष में कभी भी असत्य नहीं देखा जाता है । मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए, हे सर्वज्ञ ! बस इतना बताइए कि हिर के द्वारा रचित इस मोहशास्त्र (= तन्त्र) का किसने प्रयोग किया है ?

भगवान् शंकर ने कहा — हे देवि ! सुनो । इस मोह कल्पना का कारण मैं कहता हूँ । एक बार भगवान् विष्णु और ब्रह्मा स्वाभिमान में अपने को बड़ा कहते हुए झगड़ पड़े । नित्य एक दूसरे से यह कहते हुए पूर्ण रूप से मानी हो विवाद करने लग गएं कि 'मैं ब्रह्मा हूँ, आप नहीं' । हे देवि ! वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर क्रोधाभिभूत होकर शाप देने लगे । ब्रह्मा ने कहा — क्योंकि आप हमारी अवज्ञा करके अपने को बहुत मानते हैं, इसलिए आप लोकों में निसन्देह रूप से पूजनीय नहीं होंगे । इस प्रकार के दारुण शाप को सुनकर मधुसूदन ने भी क्रुद्ध होकर शाप दिया कि आप भी लोकों में पूज्य न होंगे । होनी के कारण एक दूसरे को शाप देकर दोनों ही मोहग्रस्त हो गए । तब दोनों ही म्लान मुख होकर मेरे शरण में आए । तब हे देवि ! उन दोनों के शाप की मैंने व्यवस्था दी और ब्रह्मा से जो मैंने कहा, उसे मैं कहता हूँ, सुनो —

हे ब्रह्मन् ! विष्णु का वाक्य कभी भी अन्यथा नहीं होता । इसलिए आप लोकों, में पञ्चायतन की पूजा में निश्चित ही अपूज्य होंगे और यद्यपि मात्र विष्णु की पूजा में यह शाप बाधक है । इसलिए आप, हे हरि, शाप के लिए एक अलग रूप का विग्रह धारण करिए । उसी एक में ब्रह्मा का शाप होगा । सभी सत्त्वमूर्ति में शाप नहीं होगा।

इस प्रकार मेरे कहने पर दोनों अपने अपने निवास पर चले गए । हे देवि ! इसी अन्तराल में देवों और असुरों में महान् संग्राम हुआ । उस संग्राम में देवों ने अन्य असुरों को जीत लिया । जय के उपाय को खोजते हुए उन असुरों ने महान् तप किया । उनके तप में विघ्न डालने के लिए विष्णु ने तब बौद्ध—विग्रह धारण किया । उसी बौद्ध रूप में बौद्ध तन्त्रों का निर्माण करके उन्होंने दैत्यों को दिखाया ।

उन्होंने वेदविपरीत उपदेश दैत्यों को देते हुए कहा कि शरीर से अन्य और कहीं भी आत्मा नहीं रहता । अतः मरण के बाद मुक्ति का प्रश्न ही क्या हैं ? न तो {स्वर्ग लोक में} देवता हैं, न {पितृलोक में} पितर ही हैं । यह सब तो वेद की झूठी कल्पना है । वेद तो यहाँ ब्राह्मण लोगों के द्वारा अपनी वृत्ति (= आजीविका) चलाने के लिए कल्पना—प्रसूत हैं । अतः बिना प्रमाण के इस {वेद} को असुरों को नहीं

धारण करना चाहिए । इस प्रकार के नैरात्म्यवाद (= आत्मा की सत्ता न मानने वाले) प्रधान तन्त्रों में दैत्यों की बुद्धि को विष्णु ने मोह में डाल दिया । इस प्रकार भगवान् बुद्ध की माया से आहत बुद्धि वाले असुर मोहग्रस्त हो गए । तभी से हिर का वह बुद्ध रूप [वेद मार्ग के साधक के लिए] अपूज्य हो गया । हे परमेश्विर ! इसीलिए बुद्ध के उपदेश [वैदिकों के लिए] अग्राह्य हैं और इसीलिए उक्त बौद्धतन्त्र नास्तिक हैं। अतः हे देवि! धर्म या अधर्म का विचार करने वाले विद्वान् को चाहिए कि वह [ग्राह्य का ही ग्रहण करे] अग्राह्य तन्त्रों का ग्रहण न करे । यह माहेश्वर तन्त्र सभी तन्त्रों में [तत्त्वज्ञान को बतलाने वाला] उत्तम तन्त्र ग्रन्थ हैं ।

इस ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने का श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज एवं इससे सम्बद्ध संस्था कृष्णदास अकादमी के संचालकों को है, जो संस्कृत साहित्य की सेवा में सौ से भी अधिक वर्षों से संलग्न हैं। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मैं अपने पूज्य गुरुवर्य प्रो० श्रीनारायण मिश्र के आशीर्वाद की नित्य कामना करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के पाठ सम्पादन में अत्यन्त सहयोग प्रदान किया। अन्त में भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वे सभी का कल्याण करें।

विक्रमसम्वत् २०५४ दीपावली, ३०. १०. १६६७ बी ३१/२१ ए, लंका, वाराणसी (संस्कृत विभाग, कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

विद्वद्वशंवदः डॉ० सुधाकर मालवीयः

विषय सूची

प्रथम पटल (१-६७)

पृष्ठाङ्क १–११

मङ्गलाचरण (२–११), तत्त्वज्ञान के कथन के लिए ईश्वर से आग्रह (१२–१६), आत्मसाक्षात्कार ही तत्त्व ज्ञान है (२२), आत्मा का स्वरूप (२३–४७), अक्षर ब्रह्म का विराट् स्वरूप (४५–६७) ।

द्वितीय पटल (१-८१)

45-58

तत्त्व चिन्तन की मिहमा ($9-\epsilon$), विष्णु प्रोक्त अद्भुत रहस्य को बताने का शिव से आग्रह ($\xi-93$), शिव द्वारा वैकुण्ठ की कथा का कथन (98-94), विष्णु द्वारा ध्यान मग्न होना (98-94), लक्ष्मी द्वारा ध्येय तत्त्व की जिज्ञासा (98-94), सिखयों द्वारा प्रेयसी लक्ष्मी के ध्यान की बात कहना (98-96), भक्तों का ध्यान करते हुए एक ही समय में प्रेयसी का ध्यान कैसे ? (98-89), विष्णु का स्वरूप कथन (98-89), ध्यान में ध्येय तत्त्व का लक्ष्मी जी का भगवान् विष्णु से प्रश्न (98-99), विष्णु का अपने में ही विराट् रूप का कथन (98-96), विष्णु द्वारा लक्ष्मी के ही ध्यान, (98-98), लक्ष्मी द्वारा सन्देह (98-98) विष्णु द्वारा परम तत्त्व के गोपन का कथन, (98-98), लक्ष्मी जी का क्रोधाविष्ट होना (99-98)।

तृतीय पटल (१-१०३)

२५-४०

विष्णु के परमतत्त्व का उपदेश न देने के कारण को पार्वती द्वारा पूँछा जाना (9-2), केतुमाल पर्वत पर रमा द्वारा तपस्या का वर्णन (3-93), तप के प्रभाव से ब्रह्माण्ड का विहल हो जाना (98-95), देवों का ब्रह्मा के पास जाना (99-23), ब्रह्मा की स्तुति (28-33), ब्रह्मा द्वारा ताप का कारण बताना (38-35), देवों का शङ्कर के पास जाना (80-82), आने का कारण पूँछना (83-40), देवों की जिज्ञासा पर शङ्कर द्वारा ध्यान योग का वर्णन (49-59), माया मोह का वर्णन (52-5), देवों का विष्णु के पास जाना (54-58), विष्णु की स्तुति (54-56), रमा के तप से तप्त चराचर जगत् के रक्षा करने की प्रार्थना (55-903)।

चतुर्थ पटल (१-५४)

४१–५४

विष्णु द्वारा स्त्री स्वभाव का वर्णन (१—८), विष्णु का केतुमाल पर्वत पर जाना (६–१४), लक्ष्मी को तपस्या से उपरंत कराना (१५–२०), साध्वी स्त्री की प्रशंसा (२१–३१), रमा को समझाना (३२–३६), श्री कृष्ण के प्राकट्य की कथा (४०–४६),

रुक्मिणी रूप में लक्ष्मी का अवतीर्ण होना (४७–५०), आनन्द का वर्णन (५१–६०), रमा का तप छोड़ देना (६৭–६६), सभी प्राणिजात का प्रसन्न होना (६७–६६), तत्त्व ज्ञान के अधिकारी (६०–६४) ।

पञ्चम पटल (१-६०)

५५--६३

तत्त्व ज्ञान के उपदेश के लिए पार्वती का आग्रह (१–१६), रहस्य गोपन की आवश्यकता (१७–१८), तर्क से परे आत्म तत्त्व का रहस्य (१६–३६), ब्रह्मज्ञान शब्दों से सम्भव (३७–४६), अनुग्रह से ही अज्ञान का नाश (५०–६१)।

षष्ठ पटल (१-६८)

£8—68

अज्ञान के आवरण से सृष्टि कथन (१–१०), अज्ञान के प्रकार (११–१५), जीव की सृष्टि (१६–१६), बुद्धि की वृत्तियाँ (२०–२१), ब्रह्म में अज्ञान के आवरण के प्रकार (२२–२७), अक्षर ब्रह्म विचार (२६–३५), अज्ञान की शक्तियाँ और सृष्टि विचार (३६–६०), सृष्टि क्रम का विशेष वर्णन (६१–६८)।

सप्तम पटल (१-६२)

७५-६१

मोह की उत्पत्ति का कारण (१–३), ब्रह्म विचार (४–५), ब्रह्म द्वारा लीलाओं से ब्रह्माण्ड की सृष्टि एवं संहार (६–७), भगवान् कृष्ण का दिव्य वृन्दावन वर्णन (८–६२)।

अष्टम पटल (१-३७)

\$7-**\$**5

परब्रह्म द्वारा इच्छा से त्रिगुणात्मिका निद्रा की सृष्टि (१), मोह की दो शिक्तियाँ (२), कूटस्थ ब्रह्म का ही मोह निद्रा रूप अज्ञान से आवृत होकर सृष्टि करना (३–१४), कूटस्थ ब्रह्म के प्रतिपादन में वाणी की असमर्थता (१५), पुरुषोत्तम की दिव्य लीलाओं का वर्णन (१६–२६), दिव्य आनन्द की लीला (२७–३७)।

नवम पटल (१-६४)

₹₹-90€

स्वामिनी राधा की प्राकट्य लीला (१–४), उनकी अन्य सिखयों के नाम (५–१४), स्विप्नल लीला वर्णन (१५–१८), सिखयों और कूटस्थ के मध्य लीला के रहस्य का गोपन (१६–२६), ब्रह्म लीला वर्णन, श्रीकृष्ण जन्म और गोकुल में जाने की कथा (२७–६४)।

दशम पटल (१–६६ श्लोक)

905-995

नन्द गृह के उत्सव की कथा (१—५), पूतना के सदगति की कथा (६—१५), पूतना द्वारा मारे गए शिशुओं की कथा (१६—२४), राम कथा (२५—३१), अग्निकुमारों द्वारा सीता की भर्त्सना (३२—४१), सीता द्वारा शाप देना (४१—४५), राम द्वारा सीता की निन्दा (४६—५६), सीता और अग्नि कुमारों के प्रति राम का अनुग्रह (५७—६६) ।

एकादश पटल (१-४६)

995-924

श्री कृष्ण की संगुण लीला, तृणावर्त उद्धार आदि की कथा (१–१६), राधा की कथा (१७–४६) ।

द्वादश पटल (१-५२)

926-934

श्री राधा कृष्ण की प्रणय लीला और विरह लीला आदि का वर्णन (१–५२)। त्रयोदश पटल (१–४६)

कात्यायनी व्रत की कथा और चीरहरण की लीला (१–१२), गोवर्धन <mark>लीला</mark> (१३–१४), रासलीला (१५–४६) ।

चतुर्दश पटल (१-३४)

983—98c

गोपी गीत एवं रास क्रीडा महोत्सव वर्णन (१-३४)

पञ्चदश पटल (१-३४)

985-948

श्रुतिरूपा गोपियों की ब्रह्ममयी लीला एवं व्रज लीला आदि का तात्विक वर्णन (१–३४)।

षोडश पटल (१--६६)

१५५-१६५

रास लीला की अलौकिकता पर पार्वती का प्रश्न ($9-\epsilon$), सनातन धर्म वर्णन (90-23), भक्त का पातिव्रत्य धर्म (28-33), कृष्ण वल्लभा—भक्त ($38-3\epsilon$), निष्काम कर्म के विषय में पार्वती का प्रश्न (30-80), आत्मबोध का रहस्य कथन ($89-8\epsilon$) ।

सप्तदश पटल (१-५६)

୩६६—୩७५

सदाचार निरूपण (१–७), कलियुग में पाखण्ड एवं ब्रह्मवाद के विषय में पार्वती का प्रश्न (८–२१), गौतम ऋषि एवं क्षुधार्त ब्राह्मणों की कथा (२२–५६) ।

अष्टादश पटल (१–६३)

908-954

गौतम मुनि द्वारा विप्रों का सम्मान एवं अन्नदान से आश्रम में ही रोक रखने की कथा (9–90), माया निर्मित गाय और गौतम द्वारा विप्रों को शाप की कथा (99–32), पाखण्डी एवं कृतघ्न ब्राह्मणों का निरूपण (33–६3) ।

उत्रीसवाँ पटल (१-६०)

ባ¤६—٩६४

भगवान् की प्रियाओं का आत्मानुसन्धान (१–१३), बृहत्सेन की मायामोह समुद्र में डूबने उतराने की कथा (१४–४३), आत्मा का निरूपण (४४–५२), स्वप्न सदृश असत् संसार का निरूपण (५३–६०) ।

बीसवाँ पटल (१-७१)

१६५-२०५

कूटस्थ ब्रह्म की रहः लीला में दुःख दर्शन की लालसा क्यों (१–७), ब्रह्मविद्या के गोपन का निरूपण (७–१३), ब्रह्मविद्या निरूपण (१४–७१) । इक्कीसवाँ पटल (१-५०)

२०६-२१३

अक्षर रूप ब्रह्म की इच्छाशक्ति से सृष्टि का निरूपण (१–४६), ब्रह्मविद्या के लिए त्याज्य अधिकारी (४७–५०) ।

बाइसवाँ पटल (१–४४)

२१४-२२०

तत्त्वज्ञान की महिमा (१—५), अक्षर के स्वप्नभूत प्रपञ्च में सिखयों में वासना निरूपण (६—१०), शब्द ब्रह्म (११—१३), अहङ्कारादि की सृष्टि (१४—१७), कृष्ण प्रियाओं में वासना निरूपण और सिद्धि—साधन (१८—४४) ।

तेइसवाँ पटल (१--५)

२२१--२२७

भगवद्मार्या का स्वरूप (१-५) ।

चौबीसवाँ पटल (१-३३)

२२द−२३३

निर्गुण ब्रह्म की नित्यलीला का वर्णन (१–१५), रस श्रुति (१६), अद्वैत ब्रह्म की अनपायिनी लीला (१७–३३) ।

पच्चीसवाँ पटल (१–५३)

288-585

सत् एवं असत् रुति विवेचन (१–२०), लीला का काल विवेचन (२१–५३) । छब्बीसवाँ पटल (१–५६) २४३–२५१

साधनों का निर्णय (१–५), माहेश्वर तन्त्र और उसके प्रयोजन की कथा (६–४६), अनधिकारी विवेचन (४७–५६) ।

सत्ताइसवाँ पटल (१–८३)

२५२-२६५

आचार एवं अनाचार कथन (१–५५), भगवान कृष्ण का ध्यान (५६), महोत्सव काल कथन (५७–६३) ।

अठ्ठाइसवाँ पटल (१–६४)

365-365

सद्गुरु विवेचन (१–२८), उद्बोधन और उसकी प्रक्रिया (२६–६४) । उन्तीसवाँ पटल (१–४४)

मन्त्रराज कथन और बीज मन्त्रों का विवेचन (१-४४) ।

तीसवाँ पटल (१—५४)

758-752

मन्त्रराज के साधन एवं न्यास आदि का विवेचन (१–३४), ध्यान (३५–५४) ।

इकतीसवाँ पटल (१–३३)

308-835

भगवद् परिचर्या विधि विवेचन (१-८५) ।

चौबीसवाँ पटल (१-८१)

300-320

मन्त्रराज के साधन से कर्मपाश छेदन (१–१०), पुरश्चरण विधि कथन

(99-c9) I

तैतिसवाँ पटल (१-५) 329-325 ताप की दुर्लभ अवस्थाओं का वर्णन (१-८), विप्रलम्भ श्रृङ्गार की दस अवस्थाएँ (६–१८); आत्मसाक्षात्कार के लिए आत्मस्वरूप का ज्ञान (१६–५६) । चौतिसवाँ पटल (१-२६) 330-334 देहाध्यास वर्णन (१-१०), कृष्ण प्राप्ति के उपाय (११-२२), वासना, चिन्ता, उद्देग आदि भाव (२३-२६) । पैतिसवाँ पटल (१-२६) 336-380 वासना का देह के साथ तारतम्य कथन (१-७), देहात्मक बुद्धि (अहन्ता), का कारण (८-२६) । छत्तिसवाँ पटल (१–३०) 384-384 आत्मा का मोहग्रस्त धर्म (१–५्), अहंकार विजृम्भण (६–६), अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वृत्तियाँ (१०–१६), अहङ्काराश्रित वासना (२०–२६), देहाभिमान (२७–३०) । 386-362 सैतिसवाँ पटल (१-१००) विरक्त योगी के मन की अवस्थाओं का वर्णन (१-२), स्मृति अवस्था (३-११), आनन्द-सुधा समुद्र (१२-१५), श्रीकृष्ण मन्दिर का वर्णन (१६-५८), नेत्र बन्धन लीला (५६-७०) । अड़तीसवाँ पटल (१-६५) 363-302 कृष्ण कथा की महिमा (१–६), सखियों के साथ दिव्यलीला कथा (१०–६५)। उन्तालिसवाँ पटल (१-६१) 303-352 श्रीकृष्ण की दिव्य लीला में स्वामिनी की खिन्नता कारण और रहस्य लीला का विवेचन (१-६१) । चालिसवाँ पटल (१–४६) 3=3-350 श्रीकृष्ण की रहस्य लीला का वर्णन (१-४६) । इकतालिसवाँ पटल (१–३३) 359-356 श्रीकृष्ण की रहस्य लीला का वर्णन (9-33) । बयालिसवाँ पटल (१-६०) ३६७-४०६ श्रीकृष्ण की रहस्य लीला का वर्णन (१-६०) । तिरालिसवाँ पटल (१-४६) 800-818

> श्रीकृष्ण की रहस्य लीला का वर्णन (१–४६) । चौवालिसवाँ पटल (१–८८) ४१५–४२८ श्रीकृष्ण की रहस्य लीला का वर्णन (१–८८) ।

पैतालिसवाँ पटल (१–६१)

854-883

ब्रह्मनाल वन वर्णन (१–३३), पारिजात वन का वर्णन (३४–८५), महापद्मवन का वर्णन (८६-८८), मणिगृह की दस भूमियाँ ८६-६९ ।

छियालिसवाँ पटल (१-३२)

888-885

कृष्ण की आन्तरिक सेवा और बाह्यसेवा (१–१४), प्रभु की रस लीला में विप्रलम्भ शृङ्गार एवं उनकी अवस्थाएं (१५-३२) ।

सैंतालिसवाँ पटल (१-४१)

४४६-४५५

गुणसंकीर्तन और स्तुति (१-११), श्रीकृष्णस्तोत्र (१२-४१) । अड़तालिसवाँ पटल (१-५१)

४५६–४६४

पुरुषोत्तम पूजा की विधि (१–२८), आयुध एवं चिह्न धारण विधि (२६–५१)।

उन्चासवाँ पटल (१-६६)

४६५-४७६

भूतशुद्धि, मातृकान्या (१-२), कृष्ण का ध्यान (३-१३), स्वामिनी राधिका का ध्यान (१४-२१), स्वामिनी सहित कृष्ण का दिव्य एवं मानसोपचार (२२-२७), बिहःपूजा (२८–३०), पूजा–यन्त्र निर्माण की विधि (३१–३७), पाद्य एवं अर्ध विधि (३८—४२), मधुपर्क विधि (४३), पीठ पूजा (४४—६६) ।

पचासवाँ पटल (१-६८)

अखण्ड एवं व्यापक (कूटस्थ), ब्रह्म का आनन्द रूपत्व (१–१५), कूटस्थ की गोलोक लीला (१६-६८) ।

इक्यावनवाँ पटल (१-११०)

४४६-५१६

आराधना की शयनीय भूमि का वर्णन (१–६८), शयनीय भूमि के वर्णन में स्वामिनी की परिचर्या, उनकी सखियाँ और उनके भवन आदि के वर्णन (६६–६३). माहेश्वर तन्त्र के अधिकारी और प्रयोजन (६४–११०), ।

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्



नारदपञ्चरात्रान्तर्गतम्

माहेश्वरतन्त्रम्

'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

अथ प्रथमं पटलम्

श्रीपार्वत्युवाच

देवदेव महादेव करुणार्णव शङ्कर। हर शम्भो शिव मृड् पशुनाथ नमोऽस्तु ते ।। १ ।।

* सरला *

उन्मेषनिमेषनाभ्यां जगदुदयान्तकारिणीम् । परमात्मनः महाशक्ति वन्दे कामप्रदां शिवाम् ॥ सुनू रामकुबेरस्य मालवीयः सुघाकरः । कुक्ते विनयोपेतः व्याख्यां तन्त्रविदां मुदे ॥

श्री पार्वती ने कहा-

हे देवों के देव, हे महादेव, हे करुणा के समुद्र भगवान शाङ्कर, हे हर, हे शम्भो; हे शिव, हे सबको सुख देने वाले और हे पशुनाय अर्थात् प्राणिजात के स्वामिन् आपको नमस्कार है।। १।।

नमस्ते सर्वदेवानां दैवताय परात्मने। पिनाकिने नमस्तुभ्यं गङ्गाधर नमोऽस्तु ते॥ २॥

सभी देवों के देव तुम परमात्मा को नमस्कार है; पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाले तुम्हें नमस्कार है; और हे यङ्गा जी को धारण करने बाले आपको नमस्कार है।। २।।

भूतिभूषितदेहाय भक्तानामभयङ्कर । कर्प्रविशदाभाय त्रिनेत्राय नमोऽस्तुते ॥ ३ ॥ भूति अर्थात् भस्म से भूषित देह वाले, भक्तों को अभय षप्रदान करने वाले, कपूँर के समान उज्वल आभा वाले एवं तीन नेत्रों वाले तुम्हें नमस्कार है || ३ ||

नमश्चन्द्रकलाधारिन् नीलकण्ठ महेश्वर ।
महाभूजङ्गमावद्यजटाजूट शिवप्रद ।। ४ ।।
अकिञ्चनाय शुद्धाय हचणिमाद्यष्टिसिद्धये ।
संसारवारिधितरणे प्लवभूतंपदाम्बुज ॥ ५ ॥
योगीश्वराय योगाय योगिनां पतये नमः ।
योगिहृत्पद्ममातंण्ड योगानन्दमयाय ते ॥ ६ ॥

हे चन्द्रमा की कला को धारण करने वाले, हे नीलीगर्दन वाले, हे महेरवर, हे बड़े सपों से आबद्ध, हे जटाजूट धारी, हे कल्याण के प्रदाता तुम अिक चन [निधंन] के लिए, गुद्ध एवं बणिमा आदि अब्द सिद्धि सम्पन्त, संसारक्षी समुद्र के पार लगाने के लिए चरण कमल रूप नौका वाले, योगियों के ईश्वर तुम योग युक्त के लिए एवं योगियों के पालक के लिए और योगियों के हृदय कमल को खिलाने के लिए सूर्यक्ष तुम योगानन्द मय के लिए नमस्कार है। ४-६॥

सृष्टचर्यं ब्रह्मरूपोऽसि पालनार्थं स्वयं हरिः। रुद्रोऽस्यन्ताय देवेश नमस्त्रितयरूपिणे॥ ७॥

आप सृष्टि के लिए बह्मा रूप हैं, और सृष्टि के पालन के लिए स्वयं आप ही हरि स्वरूप हैं, एवं आप ही सृष्टि के संहार के लिए रुद्र रूप हैं। हे देवों के ईश्वर! [ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप से] तीन रूपों वाले आपको नमस्कार है।। ७।।

नमो वेदान्तवेद्याय नित्यानन्दमयाय ते। निरञ्जनाय शुद्धाय सच्चिदानन्दचेतसे॥ ८॥

वेदान्त के द्वारा जानने योग्य, नित्य आनन्द स्वरूप, निष्कलङ्क, शुद्ध, सत्

निर्मलाय निराशाय निरीशायाखिलात्मने । अणीरणीयसे तुभ्यं महतोऽपि महीयसे ॥ ९ ॥

निर्मेल उदासीन [आशाशून्य], स्वामी विहीन, अखिलात्मक, अणु से भी । सूक्ष्म, और महान् से भी महत्तर तुम्हें नमस्कार है।। ९।।

> दिक्कालाद्यनविच्छन्ननित्यचिन्मात्रमूर्त्तये । नमस्ते सर्वलोकैकपलिकायात्तिनाशिने ॥ १०॥

[पूर्व, पश्चिम आदि] दिशा और [भूत, भविष्य आदि] काल के द्वारा अपरिमेय, नित्य, एवं ज्ञानमय स्वरूप वाले एवं समस्त लोक के एकमात्र पालक और दुं:खीं का नाश करने वाले अ।पको नमस्कार हैं।। प०।।

त्रह्मां त्वं हरिरुद्रोऽसि हब्यवाट् हुतमित्युते । मन्त्रित्वक् देवता चासि यज्ञस्त्वं तत्फलात्मकः ॥ १९॥

है महेश्वर तुम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो। हिविदैन्य की ले जाने वाले अग्नि और हुत भी तुम्हीं हो। तुम मन्त्र, ऋत्विज् और [यज्ञीय] देवता हो। यज्ञ तुम हो और उस यज्ञ के फल भी तुम्हीं हो।। ११।।

> दयां कुरु महादेव प्रसीद परमेश्वर। त्विय प्रसन्ने लोकानां फलन्ते कामपादपाः ॥ १२॥

हे महादेव मेरे अपर दया करो, हे परमेश्वर मुझसे प्रसन्त हों। आपके प्रसन्त होने से ही समस्त लोकों की कामनाएँ फलीभूत हो जाती हैं।। पर।।

> त्वयाहं दीननाथेन शरीराई निरूपिता। कृतकृत्याऽस्मि तेनाहं किमन्यदवशेषितम्॥ १३॥

आप दीनों के नाथ के द्वारा में आप की शरीरार्द्ध रूप से कही गई हैं। उसी [अद्धांक्तिनी ही बन जाने] से ही मैं कुत कुत्य हूँ। मेरे लिए अवा शेष ही क्या है। पर १००० के अपना अप इह है। हाई बं

तस्मात्संप्रष्टुमिच्छामि रहस्यं किञ्चिदुत्तमम्। यद्यहं ते प्रियतमा बूहि नाथ! तदाखिलम्।। १४।।

इस लिए मैं कुछ उत्तम रहस्यों को पूँछना चाहती हूँ। हे नाथ यदि मैं आपकी प्रियतमा होक तो आप उस रहस्य को अशेष रूप से मुझसे कहें।। १४॥

त्वया प्रोक्तानि तन्त्राणि चतुःषष्टिमितानि भोः। न तेषु तत्वविज्ञानं प्रकटीकृतमीश्वर ।। १५।।

हे प्रभो ! आप के द्वारा प्रोक्त चौसठ तन्त्र हैं है ईश्वर ! उनमें आपने तत्व-ज्ञान को प्रकट नहीं किया है ॥ १५ ी।

तत्प्रकाशय देवेश प्रवक्तुं यदि मन्यसे ॥ १६ ॥ हे देवेश ! यदि आप मुझसे कहने योग्य समझते हैं तो आप उस [रहस्य] का प्रकाशन करें ॥ १६ ॥

शिव उवाच

नैतज्ज्ञानं वरारोहे वक्तुं योग्यं वरानने । राज्यं देयं शिरो देयं देयं सर्वस्वमप्युत । न देयं ब्रह्मविज्ञानं सत्यं सत्यं शुचिस्मिते ॥ १७ ॥ शिव ने कहा-

हे वरारोहे ! यह [तत्व] ज्ञान किसी को भी बताने योग्य नहीं हैं। हें सुन्दर मुख वाली ! राज्य दे दे; शिर अर्थात बड़ी से बड़ी वस्तु भी दे दे अथवा सर्वस्व भी दे दे किन्तु शुद्ध एवं स्मित हास्य वाली प्रिये ! सत्य-सत्य ब्रह्म के विज्ञान को कभी नहीं देना चाहिए ॥ १७॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि कृत्वा यत्पापमाप्नुयात् । तत्पापं लभते देवि परमार्थप्रकाशनात् ।। १८ ।।

हजार बहाहत्या करके जो पाप प्राप्त होता है, हे देवि ! वह पाप परमार्थं तत्व के प्रकाशन से प्राप्त होता है ।। ९८ ।।

बालहत्यासहस्राणि स्त्रीहत्यायुतमेव च।
गवां लक्षवधात्पापं तथा विश्वासघाततः ।। १९ ।।
मित्रद्रोहाद्गुरुद्रोहात्साधुद्रोहाच्च यद्भवेत् ।
तत्पापं लभते देवि परमार्थप्रकाशनात् ।। २० ।।

हजार बाल-हत्या करके और अयुत (हजार) स्त्री-हत्या करके, तथा लाख-गोवध से जो पाप होता है और जो पाप विस्वासघात से होता है, इसी प्रकार जो पाप मित्रद्रोह, गुरुद्रोह, और सज्जनों से द्रोह (विरुद्ध आचरण) करने से होता है वह पाप परमार्थ के प्रकाशन से प्राप्त होता है।। १९-२०।।

> तस्मात्तु गोपयेद्विद्वान् जननीजारगर्भवत् । भक्तासि त्वं प्रियतमा तस्मात्ते ऽहं वदामि भोः ॥ २१ ॥

इसलिए माता के और व्यक्षिचारिणी स्त्री के गर्भ को छिपाने के ही समान विद्वान् को इसका भी गोपना करना चाहिए। हे त्रियतमा! तुम मेरी भक्त हो अत: मैं तुमसे कहता हूँ॥ २९॥

> ज्ञानं तत्तु विजानीयात् येनात्मा भासते स्फुटः । अज्ञानेनावृतो नित्यं मोहरूपेण नित्यदा ॥ २२ ॥ तावत्संसारभावः स्याद्यावदज्ञानमुल्लसेत् । तावन्मोहो भ्रमस्तावत्तावदेव भयं भवेत् ॥ २३ ॥

वस्तुतः वही ज्ञान [विज्ञान] है जिससे आत्मा का साक्षात्कार हो आय। वह स्फुट रूप से भासित होने लगे। वह आत्मा नित्य मोहरूप अज्ञान से आवृत होती है। वस्तुतः तभी तक संसार का भाव साधक में होता है जब तक उसकी आत्मा अज्ञान से आवृत रहती है और तभी तक मोह एवं भ्रम तथा तभी तक भय भी रहता है।। २२-२३।।

अहं ममेत्यसद्भावो विस्मृतिर्दुःखदर्शनम् । नानाधर्मानुरागश्च कर्मणां च फलेषणा ॥ २४ ॥

'यह मेरा है' 'यह मैं हूँ'-इस प्रकार अहंत्व बुद्धि का न होना या उसकी विस्मृति अत्यन्त कठिन है। नाना प्रकार के धर्मों और कार्यों में अनुराग तथा फल की इच्छा का त्याग अत्यन्त कठिन है। २४॥

बन्धमोक्षविभागश्च जडदेहाद्यहंकृतिः। तावदीक्वरभावः स्यात्पाषाणप्रतिमादिषु ॥ २५॥

बन्धन और विमुक्त [आत्मा] का विभाग तथा जड़ देह में अंहत्व बुद्धि त होने पर ही पाषाण की प्रतिमा आदि में ईश्वर भाव की उत्पत्ति होती है।। २५।।

> जलादौ तीर्थभावश्च यावदज्ञानमुल्लसेत्। उदिते तु परिज्ञाने नाऽयं लोको न कल्पना ॥ २६॥

जब तक अज्ञान होता है तभी तक जल आदि में तीर्थ की भावना होती है। किन्तु जभी तत्वज्ञान का उदय साधक में हो जाता है तभी न यह लोक होता है और न तो किसी प्रकार की कल्पना ही उसमें होती है। २६।

न त्वं नाहं न वै किञ्चित्तिवृत्ते मोहविभ्रमे । स्वयमेवात्मनात्मानमात्मन्यात्माभिपद्यते ॥ २७ ॥

मोह रूप विशिष्ट भ्रम के दूर हो जाने पर साधक के लिए न तुम हो न में हैं। वह तो स्वयं ही अपने द्वारा अपने में ही समाहित हो जाता है।। २७॥

तदा सुखसमुद्रस्य स्वरूपनिरतो भवेत्। लयश्चात्यन्तिको देवि कदाचिद्वा भविष्यति ॥ २७॥

उस समय वह साधक सुख के साक्षात् समुद्र में रहता है। हे देशि ! उस सुख समुद्र का आत्यन्तिक लग शायद ही कभी होगा।। २८॥

> तदेवात्माक्षरः साक्षादेक एवावशिष्यते। स शिवो विष्णुरेवेन्द्रः स एवामरदानवाः॥ २९॥

वह आत्मा ही साक्षात् अक्षर बहा है। वही एक शेष रहती है। वही विव,

सं एव यक्षरक्षांसि सिद्धचारणिकत्तराः। सनकाद्याश्च मुनयो ब्रह्मपुत्राश्च मानसाः॥ ३०॥ वही यक्ष और राक्षस, सिद्ध चारण या किन्तर (मनुष्य और देवों के बीच की योनि विशेष) भी है। वही [आत्मा] सनकादि ऋषि है और ब्रह्मा के [नाइदादि] मानस पुत्र भी वही हैं।। ३०।।

पञ्चवः पक्षिणरचैव पर्वतास्तृणवीरुधः। स एवेदं जगत्सवं स्यूलसूक्ष्ममयं च यत्।। ३१।।

पशु-पक्षी, पर्वत, तृणादिक लता, पल्लव आदि भी वह [आत्मारूप ब्रह्म] ही हैं। बही यह सम्पूर्ण दृश्ममान स्थूल यम सूक्ष्म जगत् भी हैं।। ३१॥

अज्ञानाद्रजतं भाति शुक्तिकायां यथा त्रिये। ज्ञानात्तद्रजतं देवि तस्यामेव विलीयते॥ ३२॥ तथाक्षरे परे ब्रह्मण्याभाति सकलं जगत्। मोहने केनिब्रहेवि मोहनाशे तु शाङ्करि॥ ३३॥

हे प्रिये । जीते बाजान के कारण सीक्षी में चाँदी का भान होता है और हे देकि ! उसी रज़त का ज्ञान होने पर उसी में उसका विलय [भी] हो ज़ाता है। इसी प्रकार ख़बर रूप परब्रह्म में सम्पूण जगत का भान होता है। अतः हे देवि ! बोह का कारण जगत है और मोह रूप अज्ञान के विनष्ट होने पर हे शास्त्र रि! बहु अगत् भी बिलीन हो जाता है।। ३२-३३।।

अवृक्षिष्यते पुरं ब्रह्म साक्षादक्षरमन्ययम् । न त्वं नाहं तदा विष्णुरुंक्ष्मीर्बह्मासरस्वती ।। ३४॥

साक्षात् अक्षर रूप परब्रह्म अन्यय ही अवशिष्ट रहता है। न 'तुम' और ब 'मैं' रहता हूँ। वस्तुतः उस [तत्व ज्ञान के] समय विष्णु और लक्ष्मी तथा ब्रह्मा एवं सरस्वती भी नहीं होती हैं।। ३४॥

वेश्वरो न शिवश्चापि यथापूर्वं भविष्यति । मृदुद्भवानि कार्याणि मृच्छेशाणि यथाप्रिये ॥ ३५ ॥

छत समय साधक के लिए न तो ईश्वर होते हैं और न ही शिव जैसे पहले हुए थे। बस्तुतः यह जगत् उसी प्रकार है जैसे हे प्रिये! सिट्टी के [बने घट आदि] कार्यों का बस्तुतः श्रेष सिट्टी ही होता है।। ३५ ॥

त्र्येवाखिललोकोऽयं ब्रह्मभूतो भविष्यति । यथा वायुवशाद्देवि समुद्रे तरलोर्भय । प्राहुर्भवन्ति देवेशि तस्मिन् शान्ते तु पूर्ववत् ॥ ३६ ॥

ज्य साधक का यह सम्पूर्ण संसार बहामय होगा। जैसे वायु के कारण, हे

देवि, समुद्र में तरल उमियाँ (लहरेंः) प्रादुर्भूत होती हैं। हे देवेशि ! वही समुद्र शान्त होकर पूर्ववत् हो जाता है ।। ३६ ।।

> तथा विस्मारितज्ञानान्मोहाद्भ्रान्तं चराचरम् । चतुर्विज्ञतितत्त्वोत्थं सत्यमित्येव रूपितम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ज्ञान के पुनः विस्मृत हो जाने से मोह के कारण समस्त चराचर जगत् [अंहकार आदि] चौबीस तत्त्वों से प्रादुर्भूत हो [जाता है जो] सत्य के समान ही लगता है।। ३७।।

तत्र जाता इमे लोकाश्चतुर्दश महेश्वरि । अधः सप्त तथा चोध्वमेवं संख्याश्चतुर्दश ॥ ३८॥

हे महेश्वरि ! उसमें ये चौदह लोक प्रादुर्भूत होते हैं। जो सात नीचे और सात ऊपर के क्रम से संख्या में चौदह हैं।। ३८॥

> अतलं वित्तलं चैवं सुतलं च तलातलम । रसातलं च पातालं भूभं वः स्वस्तथोपरि ॥ ३९ ॥ महर्जनस्तप इति सत्यं वैकुण्ठ इत्यपि । शिवलोको देवलोकस्तथाऽवान्तर्गता अपि ॥ ४० ॥

नीचे १. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. तलातल, ५. महातल, ६. रसातल, एवं ७. पाताल—ये सात लोक हैं और ऊपर १. भूः, २. भूवः, ३. स्वः, ४. महः, ५. जनः, ६. तपः, और ७. सत्य—ये सात लोक हैं, तथा [इससे अतिरिक्त] वैकुण्ठ भी है। उसी वैकुण्ठ लोक के अन्तगत शिवलोक और देवलोक भी हैं॥ ३९-४०॥

> मोहशान्तौ भविष्यन्ति सर्वे ब्रह्ममया इमे । यावत्सर्पमयी भ्रान्ती रज्जौ तावद्भयं प्रिये ॥ ४९ ॥

मोह रूप अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ये सभी ब्रह्ममय होंगे। हे प्रिये ! वस्तुतः [मृत्यु से] भय तभी तक रहता हैं जब तक कि रस्सी में सर्प की भ्रान्ति (=सन्देह) हो रहा हो।। ४९।।

रज्जुत्त्वेन तु विज्ञाता भयं नोद्वहते पुनः। अप्रपञ्चे प्रपञ्चोऽयं मोहादुन्मीलति स्फुटः॥ ४२॥

रस्ती का ज्ञान होते ही पुनः यह भय नहीं होता । मोह के उन्मीलित होते ही यह ज्ञान स्पष्टतः होता है कि अप्रपञ्च में यह सम्पूर्ण सृष्टि का प्रपञ्च है।।(४२।। प्राप्ति कि स्पष्टि । स्वर्ष

तावद्भयप्रदोऽज्ञानं यावन्मोहं न विन्दते । द्विष्ठा विश्वा पञ्च्या च चतुर्विकृतिधा पुनः ॥ ४३ ॥ एकघा च पुनस्त्रेघा बहुघा च पुनः स्वयम् । विस्तीर्णः स तु मोहोऽयं आवृत्य परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

जब तक मोह नहीं हटता तभी तक अज्ञान भयप्रद होता है। दो, तीन और पाँच-पाँच करके अथवा चौबीस करके, पुन: एक और फिर तीन और बार-बार फिर वही यह मोह है जो स्वयमेव परमेश्वर को आवृत करके विस्तृत हो जाता है।। ४३-४४।।

कालमायांशयोगेन ब्रह्माण्डमसृजतप्रभुः। कोटिब्रह्माण्डलक्षाणां स निर्माताक्षरो विभुः॥ ४५॥

काल और माया के अंग के योग से प्रमु ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की। वह विभु करोड़ो ब्रह्माण्डों का निर्माता अक्षर ब्रह्म [=आत्मा] है।। ४५।।

> न तस्येच्छा न कर्त्तं व्या निर्गुणः प्रकृतेः परः । तथापि बालवत् क्रीडन् कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥ ४६ ॥

उसे कोई इच्छा नहीं होती, उसके कोई कर्तव्य नहीं होते, वह निगुंण और प्रकृति से परे है। फिर भी वह बालक के समान खेलता हुआ करोड़ों बहागण्ड की संहतियों [समूहों] को रचता रहता है और उन ब्रह्माण्डों का संहार किया करता है।। ४६।।

सृजते सहरत्येषः कटाक्षाक्षेपमात्रतः। चिन्मात्रः परमः शुद्धः कूटस्थः पुरुषः परः ॥ ४७ ॥

चिन्मात्र, परम, शुद्ध कूटस्थ यह परम पुरुष अपने कटाक्ष के आक्षेप मात्र से ही ब्रह्माण्डों का सूजन और संहार किया करता है।। ४७।।

विराट् तस्य वपुः स्थूलं पञ्चधा तु समुद्भवम् । पातालं पादमूलेऽस्य पार्षिणदेशे रसातलम् ॥ ४८ ॥

उसका शरीर विराट् और स्थूल है जो पाँच गुना करके समुद्भूत है। उस विराट् पुरुष के पैर के तलवे में पाताल है, एड़ियाँ और (पंजे) रसातल हैं।। ४८॥

गुल्फे महातलं तस्य जङ्घयोश्च तलातलम् । जङ्घयोपरि सुतलं वितलं कट्युत्तरं प्रिये ॥ ४९ ॥ कटिमध्येऽतलमस्ति मर्त्यलोकोदरे तथा । पार्क्देशेभुवर्लोकस्तदूध्वं च स्वरादयः ॥ ५० ॥

गुरुफ (एड़ी की उत्पर की गाँठों में) महातल उसकी जाँघों (पिडली) में तलातल है। जङ्घाओं के ऊपर मुतल और हे प्रिये! कटि के उत्तर में वितल है। कटि के मध्य में अतल और उदर में मर्त्यलोक है। पीठ में भुवलोंक है और और उसके ऊपर 'स्व:' आदि लोक हैं ॥^९ ४९–५० ॥

ज्योतीं प्यस्योरः स्थले च ग्रीवायां च महस्तथा ॥ ५१ ॥ इसके वक्षस्थल में स्वर्गलोक एवं ग्रीवा में महर्लोक हैं ॥ ५१ ॥

> वदने जनलोकोऽस्य तपोलोको ललाटके। सन्यलोको ब्रह्मरन्ध्रे बाह्वोरिन्द्रादयः सुराः॥ ५२॥

मुख में जन लोक है और इनके ललाट में तपोलोक हैं। इन विराट् पुरुष के ब्रह्मरन्ध्र में [शिर में शिखा के पास जो 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक महीन सा छिन्द्र होता है उसमें] सत्यलोक है। इन्द्र आदि देवता इनकी मुजाएँ हैं।। ५२।।

दिशः कर्णप्रदेशस्य शब्दस्तच्छ्रोत्रमध्यगः। नासयोरस्य नासत्यौ मुखे वह्निः समाश्रितः । ५३॥

दिशाएँ कान हैं। 'शब्द श्रोत्रेन्द्रिय है। इनकी दोनों नासाओं में नासत्या द्वय

सूर्योऽस्य चक्षुषि गतः पक्ष्मणि ह्यहनीशितुः । दंष्ट्रायां यमस्तस्य हास्ये माया महेश्वरि ॥ ५४ ॥

इनकी आखें सूर्य हैं। रात और दिन इन प्रभु की दोनों पलकें हैं। दंड्रा (दाँतों) में यमराज हैं। हे महेश्वरि ! उनकी मधुर मुस्कान ही माया है ।। ५४।।

उत्तरोष्ठे स्थिता लज्जा लोभः स्यादधरोष्ठके । स्तनयोरस्य वै धर्मः पृष्ठेऽत्रमः समाश्रितः ॥ ५५ ॥

लज्जा ऊपर के ओष्ठ और नीचे के ओष्ठ लोभ हैं। इनके दोनों स्तनों में श्चर्म और पृष्ठ भाग में अधर्म आश्चय करके रहता है।। ५५॥

> कुक्षिष्वस्य सम्द्रा वै पर्वता ह्यस्थिसन्धिषु । आपगा नाडिदेशस्था वृक्षा रोमपथि स्थिताः ॥ ५६ ॥

द्दनकी कुक्ति समुद्र है इनके अस्थि की सन्धियाँ अर्थात् जोड़ पर्वतः हैं। नाड़ी श्रदेश नदियाँ हैं। रोमों के पथ वृक्ष हैं।। ५६।।

मेघाः केशेषु हृदये चन्द्रमाः परिकीर्तितः। इदं स्थूलशरीरं तु ब्रह्मणः परमात्मनः।। ५७॥ केशों में मेघ हैं और हृदय में चन्द्रमा कहे गये हैं। इस प्रकार विराट् पुरुष,

q. तुलनीय—भाग० २.५.४०-४२।

२. तु० भाग० २.५.३८-३९।

३. तु० भाग० २.१.२५-३९।

परब्रह्म परमात्मा का यह विञालकाय शरीर है ।। ५७ ।।

इयत्तयाऽपरिच्छेद्यमन्तपारविवर्जितम् । लिङ्गः नारायणस्तस्य हचक्षरस्य चिदात्मनः ॥ ५८ ॥

उस चिदात्मा अक्षरुरूप ब्रह्म का यह शरीर आदि और अन्त से रहित है एकें वहीं लिङ्ग है और वहीं नारायण है।। ५८।।

हिरण्यगर्भं जगदीशितारं नारायणं यं प्रवदन्ति सन्तः । सर्वस्य धातारमनन्तमाद्यं प्रधानपुंसोरपि हेतुमीशम् ॥ ५९ ॥

उसी विराट् पुरुष को सन्त लोग हिरण्यगर्भ, जगत् के ईश और नारायण के रूप में कहा करते हैं। वह सभी की सृष्टि करने वाले हैं, वह अनन्त हैं, प्रधान पुरुष से भी आ सु हैं। वह ईश के भी कारण हैं।। ५९॥

तं सर्वकालावयवं पुराणं परात्वरं योगिभिरीडचपादम् । ब्रह्मे शविष्णुप्रमृखैकहेतुं यतः प्रवृत्तो निगमस्य पन्थाः ।। ६० ।।

उन सभी कालों के अवयव, पुराण पुरुष एवं परात्पर बहा के पैर योगियों द्वारा स्तुत हैं। वही विराद् पुरुष ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश आदि अमुख देवों के भी कारण हैं तथा इन्हीं से वेद भी निकले हैं।। ६०।।

तं देवदेवं जगतां शरण्यं नारायणं यस्य वदन्ति लिङ्गम् ।
यावन्न लिङ्गं प्रलयं प्रयाति स्थूलं वपुश्चापि न शान्तिमेति ।। ६९ ।।
उन देवों के भी देव, जगत् को शरण प्रदान करने वाले, नारायण रूप जिस्
लिङ्गं (शरीर) की विद्वज्जन स्तुति किया करते हैं। जब तक उस विराट पुरुष का लिङ्गं शरीर प्रलय को प्राप्त नहीं होता तब तक उनका स्थूल शरीर भी शान्ति को नहीं प्राप्त करता है। ६९ ॥

ततः परं कारणमेव तस्य वपुः परस्यात्मन एव मोहः।
यावद्विमोहः प्रश्नमं न याति न लिङ्गमुत्सीदिति कायंबद्धम्।। ६२।।
जिब तक उसका कारण रूप शरीर विद्यमान होता है तब तक मोह रहता है
और जब तक मोह का नाश नहीं होता तब तक कायं से आबद्ध लिङ्ग शरीर
का मोक्ष भी नहीं होता है।। ६२।।

न कारणं तावदुपैति शान्ति चराचरस्यापि च बीजभूतम् । यादन्महाकारणमम्बिके तत् न शान्तिमायाति च बीजबीजम् ॥ ६३ ॥ चराचर जगत् का बीजभूत [विराट् पुरुष रूप] कारण भी तब तक शान्ति का नहीं प्राप्त करता है, हे अम्बिके! जब तक बीज का भी बीजभूत महाकारण शान्ति को नहीं प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥ गुहचाद् गुहचतरं शास्त्रमिदमुक्तं तवानघे। न कस्याप्यग्रतो वाच्यं सत्यं सत्यं प्रियंवदे॥ ६४॥

हे अनघे (निष्पाप) ! इस प्रकार गुह्य से भी गुह्यतर इस रहस्य युक्त शास्त्र को मैंने तुमसे कहा। हे प्रियवादिनि ! इसे सच सच (यथावत्) किसी के समक्ष नहीं कहना चाहिए।। ६४।।

> न पद्माय हरिः प्राह प्राधितोऽपि पुनः पुनः । तन्मयात्र तव स्नेहात्प्रकटीकृतमुच्चकैः ॥ ६५ ॥

बारम्बार प्रार्थना करने पर भी भगवान विष्णु ने इस रहस्य को लक्ष्मी से नहीं कहा। उस रहस्य को मैंने तुम्हें स्नेह से प्रकट कर दिया।। ६५॥

> न गुह्चायापि पुत्राय गणराजाय नन्दिने । सुगोपितमिदं भद्रे तव स्नेहादुदीरितम् ॥ ६६ ॥

गणराज, रहस्य का गोपन करने वाले, पुत्र नन्दी से भी इसे मैंने छिपा रक्खा था जिसे, हे भद्रे ! तुम्हारे स्नेह के कारण, मैंने तुमसे कहा है।। ६६।।

तस्माद्गोप्यतरं भद्रे वराङ्गिमिव सर्वतः। इतीदं ते समाख्यातं किमन्यत्प्रष्टृमिच्छसि ।। ६७ ॥

 श्वित श्रीनारदपश्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे शिव-पार्वतीसंवादे प्रथम पटलम् ॥ १ ॥

इसिक्टिए यह उसी तरह बारों और से गोपनीय है जैसे वराङ्गों [मिगोपनीय सङ्कों | का चारों ओर से गोपन किया जाता है। इस प्रकार तुमसे यह सब विषय अच्छी प्रकार से मैंने कह दिया है। अब और तुम क्या पूँछना चाहती हो ?।। ६७।।

।। इस प्रकार श्रीनारद-पञ्चरात्रागम-गत 'माहेरवर तन्त्र' के ज्ञानखण्ड में भगवान् राष्ट्रर एवं माँ जगदम्बा पार्वती के मध्य वार्तालाप की प्रथम पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १ ।।

अथ द्वितीयं पटलम्

श्रीपार्वंत्युवाच

भगवन् देव देवेश लोकनाथ जगत्प्रभो । धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि सकलं जीवितं मम ।। ९ ।।

श्री पार्वती ने कहा---

हे भगवन्, हे देवों के देव, हे ईश्वर, हे लोकनाथ, हे जगत् के स्वामिन्, मैं धन्य हूँ, मैं अनुगृहीत हूँ, मेरा जीवन सफल हुआ।। १।।

> वाक्यपीयूषवर्षेण शीतलीकृतमानसा । न जानामि परं श्रेयस्तत्वज्ञानकथादृते ॥ २ ॥

आप के वाक्य रूपी अमृत की वर्षा से मेरा मानस शीतल हो गया। मैं कथा को छोड़कर कल्याणकारक तत्वज्ञान को नहीं जानती । २।

> किमायुषा च दीर्घंण पाषाणस्येव दुर्मतेः। क्षणं वे यस्य नो लग्नं चेतो वा तत्त्वचिन्तने ॥ ३॥

इस दीर्घ जीवन से क्या लाभ जिसका पाषाण की तरह दुर्मित युक्त चित्त आणमात्र भी तत्व विन्तन में न लगा ?।। ३।।

> यज्ञदानतपस्तीर्थवतानि नियमा यमाः। न तुलामभिगच्छन्ति स्वात्मतत्वैकचिन्तया।। ४।।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, त्रत, नियम और यम आदि मात्र आत्म तत्त्व के चिन्तन के साथ नहीं तौले जा सकते ॥ ४ ॥

> आत्मतत्वैकशुद्धचर्था (थँ) यज्ञादीनामनुष्ठिति:। शुद्धे मनसि तत्वस्य स्फुरणं भवति प्रिय।। ५।।

आत्म तत्त्व के शुद्धि के लिए ही यज्ञ आदि का अनुष्ठान है। हे प्रिय! शुद्ध अन में ही तत्व का स्फुरण होता है।। ५।।

> तदेव यदि वा लब्धमनायासेन कुत्रचित्। दैवाद्वा गुरुतोषाद्वा साधनैर्वापि शङ्कर ॥ ६॥ किन्नु तस्यावशिष्टं वा साधनं स्वात्मदं परम्। तस्मान्महत्तरमिदं सर्वतस्तत्वचिन्तनम्॥ ७॥

यदि वह [स्फुरण] अनायास कहीं प्राप्त हो जाय, अथवा देव कृपा से या गुरु की संन्तुष्टि से किवा साधनों से भी प्राप्त हो जाय तो हे कल्याण करने वाले, उसके लिए अवशिष्ट ही क्या रहा अथवा उसे स्वात्मद श्रेष्ठ साधन से क्या लाभ ? अत: सभी प्रकार से यह तत्व-चिन्तन ही सबसे बड़ा है।। ६-७।।

> श्रुतं मया महेशान पुनर्बूहि ययातयम्। प्रष्टव्यं बहुधा भाति तथाप्येकं वदेश्वर॥ ८॥

हे महेश, यद्यपि मैने इसे सुना है फिर भी जैसा हो वैसा ही मुझसे पुनः कहें। यह बहुत प्रकार से प्रष्टव्य है किन्तु एक को ही हे ईश्वर मुझसे कहें।। ८।।

> क्रमयोगेन तच्चापि पुनः पृच्छे कृपानिधे। पद्माये हरिणा नोक्तं यद्रहस्यं महाद्भुतम्। तदत्र संशयो जातो तद्भवान् छेतुमहंति॥ ९॥

हे क्रुपानिधि ! पुन: क्रम से मैं वह पूँछती हूँ कि लक्ष्मी से भी भगवान् विष्णु ने जिस महान् एवं अद्भुत रहस्य को न कहा हो । उस्में मुझे संशय उत्पन्न हुआ है । उसके भेदन में आप समर्थ हैं । १।।

> या लक्ष्मीः परमा शक्तिः नित्यं तत्सहचारिणी । तत्प्राणवल्लभा साध्वी किं तया पृष्ठमुत्तमम् ॥ १०॥

जो लक्ष्मी परम शक्ति हैं और भगवान् की सहचारिणी हैं, उनकी प्राणवल्लभा एवं साध्वी हैं उनके द्वारा उत्तम ज्ञान क्या पूछा गया था?।। १०।।

कि रहस्यं किमध्यात्म्यं यन्नोक्तं हरिणा स्वयम् । तदत्र बूहि भगवन् प्रवक्तुं यदि मन्यसे ॥ ११॥

वह कीन सा सहस्य है, या कीन सा अध्यात्म है जो स्वयं भगवान् विष्णु ने उनसे नहीं कहा। उसे हे भगवन्, यहाँ हमें बतावें यदि मुझे बताने के योग्य आप समझते हों तो।। १९।।

न मे त्वत्तः परं किञ्चित् प्राणादप्यधिको भवान् । तथाप्यहं तवैवास्मि यन्मेर्द्धं वपुराहितम् ॥ १२ ॥

अ।पसे बढ़कर मेरे लिए कोई श्रेष्ठ नहीं है और आप तो मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय है इसलिए मैं आपकी ही हूँ क्योंकि [अर्धनारीश्वर मूर्ति में] मेरा अपना अर्ध भाग है।। १२।।

न त्वया तद्रहः कार्यं तेन गुप्तिमिति प्रभो। इत्युक्त्वा शिवपादाब्जप्रणताभूत्पुनः पुनः॥ १३॥ हे प्रभी ! तुम्हें हमसे छिपाकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यह कहकर भगवान् शिव के चरण कमलों में वह बार-बार प्रणत हुई ।। १३।।

शिव उवाच

अहो धन्यासि धन्यासि धन्यासि भुवनत्रये। न त्वया सदृशीं पश्येत्प्रेयसीं प्राणवल्लभाम्।। १४॥

भगवान् शङ्करं ने कहा — " प्राप्त कि कि कार्य करें

बही बन्य हो, बन्य हो, तीनों लोकों में तुम बन्य हो । तुम्हारे समाने प्राणों वे प्रिय प्रेयसी को हमने नहीं देखा ॥ १४॥

> त्वद्वागमृततृष्तोऽहं प्रजल्पामि श्रृण्डव तत्। एकदा खलु वैकुण्ठे विष्णुरेकान्तसंस्थितः।। १५ ।।

> सन्नियम्येन्द्रियगणं मनसा बुद्धिसारिथः। किञ्चिद्दध्यौ महातेजाः प्रमोदभरनिर्वृतः॥ १६॥

तुम्हारी वाणी रूपी अमृत से मैं तृप्त हूँ। अब मैं जो कहता हूँ उसे सुनो— एक बार वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु अकेले बैठे थे। बुद्धि रूपी सारधी से मन और इन्द्रियों का नियमन कर प्रमीद पूरित हो उन महान् तेज बाले ने कुछ ज्यान किया।। १६॥।

गलद्वाष्पाम्बुपूर्णाक्षः पुलकाङ्कितविग्रहः।
स्तिमितोद इवाम्भोधिः स्मृत्वा लीलारसाम्बुधिम् ॥ १७॥
प्राणेन्द्रियमनश्चेष्टा निमग्ना ध्यानवर्त्मनि ।
अन्तःप्रमोदभरितो बहिः सम्वेदनाक्षमः॥ १८॥

अधु पूरित चक्षु से उनके आंसू नीचे गिरने छगे। उनका शरीर पुलकित हो गया। आनन्द समुद्र के समान लीला रस रूप समुद्र को स्मरण करके प्राणेन्द्रिय और पन की चेष्टा को ध्यान मार्ग में निमग्न करके अन्तः करण में प्रमोद से पूरित होकर बाहरी संवेदन से रहित हो गए।। १७-१८।।

केवलेन शरीरेण स्थित इत्यद्भुतं च यत्। क्रीडन्ती सिखभिः साद्धं तत्राभुद्धार्गवी हि सा ॥ १९॥

यह अद्भूत था कि मात्र शरीर से ही वे स्थित थे। सिखयों के साथ क्रीडा करती हुई लक्ष्मी जी वहीं थीं।। १९।।

> ध्यानवर्त्मनि संलीनप्राणेन्द्रियमनोमितम् । प्रध्यस्तबाहचित्रज्ञानं दृष्ट्वा विस्मितमानसा ॥ २०॥

प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी को व्यानमार्ग में सम्यक् रूप से तल्लीन और बाह्य विज्ञान को प्रकृष्ट रूप से व्वस्त देखकर वह अत्यन्त आश्चर्य चिकत हुई।। २०॥

कोऽसौ त्रिलोकगुरुणा ध्यायते स्थिरचेतसा। न चास्मादपरं लोके ध्येयं पश्यामि किञ्चन ॥ २१॥

त्रैलोक्य के स्वामी भी स्थिर चित्त हो कर किसका व्यान कर रहे हैं। मेरे विचार से हमसे बढ़कर इस लोक में कोई अन्य व्यान करने योग्य नहीं है।। २१॥

> ब्रह्मणो वापि रुद्रस्य कारणं दैवतं च यः। यस्यावतारचरितं गायन्ते नारदादयः॥ २२॥

न्नह्मा और भगवान् रुद्र के भी जो [विष्णु] देव कारण हैं और जिसके चौबीसों अवतार के चरितों का गान नारद आदि महर्षियों के द्वारा किया जाता है।। २२।।

> यत्पदं प्राप्तुमिच्छन्तो वानप्रस्थं यतिव्रतम्। चरन्ति ब्राह्मणाः शुद्धा धृतविद्यातपोवृताः॥ २३॥

वानप्रस्थ आश्रम के त्रती सन्यासी भी जिसके धाम की प्राप्ति की इच्छा करते हैं। पित्रतात्मा, धर्म युक्त, तिद्या एवं तप से आदृत ब्राह्मण जन भी जिनका [यज्ञ-यागादिक द्वारा] यजन करते हैं॥ २३॥

> न यत्समोऽन्यो लोकेऽस्मिन् हचधिकस्तु कुतो भवेत् । यदुनमेषाज्जगज्जातं यिन्नमेषात्प्रलीयते ॥ २४ ॥

जिनके समान इस लोक में कोई भी नहीं है तो उनसे अधिक कैसे होगा ? फिर जिसके पलक के आक्षेप मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और पलक निक्षेप मात्र से ही प्रलय हो जाता है ॥ २४॥

> यस्मिन् चित्तं समाधाय योगिनो ज्ञानिर्मेलम् । अविद्यां हृदयग्रन्थिमुन्मुञ्चन्ति गतक्लमाः ॥ २५ ॥

जिन विष्णु में चित्त समाहित करके ज्ञान के प्रकाश से निर्मेल योगीजन भी अज्ञान रूप हृदय की ग्रन्थि को बिना श्रम के ही खोलते हैं ॥ २५ ॥

> यस्य चेतस्ययं देवो वर्त्ततेऽसौ कृतार्थकः। सोऽयं हरिः परानन्दः कस्मिश्चित्तं दधात्यहो।। २६।।

जिसके चित्त में ये देव होते हैं वह कृतार्थ हो जाता है। आनन्द की पराकाष्ठा वाले बही भगवान विष्णु अपने चित्त में, अहो ! किसका ध्यान कर रहे हैं ? ॥२६॥ इत्येव सन्दिहाना सा सखीनां पुरतः स्थिता। सस्मितं जगदे सख्या कयाचित्परया मृदा॥२७॥

इस प्रकार सन्देह में पड़ी हुई सिखयों के सामने स्थिर लक्ष्मी से किसी सिखी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर हँसते हुए कहा।। २७।।

सस्युवाच

अयं त्रिलोकेशगुरुः कमन्यं ध्यातुमर्हति । देवासुरनरा नागा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।। २८ ।। सिद्धा योगेश्वरा रुद्रा आदित्या वसवस्तथा । मरुद्गणाः सोमपाश्च पितरश्चापि चारणाः ।। २९ ।। यं पूजयन्ति सततं भक्तिप्रवणचेतसः । न तस्मात् त्रिषु लोकेषु हचस्य पूज्यतमो भवेत् ।। ३० ।।

सखी ने कहा-

ये त्रैलोक्य के भी स्वामी और किस दूसरे का घ्यान करेगें क्योंकि देव, असुर, मानवमात्र, नाग, गन्धवं, अप्सराओं के समूह सिद्ध, योगेक्वर, घद्र, आदित्यगण [अघ्ट] वसु, मच्द्गण और (इन्द्र, त्रप्टभु आदि) सोमपायी देव तथा पितर और चारण भी जिसका सतत भक्तिभाव से पूजन करते हैं। अतः तीनों लोकों में श्रेष्ट इनका पूजनीय कोई नहीं हो सकता ॥ २८-३०॥

त्वामेकां ध्यायते चित्ते प्रेयसीं प्राणवल्लभाम्। प्रतिव्रतां पतिप्राणां प्राणनायो रहो गतः॥३१॥

अपनी प्रेयसी एवं प्राणवल्लमा तुम्हारा ही ध्यान कर रहे हैं। प्राणनाथ भगवान हरि एकान्त स्थान में तुम पतित्रता एवं पति को ही प्राण समझने वाली का ही वह ध्यान कर रहे हैं।। ३९।।

धन्यासि कृतकृत्यासि यत्त्वया हरिरीश्वरः। शुद्धभावेन सततं सेवया च प्रसादितः।।३२।। तुम धन्य हो, कृतकृत्य हो जो कि सर्व समर्थ हरि भी तुम्हारी शुद्ध भाव से की गई सतत सेवा से प्रसन्न हैं।।३२।।

क्षणं तिद्वरहं सोढुमशक्तो मिलितेक्षणः।
रहः स्थितः स्वहृदये त्वन्मूर्तिं ध्यायते हिरः॥ ३३॥
क्षणभरभी तुम्हारा विरह सहने में असमर्थं होकर निमीलित नेत्रों से एकान्त स्थान में वह त्रैलोक्य नाथ हिर अपने हृदय में तुम्हारे विग्रह का ध्यान कर रहे हैं॥ ३३॥ तस्माद्धन्याः स्त्रियो लोके याः पतिप्रेमभाजनम् । इति हासच्छलेनोक्ता मेने वितथमेव सा ॥ ३४॥

इसलिए लोक में वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जो अपने पित के प्रेम का भाजन हो जायें। इस प्रकार 'हँसी के व्याज से उस सखी ने कहा है' ऐसा उन लक्ष्मी ने सोंच कर उसे असत्य ही माना।। ३४।।

रमोवाच-

अहो सिख यदीत्थं त्वं निरर्थकिमिदं वचः। न मां स्मरति देवेशो ध्यानमार्गे कदाचन॥ ३५॥

रमाने कहा—

अहो सिख ! तुम्हारा इस प्रकार का जो यह कथन है वह निरर्थक है। देवताओं के ईश, कभी भी व्यान मार्ग में मेरा स्मरण नहीं करते। ३५॥

मिय विरक्तः सततमिकञ्चनजनिष्रयः। कथं मां ध्यायते चित्ते विरहं सोढुमक्षमः॥ ३६॥

वह सदैव मुझसे विरक्त रहकर अकिंचन [च्दिरिद्र] जन को ही चाहते हैं। फिर विरह में असमर्थं हो चित्त में मेरा ध्यान क्यों वे करने लगे?।। ३६॥

अकुण्ठितमहाबाधा प्रसादादस्य सन्ततम्। जानामि सकले लोके भजतो मां दृढवतान्।। ३७॥ इनकी प्रसन्तता से सदैव महान् बाधा हट जाती है और मैं जानती हूँ कि समस्त संसार में मुझे दृढ़वतीजन भजते रहते हैं।। ३७॥

ये चापि त्रिषु लोकेषु यत्र कुत्रापि संस्थिताः।
भजन्ते तानहं भक्तान् हृदि पश्यामि सन्ततम्।। ३८।।
तीनों लोकों में जो जहाँ कहीं भी रहें उन भक्त जनों का ही वे हृदय में भजन
करते रहते हैं ऐसा मैं सदैव देखती हूँ।। ३८।।

तदा कथं तु हरिणा चित्ते ध्यातापि तं सिख । न वेद्या सर्वभावज्ञा सर्वलोकान्तरस्थिता ॥ ३९॥

अतः चित्त में उनका ध्यान करने पर भी, हे सिख ! श्रीहरि मेरा ध्यान कैसे करेंगे। सभी भावों के ज्ञाता और सभी लोकों में स्थित लोगों को मैं नहीं जानती हूँ।। ३९॥

तस्मान्न मां नच विधि न रुद्रमिप शङ्करम्। नान्यं वा प्राणसदृशं भक्तं वा ध्यायतीश्वरः।। ४०॥ इसिलिए वे न तो मुझे और न तो ब्रह्मा और न रुद्र या शङ्कर का ही ध्यान २ मा० कर रहे हैं। वह ईश्वर तो और को नहीं अपितु प्राण के तुल्य भक्तों का ही ह्यान कर हैं।। ४०।।

> को वेदास्य परं चित्ते निहितः किश्चदीश्वरः। तस्मात्प्रबुध्यमानेऽस्मिन् सर्वं पृच्छाम्यसंशयम्।। ४९॥

फिर इनके चित्त में कौन ईश्वर निहित है इसे कौन जान सकता है ? इसलिए इनके जगने पर इस विषय में सब कुछ नि:सन्देह रूप से पूँछ लूगी ।। ४९ ।।

> इत्युक्त्वा सिखवर्गेण कुतूहलसमन्विता। पुरः तस्यौ परेशस्य प्रबद्धकरसम्पुटाः। ४२ ॥

इस प्रकार कहकर सिखयों के साथ कुतूहल युक्त मन से वह परमेश्वर भगवान् विष्णु के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गईं।। ४२।।

> तावदेव हरिः साक्षान्मुक्तध्यानो ददर्श, ताम् । बद्धहस्ताञ्जलिपुटां सखीमण्डलमध्यगाम् ॥ ४३ ॥

तभी श्रीहरि ने ध्यान से निवृत्त होकर हाथ जोड़े हुए सिखयों के मण्डल के मध्य उन्हें साक्षात् रूप से सामने देखा ।। ४३।।

विरोचयन्तीं प्रभया दिन्यालङ्कारभूषिताम्। मणिकुण्डलनिर्भान्तकपोलविमलप्रभाम् ॥ ४४॥

वे सभी दिव्य अप्लङ्कारिक आभूषणों से विभूषित हो अपने प्रभा से दीसिमान थीं। मणिजटित कुण्डल कर्णों में पहनने से विमल कथोल की प्रभा को धारण कर रही थीं। ४४॥

> सुनासां सुदतीं सुभ्रूं चिबुकोद्देशशोभिताम् । कम्बुकण्ठीं हृदि भ्राजन्मणिहारमनोहराम् ॥ ४५ ॥

उनकी नाक सुघड़ और सुन्दर दन्तपंक्ति थी। उनकी भीहें सुन्दर और चिबुक (ठोढ़ी) बड़ी ही सुन्दर होने से सुशोभित थी। उनके कण्ठ कम्बु (सुराही) के आकार के गोल थे। उनके वक्षस्थल पर मणियों की मनोहर माला शोभा पा रही थी।। ४५ ॥

काञ्चीकलापरिचिरां वलयाङ्गदन् ुराम् । त्रिलोकीदेवतां साक्षाद्विनयावनतेक्षणाम् ॥ ४६ ॥ दृष्ट्वा प्रबोधमापन्नं हरि कमललोचनम् । शीष्णां स्पृशन्ती चरणं प्रोवाच विनयान्विता ॥ ४७ ॥ कमर में बंबी छोटे-छोटे घुं घुरुओं से युक्त करधनी शोभा पा रही थी । उनकी बाहों में कंकण एवं बाजूबन्द बँधे थे और पैरों में नूपुर बज रहे थे। साक्षात् छप से विनयावनत चितवन वाली त्रिलोक की देवता लक्ष्मी ने उन कमल लोचन औ हरिको ध्यान से निवृत्त देखकर अत्यन्त विनय से शिर से चरणस्पर्श करके कहा ॥ ४६-४७ ॥

रमोवाच 📆 💮 🔅 🕫 कार अहो देवेश भगवन् भक्तवत्सल भूधर। कृपां कुरु जगन्नाथ सन्देहं विनिवारय।। ४८।।

रमा ने कहा —

हे देवेश, भगवन् भक्तवस्सल, हे पृथ्वी के पालक, हे जगन्नाय मेरे ऊपर क्रुपा करिए और मेरा सन्देह निवारण करिए ॥ ४८ ॥

> त्वमेकः सर्वलोकानां स्रष्टा हत्ती च पालकः। दैवतं सर्वदेवानां न त्वयान समोऽधिकः॥ ४९॥

वस्तुतः तुम्हीं सभी लोकों के सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हो एवं पालक भी तुम्हीं हो। तुम देवों के भी देव हो। तुम्हारे समान या तुमसे अधिक कोई और नहीं है ॥ ४९ ॥

कि ध्यायसि रहः स्थित्वा विलीनकरणाञ्चयः। तद्धचानानन्दसन्दोहपुलकाञ्चतनुभृ शम्

फिर आप एकान्त में स्थित होकर इन्द्रिय और उसके विषयों को विलीन करके किसका ह्यान करते हैं ? वह कौन है जिनके ह्यान में आप आनन्दातिरेक से अत्यन्त रोमान्त्रित गात हो जाते हैं।। ५०।।

अस्मिन् खिद्यति मिच्चत्तं त्वत्तोऽप्यपरशङ्कया। तं ब्रूहि करुणासिन्धो यथाहं प्रकृतिं वर्जे ॥ ५१ ॥

अन्यान्य शङ्काओं से मेरा चित्त इस विषय में विषादग्रस्त हो रहा है। अतः िहे करुणा के समुद्र ! आप उसे कहिए जिससे हम प्रकृतिस्थ हो जाये ॥ ५१॥

इत्युक्तो रमया देव्या हरिरात्मा शरीरिणाग्। गिरा मधुरया वाचा रमणी रमयन्तिव।। ५२।।

इस प्रकार रमादेवी के कहने पर शरीरियों के आत्मा श्रीहरि ने मधुर वाणी में मानो रमणी का रमण करते हुए से बोले ।। ५२ ।।

श्रीभगवानुवाच -----

अहो कल्याणि वचनं वदामि श्रुणु साम्प्रतम्। अहं लोकगुरुः साक्षान्न मे ध्येयोऽस्ति कश्चन। अहमात्माखिलाद्यारो ब्रह्मम्द्रेन्द्रवन्दितः । ५३ ॥ श्री भगवान् विष्णु ने कहा— हे कल्याणि ! अब मैं कहता हूँ। तुम सुनो। मैं साक्षात् रूप से इस लोक का गुरु हूँ। मेरे लिए कोई भी ज्यान के योग्य नहीं है। ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्र से बन्दित मैं ही अखिल विश्व का आधार एवं आत्मा हूँ।। ५३।।

विश्वस्मिन्विततं पदय मामेव सचराचरे । विश्वं मयि ततं पदय किमन्यज्ज्ञातुमिच्छसि ।। ५४ ।।

मुझ में ही सम्पूर्ण चराचर जगत् फैला हुआ है। तुम उसे देखो। मुझ में ही जब तुम सम्पूर्ण विदव को देख सकती हो फिर तुम और क्या जानना चाहती हो।। ५४।।

तस्य मे विश्वजीवस्य शक्तिस्त्वं समधमिणी। आद्याखिलाधारमयी मदानन्दमयी शुभा।। ५५।।

उस मेरे विराट् स्वरूप में विद्यमान जीव की तुम समधर्म वाली मेरी शक्ति हो। तुम आद्या शक्ति हो। अखिल विश्व की आधारमयी हो और मेरे लिए शुक्र एवं आनन्दमयी हो।। ५५।।

> तां त्वां ब्रह्मादयो देवा ऋषयोऽथ धृतवताः। इन्द्रादयस्तु दिक्पाला मुनयो नारदादयः॥५६॥ भजन्तोऽपि न ते सुभ्रु प्रसादकणिकास्पृशः। सा त्वं मे हृदये लीना परमानन्दरूपिणी॥५७॥

ब्रह्मा आदि देन, ऋषिगण और व्रतधारी महात्मा, इन्द्र आदि देनगण, दिक्षाल और नारव आदि मुनिजन तुम्हारा भजन करके भी, हे सुन्दर भौहों वाली ! तुम्हारी प्रसन्नता के मात्र एक कण का भी स्पर्श नहीं कर पाते हैं। परम आनन्दकपिणी वह तुम मेरे हृदय में लीन हो।। ५६-५७।।

यदा त्वां नैव पश्यामि जगदान्ध्यं विभाति मे । दृष्टायां त्विय देवेशि सम्यक् पश्याम्यहं पुनः ॥ ५७॥

जब मैं तुम्हें नहीं देखता हूँ तो मुझे सम्पूर्ण जगत् अन्धकार युक्त ही दिखता है। हे देवेशि ! तुम्हें देख लेने पर पुनः मैं अच्छी प्रकार से देखने लग जाता है। ५८॥

त्वं गता सिखिभिः सार्धं पुष्पावचयहेतवे। तावत्ते विरहं सोढुमशक्तोऽहं वरानने।। ५९।। हे सुन्दर मुख वाली! जब तुम सिखयों के साथ फूल तोड़ने गर्द[ं] थी, ^{तब} भी मैं तुम्हारा विरह न सह सका ॥ ५९ ॥

त्विचित्तो रहिंस स्थित्वा त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः प्रिये । त्वामेव हृदये ध्यायन्निमीलितविलोचनः ॥ ६० ॥

अतः हे प्रिये ! तुम्हें अपने चित्त में रखकर, तुम्हारे प्राण से प्राण सिलाकर, तुम्हारे में ही आसक्त मन वाला होकर और तुम्हारा ही अपने हृदय में ध्याव करते हुए अपने नेत्रों को निमिलित कर लिया था।। ६०॥

ललने ललितं रूपं त्बदीयं सुरदुर्लभम्। ध्यायामि ध्यानयोगेन तावत्त्वं समुपागता ॥ ६९॥

है ललने ! तुम्हारा ललित रूप देवों को भी दुर्लम है। जतः ज्योंहि मैंने ध्यानयोग के द्वारा तुम्हारा ध्यान किया तभी तुम आ गई ।। ६१।।

इत्येवं ते मया प्रोक्तं सत्यं जानीहि सुवते। श्रीलक्ष्मीकवाच-

> देवेश त्वत्प्रसादेन सर्वेषां हृदि चेष्टितम्। जानामि सकलं नाथ यथाकर्म यथाकचि ॥ ६२ ॥

इसलिए हे सुन्दर [पाति] व्रत को घारण करने वाली। इसे ही सत्य समझो जिसे मैंने तुमसे कहा है।

श्री लक्ष्मी ने कहा-

हे देवेश ! आपके प्रसाद से मैं सभी के हृदय में हुई चेष्टाओं को कर्मानुसार और रुचि के अनुसार, हे नाथ सब कुछ मैं जानती हूँ ॥ ६२ ॥

> अहं हृदि त्वया ध्याता विरहेणापि माधव। त्वय्येव निवसाम्येव त्वदन्तःकरणेक्षिणी॥६३॥

हे माधव ! विरह होने पर भी मैं आपके हृदय में घ्यान की गई। मैं तो आप में ही निवास करती हूँ। मैं तो आपके अन्त:करण की दृष्टा हूँ।। ६३।।

> अहो चित्रमिदं भाति त्वदन्तःस्थाप्यहं प्रभो। न जानामि त्वदन्तःस्थं आत्मानमिवसन्मतिः॥ ६४॥

हे प्रभो ! तुम्हारे हृदय में रहकर भी मुझे यह विचित्र सा लग रहा है कि आपके अन्तःकरण की बात स्वयं की अपनी बुद्धि से मैं नहीं जानती हूँ ॥ ६४॥

न प्रतारियतुं योग्या भक्ता तेतीव वल्लभा। भक्तप्रतारकं लोके कथमन्यो भजिष्यते ॥ ६५॥ तुम्हारे अत्यन्त प्रिय भक्त प्रतारण (छोड़ने) के योग्य नहीं हैं। भक्तों को छोड़ कर इस लोक में दूसरे का आप क्यों भजन करेंगे।। ६५।।

त्रिलोक्यां यदि वा किश्वत् भक्तं ध्यायसि दुर्गतम् । त्वदिच्छयैव तद्दःखं सर्वं विलयमेति च ॥ ६६ ॥

त्रिलोक में यदि किसी दुर्गति युक्त भक्त का आप व्यान करते हैं तो आपकी इच्छा मात्र से ही उसका सभी दुःख कट जाता है।। ६६।।

तस्मात्त्वदन्यो वै कश्चिदीश्वरस्त्वनुमीयते। तं वै वदस्व देवेश यद्यहं तव वल्लभा।। ६७।।

इसिलए मुझे ऐसा लगता है कि आपसे अन्य कोई आपका ईश्वर है जिसका जाप घ्यान करते हैं। हे देवेश ! यदि मैं आपकी प्रिया हूँ तो आप उन्हें बतावें।। ६७।।

> न चात्यो मे प्रियतमो नेश्वरो वा भवत्परः। परं वेदितुमिच्छामि कौतुकेन समन्विता।। ६८॥

मेरा तो आपसे अन्य कोई और प्रियतम या आपको छोड़कर दूसरा ईश्वर नहीं है। इसलिए मेरा मन कौतूहल युक्त हो जानने की इच्छा करता है। ६८॥

विष्णुदवाच-

न कौतुकं त्वया कार्यं मदुक्त्या निवृति व्रज। न चाग्रहं प्रकुर्वन्ति विद्वांसः साधवो जनाः॥ ६९॥

भगवान् बिष्णु ने कहा-

तुम्हें भीर कुत्हल नहीं करना चाहिए। मेरी पूर्वीक्त बात से ही कुत्हल की निकृति करो। फिर निद्वान् और साधुजन भी इस बारे में कोई आग्रह नहीं करते हैं।। ६९।।

देव्याग्रहवतां पुंसां न धर्मायौ न कामना। प्रसिष्ट्यन्ति कदाचिद्वा बुद्धेः फलमनाग्रहः॥ ७०॥

हे देवि ! आग्रह करने वालों के लिए न धर्म है, न अर्थ है और न कामना ही है। द्यों कि बिना आग्रह के ही कभी कभी बुद्धि से ही फल की सिद्धि हो जाती है। ७० ।।

प्राधितं तु शिरो देयं पशुद्रविणसम्पदः। राज्यं कोशो मही दुगँ तथान्यदिष सुन्दरि॥ ७१॥

अन भी, जसम्पित भी, पशु भी और प्रार्थना करने पर शिर भी उसे दिया जा सकता है। हे सुन्दरि! राज्य, खजाना, पृथ्वी, किला या अन्य कुछ भी उसे दिया जा सकता है।। ७१।।

धनैः प्राणैः शरीरैश्च त्यक्षद्भिनीपकुर्वते । ते यास्यन्ति स्वयं त्यक्त्वा कालवेगेन कर्षिताः ॥ ७२ ॥

किन्तु घनों, प्राणों और शरीरों के त्याग करने वालों का उपकार उससे नहीं होता। क्यों कि काल की गति से किंवत होकर ये तो स्वयं ही [भौतिक वस्तुओं को] त्याग कर चले जाते हैं।। ७२।।

> याचकाशा हता येन हतं तेन चराचरम्। तस्मात्प्राणादिकं सर्वं याचते देयमेव हि॥७३॥

अतः याचक (माँगने) की आशा (प्रवृत्ति) जिसके द्वारा नष्ट कर दी गई है उसके द्वारा चराचर जंगत् नष्ट कर दिया गया है । इसलिए माँगने बालों को प्राण आदि सभी कुछ देना ही चाहिए।। ७३।।

> अदेयं तु परं तत्वं लोकातीतं यतो हि तत्। तस्माद्दुराग्रहं त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना।। ७४।। वर्तितव्यं त्वया भद्रे मत्प्रसादपरीप्सया। इत्युक्ता सा तदा लक्ष्मीविष्णुना प्रभविष्णुना। ईषत्कोपसमाविष्टा कषायीभूतलोचना।। ७५।।

जो नहीं देने योग्य है वह है 'परम तत्त्व'। क्यों कि वह लोक से अतीत की वस्तु है। इसलिए अपने दुराग्रह का त्याग करके प्रसन्न मन से तुम्हें, हे भद्रे! मेरे प्रसाद की इच्छा से मेरा अनुवर्तन करना चाहिए। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न भगवान् विष्णु के द्वारा अनुवर्तित वह लक्ष्मी तब अन्यमनस्क भाव से कुछ क्रोधा-विष्ट हो गईं।। ७४.७५।।

आत्मानमात्मना धृत्वा प्रोवाच वचनं पुनः।
स्त्रीपुंसोर्देहभागाभ्यामेकमेव वपुः स्मृतम्।। ७६।।
अपने को अपने में ही समाहित करके पुनः उन्होंने कहा—स्त्री और पुरुष
दोनों का शरीर तो विद्वानों के द्वारा एक ही कहा गया है।। ७६।।

कथं पश्यसि भेदेन मामेकतनुरूपिणीम्।
पुरातनैश्च कविभिर्दाम्पत्ये प्रेम रूपितम्॥ ७७॥
तो आप मुझे एक अलग शरीर के रूप में क्यों देख रहे हैं ? पुरातन कवियों

तो आप मुझ एक अलग शरार करूप म क्या दख रह ह : पुरातन कावया द्वारा भी दाम्पत्य जीवन में प्रेम का निरूपण ही किया गया है।। ७७।। तन्नाशितं त्वयैकेन प्रेमरीतिविदापि भोः।
पत्युः प्रेमबहिभूतां धिक् स्त्रियं विमतां गृहे।
पतिश्चापि शठस्तस्या यः साध्वीमप्युपेक्षते॥ ७८॥

बापके द्वारा प्रेम की रीति के जानकार होने पर भी फिर उसे क्यों तिरस्कृत कर दिया गया ? पित के हृदय में जिस स्त्री के लिए प्रेम न हो उसे धिक्कार है। फिर वह पित भी शठ है जो अपनी सती-साब्बी स्त्री की उपेक्षा करता है।। ७८।।

> तस्माद्देवाल्पपुण्याहं कथं प्राप्स्यामि चेप्सितम्। आप्रसादं च भवतः करिष्ये तप उल्बणम्॥ ७९॥

अलप पुण्य वाली मैं कैसे अपने अभीष्ट को प्राप्त कर्लगी? अत: आपको जब तक मैं प्रसन्त न कर लूँ तब तक मैं कठोर तपस्या कर्लगी।। ७९।।

> येन प्रसन्नो भगवान् उपदेश्यति तत्पदम् । इत्युक्त्वा भगवत्पादं प्रणम्य च मुहुर्मुहुः । प्रदक्षिणीकृत्य ययौ वैकुण्ठात्तपसे रमा ॥ ४० ॥

जिससे प्रसन्त होकर आप भगवान् उस परम पद को उपदिष्ट करते हैं। इस प्रकार कहकर बारम्बार भगवान् के चरण का स्पर्श करके और उनकी प्रदक्षिणा करके लक्ष्मी जी वैकुण्ठ से तपस्या के लिए कहीं और चली गई ।। ८० ।।

> सामभिविविधैश्चापि वचनैश्च नयान्वितैः। निवार्यमाणापि रमा न न्यवर्तत निश्चयात्।। ८९।।

अन्ततः विविध सान्त्वना सौर नीति समन्वित वचनों के द्वारा निवारित की गई भी छक्ष्मी ने अपने निरुचय को नहीं छोड़ा।। ८९।।

 इति श्रीनारदपश्वरात्रे माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे शिवोमासंवादे द्वितीयं पटलम् ॥ २ ॥

|| इस प्रकार श्री नारद पान्त्ररात्र आगम गत 'माहेश्वर तन्त्र' के ज्ञान खण्ड में भगवान् शक्कर और मां जगदम्बा पार्वती के मध्य संवाद के द्वितीय पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥

अथ तृतीयं पटलम्

पार्वत्युवाच--

भगवत् श्रोतुमिच्छामि परं कौतूहलं हि मे। रमया परया साध्व्या प्राधितोऽपि पुनः पुनः॥ १॥ नोक्तवान्परमं तत्वं तदर्थं तपसे गता। महाइचर्यतमं देव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ २॥

पार्वती ने कहा-

हे भगवन् ! क्योंकि मुझे अत्यन्त कुत्हल है अत: मैं सुनना चाहती हूँ। इस अकार तपस्या के लिए गई हुई पतिपरायणा साब्वी रमा के द्वारा पुनः पुनः प्राधित होने पर भी विब्णु भगवान् ने परमतत्त्व को उनके लिए क्यों नहीं कहा ? हे देव ! अहान् आक्वांतम उस तत्त्व की व्याख्या करने में आप समर्थ हैं।। १-२॥

शिव उवाच-

श्रृणु सुन्दरि वक्ष्यामि तव स्नेहादशेषतः। अवाच्यमन्यथा देवि कोटिकल्पशतैरपि॥३॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

हे सुन्दरि! तुम्हारे अशेषतः स्नेह से मैं कहता हूँ, सुनो । हे देवि ! सी करोड़ कल्प में भी यह दूसरे से बतलाने योग्य नहीं है ।। ३ ।।

प्रार्थितोऽपि यदा विष्णुर्नोक्तवान् स्वहृदि स्थितम् । श्रवणेच्छाविघातेन विरहाग्निविधूतया ।। ४ ।। कृतं महत्तपश्चोग्रं सर्वलोकोपतापनम् । केतुमालं (ले) समासाद्य कृत्वा नियममात्मना ।। ५ ।।

अपने हृदय में स्थित उस परम तत्त्व को जब प्राधित होने पर भी विष्णु ने जहीं कहा तब सुनने की अत्यन्त उत्कट इच्छा के पूर्ण न होने के आवात से, तीन्न विरह की अग्नि से व्यथित महान् और उग्र एवं सभी लोकों को तपाने वाला तप रमा ने किया। केतुमाल नामक पर्वत पर आकर उन्होंने अपने आत्मभाव से [यम] नियम आदि किया।। ४-५।।

साध्वी चकार प्रतिमां विष्णोः परमसुन्दराम् । तत्र पर्यचरत् प्रीत्या गर्हयन्ती स्वकं वपुः ॥ ६॥ <mark>उन पतिव्रता लक्ष्मी ने विष्णु की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाई। बहाँ पर</mark> अपने शरीर को गहित करते हुए प्रेम से उनकी परिचर्या की ।। ६ ।।

> स्नानेन त्रिषु कालेषु नियमेन दमेन च। भावशुद्धि गता साध्वी स्थण्डिले शयने गता।। ७।।

तीनों कालों में स्नान द्वारा, नियम एवं दम के द्वारा उन [पतिपरायणा] साध्वी ने [प्रयमतःः] भाव की शुद्धि को प्राप्त किया और पथरीली भूमि पर ही शयन किया ॥ ७॥

> शीतकाले जले मग्ना ग्रीष्मे पञ्चाग्निसेविनी। वर्षोष्विप स्थलगता वृष्टिवातसहा स्थिता।। ८॥ स्त्रीत्वचाञ्चल्यमुत्सृज्य नानालङ्कारसम्पदम्। भूम्यामशेत सततं चिन्तयन्ती हरिं हृदि॥९॥

शीतकाल में जल में मन्न होकर, ग्रीब्मकाल में पञ्चान्नि (१. धूप, २. अन्ति ३. जठरान्नि, ४.) का सेवन करते हुए वर्षा में भी खुले आकाश में वृष्टि एवं वात (के यपेड़ों) को सहते रहकर और स्त्रियोचित चाञ्चल्य एवं नाना प्रकार की अलङ्कार-सम्पदा को छोड़कर सदैव हृदय में श्रीहरि का ही चिन्तन करती हुई भूमि पर ही उन्होंने धयन किया।। ८.९।

स्वप्ने ददर्श सततं हरिं कमललोचनम्। तत्रापि प्रार्थयन्तीदं सोऽपि नेत्त्याह विक्लवम्।। १०॥ सुप्ता सोत्थाय तत्रैव पुनरुद्बोधमागता। एवं सा तन्मयीभूतहृदया विवशा भृशम्॥ ११॥

कमल के समान नेत्रों वाले श्रीहरि को सतत स्वप्न में देखा, और वहाँ भी विशेष रूप से भयाक्रान्त एवं प्रार्थना करने वाली (उन देवि) से उन्होंने नहीं ही कहा। सोकर एवं उठकर, फिर वहीं जगकर (बहुत समय तक) तप करती हुई इस प्रकार वह तन्मयीभूत हृदय से (परम तत्त्व के लिए) बहुत विवश हो गईं।। १०-११।।

आत्मानं गर्हयामास मनोरथमपश्यति।
यदा मनोरथं नैवं प्राप्ता देवी तपस्विनी।
तदैकपादेन भुवमाक्रम्यात्मिन निर्मला।। १२।।
निधाय स्वामिनं चित्ते तस्मिन् चित्तं निधाय च।
एकात्म्यं तु गता साध्वी तताप परमं तपः।। १३।।

अपने मनोरथ को न देखकर उन्होंने अपने को गहित समझा और जब इस अकार उन तेजस्वी देवी ने अपना मनोरथ नहीं प्राप्त किया, तब एक पैर से पृथ्वी पर खड़े होकर अपने निर्मल [मल-रहित] चित्त में स्वामी की मूर्ति रखकर और उन स्वामी में अपने चित्त को रखकर उन साध्वी ने एकात्म्यभाव को प्राप्त होकर अत्यन्त उत्कृष्ट तप किया ॥ १२-१३॥

> तिष्ठिखायाः समुद्भूतः सधूमोऽग्<mark>निः परिज्वलन् ।</mark> तापयामास निष्ठिलं ब्रह्माण्डं भयविह्वलम् ॥ १४॥

उनकी शिखा [चोटी] से समृद्भूत घूम के सहित अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। तब उस अग्नि ने भय से विह्वल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तप्त किया। १४।।

> देवासुरनरा नागा गन्धर्वाप्सरसस्तथा। पिशाचा गुद्धकाः सिद्धा विद्याध्याः खगचारणाः ॥ १५॥ तपोमयेन ज्वलता वह्निना दुःसहेन च। व्यथिताः शोकसंविग्ना न सुखं लेभिरे क्वचित् ॥ १६॥

देव, असुर और मनुष्य, नाग, गन्धवं एवं अप्सरा, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, विद्याधर तथा आकाशवारी सभी प्राणिजात उस तपोमय जलती हुई अग्नि के दु:सह ताप से व्यथित और शोकसंविग्न होकर कहीं भी सुख न प्राप्त कर सके ।। १५-१६ ।।

ततश्चेन्द्रादयो देवा मरुतश्चोष्मपादयः। आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्चिनौ पितरस्तथा।। १७॥ ब्रह्माणं शरणं जग्मुः पितामहमनिन्दितम्। दवृशुः परमं देवं ब्रह्माणं परमासने।। १८॥

तब इन्द्र आदि देव-गण, महद्गण एवं श्रोध्मपाद आदि देव, १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र और अध्वनद्वय तथा पितर सभी अनिन्दित पितामह ब्रह्मा के शरण में गए। वहाँ श्रोध्ठ आसन पर बैठे हुए उन्होंने देव ब्रह्मा को देखा।। १७-१८।।

प्राणायामेन युञ्जानं शुभ्रकूर्चं चतुर्मुखम् । सनकाद्यः परिवृतं नारदाद्यैष्पासितम् ॥ १९ ॥ मूर्तिमद्भिस्तथा वेदैः पृथक्सिंहासनस्थितैः । पुराणैः संहिताभिश्च विद्याभिः परिवेष्टितम् ॥ २० ॥

प्राणायाम के द्वारा योगाभ्यास में रत; सफेद दाढ़ी वाले चतुर्मुं स ब्रह्मा सनकादि भ्रष्टियों से परिवृत और नारदादि मुनियों से उपासित थे, तथा मूर्ति- मान् एवं पृथक् सिहासन पर स्थित वेदों के द्वारा और पुराणों, (तन्त्र) संहिताओं एवं (चतुर्दश) विद्याओं से वे परिवेष्टित थे।। १९-२०।।

विचारयन्तमात्मानं परमं तमसः परम् ।
पुण्योत्कर्षेण धर्मेण त्यागेन ज्ञानसम्पदा ॥ २१ ॥
विमर्षेणात्मनश्चापि ब्रह्मचर्येण संयमैः ।
नियमैयोगधर्मेश्च यत्र क्रीडन्ति सङ्गताः ॥ २२ ॥

वे श्रेष्ठ एवं तमस् से भी पर अपनी आत्मा का विचार करते हुए विद्यमान वि । पुण्य से उत्कृष्ट धर्म, त्याग एवं ज्ञान संपत्ति और आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मचर्य, संयमों, नियमों, और योग आदि धर्म जहाँ एक साथ क्रीडा किया करते थे।। २१-२२।।

दृष्ट्वामरास्ते परमासने स्थितं ब्रह्माणमाद्यं पुरुषं पुरातनम् । प्रणेमुरानन्दजलाकुलेक्षणाः कृष्यत्वचो गद्गदयाब्रुवन् गिरः ।। २३ ॥ नमो नमस्ते जगदेककर्त्रे नमो नमस्ते जगदेकपात्रे । नमो नमस्ते जगदेकहर्त्रे रजस्तमःसत्वगुणाय भूमने ।। २४ ॥

उन देवों ने उत्कृष्ट बासन पर स्थित आदि एवं पुरातन पुरुष ब्रह्मा को देखा। उन्होंने बानन्दाश्रु से परिपूर्ण भर्राई हुई एवं गद्गद वाणी से कहा—जगत् के एकमात्र कर्ता तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है, जगत् के एकमात्र पालक तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। जगत् के एकमात्र हर्ता [हत्रें] और सत्व; रज एवं तमो गुण के लिए भूमि स्वरूप तुमको नमस्कार है, नमस्कार है।। २३-२४।।

अण्डं चतुर्विशतितत्त्वजातं तस्मिन् भवानेष विरञ्ज्विनामा । जगच्छरण्यो जगदुद्वमन्स्वयं पितामहस्त्वं परिगीयसे बुधैः ॥ २५ ॥

चौबीस तत्त्वों से बने हुए अण्ड रूप जिस [ब्रह्माण्ड] में आप साक्षात् विरिश्व नाम से जगत् को शरण देने वाले हैं। जगत् के स्वयं उद्वमन-कर्ता आप को विद्वान् लोग पितामह के नाम से कीर्तन करते हैं उन आपको नमस्कार है। २५॥

त्वं सर्वसाक्षी जगदन्तरात्मा हिरण्यगर्भो जगदेककर्ता। हत्तीतथा पालयितासि देव त्वत्तो न चान्यत्परमस्ति किञ्चित्।। २६।।

तुम सभी के साक्षी हो, जगत् के अन्तरात्मा, हिरण्यगर्भ, एवं जगत् के एकमात्र कर्ता, हर्ता तथा पालन करने वाले हे देव! तुमसे दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं है।। २६॥

त्वमादिदेवः पृष्षः पुराणः साक्षात् स्वयं ज्योतिरजः परेशः । दवन्मायया मोहितचेतसो ये पश्यन्ति नानात्त्वमहो त्वयीशे ॥ २७ ॥ तुम आदि देव हो। तुम पुराण पुरुष हो। तुम साक्षात् रूप से स्वयं ज्योतिमान् हो, अज हो और श्रेष्ठ ईश्वर हो। तुम्हारी माया से ही मोहित चिक्तः होकर तुम्हारे में ही वे (पुरुष) नानात्व को देखते हैं।। २७॥

> त्वमाद्यः पुरुषः पूर्णस्त्वमनन्तो निराश्रयः। सृजसि त्वं च भूतानि भूतैरेवात्ममायया।। २८।।

तुम आदि देव, पूर्ण पुरुष हो, तुम अनन्त एवं निराश्रय हो । तुम पञ्चमहाभूतोः से अपनी माया से ही प्राणियों का सृजन करते हो ।। २८ ।।

त्वया सृष्टमिदं विश्वं सचराचरमोजसा। कथं न पालयस्येतत् ज्वलदाकस्मिकाग्निना॥ २९॥

आपके ओज से चराचर जगत् के सहित यह सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि हुई है। अतः आकस्मिक अग्नि की ज्वाला से जब यह जल रहा है तो आप इसका पालना क्यों नहीं करते हैं ? ।। २९ ।।

विनाशमेष्यति जगत् त्वया सृष्टिमिदं प्रभो। न जानीमो वयं तत्र कारणं तद्विचिन्त्यताम्।।३०॥ हे प्रभो! बापके द्वारा सृष्ट यह जगत् विनाश को प्राप्त हो जायगा। हमर होग उसका कारण नहीं जानते हैं। अतः आप ही उस पर विचार करें।।३०॥

कोऽयं विह्निरपूर्वोऽयमुत्थितः परितो ज्वलन्। तेनोद्विग्निमदं विश्वं ससुरासुरमानवम्।। ३०।। यह अपूर्वविह्न कीन सी है, जो चारों बोर से जलते हुए उठ गई है ? उस अग्नि से देवता, राक्षस और मनुष्यों के सहित यह सम्पूर्ण विश्व उद्घिग्त हो । गया है ।। ३०।।

तस्य त्वं शमनोपायं विचारय महामते।
न चेदद्य भविष्यन्ति लोका भस्मावशेषिताः।। ३२।।
हे महा मितमान्! उस अग्नि के शमन का उपाय विचार करिए। नहीं तो बाज ही ये लोक भस्मीभूत हो जायँगे।। ३२।।

इति तेषां च गृणतां देवानामातुरं वचः। विमृश्य ध्यानयोगेन तदिदं हृद्यवाप सः ॥ ३३॥ इस प्रकार उन देवों की आतुरता पूर्ण वाणी की सुनकर अपने ध्यानयोग सेः जानकर उनके हृदय में इस प्रकार विचार प्राप्त हुआ ॥ ३३॥

ततः प्रोवाच वचनममरांस्तु पितामहः। श्टणुष्टवममराः सर्वे वचनं मदुदाहृतम्॥ ३४॥ इसके अनन्तर पितामह ब्रह्मा ने देवों से इस प्रकार वचन कहे —हे देवों ! आप सभी मेरे द्वारा कहे गए वचनों को सुने ।। ३४॥

> तपस्यति रमा देवी साक्षात्पत्यावमानिता। कि त्वं ध्यायसि देवेश परं तत्त्वं भवत्परम्।। तद्वदस्वेति चाप्युक्तस्तथा नोवाच वै हरिः।। ३५॥

रमा देशी पति भगवान् विष्णु से साक्षात् अपमानित होकर तपस्या कर रही हैं। 'हे देवेश! आप अपने से भी श्रेष्ठ किस तत्त्व का घ्यान कर रहे हैं ? उसे कहें।' इस प्रकार लक्ष्मी जी के पूँछने पर भी भगवान् श्री हिर ने उस तत्त्व को नहीं कहा।। ३५॥

ततो निर्बन्धनिर्विण्णा रमा देवी रुषान्विता। केतुमालं समामाद्य तपो दारुणमाश्रिता।। ३६।। तमी उदास मन वाली देवी रमा ने रुष्ट होकर केतुमाल पर्वत पर जाकर बड़ा कठिन तप प्रारम्भ कर दिया है।। ३६।।

सा तपो लोकभयदं दारुणं विष्णुवल्लभा।
करोति तद्भालदेशादुत्थितोऽग्निस्तपोमयः।। ३७।।
उन विष्णु की प्रिया ने लोकों को भय प्रदान करने वाला और कठोर तप किया है जिसके कारण उनके ललाट-प्रदेश से तपोमप अग्नि उद्भूत हो
गई है।। ३७।।

तेन लोकाः सुसन्तप्ता दग्धप्राया विचेतसः। नाशमेष्यन्त्यसन्देहो यदि सा न तपस्त्यजेत्।। ३८।। उसी मे समस्त लोक अत्यन्त सन्तप्त होकर दग्ध प्राय और चेतना शून्य हो गए

उसी से समस्त लोक अत्यन्त सन्तप्त होकर दग्ध प्राय और चेतना शून्य हो गए हैं। निःसन्देह इनका नाश ही हो जाएगा यदि वे तप का त्याग नहीं कर देतीं। ३८॥

तस्माद्वैकुण्ठनिलयं हरेगेत्वा दिवीकसः। विष्णुं प्रसादिधिष्यामः सरुद्राः सर्व एव हि।। ३९।। इसलिए सभी देवों और रुद्रों के साथ मैं श्री हिर के निवास-स्थान वैकुण्ठ में जाकर उन्हें प्रसन्न करूँगा ॥ ३९॥

एवं निहिचत्य ते सर्वे मम धाम समाययु:।
मामस्तुवन् गिरा माडव्या प्रबद्धकरसम्पृटा:।। ४०।।
इस प्रकार निश्चत करके वे सभी मेरे धाम (शिवपुरी) को आ गए।
उन्होंने हाथ जोड़कर बड़ी ही मधुर वाणी से मेरी (भगवान् शङ्कर की) स्तुति

मयापि सत्कृता देवि सेन्द्रा ब्रह्मपुरोगमाः। दृष्ट्या सम्भाव्य देवेशं उपगुह्म पितामहम्।। ४९॥ नत्वा बृहस्पति देवि यथा योग्यं तथापरान्। निषीदध्वं निषीदध्वमित्युक्तास्ते मयामराः।। ४२॥

हे देवि ! मैं भी उन इन्द्र के सिहत और अग्रगामी ब्रह्मा आदि देवों से सत्कृत होकर अन्तदू हिट से देवेश पितामह के गूढ़ भाव को समझ गया। हे देवि ! बृहस्पति को नमन करके और अन्य देवों को यथायोग्य सत्कार करके मैंने 'बैठिए बैठिए' कहकर उन्हें बैठाया।। ४९-४२।।

निषेदुम्लानवदनाः सज्वरास्ते दिवौकसः। अपि स्वित् कुशलं देवा भवतामनुवर्तते॥ ४३॥

वे देव मानों ज्वर के सहित से म्लान मुख होकर बैठ गए। हे देवों ! आप कुशल से तो हैं ? आप लोगों का क्या कहना है ? ॥ ४३ ॥

> स्वागतं भो ! सुराः सर्वे यूयं मे चातिवल्लभाः । दृष्टो मदीयो लोकोऽयमदृष्टो मत्पराङ्मुखैः ॥ ४४ ॥

हे देवो, आपका स्वागत है। आप सभी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। हमने अपने इस लोक को देखा है और मुझसे पराङ्मुख लोगों को भी मैंने देखा है।। ४४॥

वनेषूपवनेष्वेव रमध्वमिह चेत्स्पृहा । श्रुण्वन्तु रुचिरालापान् शुकसारसपक्षिणाम् ।। ४५ ॥

आप सभी वनों एवं उपवनों में इच्छा पूर्वक रमण करें। तोते और सारस आदि पक्षियों के रुचिर कलरव को सुनें।। ४५॥

> जिद्यन्तु परमामोदमोहितानेकषट्पदान्। लतानामतिदिव्यानां सर्वर्तुकुसुमाकरान्॥ ४६॥

अत्यन्त दिव्य लताओं एवं सभी ऋतुओं में वसन्त ऋतु से मोहित होकर आए हुए अनेक भ्रमर सुगन्धि का आनन्द लें।। ४६ ॥

> महामरकतक्लप्तस्वर्णवेदिषु निर्भरम्। गङ्गानिलसुखस्पर्शाः परिक्रीडन्तु नामराः॥ ४७॥

देव गण महामरकत मणि से जटित स्वणिम वेदियों वाली गङ्गा नदी की सुखस्पर्श वायु का आनन्द लें।। ४७ ॥

नदन् मत्तमरालासु सुधापूर्णासु नित्यशः। खेलन्तु सस्त्रियः सर्वे दीधिकासु गतक्लमाः॥ ४८॥

नित्य प्रति सुधा से परिपूर्ण तालाबों में कूजन करते हुए मत्त मराल अर्थात् हुंसों के मध्य वे देव गण आनन्द लें। स्त्रियों के साथ सभी खेद रहित होकर बापियों खेलें।। ४८ ।।

> यद्यद्वा मनसोऽभीष्टं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः। किमर्थमिह सम्प्राप्ता ब्रह्मोपेन्द्रपूरोगमाः॥ ४९॥

अथवा हें अतिन्द्रिय ! जो भी आप लोगों का अभीष्ट मनोरथ हो उसे प्राफ करें। आप यहाँ पर ब्रह्म और इन्द्र के साथ क्यों पद्यारे हैं ?।। ४९।।

> निवेदयध्वं कर्त्तंव्यं यदि चेदस्ति किञ्चन। इत्येवं ते मया प्रोक्ता मामवोचन् दिवौकसः॥ ५०॥

यंदिं 'मुझे करना चाहिए' ऐसा कोई कार्यहो तो उसे मुझसे निवेदन करें । इस प्रकार मेरे कहने पर उन देवों ने मुझसे कहा।। ५०।।

> भगवन् करुणासिन्धो भक्तवत्सल धूर्जटे । स्वया सन्धिन्त्यमानानां कुशलेषु च का कथा ॥ ५१ ॥

मक्तों के लिए वात्सल्य युक्त, धूर्जंटि! आपका ध्यान करने वालों के कुशल-क्षेमों का तो कहना ही क्या है।। ५१।।

तदेवाकुशलं विद्यस्त्वत्पादस्मरणच्युनिः। जानीमः पूर्णमात्मानं अद्य तेऽनुग्रहोदयात् ॥ ५२ ॥ अपके चरण के स्मरण की च्युति से क्या अकल्याण होता है हम उसे भी जानते हैं। आज आपके अनुग्रह [रूपी सूर्य] के उदय के कारण हम स्वयं को

कि ध्यायसि चिरं तात निरुध्य हृदये मनः। लब्धानन्द इवाभासि स्वयमात्माऽपि देहिनाम्।। ५३॥

हे तात ! हृदय में मन की गित को निरुद्ध करके बहुत देर से आप क्या ध्यान कर रहे हैं ? आप शरीर धारी जीवों की स्वयं आत्मा होकर भी आनन्द प्राप्त करते हुए जान पड़ते हैं ।। ५३ ।।

एतदाचक्ष्व नो ब्रह्मन् प्रवक्तुं यदि मन्यसे। अहमाकर्ण्य वै तेषां वाचं परमशोभनाम्। मन आह्नादयन्नेषामवोचं परमोक्तिभिः॥ ५४॥

यदि हम लोगों से आप कहना चाहते हैं तो ब्रह्मन् ! इसी [आत्म तत्व] को कहिए। उनकी अत्यन्त शुभ वाणी को सुनकर मैंने श्रेष्ठ उक्तियों से आह्वादितः सन से उनसे कहा।। ९४।।

श्रुणुडवं त्रिदशाः सर्वे भविद्भ्यंदुदाहृतम्। कि ध्यायसि चिरं तात निष्ध्य हृदये मनः॥ ५५॥ लब्धानन्द इवाभासि स्वयमात्मापि देहिनाम्। तन्त वाच्यं मया देवा अपि कल्पायुतायुतैः॥ ५६॥

हे देवों ! आपने जो जिज्ञासा प्रकट की है उसे आप सभी सुनिए। जो आपने यह पूछा है कि हे तात ! हृदय में मन की गति को निरुद्ध करके बहुत देर से आप क्या क्यान कर रहे हैं ? आप शरीरधारी जीवों के स्वयं आत्मा होकर भी आनन्द प्राप्त करते हुए जान पड़ते हैं—यह सब मुझे देवों को भी कोटि कोटि कर्लों में भी नहीं कहना चाहिए।। ५५-५६।।

न यान्ति योगिनो योगैनं यज्ञैस्तप आदिभिः। न ज्ञानतीर्थवैराग्यैविना साधुनिषेवया॥ ५७॥

योगी लोग इसे योग से भी नहीं जान पाते । यह यज्ञों; तप आदि अन्य साधनों से अथवा ज्ञान से, तीर्थों के सेवन से, वैराग्य या साधु की सेवा से भी नहीं प्राप्त होता है ।। ५७ ।।

मायामात्रमिदं विश्वं वस्तुतो नास्ति किञ्चन । भूरादिसप्तलोकाश्च कालेन कवलीकृताः ॥ ५४ ॥ यह सम्पूर्ण विश्व मात्र माया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । क्योंकि भू। बादि सात लोक भी काल के द्वारा भक्षित कर लिए जाते हैं ॥ ५८ ॥

विषयानन्दसन्तुष्टा लोकाः सर्वेऽपि देवताः।
न प्राप्नुवन्ति कणिकां नित्यानन्दमहोदधेः॥ ५९॥
विषय के आनन्द से सन्तुष्ट जन और अिलल देवगण भी इस 'नित्य-आनन्द-समुद्र' का एक कण भी नहीं प्राप्त करते हैं॥ ५९॥

वेदे कर्मप्रधानं हि ततः कर्मभयी गतिः। कर्मभिर्भ्राम्यमाणा ये तृणानीवाम्भसो रयैः॥६०॥

क्योंकि वेद कर्म प्रधान हैं अतः उन [वैदिक कर्म यज्ञ यागादि करने वालों] को कर्ममयी गिं ही प्राप्त होती हैं। वे कर्मों में उसी प्रकार चक्कर काटते रहते हैं जैसे जल की भवर में तिनका चक्कर काटता रहता है।। ६०।।

> न ते विन्दन्ति तत्तत्वं कोटिकल्पशतैरपि । केचित्स्वर्गपरा लोके यजन्ते ज्ञानदुर्बलाः ॥ ६१ ॥

वे भी उस [आत्म] तत्त्व को शतकोटि-कल्पों में भी नहीं जान पाते हैं। कुछ ३ मा० ज्ञान से दुवेल जन स्वर्गकी कामनासे लोक में मात्र यज्ञ यागादि का यजन करते हैं।। ६९।।

> केचिदष्टाङ्गयोगेन निगृहीतिधयः परे । वर्णाश्रमविद्यानेन तत्तदाचारशालिना ॥ ६२ ॥

कुछ साम्रक योग के [ध्यान, धारणा, समाधि आदि] आठ साधनों से बुद्धि को समाविश्य करते हैं और कुछ लोग वर्णाश्रम के विधान में रहकर उन-उन आश्रमों के आचार का पालन करते हैं।। ६२।।

> केचित्पत्राश्चनरता वायुभक्षास्तथेतरे। केचिद्दिगम्बराः केचित् कृष्णरक्ताम्बराः परे॥ ६३॥

कुछ इक्षों के पत्ते ही खाकर बस करते हैं, कुछ बायु पीकर ही साधना करते हैं; कुछ [जैन बादि] जन दिगम्बर होकर ही रहते हैं और कुछ अन्य लाल गेरुबा आदि वस्त्र पहनकर सन्यासी हो जाते हैं।। ६३।।

केचिन्मुण्डितमुण्डाइच फलमूलाशने रताः। केचिद्भस्मनि निष्णाता मोक्षमिच्छन्ति दुर्बलाः॥ ६४॥

कुछ मुण्डित मस्तफ होकर रहते हैं, कुछ फल और [कन्द आदि] मूछ खाकर बताचरण करते हैं। कुछ अस्म लपेटे वेचारे मोक्ष की इच्छा करते हैं।। ६४।।

> नैव ते मुक्तिमायान्ति विना तत्त्वावमर्षणात् । मायाम्भोघिरयं भाति ह्यसन्नपि सदात्मकः ॥ ६५ ॥

फिर भी ने निना तत्त्वज्ञान के मुक्ति नहीं ही प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह बाबा समुद्र सत्य सा जान पड़ता है।। ६५।।

> अनेककोटिब्रह्माण्डबुद्बुदाकुलितो भृशम् । तत्त्वोर्मिजालजटिलो वासनाजलगह्नरः ॥ ६६ ॥

इस माया समुद्र में अनेक कोटि ब्रह्माण्ड बुलबुले के समान हैं। पश्च तत्त्व कहरें हैं और यह वासना के जल का बत्यन्त गहरा समुद्र है।। ६६।।

> पापपुण्यतटोन्नद्धो मोहपङ्कप्रपूरितः। सदसत्कर्मकमलकरवानन्तमण्डलः ॥ ६७॥

यह समुद्र पाप भीर पुष्य रूप दो तहों ते आबद्ध है। यह मोह रूप की चड़ से खूब भरा यहा है। सद भीर जतब कर्मरूपी कसछ एवं क्रमुदिनी के समूह वे भीतप्रोब हैं॥ ६७॥

अहन्ताशिशुमारेण तृष्णाफेनीघबहुलः

निरन्तरमुपासितः । कामनातटपादपः ।≀ ६₫ ।।

भहन्ता [मैं का भान] रूप शिशुमार [== सुइत नामक जलचर] से निरन्तर उपातित यह समुद्र तृष्णा रूप फेन के ढेरों से भरा हुआ है। इसके तट के दुक्षा वानव की कामनाएँ हैं।। ६८।।

कामक्रोधमहालोभगर्तपाषाणदुःखदः। परनिन्दापरद्रोहभुजङ्गमभयानकः ।। ६९॥

काम, क्रोब्न, मद, और लोभ इस महासमुद्र के दुःखदायी गड्ढे और पाषाण खण्ड हैं। पर निन्दा और परद्रोह इस समुद्र के भयानक सर्प हैं॥ ६९॥

> श्रद्धोरुपद्मिनी यत्र अक्षयो मोहकल्पितः । विषयतृडभिक्लान्ताः पतन्त्यस्मिन्ननेकशः ॥ ७० ॥

जहाँ स्त्रियों का विलास ही अक्षय मीह की उत्पन्त करने वाला है। विषय की भूख से क्लान्त अनेक मानव आदि जङ्गम प्राणिजात सदा इसमें गिरा करते हैं।। ७०।।

> दृष्ट्वारमत वै कश्चित् सरागं कमलाकरम् । सेव्यमानोऽपि नातृष्यत् षट्पाद इव लोलुपः ॥ ७१ ॥

बह राग के सहित किसी कमलाकर को देखकर ही रमण करता है। विषयों के इस प्रकार अत्यक्त सेवन करने पर भी वह उसी प्रकार तृप्त नहीं होता है जैसे लोलूप अवर कनी भी मधु से तृप नहीं होता।। ७१.।।

अह्नः क्षयमजानन्वे लोभितात्माजितेन्द्रियः। मधुलिट् मधुलोभेन तत्रैव विलयं व्रजेत्।। ७२।।

दिन दिन करके आयु का क्षय होता जा रहा है—यह जानकर भी विषय-छोळुप एवं अजितेण्द्रिय मनुष्य उन्हीं विषयों की और आकृष्ट होता रहता है और उसी प्रकार उन्हीं विषयों के मध्य ही मर जाता है जैसे मधु का छोभी भ्रमर उसी षधु में ही विछीन हो जाता है।। ७२।।

यत्र हंसगणास्तूर्णमाघ्राय कमलाकरम् । अशाश्वतमिति ज्ञात्वा सुखं नीडेषु शेरते ॥ ७३ ॥ बहीं पर कमलों के समूह को हंस गण शोघ्र ही सुँव कर बह शाश्वत नहीं है'—इस प्रकार जानकर अपने अपने घोसलों में सुख से रहते हैं ॥ ७३ ॥

> यत्र पङ्केषु निर्मग्ना सीदन्ती गौस्तृषातुरा। महात्मना समुद्धृत्य सुधासिन्धौ निवेशिता॥ ७४॥

भूख प्यास से अगतुर इन्द्रियां वहीं पर की बड़ में निसम्ब होकर रहती हैं अविक महास्माजन खन विषयों से अपने मन को हटाकर [तत्वज्ञान रूप] सुष्ठा के समुद्र में डाल देते हैं।। ७४।।

> यत्र खेल्रन्ति बहुशो मातङ्गाश्च करेणुभिः। अतृप्यमानाः सततं कमलामोदलम्पटाः॥ ७५॥

बहीं पर हाथिनियों के साथ हाथी बहुत प्रकार से खेला करते हैं। वे कमलों के समूह की सुगन्ध को लेकर भी उससे अनुप्त ही रहते हैं।। ७५ ॥

> यत्र मत्स्यगणान् बालान् निघ्नन्ति बलवत्तया । मकरास्तानपि क्षिप्रं निगृह्णातीह जालिकः ।। ७६ ।।

जहाँ पर सरस्यों के बच्चों के समूहों को मगर बलात् खा जाते हैं वहीं पर के समर भी मछुआरों द्वारा जाल में फैसा लिए जाते हैं।। ७६।।

> शिशुमारभयोद्धिनाः पिपासामतिवाह्य ते। न पिबन्त्यपि पानीयं पिद्यनीछायमाश्रिताः॥ ७७॥

शिशुमार के भय से पिपासित एवं उद्विग्न होकर भी पिश्वनी की छाया वाले बल को भी वे नहीं पीते हैं।। ७७ ॥

> यत्र पान्यो भुजङ्गोन परिदब्टोम्बुलालैसः। चिकित्सकेन सुज्ञेन रसदानेन बोधितः॥ ७८॥

जहाँ पर पथिक [विषय रूप] सर्पों से इसे जाकर पानी की इच्छा से व्याकुछ हो जाते हैं और तब ज्ञानी चिकित्सक के द्वारा [ओषि] रस के दान से के जगाए जाते हैं।। ७८।।

> यत्राभिमानिनी वेश्या सेव्यमानातिनिघृँ णैः । उपस्थिता पञ्चनटैनित्यसेवनतत्परैः ॥ ७९ ॥

जहाँ पर अभिमानिनी वेश्याओं का विषय लोलुप लोगों द्वारा उत्कृष्ट रूप से सेवन किया जाता है। वहाँ [पञ्चेन्द्रिय रूप] पाँच नाटकीय पात्र नित्य ही। तत्परता के साथ सेवन के लिए उपस्थित रहते हैं।। ७९।।

पिपासवो नटान् यान्ति प्रापयन्ति नटीं हि तान् । ततः क्रीडन्ति वेगेन स्वच्छन्दं च तदाज्ञया ॥ ४० ॥

तब वे [जीव रूप] नट विषयों की तृष्णा से तृषित होकर उन चटियों के पास जाते हैं और वहाँ उनकी आज्ञा से स्वच्छन्द रूप से अत्यन्त [विषय के] वेग से कीडा करते हैं ॥ ८०॥ यदि सूर्यसहस्राणां प्रकाशपरमोज्ज्वस्रम् । उदेति ज्ञानविज्ञानं तदा शुष्यति नान्यया ।। ७९ ॥

यदि सहस्रों सूर्य उदित होकर ज्ञान एवं विज्ञान के परम उज्ज्वल प्रकाश को दें तभी उनका अज्ञान नष्ट होता है। अन्यथा वे वैसे ही विषय नृष्णा में फैंसे रहते हैं।। ८९।।

उदिते तु परे ज्ञाने नाहं यूयं न किश्वन । न यास्यन्ति परं तत्त्वं मदाद्या अपि देवताः ॥ ४२ ॥

उस ज्ञान रूप सूर्य के उदित हो जाने पर 'मैं' और 'तुम' का भान ही समाप्त हो जाता है। इस परम तत्त्व ज्ञान को देवता भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।। ८२।।

> किमुताल्पधियश्चान्ये स्वप्तिका इव जाग्रतम् । यन्तिर्वन्धसमाविष्टा प्राणेभ्योप्यति वल्लभा ॥ ८३ ॥

कहीं तो छोटी बुद्धि वाले हैं और कहीं जागकर भी [मानों विषयों की तृष्णा में फैंसे रहकर] स्वप्न देखने वाले हैं। कहीं पर लोग प्राण से भी प्यारी अपनी बह्लभा के बन्धन में समाविष्ट हैं।। ८३।।

[विषयों के लम्पट] छोटे चित्त के लोग उपदिष्ट होकर भी केतुमाल पर्वत बर तपस्या नहीं करते । इसिलिए मेरे आनन्द का मूल [तत्त्व ज्ञान] मैं किसी से किसी प्रकार भी नहीं कहता हूँ ।। ८४ ।।

> अन्यन्तिवेद्यतां कृत्यं यदि योग्यं भवेन्मम । इत्युक्तास्तेमराः सर्वे वीक्ष्यमाणाः परस्परम् ॥ ४५ ॥ परं विस्मयमापन्नाः श्रुत्वा शङ्करभाषितम् ।

'यदि मेरे लिए कोई अन्य योग्य कृत्य हो तो उसे बतावें'—इस प्रकार उत भगवान् शक्कर के उपदेश को सुनकर वे देवगण अत्यन्त विस्मयान्वित होकर परस्पर एक दूसरे को देखते हुए कहने लगे ।। ८५-८६ ।।

देवा ऊचुः--

देवदेव महादेव जगतां ज्ञानदो गुरुः ॥ ४६ ॥ यदात्थ देव तत्सत्यं विष्णुपत्नी तपस्यति । तत्तपो विज्ञा विश्वं परितप्तं समन्ततः । किमद्य करणीयं वै तच्च शम्भो विचार्यताम् ॥ ८७ ॥ देवों ने कहा:--

हे देवों के देव महादेव! समस्त जगत् के ज्ञान देने वाले गुरु! जब तक भगवान् विष्णु की पत्नी लक्ष्मी जी तपस्या करेंगी तब तक उनकी अग्नि से यह समस्त विष्व परितम होता रहेगा। अतः हे शम्भी! आप विचार करें कि क्या करना चाहिए ॥ ८६-८७ ॥

शिव उवाच-

रमा देवी जगच्छक्तिः प्रकृत्यंशमयी शिवा । विक्णोरानन्दलहरी यया भाति जगच्छिवम् ॥ ८८ ॥

भगवान् शिव ने कहा-

रमा देवी जगत् की शक्ति हैं। वह शिवा हैं, वह प्रकृति की अंश स्वरूपा हैं। षह भगवान विष्णु की आनन्द की लहरी हैं जिससे यह समस्त विश्व आनन्दित होता है।। ८८।।

> सा तपश्चरते तीव्रं जगद्दाहकरं महत्। पतिव्रता पति त्यक्त्वा नान्यं चापि प्रभाषते।। ८९।।

वही इस समय जगत् को भी जलाने वाला कठोर तप कर रही है'। बस्तुतः पतिवता से पति के सान्तिष्य के बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।। ८९ ।।

> न तस्मादन्यसंसाध्या निना स्वपतिमाधवम् । तस्माद्विष्णुं व्रजामोद्य सर्वे चापि वयं सह ॥ ९० ॥

अतः विना उनके अपने पति माधव के कुछ भी साधन होना कठिन है। इस किए हम सभी देवों के साथ विष्णु के पास चर्ले।। ९०।।

> गत्वा निवेदियष्यामो जगतामशिवं च यत्। दृष्ट्वास्मानिप मानार्हान् जगद्भङ्गमपीक्ष्य च ॥ ९१॥ निषेधियष्यित रमां तपसोऽसौ दुरत्ययात्। इति मे वाचमाकण्यं देवाः सर्वे गतज्वराः॥ ९२॥

बहाँ जाकर जो जगत् के अकल्याण की बात है उसे हम लोग निवेदन करेंगे । इस सभी तम्मान के योग्य देवों को देखकर और जगत् की इस प्रकार की नष्ट होने की स्थिति को जानकर वे भगवान् विष्णु इस कठिन तपस्या से भगवती रमा को उपरत करेंगे। इस प्रकार मेरे वचनों को सुनकर सभी देवों के मन में सान्ति हुई ॥ ९१-९२ ॥

अहं चापि च तैः सार्घं गतः प्रियनिकेतनम् । यत्र सर्वे घनस्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ९३ ॥ और मैं भी उनके साथ में 'प्रियनिकेतन' (भगवान् विष्णु के निवास स्थान) को गया। जहाँ पर सभी पार्षद आदि भी पीला और कौशेय रंग का कपड़ा पहने हुए बादलों के समान क्यामवर्ण के लग रहे थे।। ९३।।

> किरोटिनः कुण्डलिनः शङ्खचक्रगदाधरः। तत्र गत्वा जगन्नाथः स्तुतो देवगणैरपि॥९४॥

वे सभी अपने सिर पर मुक्रुट और कानों में कृण्डल, हाथों में शङ्ख, चक्र और गदा धारण किए हुए थे। वहाँ जाकर जगन्नाथ की देवगणों ने भी स्तुति की ॥ ९४॥

नमो मत्स्यक् मीदिनानावता रैजंगद्रक्षणायोद्यताया तिहुत्रें। जगद्बन्धवे बन्धहर्ते च भर्ते जगद्विष्ठवोपस्थितौ पालियत्रे।। ९५ ॥ हे भगवन्! हे मत्स्य एवं कुर्म आदि नाना प्रकार के अवतारों को धारण करके जगत् की रक्षा के लिए उद्यत रहकर सभी के दुःखों का नाश करने वाले! है जगत् के बन्धु! हे कमं बन्धनों के हर्ता! हे भर्ता! हे और दारुण कष्टों के उपस्थित होने पर जगत् का पालन करने वाले! आपको प्रणाम है।। ९५॥

यदा वेदपन्थास्त्वदीयः पुराणः प्रभज्येत पालण्डचण्डोग्रवादैः। तदा देवदेवेश सत्त्वेन सत्त्वं वपुरचारु निर्माय रक्षां विद्यत्से ॥ ९६ ॥

जब आपका पुरातन वैदिक [सनातन] धर्म उग्र पास्वण्डियों के द्वारा श्चिन्न-भिन्न कर दिया जाता है तब आप, हे देवदेवेश, सत्त्व गुण से सत्त्वमय सुन्दर शरीर धारण करके हम सबकी रक्षा करते हैं।। ९६।

भूम्यम्बुतेजोनिलखात्मकं यत् ब्रह्माण्डमेतत्प्रविशन्तिव त्वम् । चराचरं जीव इति प्रसिद्धिं गतोऽसि तस्मान्न भवत्परं यत् ॥ ९७ ॥ भूमि, जल, अग्नि, वायु, और आकाश रूप जो ब्रह्माण्ड है वह सब तुम्हारे में मानो प्रविष्ट है। वस्तुतः समस्त चराचर जगत् और जीव के रूप में आप ही भासित होते है। इसलिए आपसे अलग कोई श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है ॥ ९७ ॥

रक्षस्व नाथ लोकांस्त्वं तपसोग्रेण पद्मया। दह्यमानान् गतानन्दान् रक्षितासीक्वरो यतः॥ ९८॥

अतः हे नाथ ! आप भगवती रमा के द्वारा किए गए उग्र तपस्या से जलने वाले इन लोकों की रक्षा करें, क्योंकि आप ही इनकी रक्षा करने में समर्थ हैं।। ९८।।

निवर्त्तय परमां साध्वीं तव प्राणाधिकां प्रियाम् । न वे स्त्रियो विरोद्धव्या गृहमेधिभिरन्वहम् ॥ ९९॥ अता जाप अपनी प्राणों से भी अधिक प्रिया परम साध्वी देवी रमा को उग्न तप से. उपरत करें। इसीलिए ग्रह स्वामी को कभी भी स्त्रियों का विरोध नहीं करना चाहिए ।। ९९ ।।

> यद्गृहे स्त्री विरुद्धा स्याद्यदिवाप्यवमानिता। न तद्गृहे सुखं सम्पन्न चारोग्यं प्रजासुखम्।। १००।।

फिर जिस गृह में स्त्री पति से विरोध करके रहतीं है अथवा वह अपमानित की जाती है उस गृह में कभी सुख, अमृद्धि. और आरोग्य एवं पुत्र पौत्र आदि प्रजा का सुख नहीं होता।। १००।।

> कथं मुखेन वर्त्तेत विश्वमेतद्भवद्गृहम् । त्विय विरोधमापन्ने गृहिण्या समशीलया ॥ १०१ ॥

इसलिए आपका गृह रूप यह विश्व कैसे सुंख से रह सकता है ? जबकि समान शीछ सम्पन्न आपकी गृहणी का आपसे विरोध हो गया है ।। १०१ ।।

तस्माद्विश्वस्य रक्षार्थं सावधानो भव प्रभो ।
इत्यावेद्यामराः सर्वे प्रणम्य जगतां पतिम् ॥ १०२ ॥
बद्धाञ्जलिपुटास्तूष्णीमासन् म्लानमुखाम्बुजाः ॥ १०३ ॥
इति श्रीपश्वरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसंवादे तृतीयं पटलम् ॥ ३ ॥

इसलिए, हे प्रभो ! विश्व की रक्षा के लिए आप सावधान होइए । इस प्रकार निवेदन करके सभी देव जगत् के पालक भगवान् विष्णु को प्रणास करके मुरझाए हुए कमल के समान मुख से वहीं हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये ।। १०२-१०३ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारद पाश्वरात्र आगमगत माहेश्वरतन्त्र के उत्तर खण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पावंती और भगवान् शंकर के संवाद के तृतीय पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ३ ।।

अथ चतुर्थ पटलम्

शिव उवाच-

अथ तेषां वचः श्रुत्वा देवानामतिविक्लवम् । प्रहसन्वाचमिकरत् देवानां हृदयङ्गमाम् ॥ १ ॥

भगवान् शिव ने कहा---

इसके बाद उन अत्यन्त क्लान्त देवों के वचन सुनकर हँसते हुए उन देवों के िलए हृदयङ्गम लगने वाली वाणी से कहा ॥ १ ॥

विष्णुरुवाच-

भो महेश विधे ब्रह्मन् शक्राद्याः श्रृणुतामराः । मम प्राणप्रिया देवी रमा देवी तपस्विनी ॥ २ ॥ कलहान्तरिता जाता केतुमाले सपस्यति । तेनोग्रतपसा विश्वं परितप्तं समन्ततः ॥ ३ ॥

भगवान् विष्णु ने कहा--

हे महेश, हे विधि, हे ब्रह्मन्, हे इन्द्र झादि देवों सुनो—मेरी प्राणप्रिया देवी जपस्विनी रमा देवी कलहान्तरित होकर केतुमाल पर्वंत पर तपस्या कर रही हैं। उनके उस उग्र तप से समस्त विश्व परितप्त होने लगा है।। २-३।।

> न सा सन्तोषमायाति स्वनिध्चितमृते सुराः । स्त्रीणां जातिस्वभावोऽयं कार्कश्यमविवेकिता ॥ ४ ॥

हे देवो ! उन्हें अपने निश्चय को छोड़कर संतोष नहीं होता था । वस्तुतः स्त्रीजाति का यह स्वभाव ही है कि वे कर्कश और विवेकविहीन होती है ॥ ४ ॥

> अशीचं निर्देयत्वं च निर्वन्धः साहसं तथा। लोभानृतं च कपटं मूर्वत्वमपदे च रुत्।। ५।।

अशीच, निर्दय होना, हठवादिता तथा साहसी होना, लोभी प्रवृत्ति, झूठ बोलना और कपट व्यवहार, मूर्खता एवं. बिना कारण रोना आदि स्त्रियों का स्वभाव ही है।। ५।।

> नष्टं कुलं कुतनयात् नष्टं राज्यं कुमन्त्रिणा । ब्राह्मणः शूद्रसेवाभिरनभ्यासात्सरस्वती ॥ ६ ॥

बस्तुतः कृपुत्र से कुछ नष्ट हो जाता है। कुमन्त्री से राज्य नष्ट हो जाता है। बाह्मण शूद्र-सेवा से नष्ट हो जाता है और सरस्वती बिना अभ्यास के नष्ट हो जाती है।। ६।।

> निद्रया नष्टमायुष्यं अनुद्योगात्समृद्धयः। गुणा लोभैर्घनं पापेः सुखं नष्टं क्रुभार्यया॥ ७॥

निद्रा से आयुष्य नष्ट होता है, उद्योग के बिना समृद्धि नहीं होती, लोभ से गुण नष्ट हो जाते हैं, पापों से घन नष्ट हो जाता है और अन्ततः कृत्सित भागि से सुख समाप्त हो जाता है।। ७।।

यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्द्धते। प्रातिकूल्येन नश्येत ग्रीष्मे बीजाङ्कुरा इव ॥ ४ ॥

जहाँ पति पत्नी में आनुकूल्य होता है वहाँ [धर्म, अर्थ एवं काम] त्रिवर्ग रिद को प्राप्त करते हैं और यदि उनमें प्रतिकूलता हो तो वे त्रिवर्ग नष्ट हो जाते हैं जैसे ग्रीष्मकाल में बीज का अङ्कुर ही सूख जाता है।। ८।।

देवी निर्बेन्धमापन्ना विरमेन्न कथश्वन । जगतामसुखं भूरि प्रवृत्तं तन्निवर्तते ।। ९ ।। देवी रमा ने किसी भी प्रकार अपने हठ को नहीं छोड़ा । जगत् का बहुत अकल्याण होवे इसीलिए वह छौटती ही न थीं ।। ९ ।।

> प्रतिक्रियां करिष्यामि याते यूयं मुदान्विताः । इति देवा वचः श्रुत्वा परिक्रम्य जनार्दनम् ॥ १० ॥ प्रणम्य पुनरायाताः स्वं स्वं धाम प्रहर्षिताः । ब्रह्मा विष्णुश्च ईशश्च केतुमालं गतास्तथा ॥ ११ ॥

अत: इसके लिए कुछ कार्य में करेंगा। आप सब प्रसन्न होकर जाइए। इस प्रकार बचन सुनकर देवों ने जनादंन मगवान की परिक्रमा की और उन्हें प्रणाम करके वे पुनः आने के लिए प्रकृष्ट रूप से हिंदत होकर अपने-जपने स्थान पर चले गये तथा बहा, विष्णु और महेश भी तब केतुमाल परंत पर चले गये। १०-११।

यत्र सा निश्चलवपुः पदाङ्गुष्ठेन संस्थिता।
ऊर्ध्वदृष्टिर्निरुद्धान्तः पवना सा मनस्विनी।। १२॥
स्वभालशिखिविद्योतज्ज्वालाभिग्रंसतीव हि।
ब्रह्माण्डं कवलाकारं कल्पान्तेग्निशिखा यथा।। १३॥

१. अत्र बायुरेवायुष्यम् नत्वायुषे हितमायुष्यम् ।

जहाँ वह देवी निश्वल शरीर एवं मात्र पैर के एक अँगूठे पर ही खड़ी हुई; ऊपर की ओर दृष्टि की हुई अपने स्वास्-प्रश्वास रूप अन्तःपवन को रोककर वह सनस्विती मानों अपने ललाट की जवाला की लपटों में प्रसित होती हुई सी जान पड़ती थीं। वह ब्रह्माण्ड को कवर (— प्रास) बनाती हुई जैसे कल्पान्त की अग्नि शिखा सी प्रतीत होतो है थी।। १२-१३।।

दृष्ट्वा तां च तथाभूतां त्रयो ब्रह्मादिका वयम् । परमं विस्मयं जग्मुदेंव्याश्चरितमद्भृतम् ॥ १४ ॥ ततस्तन्निकटं गत्वा हरिः प्राह हसन्निव ! रमे प्राणप्रिये देवि वृथा किं परितप्यसे ॥ १५ ॥

इस प्रकार उनको हम तीनों ब्रह्मा आदि देवों ने देखा और तब इस प्रकार देवी का अद्भुत चरित्र देखकर हम अत्यन्त आह्चयं में पड़ गए। तब उनके निकट जाकर हमते हुए भगवान् विष्णु ने इस प्रकार कहा-हे रमे, हे प्राणिप्रये, हे देवि, तुम व्यर्थ क्यों तपस्या कर रही हो ?।। १४-१५।।

निवृत्तिमेहि तपसो वृथायासफलादिह। बह्वायासं चाल्पफलं न कर्माचरणं सताम्।। १६॥

इस तपस्या से निवृत्त होओ। यहाँ फल की अपेक्षा तपस्या में अधिक परिश्रह करना व्यथ है नयों कि सत्पुरुष बहुत परिश्रम करके अल्प फल वाले कमें के आवरण में प्रवृत्त नहीं होते ।। १६॥

> व्यानानन्दरसे लीनं तन्मनोवतरत् क्षणात्। एवमुक्ते तु हरिणा प्रियां सान्त्वयता भृशम्॥ ९७॥ ददशं प्रियमङ्कस्थं घनश्यामं चतुर्भुजम्। विरञ्जीशानसहितं वनमालाविभूषितम्॥ ९८॥

तब ह्यान रूप भानन्द के रस में लीन उनका मन क्षण भर के लिए ह्यान के विरत हो गया। इस प्रकार भगवान् विष्णु वारम्बार प्रिया रमा को सान्त्वना दे ही रहे थे, तभी उन दोनों ने प्रिया को गोद में लिए हुए चतुर्भुं ज रूप में धनस्याम को देखा। वह बनमाला से विभूषित थे। उनके साथ ब्रह्मा और भगवान् शक्कर भी थे।। १७-१८।।

ननाम दण्डवद्भूमी कृताञ्जलिपुटा रमा। नोवाच वचनं किञ्चित् नोत्थितापि पुना रमा ॥ १९॥

उत रमा ने अञ्जलि बौधकर दण्ड के समान भूमि में गिरकर प्रणाम किया । उन्होंने (घनदयाम, ब्रह्मा और शङ्कर ने) कुछ भी न कहा और पुनः देवी रनाः भी नहीं उठी ।। १९।। हरिस्तत्प्रेम परमं स्वस्मिन् वीक्ष्य सुविस्मितः । प्राह देवीं हरिः प्रीत्या श्रुण्वतो विधिरुद्रयोः ॥ २० ॥

भगवान् हरिने अपने में उनका प्रगाढ़ प्रेम देखकर सुन्दर स्मितयुक्त मुख-मुद्रा में [होकर ब्रह्मा और रुद्र को सुनाते हुए देवी से प्रीतियुक्त इन वचनों को कहा।। २०।।

विष्णुस्वाच--

अहो धन्याति धन्यासि कमले लोकवन्दिते। बात्मनोर्धं स्त्रियः साध्न्यः पुंसो धर्मपरायणाः ॥ २१॥

भगवान् विष्णु ने कहा--

अहो देवि ! तुम धन्य हो, धन्य हो । हे कमले ! हे लोकों से स्तुत ! वस्तुतः -साध्वी स्त्री धर्म-परायण पुरुष का अपना आधा अङ्ग है ।। २१ ।।

> स्त्रीसाहाय्येन जेतच्या लोका धर्मपरायणैः। अपरनीकस्य ते सर्वे भवन्ति विफला यतः॥ २२॥

अतः धर्मपरायण जन को चाहिए कि वह स्त्री की सहायता से लोकों को जीतें। क्योंकि बिना पत्नी के उनके वे सभी कार्य विफल हो जाते हैं।। २२।।

स्त्रीमूलं सर्वधर्माणां तदभावात्कुतश्च ते। वैविना न भवन्त्येव लोका ज्ञानमथापि वा॥ २३॥

वस्तुतः सभी धर्मों का मूळ स्त्री ही है। फिर उसके अभाव में वे कहीं रहेंगे ? उनके बिना लोक भी नहीं होता है और न तो ज्ञान ही होता है।। २३।।

> धिक् जीवितं स्त्री रहितस्य लोके जुगुप्सितं धर्मविदां समाजे । देवा मुनीन्द्रातिथयोऽपि यस्य गृहाण्युपेक्षन्त इवाधनं जनाः ॥ २४ ॥

बस्तुत संसार में स्त्री रहित व्यक्ति का जीवन धिक्कार है। धर्मविद का समाज में छिप कर रहना धिक्कार ही है क्योंकि देव, मुनीन्द्र और अतिथि भी उसके गृह की उपेक्षा धनविहीन जन के समान करते हैं।। २४।।

> किं धनैविभवाकल्पैविभवैः किं सुखच्युतैः। किं सुखं यस्य नो वेश्मन्युदारा धर्मचारिणी।। २५॥

जस धन से क्या लाभ जिसमें आकल्प वैभव न हो और वह वैभव भी किस काम का जो सुख से रहित हो, फिर उस सुख से भी क्या लाभ कि जिसके घर में उददार एवं धर्मचारिणी स्त्री न हो ॥ २५ ॥

> <mark>दुःशीलं दुर्नयं दुष्टं दरिद्रं जरया प्लुतम्।</mark> पति पुष्णाति कुलजा तस्मात्स्त्री तु गरीयसी ॥ २६॥

वस्तुता स्त्री इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि वह शीलरहित भी,, दुविनीत दुष्ट, दरिद्व एवं दृढावस्था से परिष्लुत भी पति के कुल को उत्पन्न करके पुष्ट ही करती। है।। २६।।

> न मित्रं स्त्रीसमं मन्ये न बन्धुं न सहोदरम् । यतस्ते पृथगालोच्याः स्त्री तु नैव कदाचन ॥ २७ ॥

स्त्री के समान मित्र कोई नहीं है, उसके समान कोई बन्धु नहीं है और न कोई सहोदर भाई ही है। अतः वे पृथक् रूप से आलोच्य हैं किन्तु पति के सायः रहने वाली स्त्री कभी भी आलोच्य नहीं है।। २७।।

> सुखे वा यदि वा दुःखे जीविते मरणेऽपि वा । न मित्रं स्त्रीसमं क्वापि सत्यं सत्यं प्रियंवदे ॥ २८॥

सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण हे प्रियंवदे ! मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि

तस्मात्त्वं तु विशेषेण स्त्रीरत्नं मम रोचसे । मूर्धन्या पतिदेवानां यतस्त्वं परिगीयसे ॥ २९ ॥ र तुम स्त्री रूप रत्न हमको विशेष रूप से स्विकर हो । क्योंकि

इसलिए तुम 'स्त्री रूप रत्न हमको विशेष रूप से रुचिकर हो। क्योंकि तुम पतिदेव के लिए सूर्धन्य हो इसलिए गीयमान हो।। २९ः।

> स्त्रीणामि परो धर्मः पतिशुश्रूषणं च यत्। कायेन मनसा वाचा ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ॥ ३०॥

क्यों कि स्त्रियों का भी श्रेष्ठ धर्म शरीर से, मन से और वाणी से पित की सेवा-सुश्रूषा करना ही है। अतः उस (पिति) से बढ़कर उनके लिए कुछ भी नहीं है। ३०।।

या स्त्रीपतित्रता लोके पतिधर्मपरायणा। तदुक्तमेव कुर्वाणा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ३१ ॥ जो स्त्री लोक में पतित्रता है और पतिधर्म मैं परायण है वह इस प्रकारः पातित्रत्य का आचरण करते हुए अक्षय सुख को प्राप्त करती है ॥ ३१ ॥

तस्मादहं ते तपसा परितुष्टोऽस्मि साम्प्रतम् । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपसो लोकदःखदात् ॥ ३२ ॥

इस लिए तुम्हारे तप से मैं इस समय सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, उठो हुन लोक को दु:ख देने वाले इस तप से उठो ॥ ३२ ॥

व्यतीयुः सप्तकल्पास्ते साधिकाः कोमलां तनुम् । ग्लपयन्त्या हचनुदिनं नोचितस्ते वृथा श्रमः ॥ ३३ ॥ सात कल्प तुमने बिता दिए। कहाँ यह कोमल गात ? कहाँ इतना कठिव आधन ? एक-एक दिन करके इस शरीर को कृश करना उचित नहीं है। यह तुम्हारा श्रम व्यर्थ है।। ३३॥

> पुष्पशय्यासु रुचिरं वपुस्ते परिखिद्यते। सा कथं चण्डतिग्मांशुं सहते तापविषणम् ॥ ३४॥

पुष्पमयी शय्या पर सोने वाले मनोरम शरीर को तुम इस कठोर तप में लगाकर उसे कष्ट पहुँचा रही हो। वह तुम्हारा कोमल गात इस ताप की लहरी से युक्त अचण्ड एवं तीक्ष्ण किरणों को कैसे सह पा रहा है ?।। ३४।।

> शीतोष्णवातवर्षाभ्यां परिक्लिष्टा वपुर्लता। वैणीभूता मूर्धजास्ते मनो मे खेदयन्ति च ॥ ३५॥

तुम्हारी घरीर रूपी लता जाड़े की शींत लहरी और ग्रीष्म काल की तापलहरी एवं वर्षा में खुले अकाश में रहने से बहुत क्लान्त हो गई है। तुम्हारी वेणीभूत जटा हमारे मन को बहुत दुःखी कर रही हैं।। ३५।।

> मन्दास्मितप्रभोदारं मुखं बिम्बाधरं तव । हिमनिलष्टं न चाभाति हेमन्तकमलं यथा ॥ ३६॥

मन्द मन्द मुस्कान की कान्ति से उदार लगने वाला तुम्हार मुख और विम्ब के फल के समान तुम्हारे अध्य वर्ण के बोष्ठ उसी प्रकार शोभित नहीं हो रहे हैं जैसे पाला मार देने से हेमन्त ऋतु का कमल कान्तिविहीन हो जाता है। ३६।।

चण्डतिग्मांशुतापेन कपोली श्यामळी तव। मुक्तादामश्रिया हीनी न शोभा ते (शोभेते) यथा पुरा ॥ ३७॥

तुम्हारे दोनों कपोल तीक्ष्म एवं प्रचण्ड घूप की किरणों से घ्याम वर्षों के लग रहे हैं। जैसे मोती अपनी श्री से हीन हो जाय उसी प्रकार तुम भी पहले के समान शोभित नहीं हो रही हो।। ३७।।

> अनञ्जनं च नयनं भालं काश्मीरविष्ण्चितम् । मुखं ताम्बूलरहितं वीक्षतः कस्य ते सुखम् ॥ ३४॥

बिना काजल लगाए हुए नेत्र और बिना मङ्गल टीका के ललाट और ताम्बूल की रहित तुम्हारा मुख देखकर कीन सुखी होगा ? ।। ३८ ॥

> मा शोषय वपू रम्यं तपसा दुर्द्धरेण वै। मृह्नि प्रणम्य ते पादं प्रार्थयामि पुनः पुनः॥ ३९॥

कठोर तपस्या से अपने मनोरम शरीर को मत सुव्याओं। तुम्हारे घरणों में सिर से प्रणाम कर पुनः पुनः मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ। ३९॥

> कि घ्यायसि रह इति यत्प्रष्टं कमले त्वया। अवाच्यं तत्तु जानीहि अपि कल्पायुतायुतैः।। ४०।।

'तुम एकान्त में क्या सोंव रहे हो' यह जो तुमने मुझसे पूँछा था। उसे कोटि-कोटि कल्पों में भी किसी से नहीं कहना चाहिए। फिर भी उसे तुम जान को।। ४०।।

तथापि कथयिष्यामि कृतस्ते तपसा हचहम्। साक्षान्न जिह्नया वाच्यं तत्त् देवि कथञ्चन ॥ ४९॥

(यह यद्यपि अकथनीय है) फिर भी मै तुससे कहूँगा क्योंकि उसके छिए तुमने कठोर तप किया है। हे देवि साक्षात् वाणीं से इसे नहीं कहना चाहिए।। ४९।।

तथापि कथयिष्यामि प्रकारं श्रृणु सुन्दरि । द्वापरान्तेऽष्टाविशतिमे असुरा नृपरूपिणः । वेदमार्गविनाशाय यतिष्यन्ति द्वराशयाः ॥ ४२ ॥

तथापि, हे सुम्दरो ! तुम सुनो । में उसके प्रकार को कहूँगा—अट्ठाइसवें द्वापर के अन्त में राजा रूपी असुर वेदमार्ग के विनाश के लिए दुष्ट बुद्धि से प्रयस्त करेंगे ॥ ४२ ॥

> स्त्रीगोत्राह्मणसाधूनां धर्मिष्ठानां तपस्विनाम् । वणिश्रमाणां सेतूनां स्वस्वधर्मानुवित्तनाम् ॥ ४३ ॥ करिष्यन्ति यदा पीडां तदाहं धर्मगृप्तये । वेदधर्मादिरक्षार्थं विनाशाय दुरात्मनाम् ॥ ४४ ॥ ययातिकुलजातस्य यदुराजस्य वेश्मनि । वासुदेवो भविष्यामि नाम्ना कृष्णेति विश्रुतः ॥ ४५ ॥

स्त्री, गो, ब्राह्मण और साधु जनों एवं तपस्वियों तथा धर्मिष्ठों जयित् अपने धर्म मार्ग पर चलने वाले वर्णाश्रमियों को जब वे असुर पीडा पहुँचाएं गे, तब मैं धर्म की रक्षा के लिए; वेद एवं धर्म आदि के गोपन के लिए तथा दुरात्माओं के बिनाश के लिए ययाति के कुल में उत्पन्न यदुराज के गृह में वसुदेव पुत्र के नाम से विख्यात होकर जन्म लूँगा।। ४३-४५।।

> तत्रापि त्वं रुक्मिणीति भविष्यसि वराङ्गना । तत्र त्वां केचन नृपा असुरा ज्ञानदुर्बलाः ॥ ४६ ॥

आयास्यन्ते समुद्वोढुं जित्वा तान् समरे खलान् । उद्वहिष्यामि भवतीं मिच्चतां नात्र संशयः ॥ ४७ ॥

वहाँ भी तुम मेरी स्त्रियों में श्रेष्ठ 'क्षिमणी' नाम से मेरी पत्नी होगी। वहाँ पर भी तुमसे कुछ अज्ञानी असूर राजा विवाह करना चाहेंगे। तब उन सभी दुष्टों को जीतकर मेरे में अनुरक्त तुम्हें मैं विवाह कर लूँगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। ४६-४७।।

तदा कुलाङ्गनाः पुत्रपतिवन्त्यः पतिव्रताः।
गास्यन्ति मङ्गलायं तु मच्चरित्राणि सुन्दरि ॥ ४८ ॥
उपचारविद्यानेन तच्छ्र्त्वा हृदय मम ।
भविष्यति सुखापूणं यथाम्मोधिविध्दये ॥ ४९ ॥

तब, हे सुन्दरि! वहाँ की कुलाङ्गनाएँ पुत्र और पति वाली पतिवृता स्त्रियाँ भङ्गल गान के छिए मेरे चरित्रों का गान करेंगी। उस [घोडशोपचार] पूजन खर्चन को सुनकर मेरा हृदय उसी प्रकार प्रसन्न होगा जैसे चन्द्रमा के उदय से समुद्र प्रसन्न होता है।। ४८.४९।।

> ईदूक्तादृगितिगिरां न वक्तुं भवंतीं क्षमम्। स्वयमेवानुभवति शर्कराक्षीरपानवत्।। ५०।।

अतः इधर-उधर की वाणी बोलना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। शक्रंरा मिश्रित दुग्ध के पीने के समान तुम सो स्वयं ही उसका अनुभव करोगी।। ५०।।

तत्सुखाम्भोनिधेर्देवि कणिकापि कथञ्चन। न ब्रह्मादिषु देवेषु वर्ततेन्यत्र का कथा।। ५१।।

हेदिवि! उस आनन्द समुद्र का एक कण भी ब्रह्मा आदि देवों को भी किसी। प्रकार प्राप्त नहीं होता तो दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या है।। ५१।।

नोपदिष्टं तु तद्वेति न शब्दैश्पदिश्यते । केवलानुभवाकारं वेत्येकोनुभवी सदा'।। ५२ ॥

आनन्द 'वह है' इस प्रकार इसका उपदेश नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह शब्द से उपदेश करने योग्य नहीं है। यह तो मात्र अनुभव की वस्तु है, अर्थात् आनन्द का वर्णन शब्द से नहीं किया जा सकता है। वह तो अनुभव की वस्तु होने से मेरे कहने योग्य नहीं है।। ५२।।

अनुमानप्रमाणेन हचनुमेयं कथञ्चन । लक्षणैदेव देवेशि नान्योपायैः कथञ्चन ॥ ५३ ॥

 ^{&#}x27;प्रया वस्तुं न योग्यं यत्' इति वा पाठः ।

यह (दिव्य-आनन्द) अनुमान (प्रमाण) के द्वारा किसी न किसी प्रकार अनुमित ही किया जा सकता है। हे देवि, हे देवेशि, उसका स्वरूप कुछ लक्षणों के द्वारा ही वताया जा सकता है, और किसी भी अन्य प्रकार से वह बताने योग्य नहीं है। ५३।।

> लक्षणानि तु ते विचम श्रृणु सुन्दरि यत्नतः। अन्तः सुखसमुद्वेल्लो बहिः सन्धानविस्मृतिः ॥ ५४॥

अत:, हे सुन्दरि, मै उस आनन्द के (कुछ) लक्षणों को तुमसे कहूँगा। तुम सावधान होकर सुनो,—

 जब अन्तरात्मा । ब्रह्मानन्द रूप] सुख से समुद्रे लित हो उठती है तब बाहरी जगत् की विस्मृति हो जाती है ॥ ५४ ॥

> नेत्रयोरश्रुसंवाहः कम्पः स्वेदोदयस्तथा। रोमाञ्चः कण्ठरोधश्च लक्षणानि च व विदुः ॥ ५५॥

२. नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगती है, ३. कंपकपी सी होने लगती है और ४. पसोना निकलने लगता है। ५. शरीर पुलकित हो उठता है और ६. कण्ठा-वरोघ हो जाता है (जिससे भर्राई सी आवाज निकलतो है)—इस प्रकार इन आनन्द के लक्षणों को जानो ॥ ५५॥

इत्येतैर्लक्षणैर्देवि मदन्तः करणस्थितम् । 'सुख मद्ध्यानयोग्यं यत्तज्जानिष्यसि केवलम् ॥ ५६ ॥

हे देवि ! इन लक्षणों से युक्त वह ब्रह्मानन्द मेरी अन्तरात्मा में विद्यमान हैं। जब तुम मेरे (भगवान विष्णु के) समान घ्यान करोगी, तभी तुम्हें उसकी अनुभूति होगो ॥ ५६ ॥

> तावत्त्वं तं च समयं परिपालय वहलभे। इत्येतत्ते समाख्यातं सर्वस्वं मे न संशयः ।। ५७ ।।

इसलिए, हे प्राणवल्लभे ! तुम (घ्यान से जब तक आनन्दानुभूति न हो) तब तक के समय का परिपालन करो । यह सब हमने तुमसे कह दिया है इसमें कोई सन्देह मत मानो ॥ ५७ ॥

> श्रुतीनां चापि सर्वासां रहस्यं त्विदमेव हि। इदमेव परं ज्ञानिमदमेव परा क्रिया।। ५८॥ इदमेव परो योग इदमेव परो मखः। इदमेव परं ध्येयमिदमेव परा गतिः। ५९॥

१. 'मया वन्तुं न योग्यं यत्' इत्यपि पाठः । ४ मा०

क्योंकि यह [आनन्दानुभव] तो समस्त श्रुतियों का भी रहस्य है, अतः यही श्रेष्ठ 'ज्ञान' है और यही श्रेष्ठ 'क्रिया' है ॥ ५८ ॥ यही श्रेष्ठ 'योग' है । यही श्रेष्ठ 'यज्ञ' है । यही श्रंष्ठ 'ध्येय' है और यही श्रेष्ठ 'गति' है ॥ ५९ ॥

> इदमेव परं ज्ञेयमिदमेव महाधनम्। इदमेवाखिला सम्पत् सत्यं सत्यं पतिवृते ।) ६०॥

यही श्रेष्ठ 'ज्ञेय' (जानने योग्य) है। यही महान धन है। हे पतिव्रते ! यह सत्य-सत्य समझो कि यही [आनन्दानुभाव] समस्त समृद्धि है।। ६०।।

> इत्येवं विष्णुना प्रोक्ता रमा देवी पतिव्रता। जही तापं च ग्रीष्मात्ती भूरिवाम्भोदतिर्वता ॥ ६२ ॥

इस प्रकार भगवान विष्णु के कहने पर पतिव्रता रमादेवी ने उसी प्रकार संताप को छोड़ दिया जैसे ग्रीष्मकाल में तप्त भूमि तीक्ष्ण वर्षा से संतृप्त होकर संताप को छोड़ देती है ॥ ६१ ॥

> विकसन्त्रयनाम्मोजा प्रमोदभरविह्नला। पपात पादयोर्भर्तुः दण्डयत् विमलाशया ॥ ६२ ॥

अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण होकर विह्नल से हुए उनके नेत्र-कमल खिल उठे और विमल बृद्धि से अपने भर्ता (विष्णु) के चरणों में उन्होंने दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ६२ ॥

ब्रह्मणापि मया चापि संस्तुता बहुधा गिरा। तपसः फलमभ्येत्य कृतार्यास्मीत्ययन्यतः॥ ६३॥

वहाँ हम (शंकर) ने और ब्रह्मा आदि देवों ने भी बहुत प्रकार से उनकी स्तुति को। हमलोगों ने तपस्या का फल प्राप्त कर लिया और यह समझा कि 'मैं कृतार्थं हूँ'॥ ६३॥

मुमुच्ः पुष्पवर्षाणि नेदुर्दुन्दुभयो दिवि । जयुर्गन्धर्वपतयो नेदुर्तुरचाप्सरोमणाः ॥ ६४ ॥

उस समय देवों ने स्वर्ग से पुष्पों की वर्षा की और दुन्दुभियाँ बजाई। गन्धर्वों ने मधुर गान किया और अप्सराओं का समूह आनन्द से विभोर हाकर नाच उठा।। ६४।।

सप्तर्षयः समभ्येत्य तुष्ट्वस्तामनिदिन्ताम् । ताषः दाशाम जगतां सर्वत्रासीत् सुमङ्गलम् ॥ ६५ ॥ सप्तर्षियों ने भी आकर उन अनिन्दित रमा को स्तुतियों से सन्तुष्टि किया । इस

*च*तुर्थंपटल**म्**

प्रकार जगत् का ताप शमित हो गया और सभी ओर सुमङ्गल छा गया।) ६५ ॥

> वनौ वायुः सुसस्पर्शो दिगासीद्विमलप्रभा। जलान्यासन्प्रसन्तानि जज्बलुर्वेह्नयः शुभाः ।। ६६ ॥

मन्द-मन्द सुखस्पर्श वायु प्रवाहित हुई और विमल प्रभा से दिशाएँ युक्त हो गईं। उद्देखित जल शान्त हो गए और शुभ विद्वयाँ जल उठी ।। ६६।।

> सर्वास्यासन्त्रसन्तानि भूतानां नष्टचेतसाम्। इत्येवं मङ्गले जाते प्रसन्ता दिवि देवताः। पृथिन्यां सानवाः सर्वे पाताले पन्नगेश्वराः ॥ ६७॥

नष्ट हुए प्राणिजात के मन पुनः प्रहृष्ट हो गए। इस प्रकार सर्वत्र मङ्गलमय वातावरण हो जाने से स्वर्ग में देवता भी प्रसन्त हो गये। इतना ही नहीं पृथ्वी में सभी मानव और पाताल में सभी नागों आदि की जातियां भी प्रसन्त हो गई'।। ६७।।

> बह्मलोकं गतो ब्रह्मा वहं कैलासमागतः। गृहीत्वा च करे लक्ष्मीं विष्णुः स्वनिलयं प्रति ॥ ६८ ॥

ब्रह्मा ब्रह्मलोक को चले गये और मैं (शङ्कर) भी कैलास को चला आया और भगवान विष्णु ने भी अपनी पत्नी लक्ष्मी के हायों को पकड़कर अपने निवास स्थान (बैंकुण्ठ) के प्रति प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

इत्येवं ते मयाख्यातं त्वया पृष्टमिनिन्दते । तत्वज्ञानं न सुलभं तस्माद् गोप्यतमं प्रिये ॥ ६९ ॥

इस प्रकार हे अनिन्दिते ! जो तुमने पूछा है वह मैंने तुम्हें बता दिया है। हे िये ! यह तत्त्वज्ञान सरलता से प्राप्त होने योग्य नहीं है। अतः इसे प्रयत्नपूर्वक गोपित करके ही रखना चाहिए।। ६९ ।।

तत्वज्ञानाधिकारण्यो विरलाः सन्ति केचन । कालेन बहुना देवि तान् परीक्ष्य प्रकाशयेत् ॥ ७०॥

तत्त्वज्ञान के अधिकारी-

हे देखि ! तत्त्रज्ञान का अधिकारी विरला ही कोई व्यक्ति होता है। अतः बहुत समय तक उसकी परीक्षा करके ही इस रहस्य का उद्घाटन करना चाहिए ॥ ७० ॥

स्नेहाल्लोभाद्भयाद्वापि योज्यस्मै वक्ति मूढधीः। नाऽसौ ज्ञानी भवेद्देवि उदरम्भरिरेव सः॥ ७९॥ स्नेह, लोभ या भय से जो मूर्ख इसे एक दूसरे को बता देता है तो उससे वह ज्ञानी नहीं हो जाता। हे देवि ! उससे वह मात्र पेट भरने वाला हो हो सकता है ॥ ७१ ॥

> सहसवाससेवाभिस्ताडनंः परविशक्तिभिः। यदा न याति कालुष्यं सोधिकारी मतो मम ॥ ७२ ॥

एक साथ रहने पर उसकी सेवाओं से उसकी परीक्षा करके तथा उसे अनेक प्रकार से प्रताड़ित करने पर तथा कठोर वचन कहने पर भी जब उसका मन कलुषित न हो तो वही, मेरे विचार से, इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है।। ७२।।

> श्रुत्वा तत्वकथावाद वपू रोमाञ्चसङ्कुलम् । हषश्रिञ्याकुले नेत्रे सोऽधिकारी मतो मम ॥ ७३ ॥

मेरे विचार से वही इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है जिसका शरीर इस तत्त्वज्ञान एवं कथा को सुनकर रोमाश्चित प्राय हो जाय और अत्यन्त हर्षातिरेक से अश्रुपूरित होकर व्याकुल हो जाय ॥ ७३॥

परापवादिवमुखो परस्त्रीधनिनस्पृहः । बक्रोधी लोभिनमुंक्तः शान्तः शास्त्रविचक्षणः ॥ ७४ ॥ वेदशास्त्रार्थंतत्वज्ञः श्रद्धालुगंतसाद्वसः । गुणरागी सदात्यागी विशागी बाह्यवस्तुषु ॥ ७५ ॥

वही अधिकारी है जो पर निन्दा से विमुख हो, पराई स्त्री और पराये धन से निस्पृह हो। जो क्रोध न करने वाला हो, जो लोभ से निःशेषेण मुक्तप्राय हो, जो शान्तिचित्त एवं शास्त्रों का पारदृश्वा विद्धान हो।। ७४।। जो वेद एवं शास्त्रों के अर्थ के तत्त्व को समझने वाला हो, जो श्रद्धालु और लज्जा रहित हो, वह गुणों का अनुरागी, सदैव सांसारिकता का त्याग करने वाला एवं बाह्यजगत् से विराग रखने वाला हो, वही इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है।। ७५।।

पापभीतो भवेद्देषी विषयादिष्वलोलूपः। अत्यैदवापि शुभैदेवि लक्षणैदचापि लक्षितः॥ ७६ स

पाप से भयाक्रान्त एवं द्वेषी व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। विषयों में आसक्त न रहने वाले और हे देवि ! और भी अन्य शुभ लक्षणों से युक्त पुरुप को ही यह तत्त्वज्ञान देना चाहिए।। ७६॥

> अधिकारीति विज्ञेयस्तस्मे देयमिदं रहः। वेदगुह्यमिदं देवि ! नान्यथा तु प्रकाशयेत्। ७७॥

'यह अधिकारी है'—ऐसा ठीक से समझकर ही उसे (एकान्त में) यह रहस्यमय ज्ञान देना चाहिए। हे देवि ! इसे वेद के समान छिपाकर रखना चाहिए। जब सभी प्रकार से ठीक समझ ले तभी इसका उद्घाटन करना चाहिए अन्यथा प्रकाशित न करे।। ७७॥

> प्रकाशयन्विमूढात्मा स भवेदापदां पदम्। न तस्य तत्वसंसिद्धिर्गुरोः शिष्यस्य चाप्यहो ॥ ७८ ॥

यदि कोई मूर्ख ! बिना अधिकारी के ही इसे कहने लग जायेगा तो वह शायद आपद्ग्रस्त हो जायगा। इंतना ही नहीं उसे उससे कोई लाभ नहीं होगा। उसे तत्त्वज्ञान भी प्राप्त नहीं होगा। वह चाहे गुरु हो या शिष्य दोनों को ही काई सिद्धि नहीं होगी ।। ७८॥

> तत्वज्ञनोपदिष्टा ये तत्वज्ञा एव सुन्दरि। अनर्हें हपदिष्टा ये तेप्यनर्हा भवन्ति हि॥ ७९॥ अनर्हें हपदिष्टा ये येनर्हाश्च स्वयं शिवे। उभयभ्रंशदोषेण ते यान्ति नरकं त्रियें!॥ ८०॥

हे मुन्दरि ! जो तत्त्वज्ञान के ज्ञाता से उपदिष्ट होगा वह 'तत्त्वज्ञ' ही होगा। अयोग्य से उपदिष्ट अयोग्य ही होते हैं। अतः जो अयोग्य से उपदिष्ट होगा, हे शिवे ! वह स्वयं अयोग्य ही होगा। हे प्रिये ! दोनों ही (गुरु-शिष्य) इस पातक से नरक में चले जाते हैं।। ७९-८०।।

लोकभ्रंशः कर्मलोपात् अयोग्यत्वात् फलाग्रहः । तेषां तमः स्यादतुलं यावच्चन्द्रार्कतारकम् । ८९ ।।

कर्म के लुप्त हो जाने से संसार से पतित होने वाले और अयोग्यता के कारण फल न प्राप्त होने से उन्हें अस्यन्त अन्वकारमय [अविद्याजन्य] पथ में तब तक रहना पड़ता है जबतक ये चन्द्र, सूर्य और तारे विद्यमान रहते हैं ।। ८१ ॥

> सुप्तं प्रबोधयेद् बुद्धो ह्यबुद्धस्त् च तं कथम्। पाषाणं तारयेत्तुम्बी न पाषाणः परस्परस् ॥ ८२॥

वस्तुतः हे देवि ! सोए हुए को जगाया जा सकता है किन्तु जगे हुए को कैसे जगाया जा सकता है ? एक तुम्बी (सूखी छीकी) पाषाण को तार सकती है, किन्तु पाषाण पाषाण को कैसे तार सकता है ? ।। ८२ ।।

१. तेऽनहीः स्वयं शिवे इत्यपि पाठः ।

तस्मादेवं विनिध्चित्य सद्गुरोः श्वरणं गतः। आत्मानं मोहविश्चान्तं तारयेत्स च बुद्धिमान् ॥ ८३॥

इसिलए इस प्रकार से निश्चय करके अच्छे गृश की शरण में जाना चाहिए। वह सद्गुरु बुद्धि है जो स्वयं मोह में भ्रान्त न होकर दूसरे को तार दे॥ ८३॥

> इत्येतन्मे समाच्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया निये ! : समासेन महादेवि ! किगन्यत्प्रष्टु सिन्छिसि ।। ८४ ।

॥ इति श्रीनारदपाञ्चरात्रे माहेब्बरतन्त्रं उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे) शियोमासंवादे चतुर्थं पटलम् ॥ ४॥

हे प्रिये ! इस प्रकार जो तुमने मुझसे पूँछा या संक्षेपतः यह सब हमने तुमसे अच्छो प्रकार से कहा है। हे महादेवी ! अब तुम और क्या पूँछना चाहतो हो ? ॥ ८४॥

।। इस प्रकार श्रीनारद पाञ्चरात्र आगमगत 'माहेण्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शब्द्धर के संवाद के चतुर्थ पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिम्दी ब्याख्या पूर्ण हुई ।। ४।।

अथ पर्वसं परलम्

श्रीपार्वत्युवाच

भगवन् लोकनाथेश देव देवेश धूर्जटे।
इयं कथा महापुण्या कथिता पापनाशिनी।। १।।
यद्रामायं न च प्राह भगवन् प्राणवल्लभः।
साक्षान्मुखेन देवेशाभिनयेन विद्यति॥ २।।
तत्तु तत्त्र कथयसि साक्षादेव मग प्रभो।
तत्तत्वज्ञानसामध्यद्भोगाः सर्वेवधीरिताः।
दिख्यासा जिटलो नन्दी चरस्येकोऽपि पण्डितः। ४।।
ततं गुरुः सर्वलोकस्य तत्वमार्गोपदेशकः।
न त्यया सदृशः कश्चित् तत्वज्ञानानुभूतिमान्॥ ५॥
अद्यो वदसि भो नाथ तत्वं गुद्धतमं च यत्।। ६॥
न तच्चित्रं त्विया विभो कृषासिन्धौ महेश्वरे।
अतस्त्वां प्रष्ट्मिच्छामि सन्दिहाना महेश्वर ॥ ७॥

श्रीपार्वती ने कहा---

हे भगवान, हे लोकनाथ, हे ईश, हे देव देवेश, हे धूजंटे! यह महान पुण्यों को देन वाली और पापों को नाश करने वाली कथा आप द्वारा कही गई।। १॥ लक्ष्मी के प्राणवल्लभ भगवान विष्णु ने जिस (रहस्य) की रमा से भी नहीं कहा, उसको आप साक्षात् अपने मुख से अभिनयपूर्वक कहें।। २॥ हे प्रभु! उस तत्त्व की मुझ से आप साक्षात् रूप से कहें। हे प्रभु! आपके समान दयालु और काई देव नहीं है।। ३ उस तत्त्वज्ञान की सामध्य से ही सभी भोगों का अवधारण होता है। दिशारूपी वस्त्र को धारण कर जटाधारी और नन्दी से युक्त ज्ञानी होकर आप अकेले विचरण करते हैं। ४॥ आप सभी लोकों के गुरु हैं और तत्त्व के मार्ग के उपदेशक हैं। तत्त्वज्ञान की अनुभूति करने वाला आपके सहश और कोई नहीं है॥ ५॥ अधिक्विती होने से मैं आपको प्राणों से अधिक प्रिय हूँ। अतः, हे नाथ! उस रहस्यमय तत्त्वज्ञान को मुझसे कहिये॥ ६॥ हे विभु, हे कुपासिन्धु, हे महेश्वर! आपके लिए यह कोई विचित्र बात नहीं है। अतः हे महेश्वर! इस तत्त्वज्ञान रूप ज्ञान को आपसे भ्रान्त में पूँ छना चाहती हूँ।। ७॥

यच्वयोक्तं पुरा मोहो जगत्कारणरूपकः। यथा बीजादुद्भवन्ति पत्रपुष्पफलादयः॥ ४॥ एवं मोहात्समुद्भूतं सदेवासुरमानुषम्। अज्ञानप्रभवो मोहो मोहाज्जातं चराचरम्॥ ९॥

आपके द्वारा पहले जगत् के कारण मोह के रूप में जो ज्ञान कहा गया है। जैसे बीज से पत्र, पुष्प, फल आदि उद्भूत होते हैं।। हा। इसी प्रकार से देवों के सिहत असुर और मनुष्य मोह से उद्भूत हैं। अज्ञान से मोह उत्पन्न होता है और मोह से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न है।। ९।।

स्रजं श्रुक्ति समावृत्य यथाज्ञानं स्वशक्तितः। अहिंच रजतं चेंव यथा दर्शयते स्फटम् ॥ १०॥ तथाक्षरं परं ब्रह्म ह्यज्ञानं मोहकारणम्। समावत्यात्मशक्त्येव विश्वं सूजति शङ्कर ! । ११।। इत्युक्त यत्त्वया देव तत्र मे संशयो महान्। अक्षरं यत्त्वया प्रोक्तं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ॥ निर्दोषं निर्मलं शुद्धं निरीहं सङ्गविजतम् ॥ १२॥ स्वप्रकाशं गुणातीतं ज्ञानरूपं समं शिवम्। निर्विकारं सदाभान्तं सदसद्भावतः परम् ॥ १३ ॥ तस्मिन्तज्ञानसंसर्गः को वा वक्तु समीहिते। कथमज्ञानजो मोहस्तस्मिन् ज्ञानात्मनीश्वरे ॥ १४॥ स्वप्रकाशे यदज्ञानमावृति कुरुते यदि। तमसापि कथं सूर्यों नात्रियेत् मनागपि ॥ १५॥ कथं वा मोहनारोऽपि केवल्यमवशिष्यते। असत्य सत्यवद्वाति संशयोऽत्र महान्मम्। छेत्महींस देवेश ! तत्वज्ञानासिना प्रभो ! ॥ १६॥

अपनी शक्ति ज्ञान के अनुसार सीपी में मोती का मान जैसे होता है और माला में जैसे सर्प का भान होता है वैसे ही भ्रम जगत् है और सत्य अक्षर रूप परब्रह्म है क्योंकि अज्ञान हो मोह का कारण होता है अतः हे शंकर ! वह अज्ञान अपनी शक्ति के अनु-सार मोह को समावृत करके विश्व का सृजन करता है ॥ १०-११ ॥ हे देव ! यह जो आपने कहा है उसमें हमें महान संशय है । जो अक्षर है, प्रयच्चरहित है, निरामय है । निर्दोष, निर्मल, शुद्ध, इच्छारहित और सङ्ग से रहित है उस स्वयं प्रकाश गुणातीत, ज्ञानरूप समबुद्धि वाले निर्विकार, सदैव दीसिमान, सत् और असत् के भाव से परे परब्रह्म में, हे शिव! अज्ञान का संवर्ग कैसे सम्भव है? फिर ज्ञानस्वरूप ईश्वर में किस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न मोह होता है? ॥ १२-१४ ॥ यदि उस स्वयं प्रकाश [ईश्वर] में अज्ञान आवृत हो जाता है तो ज्ञानरूप सूर्य उस अज्ञान के अन्वकार को क्या थोड़ा भा नहीं ढंक सकता ? ॥ १५ ॥ और फिर मोह के नाश होने पर (केवल मोक्ष प्राप्त) आत्मा कैसे अवशिष्ट रह जाता है? फिर असत् संसार भी सत् के समान तो प्रतोत होता ही है। इसमें हमें महान् संशय है। हे प्रभो ! हे देवेश ! तत्त्वज्ञानरूपी कृपाण से आप इस सन्देह का छेदन करने में समर्थ हैं॥ १६॥

शिव उवाच ॥

शृणु सुन्दरि यत्नेन रहस्यं परमाद्भुतम्। तव स्नेहवशाद्वचिम प्रेम्णाह प्रार्थितस्त्वया ॥ १७ ॥

भगवान् शंकर ने कहा-

हे सुन्दरि ! इस परम अद्भुत रहस्य को सावधान होकर सुना । तुम्हारे स्तेह के कारण मैं इसे तुमसे कहता हूँ । वस्तुतः तुमने बड़े ही प्रेम से मुझसे कहते को आग्रह किया है ।। १७ ।।

> न वाच्यं यस्य कस्यापि मातृजारसमं रहः। गोपयेत्सर्वतो भद्रे विवदेन्न कथञ्चन।। १८।।

यह रहस्य जिस किसी को भी कहने योग्य नहीं है। जैसे माता अपने जारज पुत्र का गोपन करती है उसी प्रकार यह छिपाने योग्य है। सभी ओर से इसे, छिपाना चाहिए। कभी भी इसके बारे में विवाद न करे।। १८॥

न वादितकंविषयं परं ब्रह्मसनातनम्।
तर्केकककंशिधयो वादिनो मूढबुद्धयः।। १९॥
सूयस्यावरणे शक्तं तिमिरं न कथ चनन ।
स्वप्रकाशे तथाज्ञानं कदाचित्प्रभवेन्नहि॥ २०॥
इति प्रामाणिकस्तर्केविषद्धिमव भासते।
मोहसृष्टिसमुद्भूता ये प्रमाणविदो जनाः॥ २९॥

वस्तुतः, यह सनातन परब्रह्म वाद एवं विदाद का विषय नहीं है विह शाश्वत तो है ही]। वस्तुतः तर्क से ही सिद्ध करने वाले वादी लोग कठोर बुद्धि के और मूर्खं बुद्धि के होते हैं।। सूर्य के उदित हो जाने पर कभी भी अन्धकार का अस्तित्व जिस प्रकार नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मज्ञान से प्रकाशित हा जोने पर कभी भी व्यक्ति मोह से अभिभूत नहीं होता।। १९-२० । यहां बात प्रमाणवादियों के द्वारा तर्क से सिद्ध करने पर विषद्ध की भौति भासित होती है क्योंकि जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण

मानते हैं वे जन मोहसृष्टि से समुद्भूत होते हैं ॥ २१ ॥

कथं ते वेदितुं शक्ताः प्रमाणैरिप पण्डिताः ।
यथा स्वप्नजनो देवि ! स्वप्नदृष्टारमेकलम् ॥ २२ ॥
न जानाति तथा देवि ! प्रमाणान्यिष कृत्स्नशः ।
परे ब्रह्मण्यक्षरेऽस्मिन् आज्ञानावेशमाहितम् ॥ २३ ॥
तस्माद्युक्तिनं कर्तव्या श्रुतिभिया विरुध्यते ।
अनुकूला श्रुतिगिरां युक्तिः सा विदुषां मता ॥ २४ ॥

फिर उन [प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले पण्डितजनों के द्वारा प्रमाणों से भी वह परमतत्त्व कैसे जाना जा सकता है ? ।। जैसे हे देवि ! स्वप्न देखता हुआ मनुष्य मात्र स्वप्न ही देखता रहता है ।। २२ ।। उसी प्रकार सभी प्रमाणों से सिद्ध करने पर भी, हे देवि ! वह उस 'तत्त्वज्ञान' का नहीं जान पाता । इस परब्रह्म अक्षर में वह अज्ञान रूप मोह के कारण आवेशित हो जाता है ।। २३ ।। इसलिए ईश्वर को सिद्ध करने के लिए युक्ति नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे युक्तियाँ श्रृतियों के विरुद्ध हैं। वस्तुतः वही युक्ति विद्वानों के मतानुसार अनुक्ल है जो श्रृति वाक्यों से मिलती हों ॥ २४ ॥

यथा न सत्यादनृतात्केवलाद् व्यावहारिकम्।
तथा सत्यानृताभ्यां तु व्यवहारः प्रवित्ततः ॥ २५ ॥
अनृतं तु तदज्ञानं सत्यं ब्रह्मं व केवलम्।
न तुषादङ्कुरोत्पत्तिः केवलात्तण्डुलादिष ॥ २६ ॥
तुषतण्डुलयोगेन जायते विश्वसम्भवः ॥ २७ ॥
बस्मान्न संज्ञयः कार्यो ब्रह्मण्यज्ञानसम्भवे ।
नापनेया मतिस्तर्कभावा ये चाप्यलोकिकाः ॥ २८ ॥
न तांस्तर्कण युञ्जीतेत्याहुश्चोपनिषद्गिरः ।
ब्रह्मण्यज्ञानसद्भावो लोकसिद्धो न विद्यते ॥ २९ ॥
विद्यते वेदसिद्धोऽयं तस्माद्देदः प्रमाणकम् ।
अलीकिकं न सिद्धयेत विष्द्ध यच्छुतेः सह ॥ ३० ॥

जिस प्रकार मात्र सत्य एवं अनृत (⇔ झ्ठ) से अलग रहना अव्यावहारिक है उसी प्रकार सत्य और अनृत से व्यवहार प्रवर्तित है ॥ २५°॥

भावा तच्चाप्यलीकिक: इति पाठ: ।

वस्तुतः असत्य का ज्ञान उसका अज्ञान है क्योंकि ब्रह्म ही केवल सत्य है। भूसी से अङ्कुर की उत्पत्ति या मात्र चावल से ही अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होता ॥ २६ ॥ भूँसी और चावल दोनों से युक्त [बीज] से ही अङ्कुर का उत्पन्त होना और बढ़ना जैसे सम्भावित है उसी प्रकार परब्रह्म में अज्ञान के योग से विश्व का विस्तार सम्भावित होता है ॥ २७ ॥ इसलिए ब्रह्म में अज्ञान के होने में किसी प्रकार बृद्धिमान व्यक्ति को संशय नहीं करना चाहिए। अतः जो अलौकिक भाव मन में आते हैं उन्हें तर्कों के द्वारा बृद्धि से नहीं हटाना चाहिए॥ २८ ॥ 'उन्हें तर्क से युक्त नहीं करना चाहिए — इस प्रकार उपनिषदों की भो वाणी हैं। ब्रह्म में अज्ञान का रहना लोकसिद्ध नहीं है ॥ २९ ॥ यह तो वेदसिद्ध है। अतः वेद ही प्रमाण है। अलौकिक सिद्ध नहीं है व्योंकि वह तो श्रुति के विरुद्ध है॥ ३० ॥

अपरोक्षं लौकिकं च परोक्षं चाप्यलौकिकम्।
कथं सिड्येदप्रमाणं परोक्षं लौकिकोक्तिभिः॥ ३९॥
प्रमाणराजो यद्यादक् निरूप्यति केवलम्।
तत्तादृगेव मन्तव्यमन्यथा स बहिमुँ खः॥ ३२॥
अलौकिकं लौकिकं च तस्यैतदुभयं गतम्।
स चाण्डालमयीं योनि प्रविशेत्तद्बहिमुँ खः॥ ३३॥

वस्तुतः लौकिक और अलौकिक में यह भेद है कि लौकिक प्रत्यक्ष है किन्तु अलौकिक परोक्ष है। अतः लौकिक उक्तियों से जो कि प्रमाण नहीं है उनसे कैसे परोक्ष (अलौकिक) की सिद्धि होगी? ॥ ३१ ॥ यदि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के ही 'आधार पर जैसा निरूपण हो वह वैसा ही मन्तव्य है और अन्य सभी उससे बहिमुंख हैं अर्थात् छोड़ देने योग्य है—यह ठीक नहीं है ॥ ३२ ॥ इस प्रकार लौकिक और अलौकिक उस ज्ञान के उभयात्मक रूप हैं। उन दोनों से भिन्न होकर जो अन्य बहिमुंख शिकान में जाता है वह चाण्डालमयी योनि में मरने के बाद जनम लिता है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मक्षत्रियिवद्शूद्राश्चेते वेदानुवर्तिनः। वेदेस्त्यक्तास्त्यजन्तस्ते यान्ति नीचपरम्पराम् ॥३४॥ प्रत्यक्षं चानुमानं च शब्दः सादृश्यमेव च। चत्वार्येतानि देवेशि ! प्रमाणानि न संशयः॥ ३५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैषय और शूद्र — ये तो वेद के अनुसार चलने वाले होते हैं। अतः वेदों को त्याग करके जो चलते हैं वे अधोगित की नीच परस्परा में चले जाते हैं।। ३४।। हे देवेशि ! प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान — निःसन्देह रूप से ये ही चार प्रमाण हैं।। ३५।।

प्रत्यक्षं लौकिके सिद्धं न चैवालौकिके हि तत्। पर्वतो विह्निमान् धूमादित्येवमनुमीयते । ३६॥

जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक वस्तुओं में सिद्ध है और अलौकिक तथ्यों में वह तो असिद्ध ही है। 'पर्वत पर विद्ध है क्योंकि वहाँ घुआँ दिखाई पड़ रहा है'--इस प्रकार का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है।। ३६।।

> केनात्र संसाध्यं सदसत्परमञ्ययम्। ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मण्यनुमितिर्ने सिध्येत कदाचन ॥ ३७॥ सादृशाभावतो लोके सादृश्यं नापि सिध्यति । अनादिः शब्दब्रह्माख्यो ब्रह्मवक्तीह यादृशम्। ताद्शं तद्विजीनायात् पाखण्डी चान्यथा हि सः ॥ ३८ ॥ ब्रह्माभासमया जीवा ब्रह्म वेति विनिश्चयः। अहं मनुष्य इत्याद्या अहं बुद्धिहिदेहिनाम् ॥ ३९॥ आत्मत्वेनीव गृह्णाति देहं चैनमचेतनम्। विपरीतमिदं भद्रे सन्दिग्धमिदमेव हि।। ४०।। अलोकिकं हि सन्दिग्धं वेदेनैव निवर्त्तते। न निश्चयं विना क्वापि मुक्तिर्भवनि शास्वती ॥ ४९ ॥ तस्माद्वेदान्तवाक्यैश्च सहायैः सर्वतोधिकैः। विचारयेत् परं ब्रह्म स्वात्मानं लभते हि सः ॥ ४२ ॥ शब्दातीतं परं ब्रह्म शब्दगीचरमित्यपि। तथाप्यनादिशब्दैस्तत् ज्ञायते नान्यथा प्रिये ॥ ४३ ॥

फिर उन दानों प्रमाणों में से 'ब्रह्म', जो कि सन्-असन् से परे जीर अन्यय स्वरूप है, किस प्रमाण से सिद्ध करने योग्य है। अतः जिसका रूप ही नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुमान से कभी भी नहीं सिद्ध किया जा सकता है।। ३७॥ लोक में उसके सहश कोई और न होने से वह साहश्य प्रमाण से भी नहीं सिद्ध होता है। 'शब्दब्रह्म' नामक अनादि ब्रह्म जैसा कहा गया है वैसा ही जानना चाहिए। वह तो पाखण्डी है जो शब्द ब्रह्म से अन्यथा उस ब्रह्म का निरूपण करते हैं।। ३८॥ जीव [आत्मा] ब्रह्म के आभासक हैं। वे निश्चय रूप से ब्रह्म ही हैं। 'मैं मनुष्य हूँ'—इस प्रकार शरोरधारी न्यक्तियों को 'अहं' बुद्धि हो जाती है।। ३९॥ इस अचेतन देह को आत्मत्व रूप से ही वह ग्रहण करता है। हे भद्रे ! यह दोनों बात विपरीत सी जान पड़ती है क्योंकि यह सन्दिग्ध ही है।। ४०॥ वस्तुत: अलीकिक तथ्यों के सन्देह का निवारण वेद से ही होता है। किसी एक के निश्चय के बिना शाश्वत मुक्ति नहीं होती है।। ४१॥

इसिलिए वेदान्त वाक्यों की सहायता से सभी और से विचार करे। वह विचार करने वाला परब्रह्म को स्वात्मा में ही प्राप्त करता है।। ४२।। वह परब्रह्म शब्द से अतीत भी है और वही परब्रह्म (श्रुति प्रमाण से) शब्दगोचर भी है। तथापि है प्रिये! वह ब्रह्म अनादि शब्दों से ही जाना जा सकता है अन्यथा नहीं जाना जाता है।। ४३।।

प्रमाणराजो निगमादनुभूतिगरीयसी।
तथाप्यनुभनी साक्षात् शब्दैरेनोपदिश्यति।। ४४ ।।
गुरूक्तं नापि नेदोक्तमेकार्थं यदि भासते।
तदा कृतार्थः पुरुषो मुक्तो भनित संशयात्।। ४५ ।।
तिनृक्ते संशये देनि जाते स्नानुभनोदये।
ब्रह्माण्यज्ञानमित्येषः सन्देहो नाशमेष्यति।। ४६ ।।
यदि युक्त्या प्रमाणेश्च निरुद्धं श्रुतिसम्मतम् ।
नायं निरुद्धो निदुषां अनुभूतिमतामपि।। ४७ ।।
जाग्रत्येतत्प्रतीयेत स्वप्ने तत्प्रातिभासिकम् ।
सुषुप्तौ तन्निरासेऽपि मूलाञ्चानं हि तिष्ठति।। ४८ ॥
आभासस्तदनिन्छन्नो जीनत्नेन प्रतीयते।
आभासन्तदनिन्छन्नो जीनत्नेन प्रतीयते।
आभासो ज्ञान्छपो हि बह्विरन्तः प्रकाशकः।। ४९ ।।

यद्यपि प्रमाणों के राजा प्रत्यक्ष की, श्रुति रूप शब्द प्रमाण से अत्यिधिक अनुभूति होती है, तथापि वह शब्दब्रह्म का अनुभवी व्यक्ति साक्षात् शब्दों से ही उपिष्ट होता ।। ४४ ।। यदि एक अर्थ (शब्द ब्रह्म) का आभास एक वचन से होता है तो वह भी वेदोक्त वचन है। ऐसा होने से ही इतार्थ होकर पुरुष संशय से मुक्त होता है ।। ४५ ।। हे देवि ! संशय के निवृत्त हो जाने पर और (ब्रह्म की) स्वानुभूति हो जाने पर 'ब्रह्म' में अज्ञान के होने का यह सन्देह नष्ट हो जाता है ।। ४६ ।। यदि युक्ति एवं प्रमाणों के विरुद्ध भी श्रुति सम्मत बात हो तो यह विरुद्ध नहीं होती क्योंकि यह अनुभूतियुक्त विद्वानों को अवगत होती है ।। ४७ ।। वस्तुतः जगने पर ही यह प्रतीत होता है कि यह तो स्वप्न में प्रतिभासित हो रहा था। सुषुप्ति की अवस्था में उसके निराकरण होने पर भी मूल्हप से अज्ञान रहता ही है ॥ ४६ ।। उसका आभास होने पर वह उससे युक्त जीव रूप से प्रतीत होता है । वयोंकि ब्रह्मज्ञान का आभास होना ही ब्राह्मजगत् और अन्तः करण का प्रकाशक है ।। ४९ ।।

तवज्ञानं तु देहादिरूपेः परिणतं प्रिये। तत्र व्याप्तश्चिदाभास एवं स्याद्व्यावहारिकम् ॥ ५०॥ मूलाज्ञानिमदं देवि यदात्मिन च धिष्ठितम्।
तिन्तरासं विना देवि जीवा आभासक्ष्मिणः ॥ ५१ ॥
न मुक्यन्ते कदाचिद्धा कथिवद्धा मुरेश्वरि।
महोपवासिनयमेस्तपोभिविविधरिप ॥ ५२ ॥
स्वाध्यायाध्ययनेदानिस्तीर्थेति चान्यसाधनैः।
बह्मचयंवानप्रस्थसन्नायासाचरणैरि।
अगाधाज्ञानपायोधौ दुरन्ते पारविजते ॥ ५३ ॥
उन्मज्जन्ते निमज्जन्ते देवत्वजडतादिभिः।
नैव पारं गताः केचिन्नैव यास्यन्ति केचन ॥ ५४ ॥
अहोऽत्र परमानन्दः पुरुषोत्तम ईश्वरः।
यानीक्षतेनुग्रहद्शा ते यास्यन्ति मिरीन्द्रजे ॥ ५५ ॥
विस्नन्तज्ञानपथोधौ वयं ब्रह्मादयोऽपि च ।
बुद्बुदाकारतां प्राप्तास्नदिच्छावायुज्भिताः॥ ५६ ॥
विद्युद्धाकारतां प्राप्तास्नदिच्छावायुज्भिताः॥ ५६ ॥

है प्रिये! उस जीव का बज्ञान ही देहादि रूप से परिणत होता है। पार्म प्रकार उस चिदाभास का व्याप्त होना ही व्यावहारिक प्रतीत होता है।। पार्म हें दिवि! मूलरूप से यही अज्ञान है जो अपने में प्रतिष्ठित है। हे देवि! उस अज्ञान के निराकरण के बिना जीव उसके अभास रूप हैं।। परे।। हे सुरे विर! अज्ञान के निराकरण के बिना जीव उसके अभास रूप हैं।। परे।। हे सुरे विर! के कभी भी किसी प्रकार से वत, उपवास, नियम और विविध प्रकार के तप से भी बन्धनमुक्त नहीं होते हैं।। परे।। वे, स्वाध्यायों, अध्ययनों, दानों, तीथों अथाव अन्य साधनों से भी तथा ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ या सन्यासाश्रम के आखरणों से भी अगाध अज्ञान के समुद्र को नहीं पार कर पाते।। परे।। वे देवत्व और जड होकर भी उस अज्ञान समुद्र में डूबते उतराते रहते हैं। न कोई उसका पार पाते हैं और न कोई उसमें से निकल ही पाते हैं।। परे।। हे गिरिराज हिमालय की पृत्र ! वही उसको पार कर पाते हैं जिसको भगवान परमानन्द पुरुषोत्तम ईश्वर अनुग्रह हिन्द से देखते हैं।। परे।। इस अज्ञान रूप समुद्र में हम और ब्रह्मा आदि भी अनुग्रह हिन्द से देखते हैं।। परे।। इस अज्ञान रूप समुद्र में हम और ब्रह्मा आदि भी अनुग्रह हिन्द से देखते हैं।। परे।। इस अज्ञान रूप समुद्र में हम और ब्रह्मा आदि भी अनुग्रह की इच्छारूप वाग्र की जमुहाई से उठे बुलबुले के रूप में ही हैं।। परे।। उस परवहा जीवता प्रवास

वायूपशमने देवि बुद्बुदा नीरता गता।।
तथा यास्यति ब्रह्माण्डमस्माभिरिवशेषितम् ॥ ५७ ॥
अप्रबोधो यथा स्वप्ने चित्रं सृजति कौतुकम् ।
तथैवात्माऽप्रवोधेन जातं सर्वं चराचरम् ॥ ५७ ॥
प्रवोधाद्विलयं याति परं ब्रह्मावशिष्यते ।
स्रिज सर्वलये यहत् स्रोव परिशिष्यते ॥ ५९ ॥

श्रष्टयारोपापवादेन परं ब्रह्मैव शिष्यते। इति ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया प्रिये ॥ ६० ॥ समासेन यहेबानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ? । ॥ इति श्रीनारदपाश्वरात्रे साहेब्बरतन्त्रे उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे) शिवोमासंवादे पञ्चमं पटलम् ॥ ५ ॥

हे देवि ! वायु के उपशम होने पर जैसे व्लबुले पानी को ही प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी हमलोगों के सहित (उसी विराट् रूप में) विलीन हो जाता है ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार स्वप्त के समाप्त न होने पर अनेक प्रकार के चित्र विचित्र की तुक होते हैं उसी प्रकार आत्मा के अप्रबुद्ध होने पर सभी चराचर जगत् को मुष्टि होती है ॥ ५८ ॥ उसी आत्मा के (अज्ञान रूप आवरण के हटने पर) प्रबुद्ध होने से सभी का विलय हो जाता है और अन्तत: मात्र ब्रह्म ही अविशिष्ट रहता है । जैसे माला में सर्प का सन्देह होने पर (ज्ञान हो जाने पर) मात्र माला ही अविशिष्ट रहता है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार अध्यारोप के हट जाने पर ब्रह्म ही अविशिष्ट रहता है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार अध्यारोप के हट जाने पर ब्रह्म ही अविशिष्ट रहता है । इस प्रकार हे प्रिये ! तुमने जो कुछ पूँछा उसे हमने संक्षिप्त रूप से कहा ॥ ६० ॥ अब हे महेश की शक्ति ! तुम पुन: क्या पूँछना चाहती हो ॥ ६१ ॥

श इस प्रकार श्रीनारद पश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के पञ्चम पटल की डाँ० सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

अथ बष्ठं पटलम्

श्रीदेव्युवाच-

देवदेव कृपासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते। आपीय भवतः सूक्ति महानन्दः प्रवर्तते ॥ १ । अज्ञानान्निखलं जात ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् । इति यद्भवता प्रोक्तं सङ्क्षेपेण महेश्वर ! ॥ २ ॥ प्रपञ्चय पुनः सर्वं सृष्टिसंहारभेदतः।

श्री देवी पार्वती ने कहा-

हे देवों के देव, कृपा के सिन्धु, हे दीनों के बन्धु, हे जगत् के स्वामी आपके मुख से निकली गुम बाणी के श्रवण से महान् आनन्द होता है ॥ १॥ वस्तुतः अज्ञान से ही समस्त ब्रह्मा आदि देवगण और स्थावर एवं जङ्गात्मक संसार की स्थिति होती है। अतः हे महेश्वर ! यह जो आपने संक्षेप से कहा है उस सभी को आप पुनः १. सृष्टि और २. संहार भेद से कहें— ॥ २-३॥

शिव उवाच-

शृणु पार्वति वध्यामि यत्त्वं पृच्छिसि तत्त्वतः।
तस्य श्रवणमात्रेण परमात्मा प्रकाशते।। ३।।
अज्ञानं यन्मया प्रोक्तं न सन्नासत्तदुच्यते।
सच्चेन्मुक्तिसमुच्छेदों ह्यसच्चेद्धासते कथम्।। ४।।
अनिवाच्यमिदं तस्मात् त्रिगुणोत्पादकं तथा।
ज्ञाननाध्यं भावरूपं मूलाज्ञानं विदुः प्रिये।। ५।।
शश्चित्रः भावरूपं मूलाज्ञानं विदुः प्रिये।। ५।।
शश्चित्रः कथं सदिति चोच्यते।। ६।।
नासत्तु कारणत्वेन ह्युपयुञ्जीत कहिन्ति।
कथं सृजति ब्रह्माण्डं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम्।। ७।।

भगवान शंकर ने कहा-

हे पार्वती, सुनो—जो तुम तत्त्वतः प्रैंछती हो उसे मैं कहूँगा। उसके श्रवण मात्र से ही परमात्मा प्रकाशित हो जाते हैं।। ३।। जो हमने (ब्रह्म में) अज्ञान (के आवरण से सृष्टि) को कहा है 'वह सत् नहीं होता'— इसे ही अब मैं कहता हूँ। यदि वह अज्ञान से अनावृत केवल ब्रह्म का ज्ञान } सत् होता है तो वह साधक को मुक्ति दिलाता है और बन्धन का समुच्छेद होता है तो फिर कैसे वह मासित होता है ॥ ४॥ इसलिए यह अनिर्वाचय होता है क्योंकि वह त्रिगुण [सत्व, रज एवं तम] से उत्पन्न है और ज्ञान का नाशक एवं माव रूप है। मूल रूप से, अव हे प्रिये! 'अज्ञान' को जानो ॥ ५॥ खरगोश को सींग, मानव की सींग, बांझ स्त्री को पुत्र एवं आकाश-पुष्प के समान 'अज्ञान' विद्वानों के द्वारा [असत्] कहा गया है। जब वह असत् है तो फिर वह सत् कैसे कहा जाता है?॥ ६॥ 'असत्' कभी भी किसी का कारण नहीं बन सकता। तो फिर कैसे ब्रह्मादि देव और स्थावर जङ्गमात्मक ब्रह्माण्ड का वह [ब्रह्म-अज्ञान से आवृत होकर] सुजन करता है?॥ ७॥

न शक्यस्तदभावोऽपि यस्मात्तत्त्रिगुणात्मकम् । श्रृतिप्रसिद्धं व्योमादिरूपेण विततं च यत् ॥ ७ ॥

उस ब्रह्म का अभाव भी नहीं हो सकता क्योंकि वह [सत्त्व, रज, तम रूप से] त्रिगुणात्मक है और क्योंकि उन्हीं का विस्तार (पृथ्वी, जल, पावक, वायु एवं) आकाशादि रूप से श्रुतियों में प्रसिद्ध है।। ८॥

सत्यवद्भासते वापि मूलाज्ञानं गिरीन्द्रजे। दीपाचिषेव तिमिरं ज्ञानेन विनिवर्त्तते॥ ९॥

हे गिरीन्द्रजे ! (पर्वतों के राजा हिमालय की पुत्री) सत्य के समान भासित होने वाला (त्रिगुणात्मक जगत) भी मूल रूप से अज्ञान ही है। ज्ञान रूप दीप की शिखा से ही उस आज्ञानान्धकार को हटाया जा सकता है।। ९।।

> स्वस्वरूपावबोधो हि ज्ञानिमत्युच्यते प्रिये। स्वस्वरूपभ्रमो देवि विकल्पो भवसंज्ञकः। भ्रान्तात्मनस्तु शयने विकल्पो जायते महान्।। १०॥ प्राप्तात्मनः समूलोऽपि नश्यते तद्वदेव हि। तदज्ञानं द्विधाभृतं कार्यकारणभेदतः॥ ११॥

हे त्रिये ! 'स्व' स्वरूप का अवबोध ही 'ज्ञान' रूप से कहा जाता है और 'स्व' स्वरूप का भ्रम होना (ही अज्ञान है)। हे देवि ! 'संसार' नामक विकल्प है । शयन में जैसे महान् भ्रान्तात्मक विकल्प उपस्थित होता है किन्तु ज्ञग जाने पर जैसे उस भ्रमात्मकता का समूल नाश हो जाता है वैसे ही कार्य और कारण के भेद से 'अज्ञान' दो प्रकार का होता है ॥ १०-११ ॥

अक्षरे परमानन्दे मूलं स्यात्कारणं परम्। कार्यात्मकं बुद्धिभेदात् बुद्धिराभासदीपिता।। १२।। अक्षर परमानन्द (ब्रह्म) में श्रोष्ठ मूल-उपाधि कारण होता है। बुद्धि भेद के कारण वह कार्यात्मक है, जो बुद्धि-आभास से दीपित है।। १२।।

सूते कार्यात्मकं पिण्डं ब्रह्माण्डं कारणात्मकम् । ब्रह्माण्डपिण्डयोरेक्यं प्रवदन्ति विपश्चितः ॥ १३ ॥

प्रसूत होने पर कार्यात्मक पिण्ड होता है और कारणात्मक ब्रह्माण्ड होता है। इस प्रकार विद्वानों के द्वारा ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड का ऐक्य कहा गया है।। १३॥

सर शरावयोर्मध्ये ययार्कः प्रतिबिम्बितः। अक्षरः स्वावभासेन कायंकारणसङ्गतः॥ १४॥

सर (तालाब) और शराव (कटोरा) के मध्य जैसे सूर्य प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही कार्य एवं कारण से सङ्गत होने से अपने आभास से वह अक्षर बह्म मासित होता है।। १४॥

यथोपाधिद्वयाभावे सूर्य एकः प्रतीयते। तथोपाधिद्वयाभावे विशुद्धः केवलोऽक्षरः॥ १५॥

जैसे उपाधि-द्वय के अभाव में सूर्य एक ही प्रतीत होता है वैसे ही उपाधिद्वय [ब्रह्म और त्रिगुणात्मक जगत्। के अभाव में विशुद्ध रूप से मात्र अक्षर ब्रह्म का (हमें साक्षात्कार होता है) ॥ १५॥

मूलोपाधिविशुद्धश्च सत्वप्राधान्यतः प्रिये। क्षुद्रोपाधिहि मलिनस्तमःप्राधान्यतो भवेत्।। १६॥

हे प्रिये! सन्त्र गुण की प्रधानता से मूठ उपाधि विशुद्ध होती है और तमोगुण की प्रधानता से क्षुद्रोपाधि मलिन होती है।। १६॥

उत्कृष्टत्वाद्विशुद्धत्वात् सत्वप्राधान्यतस्तथा । नारायणादिकान् सूते सर्वज्ञानोपब्रंहितान् ॥ १७॥

उत्कृष्ट एवं विशुद्ध होने से सत्तर की प्रधानता के कारण सर्वज्ञ एवं उपवृंहित नारायणादिक देवों की सृष्टि होती है।। १७॥

> कार्योपाधिनिक्वष्टत्वादशुद्धत्वाच्च तामसः। जीवसृष्टि वितनुते सर्वेशग्णवजिताम्॥ १८॥

कार्य रूप उपाधि के निक्रष्ट एवं अगुद्ध होने से तम की प्रधानता के कारण समस्त ईश (विगुद्ध) गुण से रहित जीव की सृष्टि होती है ।। १८ ॥ नारायणादिजीवन्ता सृष्टिर्मोहाविधिस्थिता।

एकमेवादितीयं च बहाति श्रुतयो जगुः।। १९।।

नारायणादि देव मृब्टि से लेकर जीव सुष्टिपर्यन्त सृष्टि मोह की अविध तक रहती है। मोहाविध के बाद 'एक ही अद्वितीय बहा की प्रतीति होती है' — जिसे श्रुतियों ने कहा है।। (१ ।।

बुद्धिवृत्तिस्त्रिघा यहज्जाग्रत्स्व्यमुषुप्तिकाः। आभासात्मिनि जीवास्ये वर्तन्ते ताः पुनः पुनः ॥ २०॥

जैसे जाग्रत स्वप्न जौर सुषुष्ठि-ये तीन बृद्धि की वृत्तियाँ होती हैं वैसे ही उन्हीं वृत्तियों का पुनः पुनः जीव नामक (सृष्टि) आत्मा में आभास होता है।। २०॥

तद्वद्बह्मणि चाज्ञानं त्रिधेव परिवर्तते । मूलाज्ञानं लयस्थानं सुषुष्तिः परिकीत्तिता ॥ २१ ॥

वैसे ही ब्रह्म में अज्ञान तीन प्रकार से परिवर्तित होता है-जो मूल-अज्ञान, लयस्थान और सुषुप्ति नाम से जाना जाता है ॥ २१ ॥

नारायणोपाधिकं यत्स्वप्नं तत्परिचक्षते। विष्णुपाधिमयाज्ञानं जाग्रदित्यभिधीयते॥ २२॥

जो नारायगोपाधि है विद्वानों के द्वारा वह 'स्वप्न' कही गई है और जो विष्णु-उपाधि रूप अज्ञान है वह 'जाग्रम्' कहा गया है ॥ २२ ॥

> आदिजीवो महाजीवो विष्ण्वास्यः परिकीत्तितः । स एव सर्वजीवास्यः' आभासात्मा परस्य तु ॥ २३ ॥

आदिजीव और महाजीव विष्णु नाम से वही परब्रह्म है, जो सब जीव नाम से उसकी आत्मा में आभासित होता है ॥ २३॥

जाग्रतस्थानगताज्ञानं नानारूपैविजृम्भितम्। देवासुरमनुष्याद्येर्गन्धर्वोरगिकन्तरः ॥ २४॥ पशुकीटपतः द्वाद्यैविचित्रेः कर्मनिवितः। तानेतान्वासनारूढान्नानाभेदव्यवस्थितान् ॥ २५॥

जाग्रत स्थान गत अज्ञान नाना रूपों में जगत् में सृष्टि को प्राप्त करता है। देव, असुर, मनुष्य आदि और गन्धवं, उरग [सर्प, नाग], किन्तर, पशु, कीड़े, पतङ्कों आदि विचित्र रूपों में वह कर्म के अनुसार निर्मित होते हैं। वे सभो (ब्रह्म की) वासना से निर्मित होने से नाना भेदों में व्यवस्थित होते हैं।। २४-२५।।

नारायणेन रूपेण स्वयं पश्यति चाक्षरः। जाग्रत्स्वप्ने विलीयेत स्वप्नस्तु शयनं व्रजेत्। तत्तुरीयं लयं याते स्मृतिरत्राविशयते॥ २६॥

१. 'आभासात्मनि पश्यति' इत्यपि पाठः ।

यथा जागरणे स्वप्तः स्वप्ते जागरणं यथा। तथा वृत्तिमदं देवि यो जानाति सं मुच्यते ॥ २७ ॥

वह अक्षर ब्रह्म ही स्वयं अपने को नारायण रूप से देखते हैं। जो जाग्रतस्वप्ना-वस्था में विलीन हो जाते हैं और स्वपन तो शयन में परिणत हो जाता है। उस तुरीयावस्था के विलीन हो जाने पर मात्र उसकी स्मृति ही अवशिष्ठ रह जाती है। जैसे जागरण को अवस्था में स्वप्न और जैसे स्वप्नावस्था में जमे रहना दृष्टिगोचर होता है (वास्तव में वह कुछ भी नहीं होता है) वैसे ही इस (जगत्) की वृत्ति को, हे देवि! जो साधक जानता है वहीं मोक्ष को प्राप्त करता है।। २६-२७।।

> अक्षरः परमात्मायं जाग्रत्स्वप्नं प्रपत्यति । जीवो जाग्रति वै स्वप्ने चित् क्षरस्य परात्मनः । स्वप्न तज्जागरंदजापि दयमेसद्गतार्थकम् ॥ २८॥

यह अक्षर परमात्मा जाग्रत्स्वप्त को प्रकृष्ट रूप से देखते रहते हैं और पर-मात्मा क्षर का चित् जीव स्वप्त में जागता रहता है। इस तरह स्वप्त और उसका जागरण दोनों ही इसमें गतार्थ हो जाते हैं।। २८।।

> स्थूलार्थोपासत्तिकालो जागरः परिकोत्तितः। स्थूलं त्यक्त्वा तु सूक्ष्मार्थोपासत्तिः स्वाप्तिकी मता ॥ २९॥

स्थूलार्थ में उपासत्ति का काल 'जागरण' कहा गया है और स्थूल जगत को स्थाग कर सूक्ष्मार्थ में उपासत्ति विद्वानों के मतानुसार 'स्वप्न' कहा गया है ॥ २९ ॥

सूक्ष्मार्थानामप्यभावोपासत्तिः शयनात्यिका । शयनं तत्तु चाज्ञानं मोहरूपं वरानने ॥ ३०॥

सूक्ष्म अर्थों में भी अभाव उपासत्ति का कारू 'शयनात्मिका' रूप से जानी जाती है। हे वरानने ! वह मोह रूप अज्ञान ही शयन है।। ३०॥

> कारणं तद्विजानीयात् महाकारणनिर्मितम् । कार्यरूपेणः विततंः क्रमात्स्थूलविभेदतः ॥ ३१ ॥

महाकारण से निर्मित उसे 'कारण' जानता चाहिए। कार्यरूप से स्थूल भेद से वही क्रम से विस्तृत हो जाता है।। ३१ ।।

तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणुष्वैकाग्रचेतसा । अज्ञानं प्रकृतिर्माया मोहोव्यक्तं प्रधानकम् । अदृष्टं चेति बहुधा वादिनस्तत्प्रचक्षते ॥ ३२ ॥ उसी [कारण] को मैं अब कहता हूँ । अतः सावधान मन से सुनो । प्रकृति



अज्ञान है जो माया एवं मोह से व्यक्त तथा प्रधान है और दार्शनिक लोग 'अहब्क' आदि रूप से उसी को कहते हैं॥ ३२॥ मार्थ

एकार्थमेव तत्सर्वं गुणस्तत्वाविरोधतः। नाममात्रेण कलहो नार्थं दृष्ट्वा कदाचन। प्रकृतिश्चापि पुरुषो यतस्तत्सृष्टिसम्भवी।। ३३।।

वही सब फुछ एक अर्थ ही है, वही अविरोधतः गुण है। अतः कभी भी अर्थ को विना देखे ही नाम मात्र से मिण्यापन (?) होता है। क्योंकि प्रकृति और पुरुष तो इसी की सृष्टि से सम्भावित हैं।। ३३।।

कार्यकारणयोभेंदः अभेदाख्यः प्रकीतितः।
मृत्युवर्णादिकानां च घटादेवेलयस्य च ॥ ३४॥
भेदोऽयाभेद एव स्यात् तद्वदेतत्प्रकीत्यंते ॥ ३५॥

कार्य और करण के भेद से वही अभेद कहकर विणत है। जैसे घर के प्रति मिट्टी और कुण्डल के प्रति सुवर्ण कारण है। ३४॥ वैसे ही इस परमात्म तत्त्व के भेद एवं अभेद को कहा गया है। ३५॥

> तदज्ञानस्य शक्ती द्वे विक्षेपावरणारिमके । ब्रह्मावृणोति सहसा शक्त्यावरणसंज्ञया ॥ ३६ ॥

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ—(१) विक्षेप एवं (२) आवरणात्मिका हैं। आव-रणात्मिका शक्ति के द्वारा ब्रह्म को अज्ञान ढक लेता है।। ३६॥

> यथाच्छादयति स्वल्पो मेघो भानुं सहस्रगुम् । तथाच्छादयते मिथ्या ब्रह्मानन्तमखण्डकम् ॥ ३७॥

जैसे सहस्रों किरणों वाले सूर्य को थोड़े से मेघ ही ढक लेते हैं, वैसे ही अनन्त एवं अखण्ड ब्रह्म को मिथ्या रूप से अज्ञानावरण ढक लेता है।। ३७॥

> अनावतोऽपि पूर्णात्मा निःसङ्गो निर्विकल्पकः । तद्वासनानुवशगस्तिभितात्मा चिदक्षरः ॥ ३८ ॥

जब कि वह ब्रह्म वास्तव में आवरणरहित है, पूर्णात्म है, निःसङ्ग तथा निवि-कल्पक है। वही चिदक्षर ब्रह्म वासना के वशीभूत होकर छिप जाता है।। ३८।।

> अथ विक्षेपशक्तिः सा यथा बहिरिवान्तरे। दर्शयामास विततं प्रपट्चं सकुतूहलम् ॥ ३९॥

इसके बाद वह विक्षेपशक्ति, जैसे बाह्य में थी, वैसे ही अन्तरतम में कुतूहरू युक्त प्रपश्च का विस्तार दिखलाती है ॥ ३९॥ ददशिसी तदात्मानं नारायणिमिति स्थितम् । वेदानां वेदमार्गाणां लोकानां च परायणम् ॥ ४०॥ नारायणेन रूपेण स्वयं पश्यित चाक्षरः । 'स वेदात्मोप देवोऽपि बहु स्यामित्यमस्यत । अहङ्कारस्ततो जातो विकुर्वन्समभूत्तित्रधा । ४९॥

वही अपने को 'यह नारायण हैं' ऐसा उपस्थित करके दिखलाती है। स्वयं वह अक्षर रूप परब्रह्म नारायण रूप से अपने को देखते हैं। वेदों के एवं वेद-मार्गानुयायी लोकों के परायण वह नारायण हैं। उस वेदात्म श्रोष्ठ देव ने 'मैं बहुत हो जाऊँ'—इस प्रकार से सोंचा। तब उनसे अहङ्कार पैदा हुआ जो तीन प्रकार का हुआ।। ४०-४१।।

सात्विको राजसङ्चेव तामसङ्चेति वै त्रिधाः तामसादप्यहङ्काराज्जडमासीन्नभः प्रिये ॥ ४२ ॥

वह तीन प्रकार का अहङ्कार साचिवक, राजस एव तामस हुआ। हे प्रिये ! उस तामस अहङ्कार से जड़ रूप 'नम' पैदा हुआ।। ४२।।

> तस्य शब्दो गुणश्चासीदेक एव सुलोचने । सत्वानुविद्धान्नभसो जातं श्रोत्रमथेन्द्रियम् । शब्दस्तु विषयस्तस्य सात्विकी दिक् च देवता ॥ ४३ ॥

हे सुलोचने ! उस आकाश का गुण शब्द मात्र हुआ। सत्व से अनुविद्ध होने से नभ से श्रोत्रेन्द्रिय का जन्म हुआ। उस आकाश का विषय 'शब्द' हुआ और सास्विकी दिक् उसके देवता हुए ॥ ४३॥

> रजो गुणप्रधानात् वागासीद्वचनग्रहा। अग्निस्तत्राभवद्देवः सात्विकः सुरवन्दिते।। ४४।।

रजो गुण की प्रधानता से वाणी वोलने वाली वागिन्द्रिय की उल्पत्ति हुई। हे सुरवन्दिते ! सात्त्विक अग्नि उन वागिन्द्रिय के वहाँ देवता हुए ॥ ४४ ॥

> यथाकाशादभूद्वायुः शब्दस्पशौ च तद्गुणो । सत्त्वानुविद्धात्पवनात् त्वगासीदिन्द्रिय त्रिये ॥ ४५ ॥

तब आकाम से 'वायु' की उत्पत्ति हुई और शब्द एवं स्पर्श उनके गुण हुए। है प्रिये! संस्व से अनुविद्ध होने से पवन से 'त्वक्' इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई।। ४५॥

^{&#}x27;स वेदात्मा परो देवो स्यामित्यमन्यत' इत्यपि पाठः ।

रजोनुविद्धात्पवनादासीत्पाणीन्द्रियं प्रिये। आदान तस्य विषये इन्द्रस्तस्याधिदेवता ॥ ४६॥

रजी गुण के अनुविद्ध होने से उने पंचन से, हे प्रिये ! 'पाणि' इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। आदान-प्रदान उस पाणि इन्द्रिय के विषय हुए और उसके अधिष्ठातृ देव इन्द्र हुए ॥ ४६ ॥

अय वायोरभूदिन: शब्दस्पर्शस्वरूपवान्। तेजसः सत्विद्धाद्धे चक्षा रूपग्रहं सित ॥ ४७ ॥

तब 'वायु' से 'अग्नि' का जन्म हुआ। जो अग्नि शब्द एवं स्पर्श रूपवाम हैं। तेज के सत्त्व-अनुविद्ध होने से दोनों आँखों की उत्पत्ति हुई जो रूप की ग्राहक हुई॥ ४७॥

रजोगुणप्रधानात् पादेन्द्रियमभूतिप्रये। उपेन्द्रः सारिवको देवो गमनं विषयो भवेत् ॥ ४८ ॥

रजो गुण की प्रधानता से हे प्रिये ! पाद इंन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । इसका विषय 'गमन व्यापार' हुआ और इसके सास्विक देवता 'उपेन्द्र' हुए ॥ ४८ ॥

आपस्तेजःसमुद्भूता रसाधिकगुणास्त्रयः। सत्त्वानृविद्धात्सलिलाद्रसनं तद्रसग्रहम्॥ ४९॥

तेज से जल समुद्भूत हुआ जो रस एवं तीनों गुणों से युक्त था। सिलल के सत्त्व से अनुविद्ध होने के कारण उस रस का ग्रहण करने वाली 'रसना' इन्द्रिय का जन्म हुआ।। ४९॥

वरुणः सात्विको देवो बभूव सुरवन्दिते। रजःप्रधानात्सलिलात् पाय्वासीच्च विसर्गकृत्।। ५०॥

हे देवताओं से वन्दित देवि ! उन जल के अभिमानी सास्विक देव वर्षण हुए। रज की प्रधानता होने से सल्लिल से मलत्याग करने वाली 'पायु' इन्द्रिय हुई ॥ ५०॥

> यमोधिदेवता तत्र सात्विकः सम्बभूव ह। अद्भयोऽभवद्वसुमती शब्दादिगुणपङचका। पृथिव्याः सत्वविद्धायाः घ्राण गन्धग्रहं शिवे।। ५९।।

उस (पायु-इन्द्रिय) के अधिष्ठाता सात्त्विक देवता यम हुए। जल से शब्द आदि पाँच-गुण' वाली पृथ्वी का जन्म हुआ। हे शिवे ! सत्त्व से आविद्ध होने से पृथिवी से गन्घ का ग्रहण करने वाली छाणेन्द्रिय का जन्म हुआ।। ५१।।

१. शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—ये पाँच साङ्ख्य दर्शन के मत से पृथ्<mark>वी</mark> के गुण हैं।

नासत्यो देवता तत्र सात्विको सम्बभ्व हा। रजोनुविद्धया चासीदिन्द्रियं गुह्यसंज्ञकम ॥ ५२ ॥ वहाँ सात्त्विक नासत्या (जो बसत्य नहीं हैं) देवता हुए बौर रजोगुण से

वहाँ सान्त्रिक नासत्या (जो असत्य नहीं है) देवता हुए आर रजागुण स अनुविद्ध होने से 'गुद्धा' नामक इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई ॥ ५२ ॥

क्षानन्दानुभवस्तेन जायते सुरवन्दिते। देवः प्रजापतिस्तत्र सात्विकः परिकीर्तितः।। ५३।।

हे सुरवन्दिते ! उस (गृह्यो न्द्रिय) से हमें आनन्दानुभव होता है । वहाँ सात्त्विक देव प्रजापित कहे गए हैं ॥ ५३ ॥

रजःप्रधानभूतेभ्यो मिलितेभ्यः सुरेश्वरि । क्रियाशक्त्यात्मकं प्राणपञ्चकं जायते शिवे ।। ५४ ।।

हे सुरेश्वरि ! रजप्रधात पञ्चमहाभूत के साथ मिलकर, हे शिवे ! क्रिया-शक्त्यात्मक प्राणपञ्चकों की उत्पत्ति होती है ॥ ५४॥

सत्वप्रधानभूतेभ्यो मिलितेभ्यः सुरेश्वरि । ज्ञानशक्तिप्रधानं तु ह्यन्तःकरणमुच्यते ।। ५५ ॥ हे सुरेश्वरि ! सत्त्वप्रधान पश्चमहाभूतों से मिलकर ज्ञानशक्तिप्रधान 'अन्तः करण' कहा गया है ॥ ५५ ॥

> मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् । त्वक् चक्ष्रसमाघ्राणं श्रोत्रं ज्ञानेन्द्रियाणि च ॥ ५६ ॥

मन, बुद्धि, अलङ्कार, और चित्त-ये चार अन्तरात्मक तथा त्वक्, चक्षु, रसना घाण एवं श्रोत्र-ये पाँच (कुल नौ) ज्ञानेन्द्रियां कही गई हैं ॥ ५६ ॥

वाक् पाणिपादपायूपस्थानि कर्में न्द्रियणि च ।। ५७ ः। वाक्, पाणि, पाद, पायु (गृदा) और उपस्य (लिङ्ग) — ये पाँच कमे° न्द्रियाँ कही गई हैं ।। ५७ ।।

> दिक् वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नींद्रोपेन्द्रमित्रकाः । दशेन्द्रियाधिदेवाश्च मया ते परिकीर्तिताः ॥ ५८ ॥

दिक्, वात, सूर्य, प्रचेता (वरुण), अध्विनद्वय, विह्न, इन्द्र, उपेन्द्र और मित्र आदित्य)—ये दस इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता मेरे द्वारा कहे गए हैं।। ५८।।

> पृथिव्यधिपतिर्ब्रह्मा विष्णुः सिललनायकः। तेजसोऽधिपतिः शम्भुवीयोरीश्वर एव च ॥ ५९ ॥

१. प्राण, आपान, समान, व्यान और उदान —ये पश्च प्राण कहे गए हैं।

व्योम्नः सदाशिवः प्रोक्त इत्येता भूतदेवताः । दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च मनःप्राणादिपन्चकम् । एतर्हिलङ्कां समाख्यातं जीवोगाधिरिति स्फुटम् ॥ ६०॥

पृथ्वी के अधिपति ब्रह्मा हैं और सिलल के नायक विष्णु हैं। तेजस् के अधिपति शाम्भु हैं और वायु के ईश्वर तथा आकाश के देवता सदाशित कहे गए हैं। ये ही पञ्च महाभूतों के देवता हैं। दस इन्द्रियां, बृद्धि, मन और पञ्च प्राण—ये 'लिक्न' (शरीर) समाख्यात हुए और जीव-उपाधि तो स्फुट रूप से कही गई है।। ५९-६०।।

विशेषं तत्र देवेशि ! वर्णयामि श्रृणुब्व तत् । प्राणादिपञ्चकं देवि ! कर्मेन्द्रियसमन्वितम् ।। ६९ ॥ प्राणकोश इति ख्यातः क्षुत्विपासादिधर्मवान् । मनोज्ञानेन्द्रियेर्युक्तं मनःकोश उदीरितः । ६२ ॥

हे देवेशि ! उस (सृष्टि क्रम) में विशेष वर्णन मैं करता हूँ; उसे आप सुनिए। है देवि ! कमें न्द्रियों से समन्वित पश्चप्राण को भूख और प्यासादि वर्म से युक्त 'प्राणकोश' कहा जाता है। (वही प्राणादि पश्चक) मन एवं ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होने पर 'मन:कोश' कहा गया है। ११-६२।।

बुद्धिज्ञानेन्द्रियेपुँक्तो विज्ञानाख्यः प्रकीर्तितः । इदं कोशत्रयं देवि ! व्यव्टचा लिङ्गमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

वह (पञ्चप्राण) बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त होने पर 'विज्ञान कोश' नाम से जाना जाता है। ये तीनों कोश, हे देवि ! व्यष्टि (अलग-अलग) क्रम से 'लिङ्ग' कहे गए हैं ॥ ६३ ॥

तत्राभासमयो जीवो याति चायाति सुन्दरि !। जडं कोशत्रयं देवि ! ब्रह्माभासेन चेष्टते ॥ ६४ ॥

हे सुन्दरि ! उन (कोशों के लिङ्कों) में भासमान जीव आवागमन के चक्कर में फँसा रहता है । हे देवि ! ये जडकोशत्रय ब्रह्माभास से कर्म की चेष्टा करने में समर्थ होते हैं ॥ ६४॥

> यथायस्कान्तसान्तिध्ये यथा लोहं सुरेश्वरि !। यज्जडं तदसद्देवि यत्सत्तत्तदिति प्रिये ! । ६५ ।।

हे सुरेश्वरि ! जैसे अयस्क किच्ची धातु] के सान्तिष्य से लोहा बन जाता है चैसे ही, देवि ! जो जड़ है वह असत् पदार्थ है और हे प्रिये ! जो सत् है वह सत्य पदार्थ है ।। ६५ ॥ तस्मात्तच्चेतनं ब्रह्म सत्यमित्येव सुन्दरि !। समुदायस्तु लिङ्गानां तवाभासस्तु यः प्रिये ॥ ६६ ॥

इसलिए, हे सुन्दरि ! वह चेतन ब्रह्म ही सत्य है'—ऐसा कहा गया है। हि प्रिये ! जो शरीरों का समुदाय है, वह उन ब्रह्म का आभासमात्र है।। ६६॥

हिरण्यगभ तं प्राहुः सूत्रात्मानं पुनस्तथा।। ६७॥

उसे ही (वेदों में) 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है जो सूत्र रूप से अपने को ही पुनः विस्तृत कर देते हैं।। ६७।।

इति ते कथितं देवि ! यत्पृष्टोऽहं त्वया शुभे ! समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६८ ॥

।। इति श्रीनारदपाञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे) श्विवोमासंवादे षष्ठं पटलम् ।। ६ ।।

हेदेवि! जो आपने मुझसे पूँछा था उसे, हे शुभे! मैंने संक्षिप्त रूप से कह दिया है। हे महेशानि! अब पुनः आप क्या सुनना चाहती हैं।। ६८।।

।। इस प्रकार श्रीनारद पाञ्चरात्र क्षागमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के षष्ठ पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दीं व्याख्या पूर्ण हुई ।। ६ ।।

अथ सप्तमं पटलम्

पोर्वत्युवार्चे 🛶 💍 🐃 🔑 👫 🗥 🔭

देवदेव ! महादेव ! करुणाणंव ! शङ्कर ! । श्रूत्वा त्वदीयवचनं नात्मा मे परितुष्यति ॥ १ ॥ नारायणादिरूपाणि त्वयोक्तानि च शङ्कर ! । तदुद्भवे हेतुमात्रं ब्रह्माञ्चानं निरूपितम् ॥ २ ॥

पार्वती ने कहा-

हे देवों के देव महादेव, करणा के समुद्र भगवान शकर आपके वचनों को सुनकर मेरी आत्मा ठीक से सन्तुष्ट नहीं हुई है। आपके द्वारा, हे शंकर, विष्णु के नारायण आदि रूगों का वर्णन किया गया। उनके उद्भव में ब्रह्म के अज्ञान रूप एकमात्र हेतु का निरूपण किया गया।। १-२।।

> ब्रह्मण्यज्ञानसम्बन्धः सन्देहस्ते निवारितः। कारण ब्रह्म देवेश मोहोत्पत्तौ विशेषतः। ३।।

ब्रह्म के अज्ञान के सम्बन्ध में संदेह भी आपके द्वारा निवारित कर दिया गया। हे देवेश ! अब आप विशेष रूप से मोह की उत्पत्ति का कारण बतलाइये।। ३।।

शिव उवाच-

श्रुणु देवि ! प्रवक्ष्यामि रहस्यं वेदगोपितम् । यस्य कस्यापि नो वाच्यं वाच्यं सर्वस्वदायिने ।। ४ ।।

शिवजी ने कहा ---

हे देवि ! बेदों से भी गोपित रहस्य को मैं कहूँगा। जिसे जिसे किसी से भी नहीं कहना चाहिए। सर्वस्व दान करने वाले को भी नहीं कहना चाहिए। उसे सुनो।। ४॥

> तव स्नेहवशाद्देवि ! कथयामि न चान्यथा । सच्चिदानन्दकं ब्रह्म सदंशेन क्षरं जगत् ॥ ५ ॥

हे देवि ! आपके स्नेह के कारण मैं आप से कहता हूँ। अन्यथा यह किसी से भी कहने योग्य नहीं है। यह ब्रह्म सन्, चिन् और आनन्द रूप है। यह ब्रह्म अक्षर है। सदंश के कारण जगतरूप से क्षर अर्थात् विनाशशील है।। ५।। चिद्र्षं ब्रह्म परमं नित्यमक्षरमञ्ययम् । बाललीलाविनोदेन कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥ सृजते संहरत्येव निर्विकारं तथापि यत् ॥ ६ ॥

चित् रूप ब्रह्म श्रेष्ठ है, नित्य है, अक्षर है और अव्यय है। वही ब्रह्म बाल कीलाओं के विनोद से कोटि ब्रह्माण्ड के समूह की रचना करते हैं और उनका संहार भी करते हैं। फिर भी वह विकार रहित रहता है।। ६।।

> तस्मादप्यक्षरादूध्वं परमानन्दसुन्दरम्। नित्यवन्दावनानन्दि नानाक्रीडारसार्णवम्।। ७॥

उस अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर परमानन्द सुन्दर वृन्दावन में नित्य आनन्द लेने -वाले नाना प्रकार की क्रीड़ाओं के रस के समुद्र भगवान कृष्ण हैं।। ७।।

विराजित ब्रह्मपुरे मनोवाग्विषयातिगम्।
अम्भोजकणिकावच्च नित्यवृन्दावनान्तरे॥
तत्पत्रवदनेकेश्चिन्महोद्यानैविराजितम् ॥ ८॥
निजंधामंरसानन्दं स्वप्रकाशं महोज्ज्वलम्।
कालिन्दी यत्र कोटचकं मास्वद्रत्नतटोन्नता ॥ ९॥

मन बाणी और विषय से भी परे वह ब्रह्मपुर में विराजित हैं। वृन्दावन के अध्य वे नित्य कमल की कली के समान रहते हैं और उसके पत्ते के समान अनेक अहान उद्यान में विराजित हैं। वह प्रभु निज घाम में रहने वाले, नाना रस का आनन्द लेने वाले, स्वयं प्रकाश से अत्यन्त जाज्वल्यमान हैं जिस वृन्दावन में यमुना नदी कोटि सूर्य से भासमान रत्नों से युक्त एवं उन्ने-नीच तटो वाली है।। ८-९।।

हंयसारसकारण्डनानापक्षिनिनादिता । फुल्लाम्भोजवनामोदलुब्धभ्रमरमण्डला ॥ १०॥

उस यमुना नदी का तट हंस, सारस, कारंडव आदि नाना पक्षियों से निनादित है। वहाँ फूले हुए कमल के वन की सुगन्ध से लुभायमान भ्रमरों का समूह शोभित है।। १०।।

> नवरत्नमयीभिस्तु सिकताभिरलकृता । महामणितटोत्तुङ्गकुट्टिभी परिमण्डिता ॥ १२ ॥

यमुना तट की भूभि नवीन रत्नों से और बालुओं से अलंकृत हैं। उसका तट अहामणि से जटित उतुङ्ग फर्कों से परिमण्डित है ॥ ११ ॥

नानादिव्यलताकुञ्जैरम्लानकुसुमोज्ज्वलैः । दिव्यगन्धसमाकुष्टभृङ्गझङ्कारपेशलैः ॥ १२ ॥

वहाँ नाना प्रकार की दिन्य लताओं के कुञ्ज यिद्यमान थे जिनमें सदैव उज्ज्वल फूल खिले रहते थे। उनकी दिन्य सुगन्ध से आकृष्ट हुए भ्रमरों की झङ्कार से वातावरण बड़ा ही मनोरम था।। १२॥

> सप्ततीर्थेदिव्यरत्नराजिराजितभूतलेः । उपरिस्थमणिश्राजत्कुट्टिमेदिव्यमण्डपेः ॥ १३ ॥

वहाँ सात तीर्थों से लाए गए दिन्य रत्नों की पिङ्क्ति से भूतलं शोभितं थे। उसके ऊपर मणियाँ जटित दिन्य मण्डल चमक रहा था।। १३।।

> शोभमानामृतजला स्वर्णपङ्कजमालिनी। रक्ततुण्डपदेश्चित्रपक्षैः पक्षिगणैः शिवे।। १४।।

हे शिवे! वहाँ के अमृत जल में स्वर्ग के कमल खिले थे। वहाँ लाल चोंच भीर लाल पैरों वाले तथा विभिन्न वर्णों के चित्र विचित्र पंखों वाले पक्षियों का समूह विहार कर रहा था।। १४।।

सेव्यमाना सुखस्पर्शैर्वायुभिश्चलपङ्कजा।
क्विचत्पर्यस्तमुक्तालिमहामरकतावनौ ।
शुद्धतामसहृद्युच्चैर्भाति भक्त्यङ्कुरा इव ॥ १५ ॥

उन स्विणम कमलों से छूकर आई हुई वायु के सुख स्पर्श का वे सेवन कर रहे थे। कहीं-कहीं मुक्तामणि बिखरी हुई थी और सभी जगह महामरकत मणि से पृथ्वी बड़ी ही सुन्दर लग रही थी। ऐसा लगता था मानों बुद्ध तामस हृदय में भिक्त का अङ्कुर ऊपर उठा हो।। १५॥

यत्रोन्नदन्तःशुकसारसाद्याः

पठन्ति दिव्यां गुणचित्रसत्कथाम् ।

शाखास्थिताः कल्पमहीरुहाणां मन्दानिलान्दोलितपल्लवश्रियाम् ॥ १६॥

जिस कालिन्दी के तीर पर कल्प वृक्ष की शाखा पर स्थित, ऊपर चोंच किए हुए शुक एव सारस आदि पिक्ष गण दिन्य गुणों और विचित्र प्रकार की सुन्दर कथा का पाठ कर रहे थे वहाँ मन्द-मन्द वायु से आन्दोलित पत्तों की श्री अत्यन्त सुहावनी लग रही थी।। १६॥

न यत्र शोको न भयं मृतिर्वा कालो न यत्र प्रभवेदनन्तः।

यदेत्य शोचन्ति पुनर्नहीश्वराः

कुञ्जेषु लीलावपुषोऽमलाशया ॥ १७ ॥

उस कालिन्दी के तट पर शोक या भव अथवा मृत्यु भी नहीं थी। जहाँ काल की माप नहीं थी। वह अनन्त था। जहां पर आकर ईष्ट र भी पुनः वहां से लौटने की नहीं सोंचते थे। वहां के कुछ जों में लीलावपुधारी भगगान् श्री कृष्ण विहास करते थे। १७।।

प्रतप्तजाम्बूनदसुन्दरत्विषः कटाक्षविक्षपविलोभितेश्वराः

चरन्ति मूर्ती इव विद्युतः स्फुटा घनेषु कुञ्जब्बनियोषिताङ्गणाः ॥ १८॥

वहाँ की युवितयाँ जाम्बूनद की सुन्दरता से प्रतप्त कान्ति वाली थीं। उनके कटाक्ष के विक्षेप से देवता भी लुभा जाते थे। वे जब आंगन में चलती थीं तब ऐसा लगता था कि मानों विजली सी मूर्तिमान होकर चल रही हो। उनकी मन्द ध्विन से ऐसा लगता था कि मानों बादलों की घड़घड़ाहट हो रही है।। १८।।

प्रफुल्लचाम्पेय वनोल्लसल्लता शतोपशङ्कं ययिता समीरणः। तनुष्विवानन्द प्रंपरां प्रा

तनोति तारुण्यभृतोन्नतद्भ्रवाम् ॥ १९ ॥

फूली हुई चम्पा की लता के वन से शोभित और उघर से आई हुई सुगिन्ध युक्त बायु ऊँची भौहीं वाली तहणियों के शरीर के आनन्द की परम्परा को और भी बढ़ा देती थी।। १९॥

> सख्यः कुशेशयदृशो विलसद् विभूषाः प्रोत्तङ्कपीनकुचमण्डललम्बहाराः

काइमीरनीरलुलिताम्बररिवममाला

निर्भतितोदितदिवाकरिबम्बशोभाः ॥ २०॥

कमल के समान लोचन वाली सिखयाँ चित्र विचित्र वेषभूषा में शोभित थी। ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों पर उसकी गोलाई तक हार लटक रहा था। काश्मीय [केसर] के नीर (जल) से आलोडित अम्बर रूप ललाट के तिलक की रिष्म के समूहों से उदीयमान सूर्य की लालों की शोभा को तिरस्कृत करते हुए शोभित हो

दिव्यन्ति यत्र सुरसिद्धदुरापलोकाः

श्रुत्युल्लसत्कनककुण्डललोलगल्लाः ॥ २१ ॥ सुरसिद्ध-दुरायलोकों की अङ्गनाएँ सुनने में मधुर लगने वाले सुवर्ण के कुण्डलीं से शोभित गलों से युक्त होकर जहाँ दिव्य आनन्द ले रही थी ॥ २१ ॥

'द्युमिणमिणसमुद्यत्कान्तिसन्दोहरम्याः विशदमरकतानामंशुकिमीरिताश्च । प्रचलदचलशोभैः पद्मरागैः सरागैः

प्रकटपरमशोमा भूमयो यत्र भान्ति । २२ ॥ सूर्यकान्त मणि से स्फुरित होने वाली कान्ति के समूह से रम्य और विशद मरकत अणि की किरणों से मिश्रित होकर वहाँ की भूमि शोभित थी। इस प्रकार वहाँ की

भूमि मानों प्रकृष्ट रूप से चचल किन्तु अचल शोभा से युक्त राष्ट्रिजत पद्मरागमणि हुरा श्रेष्ठ प्रकट कमलों से शोभित हो रही शी।। २२॥

नीलाद्रिकान्तिसन्दोहैरूध्वंगैः सर्वतः प्लुतैः । दूरादाभाति वसुधा हरितृणमयाङ्कुरा ॥ २३ ॥

नीले पर्वत की कान्ति के सन्दोह [संघात] से सभी ओर ऊपर उठती हुई पृथ्वी की आभा दूर से ऐसी लगती थी मानों हरित तृण सभी ओर अङ्कुरित हों।। २३।।

> परापरविभागेन तीलपुष्पमयौ गिरी। नानाहचर्यमयौ दिव्यौ दिव्योद्यानमनोहरौ॥ २४॥

नीचे और ऊपर के विभाग से ऐसा लगता था मानों सम्पूर्ण पर्वत नीले रंग के पुष्पों से युक्त हो। दोनों ही, नाना प्रकार के आश्चर्यों से युक्त दिव्य और दिव्य उद्यान से युक्त मनोहर लग रहे थे॥ २४॥

स्फुरन्मयूखमालाभिः प्रकाशितदिगन्तरः । पद्मरागाचलः श्रीमानास्ते यत्र महाद्विमान् । २५ ॥

ऊपर उठती हुई किरणों की कान्ति से दिक् और दिगन्तर प्रकाशित थे। जहाँ श्रो से युक्त पद्मराग के पर्वत महान् समृद्धि से युक्त थे॥ २५॥

सरांसि यत्र भूयांसि चित्तुद्यारसवन्ति च। विलसन्ति महारत्नशिलाबद्धानि सर्वतः ॥ २६॥

१. द्युमणिः == अम्बरमणिः, सूर्यं इत्यर्थः, द्युमणिमणि = सूर्यंकान्तमणिः।

जहाँ के बहुत से सरोवर चित् सुघा रस से युक्त थे। महारत्नों की शिला से बँधे हुए वे चारों ओर से सुशोमित थे।। २६॥

> यत्रोद्यानलताकुरुया वमन्ति मधुरां सुधाम् । यूथशः खेलमानास्ताः पिबन्त्यानन्दनिर्भराः ॥ २७ ॥

जहाँ पर उद्यान, लता और झरने मधुर अमृत की घारा बहा रहे थे। आनन्द में विभोर होकर वे सिखयाँ झुण्ड झुण्ड में खेलते हुए जलपान करती थीं।। २७॥

> यत्रैव कुञ्जसदनानि हसन्मुखानि व्याकीर्णकाञ्चनभूगासनमण्डितानि ।

प्रत्याहसन्मणिविजृम्भितकुट्टिमानि कूजद्विहङ्गमकुलानि शिवानि नित्यम् ॥ २८ ॥

जहाँ पर कुञ्जों के गृह हँसते हुए मुख वाली सखियों से युक्त थे। वे गृह् बिखरे हुए सोने की भूमि से मानों मण्डित थे। नित्य प्रति जहाँ की मणि जटित कर्शों पर फुदकती हुई कल्याणकारी चिड़ियों के झुण्ड कूर्दन किंधा करते थे।। २८।।

> स्फूर्जन्मणिप्रविततिर्वितनोति लक्ष्मीं विस्फूर्जदूरशशिकान्तशिलातलेषु

क्लप्ररूढनिलनीदलरिमबिम्बा रूढेषु कामपि नितान्त मुदा प्रणाली ॥ २९ ॥

बन्द्रकान्तमणि की शिलाओं के ऊपर स्फुरित होती हुई कान्ति अन्य मणियों की ऊपर उठती हुई शोभा को बढ़ा रहो थो। झरनों के तट पर उगे हुए निल्नो दल की रिश्म के प्रतिबिम्बों में मानों पुष्पों की कतारें बना रहे से प्रतिबिम्ब शोभित हो रहे थे।। २९॥

> वैदूर्यंवीरुध इह प्रतिभान्ति विष्वक् यासूरुसन्त्यरुणविद्रुमनत्तंनानि । दूरादुपेतसितमौक्तिकरिमलेश शोभां दधाति विमलां विलसन्तमार्याम् ॥३०॥

वैदूर्यमणि की लताएँ यहाँ चारों ओर शोभित थीं जिसमें लाल लाल मूँगे की छटा उल्लिखित थी। दूर से सफेद मोतियों की रिष्म के लेशमात्र से युक्त होकर विमल एवं श्रेष्ठ शोभा को पर्वंत घारण कर रहे थे।। ३०।।

यत्रेव चम्पकवनानि जयन्ति विष्वक् मत्तश्रमद् श्रमरदूरतरोज्झितानि । प्रत्युन्नदन्ति विटपेष्वनिशं द्विजेन्द्रा गीतध्वनि सुखसमीरसमुन्नवत्सु ॥ ३१ ॥

जहाँ पर चारो आर चम्पा के फूल के बन सुशोभित थे। जिस चम्पक वन में मेंडराते हुए मतवाले असर दूर से ही मानों बिलेर दिए गए थे। वहाँ के पेड़ों पर पक्षि सदैव कलरव कर रहे थे। सुख से मन्द-मन्द चलने वाला वायु मानों गीत ब्विन को पैदा कर रहा था।। ३१।।

> रयामोदरद्युतिसरोजवनीस्थिताभिः कान्तिच्छटाभिरभितोधृतदुदिनेषु

प्रोत्फुरुलपङ्कजकदम्बपरागपुञ्जो विद्युच्छवि वहति गन्धवहः प्रणुन्नः ।। ३२ ॥

ध्याम वर्ण [उदर ?] की कान्ति वाले कमल के वनों में स्थित कान्ति वाले कमल के बनों में स्थित कान्ति की छटाएँ वर्षा के दिनों में चारों ओर सुहावनी लग रही थी। वायु, विकसित कमलों के गुच्छों के पराग के पुञ्ज को धारण कर रही थी और वर्षाकालीन विद्युत की चेमक से सम्पूर्ण वन सुशोभित हो रहा था॥ ३२॥

क्रीडासरः स्फ्टमुदञ्चिति कुञ्जलीन-

गुञ्जद्द्विरेफपटलाकुलपङ्कजिशः। वप्रप्ररूढगुणरूढकदम्बलम्बद्

दोलासहस्रकमनीयंगुणं गुणो**रः ॥ ३३ ॥**

दूरादिहाद्रितनये कमलाकराणा-मुद्यस्परागपटलैश्च समीरवेगात्।

स्फारीभवत्सुरिभगन्धसुधामयाम्भइः चेतःसरो रमयतीत्यनुरागिभावम् ॥ ३४ ॥

वर्षा ऋतु में मानों केलि क्रीडा का सरोवर स्फुट रूप से आलोडन कर रहा था। कुञ्ज में लवलीन एवं गुञ्जार करते हुए भ्रमरों के झुण्ड के झुण्ड कमलों पर मंडराते हुए शोभित हो रहे थे। हे गुणवान उरुओं वाली प्रिये! सरोवर के किनारे पर उमें हुए कदम्ब के वृक्षों पर सहस्रों झूले लटक रहे थे। हे अदितनये! (हिमालय की पुत्रि!) यहाँ के कमल के समूह से उठी हुई परागों की सुगन्ध से दूर-दूर तक वायु सुगन्धित होकर फैलो हुई थी। चारो ओर व्याप्त सुरिभ युक्त

सुगन्ध के अमृतमय वातावरण से चित्त का सरोवर भी रमणीय अनुराग के भाव में विभोर हो रहा था।। ३३-३४।।

मध्योल्लसद्भिपुलविद्रमदेहलीक-

विश्वान्तिमण्डपसमृद्धसमस्त्भोगम् ।

सोपान्वत्मं सु निविष्टस खीसहस्र-

व्याहन्यमानमृदुम्दंलपूर्णकुञ्जस् ॥ ३५ ।:

उसन्मयूखमयशुद्धसुधातिवर्षे-

रत्नेन्द्रहलसति नित्यसनस्त भावः।

नित्याभिरन्विततमः स्वकलाभिरन्तः

शुद्धेतरप्रथितपक्षविपक्षधामा ।। ३६ ॥

बहाँ मध्य में बहुत से मूँगों की देहली वाला विश्राम मण्डप समस्त भोगों से समृद्ध था। सीढ़ियों वाले उन मार्गों पर हजारों सिखर्या बैठी हुई मृदु एव मर्दल पूर्ण कुछ को आकीणं किए हुए थो। उठती हुई किरण से शुद्ध एवं अमृत की खूब वर्षा करने वाले रतन रूप चन्द्र नित्य ही मन के अनुराग भाव को उल्लिसत कर रहे थे। अपनी कलाओं से नित्य मिले हुए वे चन्द्र रूप से शोभित थे (शुद्धे तर धामा ?)।। ३५-३६ ॥

यत्रामृताम्भोनिधिमध्यविस्पुर-

द्रत्नोल्लसद् द्वीपनिवेशमद्भृतस्।

चकास्ति तस्मिन्यरमाद्भुतं मह-

न्नैकेन भास्वन्मणिना विनिर्मितम् ॥ ३७॥

यहाँ पर मृष्य में मानों अमृत विस्कुरित हो रहा था। उस अमृत समुद्र में रत्नों की छडा अद्भुत द्वीपों को मानों उपस्थित कर रही थी। उस परमानन्द समुद्र के मध्य महान एव अद्भुत तथा अवेक भास्वर मणियों से विशेषतया निर्मित भवन चमक रहा था।। ३७॥

निजालयं मन्दिरमद्भुताकृति

.महामणिस्तम्भविराजमानम्

समोदिताने कदिवा करेन्द्रकर्-

जनावनिर्भरसैनरहनमण्डितम् ॥ ३८ ।

नानाविधातन्द्विहारभूमिका

द्रशैव यस्मिन् प्रतिभान्ति पेशलाः ।

विहारशयासनवाइवामरा

मृतानुलेपोत्तमगन्धसाधना

॥ ३९ ॥

वानन्दघन परभातमा का स्वयं का घाम बद्भुत आकृति वाला ऐसा मन्दिर या जिसमें महामणि के खम्भे शोभित थे। वह भवन ऐसा रत्नों से मण्डित था जिसमें अनेक सूर्य और चन्द्रमा की किरणों की छिव भी धूमिल हो जाती थी। वह मन्दिर नाना प्रकार के आनन्द के विहार को भूमि वाला था जिसमें दस प्रकार के मृदु द्रव्य उपलब्ध थे। वहाँ विहार के लिए भय्या एवं आसन थे। वह मन्दिर सुन्दर चामर तथा अमृतमय अनुलेप और उत्तम सुगन्ध साधनों से परिपूर्ण था।। ३८-३९।।

गवाक्षमालापयचारिक्षिमेहाः गरुद्भवैधू भवरैः सुगन्धिभः। इतस्ततः केल्विनानिलोद्धतैः सुवासयन्त्यो वनपुष्पसम्पदः ॥ ४०॥

उस मन्दिर के गवाझों से निकलने वाले अगरु के घूए से वातावरण अत्यन्त सुगन्त्रि से सुवासित था। इबर-उधर केलि वन की वायु से उठे हुए वन पुष्प की सुगन्त्र से सम्पूर्ण वातावरण सुवासित हो गया था॥ ४०॥

क्वचिद्दिनमणिज्योत्स्नाजालं मध्याह्नसूचकम् । क्वचिदञ्जनसङ्कारोमंणिभिदंशितक्षपम् ॥४९॥

कहीं पर लताओं के मध्य से आती हुई सूर्य की किरणों के जाल से ऐसा लगता था कि मध्याह्न हो गया है। कहीं पर अञ्जन के लगने से मणियों द्वारा प्रदर्शित रात्रि का भान हो जाता था॥ ४१॥

> उदिताकं मित्रान्यत्र पद्मरागप्रभारणम् । सन्ध्यायमानमेकत्र इन्द्रनीलमणित्विषा ॥ ४२ ॥

अन्यत्र कहीं उदित होते हुए सूर्य के समान पद्मराग की प्रभा से वह मन्दिर अरुण था और अन्यत्र कही इन्द्रनील मणि की प्रभा से सन्ध्या की प्रतीत होती थी।। ४२।।

जलजाकृतिमत्यम्ब चतुरस्रा च वैदिका। तस्याश्चतुर्षु कोणेषु हेमकुंभाः सुद्याभृताः॥ ४३॥ वहाँ की चतुरस्र वेदिका पर कमल की आकृति बनी हुई थी उसके चारों कोनों पर अमृतमय सुवर्ण कलश सुक्षोभित थे॥ ४३॥

रत्तपङ्कानसंशोभीमुँखा यत्र चकासते। मुक्तामयवितानाति मणिभूमिप्रभाङ्कुरैः॥ ४४॥ वनिताओं के मुख रत्न कमल के समात प्रकाशमान थे। इस मन्दिर का वितान (छत) मोती जड़ा हुआ या। मिणमय भूमि की प्रभा से दूर्वा के अङ्कुर की प्रतीत होती थी। ४४।।

निभिन्नानीह लक्ष्यन्ते नानाचित्राकृतीनि च । कणिकावन्महासौधं परितस्तस्य सुन्दरि ॥ ४५ ॥

हे सुन्दिए ! नाना प्रकार के चित्रों की ं आकृतियाँ प्रत्यक्ष रूप से पास-पास दिखाई दे रही थीं। उस मन्दिर की चहार दिवारी चारो ओर कणिका के समान थी।। ४५।।

> द्वादशैव सहस्राणि प्रियाणां सोधपङ्क्तय । प्रवालदेहलीकानि मणिद्वाराणि पार्वति । मुक्तातोरणवन्त्युच्चैर्नानाश्चर्यमयान्यपि ।। ४६ ॥

हे पार्वित ! प्रियाओं की सीधपिङ क्तियाँ बारह हजार थो । उन भवनों की देहली मूँगे की और द्वार मणियों के बने थे। मीतियों के तोरण से युक्त द्वारा नाना प्रकार के आध्वर्यमय सजावट से युक्त थे।। ४६॥

नानावर्णेमँह। चित्रे श्चित्रितानि समन्ततः । गवाक्षमालाविलसन्मणिदीपोज्ज्वलानि च ॥ ४७ ॥ दीर्घिकाभिश्च दीर्घाभिविकचोत्पलपङ्क्तिभः । गाहमानाभिरनिशं सखीवृन्दैविभूषितेः ॥ ४८ ॥

चारो ओर द्वार पर नाना वर्ण के बड़े-बड़े चित्र चित्रित हैथे और गवाक्षों की पिक का मिल दोपों के प्रकाश से प्रकाशित थी। बड़ी-बड़ी दीधिकाओं से युक्त वह भवन सदैव सखीवृन्द से विभूषित था।। ४७-४८।।

क्वणत्कनकभूषाढ्घेः कौशम्भाम्बरशोभितैः। नानाकेलिरसास्वादविघूणितविलोचनैः ॥ ४९ ॥

स्वर्ण के बजते हुए आसूषणों से युक्त वे सिखयाँ कुसुम्भी रंग की साङ्ग्रिं पहने हुए सुन्दर प्रतीत हो रही थीं। वे सिखयाँ नाना प्रकार के केलि क्रीडा के रस के आस्वाद से मत्त लोचनों वाली थी।। ४९॥

महाद्वारमहं वन्दे भास्वद्रत्नकपाटकम् । सन्मुखं दूरतो यस्य विभाति यमुना नदी ॥ ५० ॥

इस प्रकार के मन्दिर के सिहद्वार की मैं वन्दना करता हूँ जिसमें चमकते हुए रत्नों से जटित दरवाजे लगे थे। जिस सिहद्वार के सम्मुख यमुना नदी शोभित हुँ मैं उसे प्रणाम करता हूँ।। ५०॥



तत्त्राङ्गणं कुङकुमपङ्किपिच्छलं समुद्यदादित्यसहस्रभास्वरम् । मुक्तामयूखावितिमिश्रितैमेहाः मणिप्रकाशैररुणीकृतान्तरम् ॥ ५१॥

वहाँ का आँगन कुङ्कुम के कीचड़ से फिसलन वाला हो गया था। उस रिक्तम फर्श पर ऐसा लगता था कि मानों हजारों भास्वर सूर्य उदित हो रहे हों। मुक्तामणि की किरणों को पिंड्त से मिश्रित हो कर महामिण के प्रकाश से आंगन का सभी भोतरी भाग लाल वर्ण का हो रहा था।। ५१।।

यत्र कार्त्तस्वरमयी पयेस्तमणिमीक्तिका। परमानन्दभवन विभाति विविधास्थली॥ ५२॥

जहाँ पर मानों कार्तस्वर करती हुई मुक्तामणि विखरी हुई थी। वहाँ विविध प्रकार की भूमि परम आनन्द भवन के रूप में शोभित हो रहीं थी।। ५२॥

सन्यापसन्ययोर्यस्य पुरश्च सुरवन्दिते। कुट्टिमानि विचित्राणि भान्ति भूयांसि यत्र वे ॥ ५३॥

हे सुरवन्दिते ! सम्मुख तथा बाई ओर और दाहिनी तरक की विविध प्रकार की चित्रित फर्श शोभायमान थी ।। ५३ ॥

यत्र जाम्बूनदस्तमभेष्वारोपितमणिव्रजाः। प्रपुष्णन्ति महीदीपशोभामधूतवर्षसः॥ ५४ ॥

जहाँ पर जाम्बूनद के स्तम्भों पर मणियों के समूह लगाए गए थे। इस प्रकार वे मणि वहाँ की पृथ्वी में बिना हिले हुए लौ बाले दीपों की शोभा को मानों पुष्ट कर यहे थे।। ५४॥

तन्मध्यतो जयति कश्चिदनध्यंमुक्ता माणिक्यराशिरचितो विलसत्पताकः। वैदूर्यविद्रुमविनिर्मितदेहलीकः

श्रीमण्डपः कुसुमराशिभिरुद्यतश्रीः ॥ ५५ ॥ उस मण्डप के बीच में कोई अनमोल मुक्ता एवं माणिक्य आदि रत्नों से खचित पताका शोभापा रही थो। वैदूर्य मणि और मूर्गे से निर्मित देहली वाला और पुष्पों की राशि से समृद्ध वह श्री-मण्डप अत्यन्त कान्तिमान था॥ ५५॥

नृत्यन्ति कृजदलघ्ध्वनिनृषुराणां केयूरचाहवलयावलिभासुराणाम् ।

यूथानि सस्मितमुखद्युतिनर्त्त कीना-मादश्विताभिनयमुच्चलकुण्डलश्री: ॥ ५६ ॥ (जिस मण्डप में) केयूर (बाबूबन्द) और सुन्दर कंगनों के समूह से प्रकाशित हाथों वाली तथा मन्द मन्द त्रपुरों की आवाज से 'गुँजार करती हुई नृत्याङ्गनाए नाच रहीं थी। मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त नर्तिकयों के समूह के अनेक झुण्ड, अपने कुण्डलों को हिलाते हुए मोभायमान-श्री से युक्त अभिनय दिखा रहे थे। ५६॥

यत्रेन्द्रनीलमणितिमितनीलपद्मे-

ष्द्भान्तभृङ्गवनितापटलीविभाति । यत्रोल्लसत्स्फटिकभूमितलोपविष्टा-

हंसाविशेषमभजन्वदर्चञ्चुभासा ।। ५७ ॥

इन्द्रनील मणि से निर्मित नील पद्मों में उद्भ्रान्त होकर घूमती हुई भौरों की भ्रमियों के झुण्ड से जहाँ की भूमि शोभित था और जो शोभायमान स्फटिक की भूमि तिलंपर बैठे हुए हंस विशेष के पद और चंक्यु की कान्ति युक्त थी।। ५७॥

आमोदमोदितदिगन्तरभृङ्गसङ्घ-

कल्पद्रकीमलपरागसरागमार्गे 🛒 ।

मन्यानसं गिरिसुते सितहौन्धवीयः

खण्डो निमज्जतु महामणिभण्डपान्तः ॥ ५८ ॥

सुगन्ध से सुगन्धित दिगन्तर में अमरों के समूह से युक्त और कल्पवृक्षों के समान कोमल पराग से लालिमायुक्त मार्ग में, हे गिरिसुते ! श्वीत उदिधि रूप हमारा मन महामिणि के मण्डप के भीतर अवगाहन करे।। ५८।।

यमुनायाः परे कूले निजं धाम प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥ अपरस्मिन् महेशानि धाम स्थादक्षरस्य तु ॥ ६० ॥

यमुना के एक किनारे पर भगवान कृष्ण का निजधाम प्रतिष्ठित है और हे महेशानि ! दूसरे किनारे पर अक्षर [ब्रह्म] का धाम है ॥ ५९-६०॥

> धाम्नोभिमुखमीशानि वनान्युववनानि च। चिदानन्दमयी वापी मणिमण्डपमण्डिता।। ६९॥

हे ईशानि ! उन दोंनों घामों के अभिमुख वन और उपवन विद्यमान हैं। मिलमण्डपे से मेण्डित चित् और आनन्द्रमयी वापी वहाँ सुशोभित है।। ६१ ।।

> पारिजातवनं यत्र प्रवालकुसुमोज्ज्वलम् । पद्मरागमयाकारनानावृक्षीवराजितम् ॥ ६२ ॥

मूँगे के समान लाल (एवं श्वेत वर्ण के) उज्ज्वल फूलों से पुष्पित जहाँ पारिजात के वन कोभायमान थे। पद्मराग युक्त आकार वाले नाना प्रकार के बृक्षों से वह वन कोभायमान था। ६२।।

वैदूर्यमणि से युक्त लताओं के पद्मराग से युक्त पत्तों से एवं मुक्तामणि के गुच्छों से युक्त तथा सुवर्ण के अङ्कुर से सम्पन्न (वह वन था) ॥ ६३ ॥

यूर्थैविराजितं विष्वक् नानाक्षीडारसालयम् । सपादलक्षयोजनानां संख्यायां विमलं सरः ॥ ६४ ॥

चारो ओर से सिखयों के झुण्ड से शोभायमान उस वर्न का विमेल सरोवर नाना प्रकार की क्रीडा-केलि का आलय था जो संख्या में संवा लाख योजन तक विस्तृत था। १६४॥

मणिरत्नशिलाबद्धमणिकुद्दिममण्डपम् । प्रवालपद्मरागाद्यः वलप्तसोपानसुन्दरम् ॥ ६५ ॥

मणि तथा रतन की शिला से आबद्ध और मणियों से निमित फर्श के मण्डप बाला, मूँगा एव पद्मराग आदि से निमित सुन्दर सीढ़ियों से युक्त होने से शोभाय-मान सरोवर था।। ६५।।

> तत्रस्था भर्तुं हद्दाम यशो गायन्ति योषितः । काश्चित्लम्बन्ति दोलाभिगीयन्तयो मधुरस्वरम् ॥ ६६ ॥

बहाँ पर स्थित कुछ वनिताएँ अपने स्वामियों के उत्कृष्ट यश का गायन कर रही थी और कुछ झूले से झुलती थी तथा कुछ मघुर स्वर में गायन कर रही थो।। ६६।।

काश्चिन्मृदङ्गवीणाद्यैनीन।क्रीडारसोज्ज्वंलाः । खेंलन्ति परमानन्दीः सखीसख्यो मुदान्विताः ॥ ६७ ॥ कुछ संखियां अपनी सखियों के साथ मृदङ्ग तथा बीणां आदि बजाते हुए नाना प्रकार के क्रीडा रस से प्रसन्न परमानन्द में खेल रही थी ॥ ६७ ॥

महापद्मवनं यत्र पद्मरागमयाम्बुजम् । वैदूर्यदण्डपत्रालिस्फुरद् वैडूर्यपद्मिनी ।। ६८ ।। जहाँ पर महापद्म का वन पद्मराग से युक्त कमलों वाला था तथा वैदूर्यमणि के दण्ड एवं पत्ते की पङ्क्तियों से सुशोभित था। वैदूर्य वर्ण की पद्मिनी वहाँ पर सुशोभित थी।। ६८।।

> प्रवालकेसरोद्धासिदिव्यगन्धमनोहरम् । सृजद्वितानमाकाके रजोभिवयुनोद्धतैः ॥ ६९॥

वायु से उठे हुए रजों से युक्त आकाश में मानों मण्डप का सृजन करता हुआ मूँगे के समान केसर से उद्भासित दिव्यगन्घ के कारण वह सर मनोहर लग रहा था।। ६९॥

संख्यया परितो देवि लक्षयोजनविस्तृतम्। यद्गन्धानन्दसंसर्गात् ब्रह्मानन्दपरम्पराः॥ ७०॥

हे देवि ! संख्या में चारो ओर एक लक्ष योजन विस्तृत वह आनन्द सरोवर था, जहाँ पर सुगन्ध के आनन्द-संसर्ग से ब्रह्मानन्द की परम्परा विद्यमान थी ॥ ७० ॥

अप्रार्थनीयतमाभान्ति केनचित्सवंथा सदा। रमते भगवान् क्वापि सप्रियाभिः समन्वितः ॥ ७९ ॥

किसी सिख के प्रार्थना न करने पर भी अपनी प्रियाओं से समन्वित भगवान् इन्ज्य कहीं पर किसी के साथ सर्वथा रमण करते थे।। ७१।।

> वसन्ते कुंकुमाम्भोभिजंलयन्त्रैविनिर्गतेः । वसन्तपुष्पाभरणैः स्फुरन् मुक्ताविभूषणैः ॥ ७२ ॥

वसन्त ऋतु में कुंकुम युक्त जल से जल यन्त्र द्वारा निकली हुई और वसन्त ऋतु के पुष्पों के आभरणों से युक्त तथा चमकते हुए मोतियों के अलङ्करणों से युक्त श्री कृष्ण (रमण करते थे) ।। ७२ ।।

> प्रच्छन्नाभिः प्रकाशाभिः क्रीडाभिरितरेतरम् । नानापरिमलोद्गारैनीनापक्षिगणस्वनैः ॥ ७३॥ पिककोलाहलैदिव्यैनित्यानन्दविवर्द्धनैः । स्फ्रत्तिडितमेघालिध्वनन्नभसि प्रावृषि ॥ ७४॥

प्रच्छन्न, प्रकाश एवं एक दूसरे से क्रीडा करते हुए नाना प्रकार के सुगन्ध-द्रव्यों से युक्त और नाना प्रकार के पक्षि गणों के कलरव से युक्त, कीयल की कूजन से युक्त, दिव्य तथा नित्यानन्द की वृद्धि से युक्त, वर्षा काल में चमकती हुई विद्युत् वाले मेघों के समूह के व्विन से युक्त आकाश में वे भगवान क्रीडा रत थे।। ७३-७४।।

भूमिकासु सखीवृन्दैर्गायमानः प्रमोदते। एवं क्रमेण भगवान् क्रीडते ऋगुचर्यया।। ७५।।

सखियों के समूह के साथ गाते हुए आनन्द करने वाले भ**ण**तान इस प्रकार ऋतुचर्या के अनुसार क्रीडा कर रहे थे ।। ७५ ।।

> कदाचिन्मणिगेहस्थकुद्दिमे सुमनोहरे। चतुर्दिक्षुमहारत्नस्तम्भैः षोडशिभर्युतैः॥ ७६॥

किसी समय सुमनोहर तथा मणिमण्डित गृह के फर्श पर वे चारो दिशाओं में महारत्न के १६ स्तम्भों से युक्त मण्डिप में रमण करते थे।। ७६।।

अन्योन्यप्रतिबिम्बत्वादन्योन्येतरथागतः । प्रियामध्यगतो भाति तारामध्ये यथा शशी ॥ ७७ ।

उन स्तम्भों में एक दूसरे के प्रतिबिम्ब से एक दूसरे के श्रम से वे भगवान् कृष्ण अपनी प्रियाओं के मध्य वैसे ही सुशोभित होते थे जैसे तारागणों के मध्य चन्द्रमा सुशोभित होते है।। ७७॥

नानानमंविनोदैश्च नानाक्रीडाकुतूहनैः। रमते भगवान् यत्र स्वय रसमयः पुनान् । ७८॥

भगवान् ऋष्ण नाना प्रकार के हास्य एवं विनोदों के द्वारा अनेक क्रीडा-केल्प के कुतूहलों से जहाँ रमण कर रहे थे वहाँ एक मात्र ही रसमय पुरुष वे स्वयंथे।। ७८॥

अक्षरः परमात्मा च पु**रु**षोत्तमसंज्ञकः। उभावष्येक एवार्थो लोलाभेदेन सुन्दरि ॥ ७९ ॥

हे सुन्दरि! अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम नामक परमात्मा दोनों ही इस प्रकार कीला भेद से एक ही तत्त्व हैं॥ ७९॥

> अक्षरे सृष्टिकर्तृत्वान्न श्रुङ्गाररसोदयः। अमायत्वाद्रसात्मस्वान्नापरः सृष्टिकृतिप्रये॥ ७०॥

अक्षर ब्रह्म में सृष्टिकर्तृत्व के कारण श्रृङ्गार रस का उदय नहीं होता। है प्रिये ! माया से परे होने से रसात्मक होने से ब्रह्म सृष्टि कर्ता से अन्य कुछ और नहीं हैं।। ८०।।

दिद्क्षा ह्यक्षरस्यासील्लीलाया दर्शने प्रिये। पूर्णप्रियाप्रेम प्रये विलसत्पुरुषोत्तमे॥ ८९॥

हे प्रिये! लीला-दर्शन में अक्षर ब्रह्म की देखने की इच्छा ही कारण है। वहीं ब्रह्म पुरुषोत्तम में प्रिया के पूर्ण प्रेम को देखते हैं।। ८१।।

> तज्ज्ञात्वा पुरुषः श्रोष्ठः प्रियास्त्रिच्छां दधे प्रिये । प्रार्थयामासुरेतास्तं श्रीस्वामिन्या समन्विताः ॥ ८२ ॥

हे प्रिये ! उसे जानकर भी ब्रह्म पुरुष-श्रेष्ठ प्रिया में इच्छा को धारण करते हैं और वे उन श्री-स्वामिनियों से समन्वित होकर उनसे प्रार्थना किए जाते हैं।। ८२।। संख्यं ऊर्चः .

भो भो स्वामिन्परानन्द परात्परतर प्रभो। वयं प्रियाः प्रियोशीस त्व तस्मान्नः प्रियमाचर ॥ ८३॥

सिखयों ने कहा-

हे स्वामि ! हे परमानन्द ! हे परात्पर ! हे प्रभु ! हम सभी [जीव] आपकी प्रिया हैं और आप हमारे प्रिय है । अतः आप हमारा प्रिय करें !। ८३ ॥

अक्षरात्मा तु भगवान् या छीलाः सृजते प्रभुः । अस्माभिनीनुभूतास्ताः कीवृशीः किविधा इति । ८४॥

भगवान, जो अक्षरात्मा हैं, वहीं प्रभु लीला का सृजन करते हैं। उन लीलाओं का हम लोगों ने अनुभव नहीं किया कि वे कैसी हैं और किस प्रकार की हैं।। प्रभा

> तिद्दिद्क्षितिचित्तानां कामो नः प्रतिबाधते। कारयानुभवं तस्याः कारुण्येन कुपानिधे॥ ८५॥

उन लीलाओं को देखने की इच्छा वाले हम जीओं को काम बाधित करता है अतः हे कृपानिधि ! आप कारण्य से उन लीलाओं का हमें अनुमव कराइए ।। ८५ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

प्रियाः श्रृणुत मे वानयं सावधानेन चेतसा । न यूयं दर्शने योग्याः नित्यानन्दपदे स्थिताः ॥ ८६ ॥

श्री कृष्ण ने कहा ---

हे प्रियाओं ! आप सभी सावधान चित्त होकर मेरे वाक्यों को सुनिए । निर्धानिक के पद पर स्थित आप उन लीलाओं के दर्शन के योग्य नहीं है ॥ ८६ ॥

यत्रानन्दस्वरूपस्य हानिर्भवति सर्वेथा। त्रिगुणायास्तु लीलाया दर्शनेन प्रियंवदाः ॥ ८७ ॥

हे प्रियवादिनि ! जहाँ त्रिगुणात्मक लीला के दर्शन से सर्वथा आनम्द के स्वरूष की हानि होती है ॥ ८७ ॥

> मायावेशाद्विचित्रत्वं भावरूपात्मनां भवेत्। स्वस्रीलासहितं मां च न द्रक्ष्यय कदाचन ॥ ८८ ॥

माया के कारण विचित्र वह लीला भावरूपात्मक हो जाती है। अतः अपनो लीलाओं के सहित और मुझ परब्रह्म को साथ-साथ आप कभी भी नहीं देख सकती हैं।। पद।। दुःखानुभव एवास्ति न सुखस्य कदावन। विस्मरिष्यथ मां तत्र किमन्यत्तु वदामि भोः॥ ८९॥

वह लीला दुः खानुभवात्मक ही है और कभी भी सुख का अनुभव कराने वाली नहीं है। क्योंकि मुझ परमात्मा को वहाँ आप विस्मृत कर देगी। अतः हे प्रियाओं! आप सब से अन्य क्या कहूँ॥ ८९॥

> इत्युक्तास्ताः त्रियाः संनीः प्रत्यूचुः पृष्वोत्तमध् । तथापि त्रिय तत्सर्वं नानुभूतं कदाचन ॥ ९० ॥ तस्मादनुभवारूढ यथा भवति तत्कुरु । दुःख कामो विना दुःखदर्शनं न निवतंते ॥ ९१ ॥ विना दुःखं न च सुखं स्वरूपेण प्रतीयते । तस्मात्साष्ट्य नः कामं गुणलीलानुदर्शने । एवमुक्ते त्रियाभिस्तु तथास्त्वित जगाद सः ॥ ९२ ॥

इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे सप्तम पटलम् ॥ ७॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के कहने पर उन सभी प्रियाओं ने पुरुषोत्तम से इस प्रकार कहा — तथापि वह सभी प्रिय छीलाएँ हमलोगों द्वारा कभी भी अनुभूत नहीं हुई हैं। इस लिए जिस प्रकार हम सब उनका अनुभव कर सकें वैसा आप की जिए। वस्तुतः दुःख की कामना वाला विना दुःख का दर्शन किए उसे नहीं अनुभव कर सकता है। फिर विना दुःख के सुख के स्वरूप की प्रतीति भी नहीं हो सकती। इस लिए हे प्रभु! आप सगुण छीला का दर्शन कराकर हम लोगों की कामनाओं की प्रति की जिए। इस प्रकार उन प्रियाओं के आग्रह पर उन भगवान कृष्ण ने 'तथास्तु' कहा (और छीला प्रारम्भ की)।। ९०-९२।।

शिहस प्रकार श्रीनारदपाश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के सप्तम पटल की डॉ॰ सुंघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७॥

अथ अष्टमं पटलम्

शिव उवाच

इच्छया ससृजे निद्रा तिगुणा मोहरूपिणी। तथा विस्रंसितज्ञानो मुमोह जगदीदवरः॥१॥

शिव ने कहा -

[उस परब्रह्म ने अपनी] इच्छा से मोहरूपी [सत्त्व रज और तम रूप] त्रिगु-णात्मिका निद्रा का सृजन किया। उस सृजित अज्ञान ने जगदीश्वर को ही मोह लिया॥ १॥

> मोहरूपं तदज्ञानं यस्य शक्तिद्वयं प्रिये। आवरणा प्रथमा देवि विक्षेपात्मा परा मता ॥ २।।

हैं प्रियें ! उस मोह रूप अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं - (१) उसकी प्रथम शक्ति 'आवरणात्मक' है और (२) दूसरी शक्ति, हे देवि ! 'विक्षेपात्मक' है ॥ २ ॥

स्वप्रकाशं यथा दीपमभ्रपत्रावृतिर्यथा। निगुह्यतं जितानेन नानाभावान्प्रदर्शयेत्।। ३।।

जैसे दीपक अपने ही प्रकाश से अपने की आवृत कर लेता है। उसी प्रकार अपने आवरण से इस [मोह निद्रा] के द्वारा इसे ही जीतकर और उनके प्रकाश को छिपाकर नाना प्रकार के भावों का प्रदर्शन किया जाता है।। ३।।

> एवं कृटस्थपुरुषमावृत्यावरणात्मिका। ततो विक्षेपकृषेण विश्वमात्मन्यदर्शयत्॥४॥

इस प्रकार वह कूटस्थ परब्रह्म ही आवरणात्मक [मोहनिद्रा रूप अज्ञान] से आवृत हो जाता है और उसके बाद तब विक्षेपात्मक [अज्ञान] से अपने में ही सम्पूर्ण विश्व की स्थिति को देखने लग जाता है।। ४।।

> शक्तिद्वयसमापेतमज्ञानिति तदिदुः । यथा शयानः पुष्ठभे जाग्रद्दृष्टं विमुश्वति ॥ ५ ॥ तदासनावासितायां बुद्धौ स्वप्नं प्रपश्यति । यथा ददर्शविश्वातमा स्वप्नारूढं जगत्तिप्रये ॥ ६ ॥

ये मक्तिद्वय जो उसे आबद्ध कर लेती हैं विद्वान लोग इसे ही 'अज्ञान' नाम से

मिहित करते हैं। यह उसी प्रकार होता है जैसे—सोया हुमा पुरुष जागकरः अमात्मक स्वप्त से विमुक्त हो जाता है। उसी की वासना [सुगन्घ से] वासित [सुगन्वित] होने से वह प्रबुद्ध होकर भी स्वप्न देखता ही है उसी प्रकार हे प्रिये ? वह विश्वात्मा भी स्वप्नारूढ़ होकर समस्त घराचर जगत् को देखता है।। ५-६॥

यथाशयानः पुरुषः स्वप्ने राजा यथा भवेत्। राजदेहेन प्रकृतीः सर्वा एव नियच्छति॥ ७॥

जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्न में राजा हो जाता है और उसी राजा के शरीर से सभी प्रकृति का नियमन करता है ॥ ७ ॥

तथा नारायणं रूपं धत्तो देवश्चिदात्मकः। तेन रूपेण देवेशि स्वप्नलीलां प्रपश्यति ॥८।

उसी प्रकार नारायण रूप से चिदात्मक परब्रह्म शरीर धारण करते हैं, और उसी रूप से, हे देवेशि ! स्वप्त के समान लीलाओं की देखते हैं ॥ ८॥

सत्वं रजस्तम इति पृथिब्यादीनि सुन्दरि । तत्र जातानि देवेशि येभ्योऽण्डमभवतिप्रये ॥ ९ ॥

हे सुन्दरि ! पृथ्वी आदि पश्चमहासूत सत्त्व रज और तम रूप हैं। हे देवेशि ॄ हे प्रिये ! उसमें वही अण्ड होकर उत्पन्न होता है।। ९।।

तत्र जाता इमे लोकाः सप्त चोधवंमधस्तथा। सप्ताणं वाः सप्तद्वीपा जम्बूद्वीपस्तु मध्यगः ॥ १०॥ उसी (अण्ड) में ये सात लोक ऊपर में और सात नीचे उद्भूत ही जाते हैं। उन्हीं में सात समुद्र, सात द्वीप हैं जिनके मध्य में जम्बू द्वीप है।। १०।।

तन्मध्ये भारतं वर्षं माथुरं तत्र मण्डलम्। तन्मध्ये गोकुलं जातं स्वाप्निकं सुरसुन्दरि ॥ ११॥

उस जम्बू द्वीप के मध्य में भारत देश हैं और उस [भारत] के मध्य में मथुरा मण्डल है। उस मथुरा मण्डल के बोच में गोकुल उत्पन्त हुआ और उनमें स्वत्न के समान ही देवाङ्गनाएँ भी उत्पन्न हुई ॥ ११॥

बहिर्वत् भासते विश्वं निद्रयान्तर्गतं त्रिये। ब्रह्मसत्तीव तत्सत्ता पृथक् सता न विद्यते ॥ १२ ॥

हे प्रिये ! उस परब्रह्म की निद्रा के अन्तर्गत यह विश्व बाह्म के समान भासता है। इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता से ही उस बाह्मजगत् की सत्ता है। उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं हैं।। १२।।

भित्यन्तगैतिचित्राणि यथाधिष्ठानतः पृथक् । न सन्ति देवदेवेशि तदा श्रासम्यान्यपि ॥ १३ ॥ एवं विश्वमयं चित्रं आत्मभित्तिमधिष्ठितम् । न पृथक् देवि कुत्रापि पृथक् जानन्त्यपण्डिताः ॥ १४ ॥

भित्ति के ऊपर बने भयावह चित्रं भी जैसे उस अधिष्ठान [दीवार] से पृथक् सत्ता नहीं रखते, उसी प्रकार हे देव देवेशि ! यह सम्पूर्ण विश्वमय चित्र उस ब्रह्म की आत्मा रूप भित्ति पर ही अधिष्ठित है। उसकी कहीं भी पृथक् सत्ता नहीं है किन्तु हे देवि ! उसी को अज्ञानी जन पृथक् करके समझते हैं॥ १३-१४॥

ब्रह्मगुद्धामिदं देवि वक्तुं जिह्ना जडायते । गात्राणि शिथिलायन्ते वाणी मे गद्गदायते । तथापि प्रेमवशगो दिङ्मात्रं प्रब्रवीमि ते ॥ १५ ॥

हे देवि ! वस्तुतः यह ब्रह्म रहस्यमय है । उसका प्रतिपादन करने में जिह्वा मूक हो जाती है । अङ्गप्रत्यङ्ग शिथिल होने लगते हैं और यहाँ तक कि मेरी वाणी गद्गद् हो जाने से अवरुद्ध हो जाती है । किन्तु फिर भी प्रेमवशात् मैं तुझसे कुछ संकेत मात्र कहता हूँ ॥ १५ ॥

एकदा पुरुषः साक्षात्रुरुषोत्तमसंज्ञकः।
सखीनां मण्डलगतः स्वामिन्या श्लिष्टया प्रभुः॥ ५६॥
रत्नसिहामनासीनः पदाक्रान्तमहीतलः।
पाणिना श्लामयन्पद्मं पदावष्टब्धित्रग्रहः॥ १७॥

पुरुषोत्तम नामक वह साक्षात् पुरुष सिखयों के मण्डल में आकर स्वामिनी [राघा] से आख्रिल्ट रत्नजटिल-सिहासन पर आसीन थे। यह पृथ्वी तल उनके पैरों से आक्रान्त हुई थी। वह अपने हाथों में लीला कमल लिए हुए थे। उनका शरीर पैरों आदि से विग्रहवान था।। १६-१७।।

दिन्यक्रीडारसानन्दो दिन्यभूषणभूषितः। दिन्यमाणिन्यमुकुटो दिन्यकुण्डलमण्डितः। १८॥

वह प्रभु दिव्य क्रीडा (देवों की क्रीड़ा) के रस में आनन्दित हुए। उनका शरीर दिव्य आभूषणों से मूषित था। उनका मुकुट दिव्य माणिक्य से युक्त था। उनके कर्ण दिव्य कुण्डलों से मण्डित थे।। १५॥

> निश्वलालिकुलाकारकुटिलः स्निग्धकुन्तलः। शरत्यसलसदको नयनानन्दवर्षणः ॥ १९॥

उनका विग्रह निश्चल सिखयों से घिरा था और टेड़ी आकृति का था। उनका बहु वेष बहुत ही स्निम्ब तथा शरद् कालीन पद्म से शोभित था। उनकी इस टेढी आकृति में उनके नेत्र आनन्द की वर्षा कर रहे थे।। १९॥

दिव मही राजिदश नः

प्रवालदशनच्छदः।

अनङ्गधनुराकारकुटिलभ्रूलनोत्सवः

उनकी दन्तपिङ्क्त दिन्य हीरे के समान चमचमा रही थी जो मानो दिव्य मूर्गों में जड़ो सो हो। साझात् कामदेव के घनुष के आकार का उनका भृकुटि विलास टेढ़ा सा था।। २०।।

स्मितमाधुयंविजितमाध्यंरससागरः

11 29 11

कम्बुकण्ठलसद्रेखात्रयशोभामनोहरः

बह प्रभु अपने मन्द स्मित के माधुर्य से माधुर्य रस के समुद्र को भी जीत रहे थे। उनका कण्ठ सुराही के समान घेरेदार था। उनके पेट पर त्रिवली से उनकी मनोहर शोभा हो रही थी।। २१॥

मुक्ताहारलसद्वक्षः स्फुरमाणविषप्रभः।

कांचीकपालविस्फूर्जित्किकिणीजालमण्डितः ॥ २२ ॥

उनका वक्षस्थल मुक्तामणि के हार से शोभित था। हार की मणियों से निकली दमदमाहट से प्रभावान् थे । कमर में करघनी आदि आभूषणों से वे मण्डित वे ॥ २२ ॥

वलयांगदकेयूरोमिकावृन्दविभूषितः

सुनासः सुन्दरमुखः स्मिनोदारमुखाम्बुजः॥२३॥

हाथों में कंगन और भुजाओं में बाजूबन्द और सिर पर मोर के पंख का मुकुट आदि विमूषित था। सुडौल नाक और सुन्दर मुख तथा मन्द हास से उनका मुख कमल उदरता से परिपूर्ण था।। २३।।

दिव्यगन्हानुलिप्तांगो दिव्याम्बरविभूषितः।

सुत्रासमुद्रलहरीशीतलाङितसुन्दरः ॥ २४॥

सम्पूर्ण शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में दिव्य गन्ध का लेप था। उनका शरीर दिव्य वस्त्र से विभूषित था। सुधा समुद्र के लहरों से शीतल लगने वाली सुन्दर आकृति थी॥ २४ ।।

> गंभीरावर्तनाम्युद्धतनुरोमलतांकुरः स्वामिनी संस्थिता तस्य वामदेशे सहासना ॥ २५ ॥

उनकी नाभि गहरी और भँवर के समान गोलाकार थी। शरीर रूपी लता में रोमावली अंकुर के समान सुशोभित थी। उन्हीं के साथ आसन पर उनके बाएँ और स्वामिनी राघा बैठी थी।। २५।।

> अचञ्चलतिङ्कोटिचुतिभूषणभूषिता । दिव्यधात्रीफलस्थूलनासानटितमौक्तिका ॥ २६ ॥

चान्त्रत्य विहीन विद्युत की कोटि कोटि कान्ति से वह भूषित थीं। उनकी नासिका दिव्य धात्री फल (आंवला) के समान स्थूल थी। मौक्तिक से युक्त नथः उनकी नासिका में सुशोभित था।। २६।।

श्रङ्गाररससम्पूर्णनेत्रान्दोलनविश्रमैः । विष्ठुम्पन्तीव देवेशि भर्तुं विचत्तगभीरताम् ॥ २७ ॥

श्रृङ्कारस से परिपूर्ण चलायमान नेत्रों के विलासों से, हे देविशा! वह भति के चित्र की गम्भीरता को विचलित कर रही थी।। २७॥

मधुरोज्लापमाधुर्यविनिर्भात्सतकच्छपी । मन्दर्सिमतप्रभापूरमज्जत्त्राणेशमानसा । २८ ।

प्रभु के साथ मधुरालाप के माधुर्य में दूर्वा हुई कच्छपी के समान थी। मन्द-मन्द मुस्कान की प्रभा से परिपूर्ण प्राणनाथ के मानस सरोवर में वह मानों स्नान कर रहीं थी। २८॥

मुखामोदविलुब्धालिझङ्कारोद्विग्नलोचना । भ्रूलताजितकन्दर्पवरकार्मुकविभ्रमा ॥ २९ ॥

मुख की सुगन्ध से लुमाए हुए अमर की झंकार से उनके लोचन उद्धिग्न से थे। उनकी सुन्दर अल्ता मानों कामदेव के श्रेष्ठ धनुष के विलास को भी जीत रही थी।। २९।।

मणिमजीरनिर्हादिवमोहितमरालिका। नक्षेन्दुरुचिसदोहमज्जन्न्पुरमण्डला ॥ ३०॥

मणि के तूपुर से निकली हुई कान्ति से अमर पिनत मोहित हो रही थी।
नखरूपी चन्द्र की कान्ति के संदोह में तूपुरमण्डल मानों स्नान कर रहा था।। ३०॥

वानन्दसागरोद्वेलविधूपममुखाम्बुजा । कुचकुम्भलसन्मुक्ताहारभारमनोहरा ॥ ३१॥

आनन्द रूपी समुद्र में मुझकमल रूपी चन्द्र उद्घे लित हो रहा था। घड़े के समान गोलाकार शोभायमान पर्योघर मुक्तामणि के हार के भार से मनोहर सा लग रहा था।। ३१।।

ग्रैवेयाभरणोद्दीप्ता कम्बुकण्ठी शुचिस्मिता। सख्यः प्रियां पुरस्कृत्य प्राहुः प्राणेश्वरं मुदा ॥ ३२ ॥

ग्रैवेयक मणि के आभरण से उद्दीष्ठ उनका कण्ठ कम्बु (सुराही के आकार का वेरेदार) था। सुन्दर स्मित से वह युक्त थी। वहाँ पर सम्बियों ने प्राणेश्वर से प्रिया को आगे करके प्रसन्तता से कहा—

सरुय ऊचुः

प्राणनाथ प्रियायास्ते मनोरथमहाद्रुमः। फलितो नंव दृश्येत त्विय भत्तेरि कि पुनः॥ ३३॥

सुखियों ने कहा-

हे प्राणनाथ ! हम आपकी प्रिया हैं। हम लोगों के मनोरथ का महान वृक्ष है। किन्तु जब आप भर्ता के रहते, वह फलीभूत होता नहीं दिखाई देता तो फिर और की तो बात ही क्या है।। ३२-३३।।

> मनोरथविघातेन धुनोत्येव त्रियामनः। बाललीलादिदुक्षास्मान् बाधते हृदयस्थिता ॥ ३४ ॥

मनोकामना की पूर्ति न होने से आपकी प्रिया का मन अन्यमनस्क शा हो रहा है। हृदय में स्थित आपकी बाल लीलाओं को देखने की हम सभी की इच्छा बाधित हो रही है।। ३४।।

> यथेन्दोरचन्द्रिकायार्च यथा कुसुमगन्धयोः। राज्दार्थयोर्यथेवेश यथा बह्नचिषाः प्रभो ॥ ३५ ॥ अनाद्यभेदो देवेशि स्वामिन्यापि तथैव ते। अस्माकमिष भो स्वामिन् स्वामिन्यापि तथैव सः॥ ३६ ॥

हे प्रभो ! जैसे चन्द्रमा की चांदनी और फूलों की सुगन्ध, शब्द से अर्थ और शरीर से वेष तथा विह्न से उसको ज्वाला अलग नहीं है।

हे देवेशि ! उसी प्रकार स्वामिनी और आप में अनादि अभेद है और हे स्वामिन ! उसी प्रकार हम सब और स्वामिनी भी हैं अर्थात् उनमें और हम में भी कोई भेद नहीं है ॥ ३५-३६॥

७ मा०

कस्य हेतोनं कुरुषे तन्मनोरथपूरणम् । अविलम्बितमेवैतत्कुरुव हृदयस्थितम् ॥ ३७ ॥

। इति श्रोमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे अष्टमं पटलम् ॥ 💰 ॥

अतः हे प्रभो ! आप किस कारण से उस मनोरथ की पूर्ति नहीं कर रहे हैं। हमारे हृदय में स्थित इस मनोरथ की आप अविलम्ब पूर्ति करें।। ३७।।

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के अष्टम पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्णं हुई ॥ ८॥

अथ नवमं पटलम्

श्री शिव उवाच

अथ श्रुत्वा सखीवान्यं दर्शनावश्यकं प्रिये। तूष्णीं स्थितोऽपि मनसा मेने सर्वं भवत्वितः।। १।।

भगवान शङ्कर ने कहा--

इसके बाद सिखयों के वचनों की सुनकर और उन्हें लीला दिखाना आवश्यक समझकर, हे प्रिये ! चुपचाप रहकर भी मन में उन्होंने यह माना (== इच्छा किया कि 'यह सभी होवे' ।। १ ।।

> स्वामिनीसहिताः सर्वाः सख्यस्तन्मुखपञ्कणम् । वीक्ष्यमाणा इवातस्थुः प्रभुश्चापि तथा स्थितः ॥ २ ॥

अतः स्वामिनी [राधा]के सहित सभी सखियाँ उनके मुख कमल की ओर देखती रहीं और प्रभुभी उनकी ओर देखते रहे ॥ २ ॥

वासनांशैर्गताः सर्वा मथुरामण्डलस्थिते । गोकुले गोपिका जाता गोपगेहेषु ताः पृथक् ।। ३ ।।

वे सभी वासना से पराभूत होकर मथुरा मण्डल स्थित गोकुल में गोपों के घरों में अलग अलग गोपिकाएँ हुई ॥ ३॥

> वृषभानुगृहे जाता राधिकेति च विश्रुता। स्वामिनीवासनालेशः केनाप्यंशेन सुन्दरि । ४ ॥

[स्वामिनी] राधा नाम से [राजा] वृषभानु के गृह में उत्पन्त हुई। हे सुन्दरि ! वह स्वामिनी कुछ अंश से उन प्रभु को वासना का लेश मात्र थी।। ४।।

> तत्सस्यश्चापि सञ्जातास्तासां नामानि कानिचित्। कथयिष्यामि देवेशि श्वणुष्वकाग्रमानसा ॥ ५॥

उनकी सिखयाँ भी वहाँ उत्पन्न हुई। उनमें से कुछ के नाम मैं कहूँगा, हे देवेशा! आप एकाग्र मन से उन्हें सुने ॥ ५॥

सुन्दरी स्वर्णवर्णा च रम्याङ्गी स्वर्णमालिनी ।
लिलता चित्रवर्णा च विशाखा विजया जया ॥ ६ ॥
सुकुण्डला कुण्डलिनी मालिनी स्वर्णमञ्जरी ।
मञ्जुघोषा विचित्रा च देश्सेना वर्ष्टियनी ॥ ७ ॥
गौरी चित्राम्बरा तन्वी चन्द्रलेखा मनोजवा ।
अजिता जियनी स्यामा बलाकी विमलप्रभा ॥ ८ ॥
तारा कुरङ्गनयना कमला वनमालिका ।
नित्या विलासिनी ताम्रा अनङ्गानङ्गमालिनी ॥ ९ ॥
अनङ्गमेखला माध्वी मोहिनी मदनावती ।
पुष्पावती हेमलता हेममाला मनोजवा ॥ १० ॥
कर्प्रगन्धा काइमीरी पद्मगन्धा विहारिणी ।
हंसिनी चित्रिणी चित्रा सुनन्दा बिन्दुमालिनी ॥ ११ ॥
मनोजापाङ्गलास्तिया वेताली विमलप्रभा ।
पद्मरागा विचित्राङ्गी नित्यानन्दा निरङ्कुशा ॥ १२ ॥

उनके नाम थे — सुन्दरी, स्वर्णवर्णा, रस्याङ्की, स्वर्णमालिनी, लिलता, चित्रवर्णा, विशाखा, विजया, जया, सुकुण्डला, कुण्डलिनी, मालिनी, स्वर्णमञ्जरी, मञ्जुघोषा, विचित्रा, देवसेना, वर्लायनी, गौरी, चित्राम्बरा, तन्वो, चन्द्रलेखा, मनोजवा,
अजिता, जियनी, श्यामा, बलाकी, विमलप्रभा, तारा, कुरङ्गनयना, कमला, वनमालिका, नित्या, विलासिनी, ताम्रा, अनङ्का, अनङ्कमालिनी, अनङ्कमेखला, माठ्यी,
मोहिनी, मदनावती, पृष्पावती, हेमलता, हेममाला, मनोभवा, कपूर्रगन्धा, काश्मीरी,
पद्मगन्धा, विहारिणी, हसिनी, चित्रिणी, चित्रा, सुनन्दा, बिन्दुमालिनी, मनोजा,
अपाङ्क लालित्या, वैताली, विमलप्रभा, पद्मरागा, विचित्राङ्की, नित्यानन्दा और
निरङ्कुशा ॥ ६१२॥

इत्येव कोटिशः ख्याताः सख्यः कुवलयेक्षणाः । न संख्यया परिच्छेद्याः नित्यवृन्दावसाश्रयाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार कमल के समान नेत्रों वाली कोटिश: सिखयाँ वहाँ उत्पन्न हुई अतः उन्हें गिनना कठिन है। वे नित्य ही वृन्दायन में रहती है।। १३।।

> तासां द्वादशसाहस्री सख्या प्रोक्ता तथापि या। अन्तःपुरगतानां च रहोमिलितचेतसां॥ १४॥

तथापि अन्तःपुर में रहने वार्ला और एकान्त में मिलने वाली उन सिखयों की संख्या बारह हजार बताई गई है ॥ १४ ॥



जाग्रतस्वप्नं गताः सर्वाः स्वात्मानं ददृशुस्तदा । नन्दव्रजमिवोपेतमनुल्लङ्कितकेतनाः ॥ १५॥

जागते हुए वे सभी स्वय्नावस्था में हो गई। तब उन्होंने अपने को ही उस स्वय्न में देखा। नन्द के ब्रज के अप ने घरों से उन्होंने अपने को मुक्त सा पाया।। १५॥

यथा समीरवेगेन नीयते पद्मसौरभः।
न पद्मस्याधिकं किञ्चिनन्यूनं वा भवति प्रिये॥ १६॥
तथा मोहेन ता नीता अपि स्वप्नं परात्मनः।
अनुभूतवन्त्यस्तास्तक स्वप्नमायामनोरथम्॥ १७॥
परात्मा भगवांक्चापि लीलामेतां वदर्शसः।

वस्तुतः जैसे वायु के वेग से कमल की सुगन्ध ले जाई जाती है और हे प्रिये। वह सुगन्ध उस कमल से कुछ अधिक या कम नहीं होती हैं उसी प्रकार मोह के कारण वे परात्मक स्वप्नावस्था में भी ले जाई गई। उन्होंने वहाँ उस माया रिचत स्वप्न में अपने मनोरथ की अनुभूति की और उस परमात्मा भगवान् ने भी इन लीलाओं को देखा।। १६-१८।।

पार्वत्युवाच-

नन्दगोपत्रजं प्राप्ताः संख्यो या भवतोदिताः । कृटस्थलीलानुभवप्रकारं वद शङ्कर ॥ १८ ॥

मा जगदम्बा ने कहा---

है कल्याण करने वाले ! नन्द और गोपों के घर पर उत्पन्न हुई जो उनसे उत्पन्न सिखयाँ थीं, उनके और कूटस्थ के बोच हुई लीला की कुछ अनुभूति का प्रकारकहिए ।। १८ ।।

> परात्मा भगवांश्चापि कथं लीलां ददर्श सः। कीद्शी सा भवेल्लीला सगुणातिगुं णापि वा ॥ १९॥

उस परमात्मा भगवान् ने भी कैसे लीला का दर्शन किया ? वह लीला कैसी थी ? वह सगुण लीला थी या निर्गुण लीला थी ?।। १९॥

अनित्या नाथ नित्या वा यथार्थं ब्रूहि शङ्कर। शिव उवाच—

श्रृण् पार्विति वक्ष्यामि तव प्रश्नान् सुगोपितान् ।। २० ॥ वह लीला नित्य थी अथवा अनित्य थी ? हे शङ्कर ! जो यथार्थ बात हो वह कहिए। भगवान् शङ्कर ने कहा —

हे पार्वति ! तुम्हारे रहस्यमय प्रश्नों का उत्तर मैं कहूँगा, उसे सुनों ॥ २० ॥ न नास्तिकेभ्यो धूर्तेभ्यो हैतुकेभ्यः सुरेश्वरि । न वेदनिन्दकेभ्यश्च नाविश्वासाय कहिंचित् ॥ २१ ॥

हे सुरेश्वरि ! इसे नास्तिकों घूर्तों और अनिच्छुकों को कभी भी नहीं बताना चाहिए । किसी भी प्रकार इसे वेद की निन्दा करने वालों या [वेद में] अविश्वास रखने वालों को नहीं ही करना चाहिए ॥ २१ ॥

> वेदशास्त्रपुराणादिश्रद्धापूतान्तरात्मने । अनिन्दकाय शुद्धाय सर्वत्र ब्रह्मदिशने ।। २२ ॥

इसका रहस्य वेद, शास्त्र और पुराण आदि में श्रद्धा रखने वाले पवित्रात्मा की, [पर] निन्दा से विरत रहने वाले, शुद्ध एवं सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करने वाले की ही बताना चाहिए ॥ २२ ॥

> अलोलुपाय शान्ताय निर्मलाय महेश्वरि । कृतज्ञाय क्रियाकाण्डाचारसंशुद्धचेतसे ॥ २३ ॥

हे महेश्वरि ! [इन्द्रियों के प्रति] लोलुपताविहीन, शान्त चित्त वाले, निमंल एवं कृतज्ञ व्यक्ति को तथा क्रिया - काण्ड [क्रियापद्धति], आचार विचार से पुद अन्तरात्मा वाले व्यक्ति को ही इसका रहस्य बतलाना चाहिए ॥ २३ ॥

> स्नानदानदयादाध्यदमाद्यमलमूर्त्तये । परीक्ष्य शतघा देवि दद्यान्नान्यत्र कहिंचित् ।। २४ ॥

जो व्यक्ति स्नान, दान, दया, दाक्षिण्य [च्छदारता], दम [इन्द्रियों के दमन] से निर्मंल गरीर वाला हो उसी को इसका कथन करे। हे देवि सौ बार परीक्षा करके ही इसे योग्य व्यक्ति को ही देना चाहिए। कभी भी इसे अयोग्य को न देवे॥ २४॥

> स्नेहाद्वा घनलोभाद्वा अज्ञानाद्वा भयादिव । प्रकाशयित मूढात्मा नारक्याचन्द्रतारकम् ॥ २५ ॥

स्तेहवशात् या धन के लोभ से अथवा अज्ञान से किंवा अम से यदि कोई मूढ इसे बता देता है तो उसकी तब तक नारकीय गति होती है जब तक सूर्य और तारे रहते हैं ॥ २५॥

> तस्मात्वयापि देवेशि गोपितव्यं सुरेश्वरि । सखीनां ब्रह्मलीलाया दर्शनं तु यथा भवेत् ॥ २६ ॥



तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि श्रृणुष्वैकाग्रमानसा । मथुराधिपतिः कंसः उग्रसेनसुतः खलः ॥ २७ ॥ श्रुत्वात्ममृत्युं देवक्याः पुत्रद्वारेण दुष्टधीः । भगिनीं हन्तुमारेभे खङ्गेन तरसा बली ॥ २८ ॥

इसलिए, हे देवेशि तुम्हें भी इसका गोपन ही करना चाहिए। हे सुरेश्वरि सिखयों को ब्रह्मलीला का जैसा दर्शन होता है, उसका प्रकार मैं तुमसे कहूँगा। उसे एकाग्र मन से सुनो—

उग्रसेन का पुत्र मथुरा का राजा कंस बड़ा ही दुष्ट प्रकृति का था। उस दुष्ट-बुद्धि बाले कंस ने अपनी मृत्यु देवको के पुत्रों से जानकर उस बलबान ने [ब्याह कर जाती हुई] अपनी ही बहन को तीक्ष्ण कटार से मार ढालना चाहा।। २६-२८॥

> वारितो वसुदेवेन नीत्या चाध्यात्मशिक्षया। न निवृत्तः खलः पापस्तदोपायमचिन्तयत्। २९॥

[उन देवकी के पति] वसुदेव ने उसे आध्यात्यशिक्षा दे कर ऐसा करने से रोका। फिर भी वह दुष्ट पाषी [उस क्रूर कर्म से] निवृत्त नहीं हुआ और उसका उपाय सोचने लगा।। २९॥

न चास्यास्ते भयं वीर पुत्रेभ्यश्चेद्भयं तव। समर्पयिष्ये तान्पुत्रान्यानसी प्रसविष्यति॥ ३०॥

वसुदेव ने कहा — हे बीर ! तुम्हें इससे तो कोई भय नहीं है और जिन पुत्रों से तुम्हें भय है उन पुत्रों को, जिसे यह जन्म देगी, मैं लाकर तुम्हें सौंप दूरिगा।। ३०।।

> न सन्देहस्त्वया कार्यो यतः सत्यमयः पुमान् । सत्ये नव्टे स्वयं नव्टो विश्वतेन्धं महत्तमः ॥ ३९ ॥

मेरी इस बात में तुम्हें सम्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि पुरुष सत्य से युक्त ही होता है। सत्य के नष्ठ होने पर स्वयं वह नष्ठ हो जाता है और वह महान अन्वकारमय गर्त में गिर पड़ता है।। ३१।।

> इत्युक्तो मोहितमतिर्मुमोच भगिनी खलः। तया प्रसूतः समये पुत्रः पावकसन्निभः॥३२॥

इस प्रकार कहने पर मोह ग्रस्त बृद्धि से उस दुष्ट ने अपनी बहन को छोड़ दिया। उसके द्वारा प्रसूत पुत्र जन्म के समय अग्नि के समान तेजवान था।। ३२॥

> तमादाय गतः कंसं वसुदेवः प्रसादयन्। अर्पयामास तनयं कंसायात्मजमृत्यवे।। ३३॥

उसे लेकर वसुदेव कंस को प्रसन्न करने के लिए उसके पास गए और उसकी मृत्युं के कारणभूत उस पुत्र को कंस को दे दिया ।। ३३ ।।

औग्रसेनिस्तु्तं दृष्ट्वा्प्रसन्नेनान्तरात्मनाः प्रत्यपर्यंत् सृतं प्राह प्रसन्नोऽहं तवात्यः।। ३४।। उग्रसेन के पुत्र कंस ने उसको देखकर प्रसन्न होकर उसे पुनः वसुदेव को ही देकर कहा कि 'हे पापरहित मैं तुमसे प्रसन्त हूँ'।। ३४॥।

> न चास्मान्मे भयं शूर तस्मान्नो हन्मि ते शिशुम् । युवयोरष्टमाद्गर्भान्मृत्युमँ संश्रुतः पुरः ॥ ३५ ॥

है श्रारवीर ! मुझे इस पुत्र से भय नहीं है । इसिलए मैं तुम्हारे इस बालक को नहीं मारू गा। हमने तुम्हारे आठवें गर्भ से अपनी मृत्यु को पहले सुना है ॥ ३५ ॥

वृथा किनथं ते बालान् हन्मि लोकविगहितः। अष्टमस्तु यदा पुत्रो भविष्यति तवानघ।। ३६॥ तदा मां तूर्णमासाद्य निवेदयतु वैभवान्। स्वस्त्यस्तु ते चिरं याहि मा भयं धेहि सर्वथा।। ३७॥

अतः मैं व्यर्थ में तुम्हारे बालकों की हत्या क्यों करूँ? यह कार्य लोक के द्वारा गहित है। अतः हे निष्पाप! जब तुम्हारा आठवाँ पुत्र होगा, तब शीख्र ही आप आकर उसके होने की सूचना मुझे दें। तुम्हारा सदैव कल्याण हो। अतः जाओ और सवैया भय का त्याग कर दो।। ३६-३७।।

इति कंससमादिष्टो बसुदेवो महाशयः। निवृतः सुभगदाय कंगवाक्ये ससंशयः॥ ३५॥

इस प्रकार कंस से समादिष्ठ होकर महाशय बसुदेव अपने पुत्र को लेकर भय से नितृत हो गर। किन्तु कर को वाणी पर उन्हें सम्देह ही था ३८॥

ततो नारदवाक्येन विमोहितमितः खलः। अहनतं सूतं भूयस्ततः गत्वा रुषान्वितः॥ ३९॥ जग्राह निगडे योभौ वस्देवं च देवकीम्। यान्यान्यृशान्त्रसुभुवे सारयामास तान् खलः॥ ४०॥

इसके बाद महर्षि नारद के द्वारा उस दुष्ट की बुद्धि मोहयुक्त होने से क्रोधयुक्त होकर पुना जाकर उनके बालक की हत्या कर दी और कारागार में उन दोनों वसुदेव और देवकी से उस दुष्ट ने कहा कि जो जो पुत्र तुम्हें उत्पन्न होंगे मैं उन्हें मारू गा। ४०।।

दधार सप्तमं गर्भं शेषसंज्ञं सुदुःसहम्। आदिष्टा देवदेवेन योगमाया महेश्वरि। गर्भमाकृष्य देवक्या रोहिणीं प्रणिनाय सा ॥ ४९॥

शिष संज्ञक सातवें दुर्धर गर्भ को जब उन्होंने घारण किया तब हे महेश्वरि ! देवों के देव प्रभु के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ से निकालकर रोहिणीं के गर्भ में डाल दिया ॥ ४१ ॥

> स्वयं प्रादूरभूत्तिस्मिन् देवकीजठरे प्रभुः। शङ्खवक्रगदापद्मधरश्चारुचतुर्भुं जः ॥ ४२ ॥ पीतवासा घनश्यामः स्फुरन्मकरकुण्डलः। स्फुरन्माणिक्यमुकुटो वलयाङ्गदभूषितः॥ ४३॥

तब प्रभु उस देवकी के गर्भ में स्वयं प्रार्दुभूत हुए। वह प्रभु शह्न, चक्र, गदाधारी थे। उनकी चार भुजाएँ थी। वह पीला वस्त्र पहने थे। उनका वर्ण घन के समान श्याम वर्ण का था। उनके कानों में सकर की आकृति का कुण्डल दीप्तिमान था। उनकी भुजाओं में वलयाङ्गद [आभूषणविशेष] सुशोभित था।। ४२-४३।।

वसुदेवस्तु तं दृष्ट्वा विस्मयोदारलोचनः। तुष्टावोपनिषद्वाण्यस्ततस्तुष्टोऽत्रवीद्वचः ॥ ४४॥

विष्णुरुवाच-

त्वयाहं तोषितः पूर्वं तपसा दृश्चरेण हि। पृष्ठिनगर्भेति विख्यातो सम्यापत्रोऽभवं तव ॥ ४५॥

वसुदेव ने अत्यन्त आण्चर्यंचिकत नेत्रों से उन्हें देखकर उपनिषद् के वचनों से उनकी स्तुति की ! तब उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर प्रभु ने इस प्रकार कहा—

भगवान विष्णुनि कहा—

तुमसे पहले से ही तुम्हारी दु:साध्य तपस्या से प्रसन्न होकर मैने तुम्हें कहा था कि मैं 'पृष्टिनगर्भ' नाम से प्रसिद्ध तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥ ४४-४५ ॥

> द्वितीये जन्मनि तथा कश्यपस्तवं प्रजापतिः। उपेन्द्र इति विख्याति गतोऽहं यदुनन्दन ॥ ४६॥

दूसरे जन्म में आप प्रजापति कश्यप थे। वहाँ हे यदुनन्दन ! मैं उपेन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुआ।। ४६॥

> वसुदेव तृतीयस्मिन् भवे जातो भवदगृहे। मुक्तिदानाय भवते प्रादुर्भूतोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४७॥

वसुदेव नाम से इस तृतीय जन्म में आप के घर पर पुनः हमने इस जगत में जन्म लिया है। वस्तुतः मैं आप लोगों को मुक्ति प्रदान करने के लिए इस समय प्रादृर्भुत हुआ है।। ४७॥

> नय मां गोकुलं यत्र यशोदा नन्दगेहिनी। तत्र जाता महामाया तां नयस्व स्वकं गृहम् ॥ ४८ ॥

अतः मुझे आप गोकुल ले चलें जहाँ यशोदा नन्द की गृहिणी हैं, और वहाँ महामाया देवी ने जन्म लिया है उसे अपने घर पर आप लावें।। ४८।।

> तव मास्तु भय क्वापि कंसान्मज्जन्मशिङ्कतात् । इत्युक्ता देवदेवेशो दम्पत्योः पश्यतोः पुरः ॥ ४९ ॥ अक्षरस्य तु या चित्तवृत्तिर्जीलावलोकने । तदुपाधिकतत्सत्तारूपे व्यूहत्त्वमागतः ॥ ५० ॥

मेरे जन्म से सर्शकित कंस से आपको कभी भी भय नहीं होगा—इस प्रकार उन देवदेवेश प्रभु ने उन दम्पितयों के देखते देखते साक्षात् रूप से कहकर उन अक्षर ब्रह्म की लीला के अवलोकन की जब चित्तवृत्ति हुई, तब उसी की उपाधि रूप से उसी की सत्ता रूप में माया का व्यूहन किया।। ४९-५०।।

> बभूव द्विभुजः सद्यः शिजुभावं गतः प्रभुः। तस्मिन्नाविविशे साक्षाद्रसरूपी स्वयं प्रभुः॥ ५१॥

वह प्रभु उसी समय दो भुजा वाले बालक रूप में हो गए। वह स्वयं ही उस रस रूप समुद्र में अविधाष्ट हो गए॥ ५१॥

निनाय मोकुले नन्दमेहं निद्राविमोहिते। बादाय योगनिद्रां तां वसुदेवी गृहं गतः। ५२॥

[वसुदेव ने भी उन्हें प्रभु के आदेशानुसार] गोकुल में नन्द के घर में लाकर सभी के निद्रा में सोए हुए ही उस योगमाया देवी को लेकर पुनः अपने कारागृह में वापस आ गए।। ५२।।

देवकीप्रसवं प्रातः कंसायाचख्युरुत्सुकाः।
गृहपाला ध्वनि श्रुत्वा बालस्येति त्वरास्विताः॥ ५३॥

देवकी के प्रसव की बात प्रातःकाल उत्सुक लोगों के द्वारा कंस तक पहुँचा दी गई। कारागृह के रक्षक ने बालक की घदन की घ्वनि सुनकर शीध्र ही कंस को सूचित किया।। ५३॥

> कंसस्त्वरितमागम्य हठादाक्षिप्य तां खलः। भूपृष्ठे प्रोथयद्देवीं ततः सा दिवमुत्पतत् ॥ ५४॥

सा प्रोवाच वचः क्रुद्धा हरिजातस्तवान्तकृत्। यो वेदधर्मरक्षार्थं पाखण्डविनिवृत्तये॥ ५५॥

दुष्ट कंस भी शीझ ही आकर हठात् उसे लेकर ज्यों हि उस देवी को भूमि पर पटकना चाहा उसी समय हाथ से छूटकर जब देवी ने आकाश की ओर जाते हुए क्रोधित होकर कहा - तुम्हारे मारने वाले भगवान् विष्णु उत्पन्न हो गए हैं। जो वेद एवं धर्म की रक्षा के लिए और पाखण्ड की निवृत्ति के लिए जन्म ले चुके हैं।। ५४-५५।।

> असुराणां विनाशार्थमाविर्भवति लीलया। युगान्ते तमसा ग्रस्तान् वेदानुद्धसुं मिच्छया। मत्स्यरूपी स्वयं जातः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ॥ ५६॥

वह प्रभु असुरों को मारने के लिए ही लोला से आविभू ते होते हैं। युगान्त में तम से ग्रस्त वेदों को उद्घार की इच्छा से वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने ही स्वयं मत्स्य रूप में अवतार ग्रहण किया था॥ ५६॥

कूर्मरूपेण यः पृष्ठे दधार मन्दराचलम्। उद्दिधीर्षु भुंवं मूढ योऽसृजत् शौकरीं तनुम्।। ५७ ॥ कूर्म रूप से उन्होंने ही अपनी पीठ पर मन्दराचल घारण किया था। हे मूखं। (कंस) पृथ्वी का उद्धारं करने की इच्छा से ही जिन्होंने वराहावतार का सृजन किया था॥ ५७॥

> स्वभक्तद्रोहिणं हन्तुं त्रातुं भक्तजनं तु यः। नृसिहरूपी यः स्तम्भात्प्रादुरासीत्कृपानिधिः॥ ५८॥

अपने भक्त के द्रोही को मारने के लिए और भक्तजनों की रक्षा के लिए ही जिन कृपा के सागर भगवान विष्णु नृसिंह रूप से खम्भे से आविर्भृत हुए ॥ ५८॥

आत्मानं वामनं क्वत्वा भक्तकायथिमुद्यतः। बलि बहवा मघवते त्रिलोकीमददात्प्रभुः ॥ ५९॥ भक्त के कार्य का साधन करने के लिए उद्यत होकर प्रभु ने अपने को वामन बनाकर बलि को बाँध कर इन्द्र को तीनों लोक दे दिया ॥ ५९॥

> क्षत्रियात् दुर्नयात् दृष्ट्वा जमदन्तिगृहे तु यः। जातश्चकार पृथिवीं क्षत्रवीजविवर्जिताम्।। ६०।।

क्षत्रियों की दुष्ट जानकर जिन्होंने जमदिग्न के घर पर [परगुराम नाम क्ष

योऽसौ दाशरिबर्भूत्वा रावणं लोकरावणम् । जघान समरे दुष्टं शरण्यः शत्रुसूदनः । ६९ ।।

दशरथ के पुत्र [राम] होकर शत्रुओं को मारने वाले और भक्तों के शरणागत जिन भगवान विष्णु ने लोकों को त्रस्त करने वाले दुष्ट रावण को युद्ध में मार इंडाला ।। ६१ ।।

> कलो जितिष्यमाणानां असुराणां दुरात्मनाम् । वेदमार्गप्रवृतानां अतदर्हतया तु यः ॥ ६२ ॥ अरुच्युत्रादनार्थाय नानापाषण्डकत्प्याम् । इत्ता विनाशमेतेषां करिष्यति परः प्रभः ॥ ६३ ॥ स जातो यत्र कुत्रापि मृत्युस्तव विम्रद्ध्ये । इत्युक्त्वान्तदेश्चे माया कंसस्तु विमनाः स्थितः ॥ ६४ ॥ ॥ इति श्रीपञ्चरात्रे साहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे

कियुग में उत्पन्त होने वाले दुरात्मा असुरों का और वेदों के बताए हुए मार्ग पर न चलने वाले तथा धर्म में अरुचि उत्पन्त करने वाले नाना प्रकार के पाखण्डियों का नाश करके वे प्रभु इस लोक का कल्याण करेंगे। हे मूर्ख बुद्धि तुम्हारी मृत्यु रूप परमात्मा कहीं न कहीं उत्पन्त हो गए हैं—-ऐसा कहकर वह योगमाया अन्तर्धान हो गई और यह सब सुनकर कंस भी बहुत उदास हो गया।। ६२-६४।।

शिवोमासंवादे नवमं पटलम् ॥ ९ ॥

श इस प्रकार श्रोनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के सवाद के नवम पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।। ९।।

अथ दशमं पटलम्

शिव उवाच-

अथ नन्दगृहे जातः प्रातरेव महोत्सवः। नर्दः स्नातः शुचिविष्रानाहूयागम्पारगान्। ददौ महामना गावो वासांस्याभरणानि च ॥ १॥

भगवान् शङ्कर ने कहा —

इसके बाद नन्द के घर पर प्रातःकाल से ही महान उत्सव हुआ। नन्द स्नाक करके शुद्ध होकर आगम के पारगामी विश्रों को बुलाकर उन महामना ने बहुत से वस्त्रों, आभूषणों एवं गायों का दान किया।। १।।

गोपा गोप्यो ययुर्ह् ष्टा नानाभूषाम्बरावृताः। नन्दं वर्धापयामासुराशीभिः सर्वतोमुखस्॥२॥

गोप और गोपियाँ अनेक वेष-भूषा से आवृत होकर प्रसन्न होते हुए नन्द के घर पर गयीं और उन नन्द को चारो ओर से आशीर्वचनों से वर्षाित किया।। २॥

> यशोदां च महाधागां गत्वा गोप्योऽति हिषताः। उत्सुकानि मनौस्यासां बभूवः कृष्ण दर्शने ॥ ३॥

महान् भाग्यशाली यशोदा के पास जाकर गोपियाँ अत्यन्त हर्षित हुई। उत्सुकतावश उनके मन में यह विचार आया कि किशोर रूप से श्रीकृष्ण ने आखिर दर्शन तो दिया।। ३।।

श्रीकृष्णदर्शनानन्दितमन्ता निजमूर्तयः। बभूवृगौपिकाः सर्वाः निजलोकं गता इव ॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन के आनन्द समुद्र में निमग्न होकर उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अपने स्वरूप में सबकी सब गोपियाँ मानों अपने लोक में ही चली गई हों।। ४।।

गृहे गृहे समभवन्महोत्सवपरम्पराः। याचका वन्दितः सुता मागधाः सभुपाययुः॥ ५ ॥ गोकुल के घर-घर में महान् उत्सव की श्रङ्खला चल पड़ी। याचक, वन्दीजनः

१. ब्रह्मसृष्टिभ्या तदानीं किशोरस्वरूपेण श्रीकृष्णो निजदर्शनं दत्तवात् ।

[स्तुति करने वाले], सूत [कथावाचक], और मागध [गायक] वहाँ आ जाए ॥ ५ ॥

तेभ्यो ददौ महाहिणि भूषावासांसि गोपराट्। अथ कंससमादिष्टा पूतना बालघातिनी ॥ ६॥ निघ्नन्ती बालकान् जातान् चचार परितो त्रजम्। शिश्ववस्ते पराभूताः प्रविष्टाः पूतनान्तरम्॥ ७॥

गोपों के राजा नन्द ने उन्हें बहुत से वस्त्राभूषण भेंट किए। इसके बाद कंस के आदेशानुसार बालकों को मार डालने वाली पूतना राक्षसी व्रज के चारों ओर उत्पन्न बालकों को मारती हुई घूमने लगी। 'तुम्हारे बालक पराभूत होकर पूतना के अन्दर प्रविष्ट हो गए'—इस प्रकार हाहाकार मच गया।। ६-७।।

नन्दगृहे पुत्रजिन श्रुत्वा तस्य जिघांसया।
कृत्वा विमोहनं रूपं दिव्यालङ्कारचितम्।। ८॥
दिव्यमालाम्बारघरं दिव्यगन्धमनोहरम्।
मनोहरन्ती नन्दस्य प्रविवेश शनैगृहम्।। ९॥

वस्तुता नन्द के घर पर पुत्र उत्पन्न हुआ है यह सुनकर उसे मारने की इच्छा से उसने मायावी रूप बनाकर दिन्य अलङ्कार से भूषित होकर, दिन्य मात्य और दिन्य बस्त घारण करके तथा मनोहर दिन्य गन्य लगाकर मन का हरण करती हुई घीरे-घीरे नन्द के गृह में प्रविष्ट हुई ॥ ८-९ ॥

अथ सा सूतिकागारमभ्येत्य क्रूरनिश्चया। मोहयित्वा वचोभिस्तां बहिःश्रेमनिरूपितैः।। १०॥

उस क्रूर निश्चय वालो राक्षसो ने सूतिका गृह में आकर उनको अपने दिखावटी प्रोम और मधुर वाणी से मोह लिया ॥ १०॥

सुप्ताहिमिव जग्नाह बालं कमललोचनम् । अङ्कमारोप्य बहुधा लालयन्ती शुचिस्मिता ॥ ११ ॥

सोए हुए सर्प के समान उस कमल के तुल्य नेत्र वाले बालक को उसने उठा लिया और मधुर-मधुर मुस्कुराहट के साथ वह अपने गोद में रखकर बहुत प्रकार से लाड़-प्यार करने लगी ॥ ११ ॥

ददौ हालाहलालिप्तं स्तनं तन्मुखपङ्कजे । तदन्तःस्थशिशृन् प्राणान् पूतनायाः पपौ हरिः ॥ १२ ॥

भिर इसी लाड़ प्यार के ही मध्य उस बालक के मुख कमल में विष से लिपटे .हुऐ स्तन को दे दिया। भगवान हरिने भी उस पूतना के प्राणों को अन्तः करण से खींचकर पी लिया।। १२।। सार्द्धयोजनविस्तारो देहस्तस्या महीतले। पपात पातध्वनिना कम्पयन् व्रजमण्डलम् ॥ १३॥

ड़ेढ़ योजन लम्बा उसका शरीर बड़ी तेज आवाज के साथ सम्पूर्ण ब्रजमण्डल को कैंपाते हुए पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १३॥

> स्तन्यं हालाहलमयं हरये परमात्मने । दत्वापि सद्गति प्राप्ता किं पुनः साधुकारिणः ॥ १४ ॥

परमात्मा हरि को हालाहल से युक्त स्तन पिलाने वाली उस पूतना को भी सद्गति प्राप्त हुई तब फिर साधुजनों को सद्गति में क्या सन्देह है ॥ १४॥

पार्वत्युवाच--

विज्ञस्थाः शिशवो ये च तया व्यापादिता इति । पूतनायां स्थितान् सर्वान् तत्त्राणैरपिबद्धरिः ॥ १५ ॥ इति यद्भवता प्रोक्तं के तेऽत्र शिशवः प्रभो ।

मां जगदम्बा पार्वती ने कहा-

ब्रज के अन्य जिन वालकों की उसने हत्या की थी, पूतना में स्थित उन सभी को उसके प्राणों के द्वारा श्री हरि ने पी लिया ।। १५ ।।

ये जो आपने कहा, हे प्रभां! वे शिशुकौन थे।

शिव उवाच-

एकदा ब्रह्मणः सत्रे देवगन्धर्वपन्तगाः ॥ १६॥ सिद्धा विद्याधराः सर्वे समाज्ञम् महर्षयः । आदित्या वसवो रुद्रा मरुतः पितरस्तथा ॥ १७॥ अग्नयो वायवश्चान्ये तेषामासीन्महासद्यः। जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १८॥

शिव ने कहा ---

एक बार ब्रह्मा के यज्ञ में देव, गन्धर्व, पन्नग, सिद्ध, विद्याधर और सभी महर्षिगण आये थे।

१२ आदित्य, अष्टवस्तु, ग्यारह रुद्र और (४९) मरुद्दगण तथा पितर लोग वहाँ उपस्थित हुए । अग्नि, वायु एवं अन्य बहुत से देव यज्ञ में महासभासद थे । वहाँ गन्धर्वों के स्वामियों ने गान किया तथा अप्सराओं ने नृत्य किया ॥ १६-१८ ॥

अप्सरोदर्शनक्षुब्धस्मरग्रस्तोन्यथा मतिः। न शशाक मनो थन्तुं यतन्निप पितामहः॥ १९॥ अप्सराओं के दर्शन से शुब्ध हुए तथा कामदेव से प्रस्त हुए पितामह ब्रह्मा की बुद्धि विकृत हो अन्यथा हो गई और वे अपनी काम बासना को रोकने पर भी नहीं रोक सके ॥ १९ ॥

चस्कन्द रेतस्तस्याशु तपो विद्यामयं महत्। अज्ञात्वा तस्य संस्थानं कुण्डाग्नावजुहोत्प्रभुः ॥ २०॥

उनका तप एवं विद्यासय महान् वीर्य शीघ्र ही स्खलित होने लगा जिसे उन्होंने उसके संस्थान को न जानकर एक कुण्ड की अग्नि में यजन कर दिया ॥ २०॥

> अग्निमध्यात्समुद्भूताः कुमारा विह्नितेजसः । बद्धाञ्जलिशुटाः सर्वे प्रणेमुस्ते पितामहम् ॥ २१ ॥

अग्नि के तेज से अग्नि के मध्य से ही अग्नि कुमारों का प्रादुर्भाव हुआ। उन कुमारों ने पितामह ब्रह्मा की बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम किया ॥ २१ ॥

> ब्रह्मन् पितासि नः कामं वयं ते तनयाः प्रभो । उत्पादिताश्च भवता किकुर्मस्तदुदीर्यताम् ॥ २२॥

उन्होंने उनसे कहा —हे ब्रह्मन् ! आप हमारे पिता हैं। हे प्रभु ! हम आपके कामज पुत्र हैं। आपने हमें उत्पन्न किया है। अतः कहिए कि मैं आपकी नया सेवा करूँ ?।। २२।।

बह्योवाच-

अग्नी क्षिप्तं मया रेतस्तपोविद्यामयं गुभम्। तत्र जाता भवन्तो हि तस्मादग्निकुमारकाः॥ २३॥

ब्रह्मा ने कहा--

तप एवं विद्यामय शुभ वीर्यं से जो मेरे द्वारा अग्नि में आहुति दी गई थी उससे उत्पन्न हुए आप सब अग्निकुमार कहे जाएँगे॥ २३॥

> दण्डकारण्यमासाद्य तपश्चरत पुत्रकाः। इत्युक्ता ब्रह्मणा सर्वे दण्डकारण्यमाश्रिताः॥ २४॥

अतः हे पुत्रों ! आप सब दण्डकारण्य जाकर तपस्या कीजिए । ब्रह्मा के द्वारा आदेश प्राप्त होने पर उन सभी अग्निकुमारों ने दण्डकारण्य की यात्रा की ॥ २४॥

> तपः कुर्वन्तो यत्नेन ब्रह्मणोद्ेशयन्त्रिताः। ततः कतिपये काले रामो दाशरिथः स्वयम् ॥ २५॥

फिर ब्रह्मा के उद्देश्य से नियन्त्रित उन लोगों ने वहाँ तपस्या की । कुछ काल के अनन्तर (त्रेता युग में) दशरथ के पुत्र राम स्वयं वहाँ पहुँचे ॥ २५ ॥ रावणं समरे हत्वा राज्यं कृत्वा बिभीषणे। विमानं वरमारूढो दण्डकारण्यमाश्रितः॥ २६॥

युद्ध में रावण को मारकर और विभीषण को राजा बनाकर वे विमान पर दण्डकारण्य पहुँचे ॥ २६ ॥

> तत्रागस्त्याश्रमं रामो गत्वा चक्रे भिवादनम् । मुनिः सभ्भावयामास कन्देर्मूलफलादिभिः ॥ २७ ॥ रामस्य दर्शनं चक्रमुंनयोपि धृतव्रताः । उवास रामः कतिचिद्दिनानि मुनिसत्कृतः ॥ २८ ॥

दण्डकारण्य में वहाँ अगत्स्य के आश्रम पर जाकर राम ने उनका अभिवादन किया। अगत्स्य मुनि ने भी कन्दमूल एवं नाना प्रकार के फलों से उनका सत्कार किया। व्रतधारी उन मुनियों ने भी वहाँ पर हाम का दर्शन किया। उन मुनियों से सत्कृत होकर राम भी वहाँ कुछ दिनों तक रहे॥ २७-२८॥

> एकदा जनकी दृष्टुं मुनीनामाश्रमान् शुभान्। जगाम मुनिपत्नीनां सौहार्देनापि सुन्दरि ॥ २९॥

हे मुन्दरि ! एक बाद मुनियों के शुभ आश्रमों पर माता जानकी उनके दर्शन के लिए मुनिपितनयों के पास अत्यन्त सीहार्द से गई ॥ २९ ॥

चक्रे रामकथाः पुण्याः रावणस्य वधं प्रति । सत्कृता मुनिपत्नीभिः मुनिभिः साधुभिस्तथा ॥ ३०॥

वहाँ रावण के वध को पुण्य रामकथा हुई। वहाँ जानकी मुनिपत्नियों द्वारा और मुनियों तथा साधु-सज्जनों द्वारा सत्कृत हुई ॥ ३० ॥

निवृत्ता जानकी तत्र जगामाग्निकुमारकान्। द्रष्टुं तपस्यतः पूर्णान् मुनिकन्यासमावृता।। ३१।।

वहाँ से निवृत्त होकर जानकी अग्निकुमारों के पास गई। तपश्चर्या से पूर्ण हुए अग्निकुमारों को देखने के लिए जब वह वहाँ पहुँची तब मुनि-कन्याओं द्वारा घेर ली गई।। ३१।।

जानकी तान्तमस्कृत्य कुमाराननलप्रभान्। निषसाद क्षणं तत्र वनशोभाहितेक्षणा। ३२।।

जानकी उन अग्निसदश तेज वाले कुमारों को नमस्कार करके वहाँ की वन-शोभा को देखने की इच्छा से कुछ क्षण वहीं बैठ गईं॥ ३२॥

ते विनित्रेण देवेन प्रोथमाणाः कुमारकाः। अमर्षजननं वाक्यमञ्जलहेलनाः ॥ ३३॥ अहो सीते प्रभृः साक्षादीश्वरो जगतां पतिः । वेदरक्षाविद्यानार्थमवतीर्णो महीतले ।। ३४॥

उन कुमारों ने विचित्र दैव की गित से प्रेरित होकर उनका निरादर करते हुए असहनशीलता से भरे वाक्यों को कहा। ओह सीते ! प्रभु साक्षात् ईश्वर है और जगत् के स्वामी हैं। वे प्रभु पृथ्वो पर वेद की रक्षा के लिए ही अवतीण होते हैं॥ ३३-३४॥

न यस्य स्वपरो वापि न द्वेष्यः प्रिय एव च । सत्यसन्धः क्षमी शूरो रामः कमललोचनः । ३५॥ जटीवल्कलसंवीतो मोहमग्नो वने वने। भ्रान्तश्चचार निर्विण्णः पृच्छमानो वनस्पतीन् ।। ३६॥

जिनका कोई अपना नहीं हैं, कोई द्वेषी नहीं है और नहीं कोई प्रिय है। वह सत्य परायण, क्षमावान, शूरवार एवं कमजलोचन राम जटा घारण किए हुए वल्कल प्नकर तथा मोहासक्त होकर वन-वन आन्त होकर घूमते रहे। निर्विण्ण चित्त हो बंनस्पतियों से आपको ही पूँछते हुए भटकते रहे।। ३५-३६।।

इयं कान्तेति वै मत्वा मोहविश्वशिताशय। । क्विचित्पल्लिविनीं हृद्यां लतामालिग्य निर्वृतः ॥ ३७ ॥ निवारितो लक्ष्मणेन नेयं कान्तेति जल्पता । दधाराम्भोनिधौ सेतुं सख्यं कृत्वा च वानरैः ॥ ३८ ॥ त्विनिमित्तमिदं सीते प्रभोरिप विष्ठम्बनम् । तस्मात्स्त्रयः पापख्पा दोषं किन्लयाः सदा ॥ ३९ ॥

'यह मेरी प्रिया है'—ऐसा समझकर मोह से भ्रमित हुए वे कभी-कभी पल्लिबनी एवं हुइ लता का आलिङ्गन करने लगते थे। तब लक्ष्मण के द्वारा वे यह कहकर हटाए जाते थे कि यह कान्ता नहीं है। उन्होंने ही बानरों से मित्रता कर समुद्र पर पुल बाँघा। हे सीते! आपके लिए ही यह प्रभु की विडम्बना है। इसलिए स्त्रियाँ पापक्ष्पा तथा सदैव दोषों का खजाना हैं।। ३७-३९।।

> न धार्या सुखिमच्छिद्भः कदाचित् क्वापि पण्डितैः। इत्येवं वचनं तेषां श्रुत्वा दाशरथेः प्रिया॥ ४०॥

किसी भी पण्डित जन को, जो सुख चाहते हैं, कभी भी स्त्रियों को साथ नहीं रखना चाहिए। दाशरिय राम की प्रिया सोता उनके इस प्रकार के वचनों को सुनकर खिन्न हो गई।। ४०।। च्क्रोध रक्तनयना शापं दातुं मनोदधे। ऐसा सुनकर लाल-लाल नेत्रों वालो जानकी अत्यन्त क्रोघित हुई और शाप देने को उद्यत हुई। सीतोवाच—

मिनन्दायाः फलं शीझमवाष्स्यथ कुमारकाः । ४१ ॥ सीता ने कहा – हे अग्निकुमारों ! आप लोग शीझ ही मेरी निन्दा का फल प्राप्त करोगे ॥ ४१॥ द्विद्याविदीर्णदेहाश्च यूर्य पण्डितमानिनः ।

पतन्तु भूतले सर्वे सर्वे स्वात्मकृतं भूजः ॥ ४२ ॥ हे मानी पण्डित कुमारो ! आप सभी का शरीर टूटकर द्विधा विभक्त हो जाय और आप सभी भूतल पर गिर जाइए और सभी की भुजा स्वात्मकृत हो जाय ॥ ४२ ॥

> इत्युक्ते सीतया तूर्णं द्विधाभूतकलेवराः। शिशवः पेतुरुव्यन्ति मुनिपत्न्यो विसिस्मिरे॥४३॥

सीता के इस प्रकार कहने पर शीघ्र ही उनके शरीर द्विघा विभक्त हो गए। और पृथिवी पर वे शिशु गिर पड़े। यह देखकर मुनिपत्नियों को महान् विस्मय हुआ।। ४३।।

हाहाकारो महानासीन्मुनीनां तत्र शृण्वताम्। एवं शप्तवा कुमारांस्तान् ययौ सीतानिकेतनम्।। ४४॥ वहाँ पर जब मुनियों ने एसा सुना तो महान् हाहाकार मच गया। इस प्रकार से शापग्रस्त कुमार उन सीता के आवास पर गए॥ ४४॥

रामः श्रुत्वाथ तां वात्तीमित्रयां दुर्मना भृशस् । निनिन्द सीतां मनसा किमेतद्दुर्विनीतया ।। ४५ ।।

राम ने जब उनको इस अप्रिय वार्ता को सुना तब वे भी अत्यन्त दुःश्वी हुए और मन ही मन सीता की निन्दा की कि इन्होंने यह दुर्नीति की बात क्यों कर दी ॥४५॥

अविचारितमेवेह कृतं नष्टविमर्षयाः

अहो मूढिधियो दुष्टाः स्त्रियो दारुणचेतसः । ४६ ॥ क्रोध के कारण अष्ट बुद्धि से बिना बिचारे हो ऐसा इन्होंने कर दिया। ओह स्त्रियाँ दुष्ट तथा मूर्ख बुद्धि वाली तथा कठोर चित्त की होती हैं ॥ ४६ ॥

श्रीयसां परिपन्थिन्यो मायेयं दैवनिमिता

ससारान्मुक्तिकामानां याः स्वयं निगडोपमाः ।। ४७ ।। यह दैव निर्मित माया हैं जो कल्याण के मार्ग में बाधक हैं । संसार से मुक्ति की कामना बाले साघु जनों के लिए जो स्वयं बेड़ी के समान हैं ।। ४७ ।। महामोहस्य मञ्जूषा स्वार्थायानर्थतत्पराः। क्रोधलोभानृतिधयो न विश्वस्ताः कदाचन ॥ ४८ ॥

ये स्त्रियाँ महान मोह की पिटारी हैं। ये सदैव अपने स्वार्थ में तत्पर रहती हैं। अतः क्रोध लोभ तथा असत्य बुद्धि वाली स्त्रियाँ कभी भी विश्वास के योग्य नहीं होती ॥ ४८॥

न च ता विद्वसेत्क्वापि विद्वस्तान् घ्नन्त्यसंशयम् । सन्पार्थे बह्वनथेषु प्रवत्तन्ते दुराशयाः ॥ ४९ ॥

उन पर कभी भी साधक विश्वास न करे। यदि कभी विश्वास करता है तो वे निष्चय ही मार डालती हैं। ये दुष्ट बृद्धि स्त्रियाँ अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए बहुत अनर्थ में भी प्रवृत्त हो जाती हैं॥ ४९॥

विद्वान् स्त्रीवशं गच्छेद् वशं प्राप्तो विनश्यति ।
 इत्याकलय्य हृदये जानकीं प्राह स प्रभुः ।। ५० ।।

अतः विद्वान पुरुष को चाहिए कि कभी भी वह स्त्री के वश में न आवे। यदि वे उसके वशीभूत हो जाते हैं तो निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। यह सब हृदय में विचार कर प्रभु ने उन जानको से कहा ॥ ५०॥

राम उवाच-

किमेतत्साधुचरिते विनिन्दितमचीकरः। नास्माकमुचितं कर्मं यत्कुमारविहिसनम् ॥ ५९ ॥ तपोविद्याधृतधियो विनयाचारशालिनः। न चैते भापमहुन्ति यदि ध्नन्त्यपि सुन्दरि ॥ ५२ ॥

राम ने कहा-

हे सुन्दरि! कहाँ यह साधुओं का चरित और कहाँ यह आप द्वारा किया गया विनिन्दित कार्य? यह हम लोगों के लिए उचित नहीं है कि इन अग्नि कुमारों की हिंसा की जाय। तप एवं विद्या की बुद्धि वाले विनय एवं आचार से युक्त साधुजन यदि हनन करें तो भी ये शाप के योग्य नहीं हैं।। ५१-५२॥

यथार्थवादिनां पुसां श्रुत्वा वाचो यथार्थकाः। कुप्यन्ति ये मूढिधियो न तेषां निष्कृतिः क्वचित् ॥ ५३ ॥ यथार्थवादी जनों के यथार्थं वचनों को सुनकर जो मूर्ख जन क्रोधित होते हैं उनकी निष्कृति कहीं भी नहीं होती ॥ ५३ ॥

सीते यथार्थमुक्त तैर्मामुद्दिश्य दयालुभिः। तेष्वमर्षः कथ जात ईदृशोनथेदर्शनः॥ ५४॥ हे सीते! उन दयालु साधुओं द्वारा मेरे उद्देश्य से यथार्थ बात कही गई है। अतः इस प्रकार का अनर्थकारी क्रोध उन पर कैसे हुआ ? ॥ ५४ ॥
यदि स्वल्पोपराझोऽपि तस्मिन् दण्डो महान् घृतः ।
न चैतदुचितं चण्डि क्षत्रियाणां दयावताम् ॥ ५५ ॥
यदि जनका शोडा अगुरस्य कै स्वी

यदि उनका थोड़ा अपराध है भी, तो आपने महान् दण्ड उन्हें दे दिया है। अतः हे चण्डि! हम दयालु क्षत्रियों के लिए यह (शाप देना) उचित नहीं है।। ५५।।

> वनचराणामस्माकं मुन्याश्रमवासिनाम् । साध्वीत्थमुक्ता रामेण लज्जया नम्रक्रन्धरा ॥ ५६ ॥ बद्धहस्ताञ्जलिः प्राह भर्तृ वाक्यविबोधिता ।

ये हमारे वनेचर तथा आश्रमवासी मुिन हैं। ये साधु हैं - ऐसा राम के कहने पर कन्ये को झुकाए हुए लज्जा से तम्र जानकी अपने पित के समझाने से प्रबुद्ध होकर हाथ जोड़कर बोलीं।।

सीतोवाच--

अपराधो महान् देव कृतो मे नात्र संशयः ॥ ५७ ॥ अदण्डेष्वप्यपापेषु यन्मया ह्याद्यमः कृतः । अपि मे दुर्नयं देव क्षमस्य त्वं दयानिधे ॥ ५८ ॥ तेष्वनग्रहमाधस्त्व साधुष्वपि तपस्विषु ।

सीता ने कहा-

हे देव ! नि:सन्देह हमने महान् अपराघ किया है। जो साधु दण्ड के योग्य नहीं हैं और जो पापात्मा नहीं हैं उन्हीं को हमने दण्ड देना चाहा। अतः हे देव ! नि:सन्देह यह मेरा अपराध है, हे दयानिधि ! आप हमें क्षमा कर हें और उन साधु तपस्वियों पर अनुग्रह करें।। ५६-५९।।

राम खवाच-

न करिष्याम्यहं भद्रे कुमाराणामनुग्रहस् ॥ ५९ ॥ मया त्वनुग्रहीतानां मुक्तिः स्याज्जलवज्जले । वेदवेदान्तमङ्कीतः परमात्मा परः प्रभुः । करोत्वनुग्रहं तेषामनुभूतिर्यया भवेत् ॥ ६० ॥

राम ने कहा—

हे कल्याण करने वाली ! हम कुमारों पर अनुग्रह नहीं करेंगे । क्योंकि मेरे अनुग्रह से तो ये उसी प्रकार मुक्त होकर सायुज्य को प्राप्त करेंगे जैसे जल में जल मिल जाता है । अतः वेद-वेदान्त एवं संगीत रूप परमात्मा परात्पर प्रभु इस पर

१. 'यन्मन्योरुर्दमः क्षतः' इति मूल पाठः ।

ऐसा अनुग्रह करें कि इन्हें मुक्ति के समान अनुभूति हो जाय ॥ ५९-६० ॥

तस्मादिमे लिङ्गदेहमात्रशेषाः सुलोचने । मयि स्थास्यन्ति सततं काळाविभविहेतवे । ६९ ॥

इसलिए, हे सुन्दर नेत्रों वाली ! अब इनका मात्र लिङ्ग धरीर ही शेष रह जायेगा। अतः ये मेरे में समय पर अविभूँत होने के लिए सदैव स्थित रहेंगे।। ६१॥

रामे च भगवत्येते विलीनास्ते ततः परम्।
वसुदेवगृहे साक्षादवतीर्णे हरौ स्वयम् । ६२ ॥
तेवतीर्णा वजभवि तद्देहस्थाः कुमारका ।
पूतनायां स्थिताः सर्वे तया व्यापादिता इति ॥ ६३ ॥
तत्प्राणरपिबद् बालान् दक्षिणांगव्यवस्थितान् ।
वामांगभूताः सकलाः गौडदेशेऽभवन् स्त्रियः । ६४ ॥
कुमारीरानयामास परचक्रं जिघांसता ।
निरुद्धा राजधर्मेण नन्दस्तद्देशमागतः ॥ ६५ ॥

इतना ही कहने पर भगवान राम में वे विलीन हो गए। वसुदेव के गृह में आज वहीं हिर स्वयं जब अवतीर्ण हुए तब कुमार भी जो उनके ही देह में विलीन हो गये थे, वज भूमि पर प्रगट हो गए। पूतना में स्थित वे सभी उसके द्वारा मार डाले गए हैं और उन्हीं बालकों के प्राणों को उन्होंने पी लिया जो दक्षिशा क्ल में स्थित थे और वामाक्लभूत सभा क्लियां गौड़ देश में पैदा हुई। दुसरों को मारने की इच्छा से वे ही कुमारो लाई गई हैं। राजधर्म के द्वारा नन्द ने अपने देश में उन्हें रोक लिया।। ६२-६५।।

इति ते कथित देवि यत्रृष्टोऽहं सुलोचने। समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ६६॥

इस प्रकार हे देवि ! जो आपने पूछा, उसे हमने जापसे कहा । अब हे सुन्दर नेत्रों वाली महेश की शक्ति ! आप और क्या सुनना चाहती हैं ? ।। ६६ ॥

। इति श्रोमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे दशमं पटलम् ॥ ८ ॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के दशवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्णं हुई ॥ ८॥

अथ एकादशं पटलम्

श्री शिव उवाच

हत्वाथ पूतनाप्राणान् सहबालान् कृपानिधिः । शकटं पातयामास पादपल्लवलीलया ॥ १ ॥

भगवान शङ्कर ने कहा —

इसके बाद पूतना के प्राणों का हरण करके बाल-गोपालों के साथ कृपानिघ भगवान कृष्ण ने गाड़ी को पैर से पत्ता हटाने के समान लीलापूर्वक गिरा किया ॥ १॥

तृणावर्त्तमथाकाशे हरन्तमहनद्धरिः।
स्तनं पीत्वा यशोदायं जूम्भमाणस्तु केवलन्।। २।।
मुखे प्रदर्शयामास भुवनानि चतुर्दश।
बाललीलाविनोदेन मृदमश्तन् कृपानिधिः।
अकल्पयद्देहयोगं कुमाराणामलौकिकम्।। ३।।
नाश्नाति मृदमानन्दो दिधदुग्धान्यिप स्वयम्।
पुष्टचर्यं च कुमाराणामकरोत्सकलं प्रभुः।। ४।।

आकाश में तृणावर्त नामक दैत्य को ले जाकर भगवान हिए ने मार डाला। स्तन पीकर मात्र जम्हाई लेते हुए ही मुख में माता यशोदा को चौदहों भुवनों का दर्शन करा दिया। ऋपानिधि भगवान ऋष्ण ने बालोचित लीला द्वारा खेल-खेल में ही मिट्टी खाते हुए कुमारों के अलौकिक देहयोग को कर दिया। उन्होंने आनन्द से मिट्टी ही नहीं खाई किन्तु दही दूध आदि भी स्वयं खाया। वस्तुतः उन प्रभु ने यह सब कुछ कुमारों को पुष्टि के लिए ही किया।। २-४॥

त्रजस्था गोपिकाः सर्वाः कृष्णलीलाहृताशयाः । विलोभयन्त्यः श्रींकृष्णं दास्ये दुग्धं दधीन्यपि ॥ ५ ॥ मृदूनि नवनीतानीत्युक्त्वा निन्युगृं हान् स्वकान् । ततोष्येकान्त आहूय दत्वा दिधमधूनि च ॥ ६ ॥

कृष्ण की जीलाओं से हतिचत्त वाली वज में रहने वाली सभी गोपियाँ दूध और दहीं भी कृष्ण को देने के लिए प्रलोभन देती हैं कि 'यह बड़ा ही मृदु मक्खन है' ऐसा कहकर अपने अपने घरों पर लालच देकर उन्हें ले गई'। इसके बाद भी एकान्त में बुलाकर दही और मधु देकर कृष्ण का आलिङ्गन किया ॥ ५-६॥

कृष्णमालिङ्गयामासुष्चुच्म्बुर्मुखपङ्कजम् । बालोभूत्वापि लोकस्य यशोदानन्दयोरपि ॥ ७ ॥

अौर उनके मुख कमल का चुम्बन किया। वालक होकर भी सम्पूर्ण संसार के अौर यशोदा एवं नन्द दोनों के | आनन्द का वे वर्धन करते थे | 11 ७ 11

> बालिङ्गचत्यालिग्यमानः प्रतिचुम्बति चुम्बितः । गोपिकाहृदयानन्दं वर्धयन् रतिचेष्टितैः ॥ ८ ॥ रतिज्ञमिव तं मत्वा गोपिका रतिचेष्टयाः । कुतृहलिनमग्नास्ता न वक्तुं शेकुरुत्सुकाः ॥ ९ ॥

उन्हें वे उसालिङ्गन करते थे और आलिङ्गित किए जाकर प्रतिचुम्बन से चुम्बित होते थे। अनेक प्रकार की रित चेष्टाओं से गोपिकाओं के हृदय का आनन्द बढ़ाते हुए रितिज्ञ के समान उन्हें जानकर वे गोपिकाए रितिचेष्टा से कुतूहल में निमग्न हुई उत्सुक हुई भी कुछ न कह सकी।। ६-९॥

अन्यापि गृहमानीय खाद्यपानैरतोषयत्। भूषियत्वाजनाकल्पेरङ्गरागैः सुगन्धिभिः।। १०॥ शुभासने समारोप्य दत्त्वा ताम्बूलवीटिकाम्। इहैव बालकैरेतेः परिक्रीडस्व निभैयः॥ १९॥

इसी प्रकार धूसरी गोपियाँ भी अपने घर पर उन्हें लाकर, खान-पान से उन्हें सन्तुष्ट किया। उन्हें आंख में आं जन लगाकर और सुगन्चित द्रव्यों एवं अङ्गरागों आदिसे सजाकर, सुन्दर आसन पर वैठाकर और पान का बीड़ा देकर कहती थीं कि 'यहीं पर इन बालकों के साथ निर्भय खेलो ॥ ११॥'

> मान्यत्र गच्छ ते माता ज्ञापिता ताडयिष्यति । इत्याहुर्गोपिकाः काश्चित्त्रेमबद्धा वजार्भके ॥ १२ ॥

'दूसरे जगह न जाना । नहीं तो यदि तुम्हारी मां जान जाएगी तो पीटेगी'-इस प्रकार कोई प्रेम में आबद्ध गोपिका ने उन व्रज के छोटे बालक से कहा ॥ १२ ॥

> व्रजेश्वरसृतं नीत्वा गृहमूचुः पराः स्त्रियः। यदि नृत्यति सत्कृष्ण भवान् दास्ये मनोरथम् ॥ १३ ॥

अन्य स्त्रियां व्रजराज के सुत भगवान् कृष्ण को अपने घर पर लाकर कहती हैं कि यदि हे कृष्ण आप नृत्य करें तो मैं आपको मनोवाञ्चित वस्तु दूँगी ॥ १३॥

> इत्युक्तो नृत्यति स्मासौ रभसा वै मुद्दान्वितः । हरन् कटाक्षमालाभिभीवपूर्णाभिरावृतः ॥ १४ ॥

वत्रे नृत्यविधानार्थं कामं देहि प्रतिश्रुतम् । कस्ते कामस्तयोक्तेसौ वत्रे कृष्णः स्ववांछितम् ॥ १५ ॥ त्वदीयहृदये भाति कन्दुकद्वयमुत्तमम् । देह्योतद्रमणार्थाय सित्रैः गोपसुतैः सह ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर वह बड़े ही बानन्द के साथ शीघ्र ही नाचने लगते हैं। नेत्रों के कटाक्ष की श्रृङ्खलाओं और भावभिङ्गमाओं से युक्त होकर उन्होंने उनके चित्तों का हरण करते हुए नृत्य विधान के लिए वर मांगा। तब कृष्ण कहते हैं कि मुझे मेरी मनोवाञ्च्छित वस्तु दो, जो आपने कहा था। स्त्रियाँ कहती हैं कि 'आपकी मनोवाञ्च्छत वस्तु क्या है ?' उनके ऐसा कहने पर कृष्ण अपनी वाञ्चित वस्तु का वरण करते हुए 'यह है' ऐसा कहते हैं—आपके हृदय में ये दो सुन्दर गेंद जो सुशोभित हो रहे हैं इन्हें ही हमें अपने मित्रों गोपसुतों के साथ खेलने के लिए दे दीजिए ॥ १६ ॥

जहास गोपीक्वष्णस्य वाक्यश्रवणहर्षिता । वृषभानोः सुता देवि राधिकानामविश्रृता ।। १७ ।।

बालक कृष्ण के इस प्रकार वाक्य को सुनकर अत्यन्त हर्षित होकर गोपिया बड़ी जोर से हँस पड़ी। हे देवि वस्तुतः वह गोपी राजा वृषभानु की कन्या राधिका' के नाम से प्रसिद्ध हैं।। १७॥

स्वामिनी वासना जाता श्रीकृष्णप्रेमिवह्वला।
द्वादशैवसहस्राणि याः सख्यः परिकीत्तिताः। १८॥
तदंगभूतास्ताःसर्वाः वस्तुभेदो न किचन।
स्वामिन्यातमा भवेत्कृष्णः कृष्णात्मा स्वामिनी हि सा॥ १९॥
न तयोविद्यते भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।
रसात्मक रसभोक्तृ परं ब्रह्म श्रतीरितम॥ २०॥

श्रीकृष्ण के प्रेम में अत्यन्त विह्नल होकर उन्होंने अपने को उनकी स्वामिनी बनना 'चाहा। बारह हजार सिखयों से बिरी हुई जो उनको ही अङ्गभूत जान पड़ती थीं। उनमें लेशमात्र भी वस्तुभेद नहीं दिखता था। कृष्ण ने अपनी आत्मा में उन्हें स्वामिनी बनाया और वह कृष्ण की आत्मा होने से उनकी स्वामिनी हो गई। उन दोनों में कोई भेद नहीं था। जैसे चन्द्र की चांदनी में और चन्द्र में कोई भेद नहीं मालूम होता। श्रुति में कहा है कि 'परब्रह्म ही रसात्मक है और वह रस का भोक्ता है'।। २०।।

रसः शृगार एवोक्तो रसशास्त्रविशारदैः।
संयोगो विप्रलम्भश्च शृंगारो द्विविद्यो मतः॥ २९॥
'संयुक्तयोश्च संयोगो विप्रलंभो वियुक्तयोः।
रसित्यतया जातो वियोगस्तद्दलात्मकः॥ २२॥
रसस्वभाव एवायं यत्सयोगवियोगवान्।
अन्यथा ह्यक्षरे कस्माद्दिद्क्षा जायते तथा॥ २३॥
कथं प्रियाणां च तथा रसस्तस्माद्धि ताद्द्शः।
सिच्चदानन्दकं ब्रह्म यदुक्त श्रुतिमौलिभिः॥ २४॥

रसशास्त्र के पण्डितों ने इसे ही 'श्रृङ्गार रस' कहा है। वह श्रृङ्गार संयोग और विप्रलम्भ रूप से दो प्रकार का होता है। संयोग श्रुङ्गार वह है—जिसमें नायक नायिका संयुक्त हों और विप्रलम्भ श्रृङ्गार वह है—जिसमें नायक-नायिका वियुक्त हों। रस की नित्यता के कारण वियोग भी उसी श्रुङ्गार की कोटि का ही है। यह रस का स्वभाव ही है कि यह संयोग और वियोग से युक्त होता है। अन्यया अक्षर रूप परब्रह्म में कैसे हब्टा बनने की इच्छा जागृत होए। कैसे प्रियाओं में वैसा रस हो और वैसा उनसे कैसे प्राप्त हो। यह इसलिए है कि श्रुतिशास्त्र के शिरोमणियों ने जो यह कहा है कि 'ब्रह्म सन्-चित् और आनन्द स्वरूप है' वह इसलिए कि——॥ २४॥

चिदानन्दी तु कूटस्थे पुरुषोत्तमे एव च। उभाविष भवेद्ब्रह्म ब्रह्मभेदैविविजितम्॥ २५॥

कूटस्थ (अविचल, इच्छारहित) पुरुषोत्तम में ही चित् और आनन्द हैं । दोनों ही ब्रह्म के भेदों से रहित होकर ब्रह्म ही होते हैं ॥ २५ ॥

> सजातीयविजातीयस्वगतैश्च सुलोचने । बह्मत्वे ह्यक्षरस्यापि आनन्दो द्विदलात्मकः ॥ २६ ॥

हे सुन्दर नेत्रों वाली ! स्वगत सजातीय और विजातीय भेद से आनन्द अक्षर रूप ब्रह्मत्व में दो दल होता है ॥ २६॥

सदंशबीजमूला च प्रकृतिह्यं क्षरात्मगा।
न तस्माद्रसलीलायाः स्थितिः कृटस्य ईश्वरे।
प्रकृतेश्च परत्वाच्च निर्गुणत्वान्महेश्वरि।। २७॥
उत्तमे पुरुषे पूर्णे ह्यानन्दात्मनि केवले।
छीला रसमयी रम्याः प्रतिक्षणनवा स्थिता।। २८॥

१. द्र० पृ० चतुर्विंशपटलम्, ११-१२।

9. सत्-अंशबीजमूल और २. अक्षरात्मक प्रकृति । इसीलिए रस लीला की स्थिति उस कूटस्थ ईश्वर में नहीं होती । हे महेश्वरि ! प्रकृति के पर होने से और निर्णुण होने के कारण उत्तम एवं पूर्ण व आनन्दात्मक केवल पुरुष में रसमयी और रमणीय तथा प्रतिक्षण नवीन होने वाली लीला स्थित होती है ॥ २७-२८ ॥

दिदृक्षितान्तःकरणवृत्तिः स्यादक्षरस्य या।
पुरुषोत्तमावेशती जाता नन्दगृहे तु सा॥ २९॥
उस अक्षर परब्रह्म की जो देखने की इच्छा वाली अन्तःकरण की वृत्ति थी वह पुरुषोत्तम नन्द के घर में आवेशवान हुई ॥ २९॥

गुणलीलादिदृक्षायुक्वासनास्तित्त्रयासु याः । ता एव व्रजसुन्दर्यस्ताभिः संक्रीडते रसः ॥ ३०॥

सगुण की लीला को देखने की इच्छा से युक्त उनकी प्रिया में जो वासना थी वहीं वज सुन्दरियों के साथ सम्यक् रूप से क्रीडा में रस लेने लगी ॥ ३०॥

स्वामिनीवासना राघा स्वयं वृत्दावनेश्वरी । लवमात्रकालावच्छिन्नो विरहोऽभूद्रसात्मकः ॥ ३९ ॥

स्वामिनी बनने को वासना वाली राघा स्वयं वृत्दावन की ईश्वरी, लबमात्र काल से युक्त विरहरस (चित्रलम्भ) को प्राप्त हुई।। ३१।।

> निलनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्मसूच्याभिवेधने । दले दले च यः कालः स कालो लववाचकः ॥ ३२॥

एक कमल की पखुड़ियों की संहति को बारीक सुई से यदि वेधा जाय तो एक-एक दल में सुई जाने से जो काल होगा वह काल 'लव' कहलाता है ॥ ३२॥

अत्रापि संयोगिवयोगभावैः क्रीडित वे हरिः। कृष्णो राधास्वरूपेण विरहाक्रान्तचेतनः। ३३।।

यहाँ पर भी हरि संयोग एव वियोगस्य भावों से क्रीडा करते हैं। वह ऋष्ण ही हैं जो राघा स्वरूप से विरह से आक्रान्त चित्त होते हैं।। ३३।।

कथं सा संगता मे स्यादिति चितापरोऽभवत्। तत्सखोकृतमेत्रस्तु तत्कथाः कुरुतेऽनिशस्।। ३४।। इसी चिन्ता में वे रहते हैं कि वह कब मुझे मिल जाँय। उनकी सखी से, जिन्होंके मित्रता की है उन्ही की, सदैव कथा किया करते हैं।। ३४।।

> नित्यं स्वरूपस्तवनेर्गतिहासनिरूपणैः। वस्त्रमद्यतनं हद्य तव सख्याः परिष्कृतम्।। ३५॥

इत्यावेदितहादिस्ताः सख्यः प्राहुश्च राधिकाम् । राघ्वे नन्दसुतः सोऽयं सुन्दरः प्रतिभाति मे ॥ ३६ ॥

नित्य ही स्वरूप से; स्तवनों से और उनकी गति एवं हास आदि के निरूपणों से वे इस प्रकार कहते कि 'तुम्हारी सखी के द्वारा आज का पहना हुआ वस्त्र अत्यन्त हृदयाकर्षक है' इस प्रकार की हृद्य बात उनकी सखियाँ राधिका से कहती हैं। वे कहती हैं कि 'हे राधे! वही यह नन्द के पुत्र हैं जो मुझे सुन्दर लगते हैं'।। ३५-३६॥

तव रूपानुरूपोऽयं चतुरो व्रजबन्लभः। नित्यं च त्वत्कथालापः त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः सदा। त्वामेव ध्यायते चित्ते सङ्गमस्ते यथा भवेत्॥ ३७॥

तुम्हारे रूप के अनुरूप यह चतुर व्रजवल्लभ नित्य ही आपकी कथा कहते हुए आप में ही प्राण [श्वास-प्रस्वास] और आप में ही सदा मन लगाकर आपका ही चित्त में घ्यान करते हुए जैसे सङ्गम होवे वैसो ही चेष्टा किया करते हैं।। ३७॥

राधोवाच---

कुत्र सङ्गितिरैतेन मम स्यात्सिख चिन्तय। अहमप्यस्य रूपेण सौन्दर्येण गुणेन च। मोहितास्मिक्षणं नैनं विस्मरामि कथचन।। ३८।।

राधा ने कहा — हं सिख ! तुम्हीं सींची कि कहाँ पर इनसे हमारी सङ्गति होने । क्योंकि मैं भी इनके रूप, सीन्दर्य और गुण से मीहित हो गई हूँ। मैं इन्हें किसी भी प्रकार विस्मृत नहीं कर पाती हूँ।। ३८।।

यशोदानन्दनं कृष्णं स्वप्ने पश्यामि सन्ततम् । क्रीडमानं सया सार्द्धं पिबन्तमधरासवस् ॥ ३९॥

मैं सदैव यशोदानन्दन श्रीकृष्ण को स्वष्न में देखती हूँ। वे मेरे साथ क्रीड़ा करते हुए और अधरामृत का पान करते हुए दिखाई पड़ते हैं।। ३९।।

> यस्मिन् दृष्टे ममांगेषु स्वेदरोमांचकंच्कम् । वेपथः स्वरभङ्गो वा जायते साम्प्रतं सिख ॥ ४० ॥

हे सिंख ! 'वहाँ स्वप्न में उन्हें देखकर मेरे अंगों में स्वेद (पसीना) तथा कंचुक में रोमांच हो गया और इस समय कम्पन अथवा स्वरभंग हो रहा है ॥ ४० ॥

> यत्सीन्दर्यरसाम्भोधी निमग्नं सिख मे मनः। न निवृत्तिमवाप्नोति विना तद्दर्शनं क्वचित्।। ४९॥

हे सिख ! मेरा मन जिस सौन्दर्यरस के समुद्र में निमन्त है, उनका कहीं न कहीं दर्शन बिना किए वह मन निवृत्ति को नहीं प्राप्त हो रहा है।। ४१॥ कृष्णमूर्ति प्रपश्यामि भ्रमान्निकटवर्तिनीम्। क्षणादन्तहितां दृष्ट्वा मदात्मा तप्यते भृशम् ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण की मूर्ति को मैं अपने आस-पास घूमती हुई देखती हूँ। क्षण भर के लिए भी यदि वह मूर्ति अन्तिहित हो जाती है तो उसे देखकर मेरी आत्मा अत्यन्त कष्ट प्राप्त करती है।। ४२।।

कि करोमि क्व गच्छामि कस्याग्ने कथयाम्यहम् । नय मां नन्दतनयं कृष्णं प्राणाधिकं मम ॥ ४३ ॥

क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके आगे अपनी गाथा कहूँ ? मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय नन्दतनय श्रीकृष्ण के पास मुझे छे चलो ॥ ४३ ॥

> विरहाग्निमहाज्वालावलीढा मे वपुर्लताः कृष्णाधरमुधापूरप्लाविता शान्तिमेष्यति ॥ ४४ ॥

मेरी शरीर रूपी लता विरह की अग्नि की महनीय ज्वाला के द्वारा झुलसा दी गई है जो श्रीकृष्ण के अधरामृत में भरपूर स्नान से ही शान्ति को शिक्ष करेगी ॥ ४४ ॥

तस्य मे सङ्गमोपायं विचारय निजे हृदि ।
गच्छ कृष्णागमे यत्नं कुष्ठ सङ्गितसद्मनि ॥ ४५ ॥
अतः अपने हृदय में उनसे मेरे सङ्गम का उपाय सोचो । जाओ और सकेतः
स्थल पर कृष्ण के आगमन के लिए यत्न करो ॥ ४५ ॥

इत्येवं राधया प्रोक्ता सखी प्राणपति ययौ ॥ ४६ ॥ ॥ इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे एकादशं पटलम् ॥ १०॥

इस प्रकार श्रोराधिका के द्वारा कही गई वह सखी प्राणपति भगवान श्रीकृष्णः के पास गई ॥ ४६॥

शा इस प्रकार श्रीनारदपाश्चरात्र आगमगत 'माहेश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के सवाद के ग्यारहवें पटल की डाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥

अथ द्वादशं पटलम्

शिव उवाच-

कृष्णस्तामागनां दृष्ट्वा हर्षाकुलितचेतसाम् । कार्यसिद्धिमिमां ज्ञात्वा हर्षांदुल्लसितेक्षणः ॥ १ ॥ पप्रच्छ तां सखीं प्रेम्णा किमुक्तं राधया सखि । तदिदानीं ममाचक्ष्व श्रुत्वा सन्तोषमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

भगवान शङ्कर ने कहा—

[कार्यसिद्धि के कारण] हर्षातिरेक में चित्त की आकुलता वाली उस सिख को अत्यन्त प्रसन्नता से उल्लिसित नेत्रों वाले कृष्ण ने देखकर 'यह तो कार्यसिद्धि ही है' ऐसा जानकर उस सिख से पूछा—हे सिख ! श्रीराधिका के द्वारा प्रेम से क्या कहा गया ? उसे हमसे कहो, जिसे सुनकर मैं संतोष पाऊँ ॥ १-२ ॥

> त्विय गतायां यावन्तः कालस्यावयवा ययुः। तावन्त्येव युगान्यासन् विरहाकुलितस्य मे ॥३॥

हे सिख ! तुम जब से गई हो तब से काल के जितने अवयव व्यतीत हुए हैं, विरह से व्यथित मेरे उतने ही युग मानों बीत गए॥ ३॥

सच्युवाच-

त्वत्सङ्गविरहात्कृष्ण राधापि क्लिश्यतेतराम् । न निवृत्तिमवाप्नोति विना ते दर्शनं क्वचित् ।। ४ ।।

सखि ने कहा-

हे कृष्ण ! आपके संगम के विरह से राधा भी अत्यन्त कष्ट पा रही हैं। आपके कहीं भी दर्शन के विना वह उस विरह से निवृत्त नहीं हो पा रही हैं॥ ४॥

> कृष्ण कृष्णेत्यमु मन्त्रं विरहाकुलया तया। जप्यतेऽहर्निश मन्यमानया निकटे मृतिम्।। ५।।

उन बिरह से व्यथित राधिका के द्वारा रात-दिन 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' इस मन्त्र का जप यह मान कर किया जा रहा है कि अब मृत्यु सन्निकट ही है ॥ ५ ॥

> विरहानलनिर्दग्धा शोभते न वपुर्लता। हिमक्लिष्टेव हेमन्ते मृदुला पद्मिनी यथा।। ६ ॥

उनकी शरीर रूपो लता विरह रूप अग्नि से झुलस जाने से शोभा को नहीं त्राप्त कर रही है। वह उसी प्रकार लग रही हैं जैसे हेमन्त ऋतु में मृदु कमलिनी हिमपात से क्लेश प्राप्त कर रही हो ॥ ६ ॥

दिवारात्रौतु रहसि कृत्वा चित्रमयीं प्रभो। मूर्ति निधाय हृदये शेते विरहक्षिता॥७॥

वह दिन-रात एकान्त स्थान में प्रभु की चित्रात्मक मूर्ति को हृदय में रखकर विरह से दुबले शरीर वाली होकर सोयो रहती हैं॥ ७॥

शुष्की बिम्बाधरी तस्यास्तन्द्रा लोचनयोः स्थिता । अन्यथा भाषणं वनत्रात् किमन्यत्कथयामि ते ॥ 🛭 ॥

उनके [बिम्ब फल के समान] दोनों लाल ओष्ठ सूख गए हैं। उनकी आखों पर सदैव तन्द्रा लगी रहती है और मुख से इघर-उघर की बड़बड़ाहट सी निकलती यहती है और इसके अतिरिक्त आप से क्या क्या कहूँ ? ॥ ८ ॥

नानुसन्धानमाधत्ते मनोवृत्तिर्मनागपि। अन्ययासिद्ध एवासौं कामस्ते नन्दनन्दन ॥ ९ ॥

मनोवृत्ति र्जराभो सोंच विचार करने में असमर्थ सी है। हे नन्द के नन्दन ! यह आपका काम ही अन्यया सिद्ध है।। ९॥

तस्मात्तन्निकटं याहि सङ्कते कृतनिश्चयः। इति सख्योदितं श्रुत्वा उल्ललास हृदि प्रभुः ॥ १० ॥

इसलिए 'पहले से निश्चित संकेत स्थल पर आ आप उनके निकट जावें'—इस प्रकार सिख के वचनों को सुनकर प्रभुमन ही मन अत्यन्त हिषत हुए ॥ १०॥

श्रीकृष्ण उवाच---

अह तत्रागमिष्यामि सङ्केते कृतनिश्चयात्। तत्र तामानय क्षिप्रं वेषगुष्ति विधाय च ॥ ११॥ भगवान् श्रोकृष्ण ने कहा—

मैं उस पहले निश्चित संकेत स्थल पर आ जाऊँगा। वहाँ पर तुम उन्हें शीघ्र ही गुप्त वेष पहनाकर लाओ ॥ ११ ॥

कस्यापि न भयं भीरु त्वया कर्त्तव्यमण्वपि। वञ्चयिष्ये जनान् सर्वान् इन्द्रजालकलादिभिः ॥ १२ ॥ हे भीरु ! तुम्हें किसी का भी कुछ भी भय नहीं होना चाहिए। क्योंकि मैं सभी मनुष्यों को इन्द्रजाल आदि कलाओं से छल लूँगा ॥ १२॥

राधिकार्यं प्रणाम मे तत्र गत्वा निवेदय। त्वं मे प्रियासि नितरां प्राणादप्यधिका मम।। १३।।

श्री राधिका के लिए वहाँ जाकर मेरा 'प्रणाम' निवेदन करो और कही किः 'तुम्हारा सदैव प्राणों से भी अधिक मै प्रिय हूँ।। १३।।

नावयोरन्तरं किञ्चित् प्राणरूपात्मनामपि। स्वन्नामस्मरणाच्चाह् यथा तुष्यामि सुन्दरि। मत्सेवया मम ध्यानात्तथा तुष्टिनं मे क्वचित्।। १४।। इत्यादि मम वाक्यानि राधिकाये निवेदय। पुनर्याता सखी राधामुबाच सकलं हि तत्।। १५।।

हम दोनों के बीच प्राणरूपात्मक भी अन्तर नहीं। हे सुन्दरि मैं तुम्हारा नाम लेते हुए जैसे—तैसे सन्तुष्ट कर्षेगा। मेरी सेवा से और मेरे ध्यान से भी उस प्रकार की सन्तुष्टि कहीं भी नहीं होगी' इस प्रकार के मेरे वचनों को राघा के प्रति निवेदन करो। अतः सिख राधिका के पास पुनः गई और वह सब कुछ उनसे कहा॥ १४-१५॥

> सुद्यामाध्ययंधिककारक्षम कृष्णवचीमृतम् । पीत्वोल्ललास हृदय ग्रीष्मतप्तेव भूयंथा ॥ १६॥

सुघारूपी माघुरी को घिक्कृत करने में समर्थ श्रीकृष्ण के वचनामृत को पीकर राधिका भी उसी प्रकार हर्षित हुइ जैसे ग्रीष्मकाल में तप्त पृथ्वी वर्षा से प्रसन्क होती है।। १६।।

अथ सङ्कोतसदने शय्या पुष्पमयोचिता।
नानागन्धमहामोदपुष्पराजिविराजिते ॥ १७॥
निर्दग्धागरसद्धूमधूपिते च समन्ततः।
पानयोग्यरसेदिव्यस्ताम्बूलंरङ्गलेपनैः ॥ १८॥

इसके बाद संकेत गृह में पुष्पमयी शय्या बनाई गई । यह शय्या नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों और अत्यन्त मोद प्रदान करने वाले पुष्पों की पक्ति से सुशोभित थी और यह चारों ओर जलाए गए अगर के धूम से सुगन्धित व धूपित की गई थी। यह शर्बत आदि पान योग्य दिव्य रसों से परिपूरित; ताम्बूल एवं अंगराग से युक्त थी।। १७-१८।।

सत्कृते सदने रम्ये राधा सख्यावृता ययौ । तत्रासनगता राधा काङ्क्षन्ती वियसङ्गमम् ॥ १९ ॥

अचङचलतिहरकोटिप्रभाषिञ्जरिताम्बरा । समावृत्तसुवृत्तोरुज्ञनस्तनमण्डला ॥ २

इस प्रकार धच्छी तरह से सजाए गए रमणीय उस संकेत गृह में श्रीराधिका सिखियों से आवृत्त होकर गई। वहाँ आसुन पर बैठ जाने पर राधा प्रिय के संगम की आङ्काक्षा से निश्चल विद्युत की कोडि-कोटि प्रमा से पिञ्जरित वस्त्रों से सुशोधित हो रही थीं। वह सुन्दर उठ, जधन और वृत्ताकार स्तनमण्डलों से समावृत थीं।। १९.२०

कटाक्षसरणीनिर्यद्रसमोहितमन्यथा । शुकाकारसमाकारनासाभरणभासुरा ॥ २१ ॥

वह कटाक्ष रूपी सरणी से निकले हुए रस से मोहित मन्मथ से युक्त थीं। उनकी नासिका शुक्त की नासिका के समान आकार वाली थी जो नथ आदि आसूषण से दीप्रिमान थी।। २१।।

> दाडिमीबीजसन्देहकारिदशनहीरका । वीणारवघृणादायिनिजवाणीगुणोदया । कर्पूरवीटिकामोदसुगन्धितदिगन्तरा ॥ २२ ॥

अनार के बीज के सदश निर्मित उनकी दन्तपिक्त हीरों से मानों युक्त थीं। वीणा के नि:स्वन के सदश आनन्ददायक उनकी वाणी थी। वहाँ पर चतुर्दिक कर्पूर एवं घूप के सुगन्ध से सुगन्धित वातावरण था।। २२।।

मणिदर्पणदर्पष्टनकपोलफलकप्रभा । मणिमञ्जलसूत्रेण विलसत्कम्बुकन्धरा ॥ २३ ॥

उनके कपोलक्ष्पो फलक की कान्ति मणिक्ष्पी दर्पण के अभिमान को भी नष्ट करने वाली थी। उनका गला और कन्धा मणियुक्त मंगलसूत्र से सुशोभित था।। २३:।।

> रत्नाङ्गुलीयनिवहोल्लसदङ्गुलिपल्लवा । कुचभारलसन्मध्यजिञ्जलीललितोदरा ॥ २४॥

उनका अंगुली रूपी पल्लव रत्नजटित अँगूठी से शोभित था। कुनों के भार से सुशोभित उनका उदर पेट के मध्य त्रिवली (तीन रेखाओं से युक्त) अत्यन्त लिलत लग रहा था॥ २४॥

चन्दनागरकहतूरीकर्पूरादिसुगन्धिनी । निःश्वासहारिकुर्पासनिबद्धस्तनमण्डला ॥ २५ ॥

चन्दन, अगर, कस्तूरी, और कपूरि बादि से सुगन्धित निःश्वास वाली वे अत्यन्त मनोहारो चोली से निबद्ध स्तन मण्डली से युक्त थी॥ २५॥ कुचोपरिलसन् मुक्ताहारतारसुशोभिता । क्त्रणन्माणिक्यमञ्जीरप्रभाभिर्बद्धमण्डला ॥ २६ ॥

उनके कुनों के उपर मुक्तामणि के हार की पिंड्कि से वक्षस्थल मुशोभित था। मणिमाणिक्य युक्त बजते हुए घुघुरुओं से युक्त करधनी की प्रभा से उनका मण्डल आबद्ध था।। २६॥

रेजे राधासनगता कथंचके प्रियश्रया। कथं नाद्यावधि प्रेयान् नागतः सखि तर्कय।। २७॥ रुद्धः कयाचित्प्रियया कि वा त्वं तेन विञ्चता। तद्वचः किमतथ्यं वा तथ्यं वा ज्ञायते कथम्॥ २८॥

इस प्रकार श्री राधा आसन पर बैठी हुई अत्यन्त सुशोभित हो रही थी।
पह इसी विचार में मग्न थीं कि कैसे प्रिय का आश्रय प्राप्त होवे? उन्होंने अपनी
सखी से कहा—'हे सिख ! विचार करो कि क्यों अभी तक मेरे प्रिय नहीं आए?
क्या वे किसी अन्य प्रिया के द्वारा तो नहीं रोक लिए गए? अथवा क्या तुम्हीं
उनके द्वारा छली गई हो? उनका वचन विश्वस्त है या अविश्वस्त यह हमें कैसे ज्ञात
होगा।। २८॥

नामिष्यित चेत्कान्ता प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् । वयस्यामेतदाश्राव्य कृत्वा करतले मुखम् ॥ २९ ॥ विरहाग्निशिखात्युष्णं निशश्वास प्रियंवदा । ताम्बूलगन्धपुष्पादिरतिसाधनमाहितम् । निनिन्द मनसा सर्वं वियोगज्वरविष्लुता ॥ ३० ॥

यदि मेरे कान्त नहीं आएँगे तो मैं निश्चित ही प्राणों का त्याग कर दूँगी। वह अपने हाथों पर मुँह को रखकर बोलों कि 'हे सिख तुम इसे सुनाओं। इस प्रियव्यादिनी ने विरह रूप अग्नि की लपटों से गर्म हुआ अत्यन्त ऊष्ण निश्चास लिया और ताम्बूल, सुगन्वित द्रव्य एवं पुष्पादि रित के संसाधनों आदि सभी को वियोग रूगी बुखार से विलुस होकर मन में ही निन्दा की।। ३०॥

तद्वक्र हिसितेन्दुमण्डलमितस्फारं तदालोकितं सा वाणीजितकामकामु करवा सौन्दर्यमेतस्य तत्। इत्थं सन्ततमालि वल्लभतमध्यानप्रसक्तात्मन-इचेतदचुम्बितकालकूटमिव मे कस्मादिदं मुह्यति ॥ ३१ ।ः

उन [भगवान कृष्ण] का मुख हैंसते हुए पूर्ण चन्द्र मण्डल के समान है और उनका आलोक चारों ओर फैल रहा है। उनकी वागी जीते जा सकने वाले काम के धनुष के टंकार के समान है। इस प्रकार इन भगवान का वह सौन्दर्य है— ऐसा निरन्तर सोंचते हुए उत्तम बल्लम के घ्यान में प्रसक्त मन वाली सखी ने सोचा कि विष के चुम्बन के समान यह मेरा चित्त किससे अमित हो रहा है ।। ३१ ।।

तदैव कृष्णः सङ्कोतं प्राप्तः प्राण इव स्वयम् । स्वासनात्तूर्णमुत्तस्थौ राधा कमललोचना ॥ ३२ ॥

तभी प्राण के समान स्वयं कृष्ण ने संकेत प्राप्त करके आगमन किया। कमल के समान आंखों वाली राघा अपने आसन से उन्हें देखते ही अत्यन्त शोध्रता से उठ खड़ो हुई ॥ ३२॥

समानासनसमासीनौ परस्पररतित्रियौ । भावपूरितदृक्षान्तिनिक्षेपान्योऽन्यमोहितौ ॥ ३३॥

दोनों हो समान आसन पर अच्छी तरह से बैठे हुए, एक दूसरे में परस्पर रित एवं प्रीति युक्त थे। वे दोनों अपने भावों से परिपूर्ण भाव भंगिमा वाले नेत्रों के प्रान्त भाग से निक्षेप द्वारा एक दूसरे में मोहित हुए अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ३३॥

श्रीकृष्ण उवाच--

प्रिये त्वद्विरहज्वालावलीढवपुरुषो हि मे। न शान्तये सुधाम्भोधिकोटिपीयूषसेचनः॥ ३४॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे प्रिये! तुम्हारे विरह की ज्वाला ने मेरा शरीर झुलसा दिया है। अमृत रूपों कोटि समुद्र के जल से भी सींचा जाकर वह शान्ति को नहीं प्राप्त कर रहा है।। ३४॥

> त्वदीयविरहे राधे प्रियमप्यास विप्रियम्। अमृतांशोरपिकराश्चण्डांशोरिव दारुणाः ॥ ६५ ॥ गळपयन्ति वपुर्वेल्लीं विरहे तव सुन्दरिः। शय्या पीयूषचित्ता वह्नचङ्गारचितेव सा ॥ ३६ ॥ मलयालेपनं देहे व्यथते विस्फुलिङ्गवत् । कोटिकल्पायने रात्रिः पृष्पं सूचीफलायते । दावाग्निजवालेव महत् शीतलो व्यथयेत्तनुम् ॥ ३७ ॥

है राघे ! तुम्हारे विरह में प्रिय भी अप्रिय सा लग रहा है। चन्द्रमा की श्रीतल किरणें भी अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य की किरणों के समान दारुण लग रही है। है सुन्दिर ! तुम्हारे विरह में शरीर रूपी लता को वह सुखा रही हैं। लमृत के समान भी शीतल बनाई गई शय्या आग के अङ्गारों से बनो चिता के समान लग रही है, श्रीर में चन्दन का लेप चिनगारी के समान व्यथा पहुँचा रहा है। रात्रि करोड़ों

कल्प के समान लग रही है और फूल सूई के समान चुभ से रहे हैं। शीतल-मन्द-समीर भी दाबानल के ज्वाला के समान शरीर को अत्यन्त व्यथित कर रहा है॥ ३५–३७॥

ह्यायामि त्वां दिवारात्रौ त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः प्रिये । राधिके राधिके चेनि महामन्त्रजपेन च ॥ ३८ ॥ विरहाहिविषं प्राणहारि प्रश्नमयाम्यहम् । अद्य छन्त्रासि भो कान्ते निधानमिव निर्धनैः ॥ ३९ ॥

दिन और रात तुम्हारा ही घ्यान करता हूँ। हे प्रिये ! तुम्हारे प्राणों का एवं तुम्हारे मन का ही घ्यान 'राधिके राधिके' महामन्त्र के जप द्वारा प्राणों का हरण करने वाले विरह रूपी विषधर सूर्य का मैं शमन करता हूँ। हे कान्ते, निर्धन को खजाना मिलने के समान आज मैं तुम्हें पा गया हूँ॥ ३८–३९॥

विवेकविद्याविनयप्रसाद-

महेत्धने चाशुविदीप्यमाने ।

वियोगवातद्विगुणीकृतेन्तः

स्मरानले गोपि जुहोमि देहम् ॥ ४०॥

अतः विवेक, विद्या, विनय एवं प्रसाद रूपी इन महान् इन्घन में विशिष्ट रूप से शीव्र ही दीप्तिमान तथा वियोगरूपो वायु के द्वारा दुगुने किए गए अन्तः स्मर रूपी अग्नि में, हे गोपि !, मैं अपने देह की आहुति देता हूँ॥ ४०॥

इतः क्षणं वा च ततः क्षणं वा गृहे क्षणं वा शयने क्षणं वा।

बहिस्तथान्तः क्षणमात्मनस्वद्-ग्रहगृहीतस्य निवृत्तिरस्ता ॥ ४९ ॥

कभी यहाँ क्षण भर और कभी वहाँ क्षण भर अथवा क्षणभर गृह में या शयन मैं क्षणभर या कभी वाहर और कभो अन्तरात्मा में तुम्हारे स्मरण रूपी ग्रह द्वारा गृहीत मुझको कहीं भो चैन नहीं है ॥ ४१ ॥

कियन्त्य एवात्र न सन्ति राघे सुलोचना मां तु न हर्षयन्ति ।

पयोदबिन्दुप्रतिरुद्धबृद्धे-

विहङ्गमस्येव जलोपकण्ठम् ॥ ४२ ॥

हे रावे! कितनी भी चार नेत्रों वाली कामनियाँ यहाँ मेरे हृदय को हर्ष नहीं प्रदान करती है। हमारो दशा तो उसी प्रकार हो रही है जैसे जल के समीप भी बैठे पक्षी (चातक) को मेघ की विन्दु की ही आवश्यकता होती है।। ४२।।

दिशां मुखेषु प्रमदे त्वदीयां प्रमोपनीतामपि वीक्ष्य मूर्तिम्। ज्ञमोपनीतामपि वीक्ष्य मूर्तिम्। गताविधव्याप्तिमुपैति चित्ते । हर्षस्य वैयर्थमुदीक्ष्य शोकम् ॥ ४३ ॥

है प्रमदे! दिशाओं के कोनों पर तुम्हारी मूर्ति अस से मुझे दिखाई पड़ जाती है। पुनः जब यह पता लगता है कि वह तो अमात्मक मूर्ति थी तो चित्त में आया हुआ हर्ष पुनः शोक में परिणत हो जाता है।। ४३।।

समुद्ररुद्रौ प्रथिती जगत्यां-

मौर्बेण हालाहलधारणेन।

<mark>अहं</mark> तु कल्पान्तहुताशकल्प-

वियोगदग्द्वोऽपि न चित्रमेतत्।। ४४।।

संसार में समुद्र का रौद्रत्व [ज्वारमाटे के समय] हालाहल रूप विष के घारण से वडवानल के कारण प्रसिद्ध है। किन्तु मैं तो कल्पान्त की विह्न के समान वियोगरूप विह्न से जल गया हुँ तो इसमें क्या विचित्रता है।। ४४।।

अपि प्रिये त्वद्विरहानलोत्थ-

ज्वालाहुतीभूतशरी रयष्टेः

त्वमेव मे जन्मनि जन्मनि स्याः

प्रिया सखी चेति विधिव्यंधताम् ॥ ४५ ॥

अतः हे प्रिये ! तुम्हारे विरह रूपी अग्नि से उसी ज्वाला में मैं अपनी शरीय रूपी सिमघा की आहुति दे रहा हूँ और विधता से यही प्रार्थना है कि तुम्हीं जन्म-जन्मान्तर में मेरी प्रिया और सखी होओ ।। ४५ ।।

अपि प्रिये केतककुङ्मछौघाः

स्फुटन्ति मे हृदयेन साकम्।

विलोचनाभ्यां तु समं पयोदाः

किरन्ति वारिप्रकरानमन्दान् ॥ ४६ ॥

है प्रिये ! केतकी पुष्प की कलियाँ एक साथ मेरे हृदय द्वारा प्रस्फुटित होती हैं और दोनों नेत्रों से नित्यप्रति मेघ वर्षा करते रहते हैं ॥ ४६॥

> वियोगदावानल एष एव क्षणात् क्षिणोत्येव तनुं सदीयाम् ।

अत्र प्रतिपादिताक्षरातीताख्यस्य कृष्णस्यानबतारित्वेऽपि स्वप्रेममहिन-प्रदर्शनायंवेत्थमुक्तं श्रीराधिका प्रतीतीति विवेकः।

यदा सुधारस्मिसहोदरास्य-

मसङ्कुचध्यानपथादपैति ॥ ४७ ।।

वियोग रूपी दावानल से ही यह मेरा शरीर क्षण भर मैं क्रश हो गया है। जब चौंदनी की रिश्म के समान मधुर तुम्हारा मुखमण्डल मेरे ध्यानपथ से हट जाता है तो में विवर्णभाव (उदासी) को प्राप्त हो जाता हूँ।। ४७।।

धुन्वन् पयोदावलिविस्फुरन्तसः

तडित्प्रकाशाः शिखिनत्तैनानि ।

सुकेतकामोदमुचश्च वाताः

सहस्रधा मे हृदयं दलन्ति ॥ ४८॥

वर्षाकालीन मेघमालाएँ और विद्युत की तड़कती हुई चमक तथा मयूरों का नृत्य एवं सुन्दर केतक पुष्प की सुगन्वी से पूरित वायु मेरे हृदय के हजारों दुकड़े कर डाल रहा है।। ४८।।

स्मराशुगीभूतविलोचने द्वे

श्रूभ्यां धनुभविमुपागताभ्याम्।

स्फुटं वहन्ती जनमोहविद्या

विद्या किमेषा मम मोक्षकर्त्री ।। ४९ ।।

कामदेव के बाण रूप तुहारे नेत्रों की ये दोनों भौहें, जो घनुषाकार रूप में है, मनुष्यों को मोहजाल में डाल देने वाली विद्या है। क्या यह विद्या मेरी मोक्षकर्षी नहीं है ? ॥ ४९ ॥

स्मितोदयादशितदन्तपङ्क्ति-

प्रभावलीढाननपङ्कजेन परिस्फुरल्कोचनषट्पदेन

विमोहयन्ती हृदयं मदीयम् ॥ ५०॥

मुस्कुराने से प्रकट हुई दन्त पिङ्क्ति की प्रभा से खिले हुए मुख कमल के द्वारा और उस कमल पर मेंडराने वाले काले-काले भौरे रूप दोनों नेत्र मेरे हृदय को विमोहित कर लेते हैं ॥ ५०॥

> ध्येयं ममैतत्तवपादपङ्कजं गेयं ममैतत्तव रूपसौभगम्। त्वत्तो न किञ्चित्प्रतिभाति तत्त्वं

> > त्वया विनान्ध्यं जगतो विभाति ।। ५१ ॥

मेरे लिए व्यान के योग्य यह तुम्हारा चरण कमल है और मेरे लिए तुम्हारी

यह रूप माघुर गाने के योग्य है। इस चराचर जगत में तुमसे भिन्न कोई और तस्व मुझें नहीं प्रतिभासित हो रहा है अर्थात् 'राधातस्व' से अलग कोई और भासमान तस्व नहीं है। इतना ही नहीं अपितु तुम्हारे विना यह संसार मुझे अन्धकारमय भासित होता है। ५१॥

> इत्यं प्रियामनुनयन् वचोभिः प्रेमगभितैः। रेमे कृष्णः कुचतटीपरिरम्भादिभिस्तया॥५२॥

। इति श्रोमाहेक्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे द्वादशं पटलम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्रेमरस से परिपूर्ण वचनों से अपनी प्रिया राघा का अनुनय विनय करते हुए कृष्ण ने कुचमण्डल के परिरम्भण [मन्द-मन्द मर्दन]आदि से रमण किया ।। ५२ ।।

शहस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के बारहवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी ज्याख्या पूर्ण हुई ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशं पटलम्

शिव उवाच —

एकदा तु कुमार्यस्ता वृतं चेवः समाहिताः। कात्यायनीमचयन्त्यः कृष्णो भत्ती भवेदिति ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

एक बार उन राजकुमारी गोपियों ने समाहित चित्त होकर ब्रत किया। 'कास्यायनी' देवी की अर्चना करते हुए यह कामना की कि 'मेरे पति कृष्ण होवें'।। १।।

> मासान्ते फलदानाय गतः कृष्णः सरित्तटम् । तीरस्थितानि वासांसि हत्वा नीपमथारुहत् ॥ २ ॥

उस मास के अन्त में भगवान श्री कृष्ण सरिता के तट पर फलदान के लिए गए। तट पर स्थित जितने गोपियों के वस्त्र थे उन्हें चुराकर (नीप) कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गए।। २॥

> कृमार्यः कृष्णचरितं दृष्ट्वा प्रेमपरिल्प्ताः । लिजतस्मेरवदनाः कृष्णमूचुः कदम्बकम् ॥ ३ ॥ कृष्ण, वासांसि नो देहि खिन्नाः स्म सलिले वयम् । त्वं वृद्धसम्मतो भृत्वा नैतत्कर्तुं त्वमहंसि ॥ ४ ॥

कुमारी गोपियाँ इस प्रकार ऋष्ण के चरित्र को देखकर अत्यन्त प्रेम से परिष्लुत हुई। कदम्ब स्थित ऋष्ण से उन लिजित एवं मुस्कुराती हुईं कुमारियों ने कहा—है ऋष्ण ! हमारे वस्त्रों को दो क्योंकि हम लोग यहाँ पानी में अत्यन्त दुःखित हो रही हैं। तुम वृद्धसम्भत भाव वाले होकर इस प्रकार करने के योग्य तो नहीं हो।। ३-४।।

यदि जानःति वै कश्चित्तदायं दुर्नयो महान् । जानिष्यति यदा राजा कंसः क्रूरमतिर्मनाक् ॥ ५ ॥ तदा ह्यनर्थ एवायमस्माकं भवतोऽपि च ।

यदि किसो को यह मालूम हो जाय तो 'यह महान् दुर्नय होगा' श्रीर यदि मान लो कि कहीं अत्यन्त क्रूर बुद्धि वाले राजा कंस को यह पता लगेगा तब तो हमारा भो और तुम्हारा भी दोनों का ही महान् अनर्थ होगा ॥ ४-५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच--

इहागत्य प्रतीच्छध्वं स्वं स्वं वासः सुलोचना ॥ ६ ॥

श्री ऋष्ण ने कहा—हे सुन्दर नेत्रों वाली ! यहाँ आकर आप अपना अपना वस्त्र पहचान लो ।। ६ ॥

> अन्यथा न ददाम्येत्र कंसभीत्या विभीषितः। निश्चम्य वचनं तस्य गोप्यो लज्जास्मितेक्षणाः। जलादुत्तीर्यं वासांसि कृष्णं देहीति चाबुवन्॥ ७॥

नहीं तो कंस के भय से भयभीत होकर भी मैं इन्हें नहीं दूँगा। उनके वचन को सुनकर लज्जा से स्मित नेत्रों वाली गोपियों ने जल से निकलकर कहा—'हे कृषण मेरे वस्त्र दो'।। ७॥

कृष्णः प्रीतमनास्ताभ्यो वासांसि गृथगाददौ ॥ ४ ॥ कृष्ण ने भी प्रसन्न होकर उन्हें पृथक् पृथक् रूप से उनके वस्त्रों को दिया ॥ ५ ॥ तत्तद्भागैडच' ताः सर्वाः स्वान्तःस्यः सन्नियुज्य च । चक्रे पूर्णतरा। कृष्णो रसयोग्या रसप्रियः ॥ ९ ॥

कुमारियों के लिए अपने उन उन अंशस्त्ररूप के दान के लिए ही भगवान कृष्ण नै चीरहरण लीला की। अतः उन उन गोपियों के द्वारा वे सभी लीलाएँ अपने अन्तःकरण में रखकर और सुनियोजित करके कृष्ण ने उन लीलाओं को उस योग्य, रसिय एवं पूर्णतर बनाया॥ ९॥

ततः प्रसन्नो भगवान् कुमारीक्यो वरं ददौ।
तब भगवान् ने प्रसन्न होकर कुमारियों को वर प्रदान किया।
श्रीकृष्ण जवाच—

रात्रयो ह्याधिदैविक्यो मयि तिष्ठन्ति ताः प्रियाः ॥ १० ॥ पश्यध्वं रमयिष्यामि तासु वः पद्मलोचनाः । प्रतियात गृहं तस्मात्कामः कालैन सेत्स्यति ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा -

आधिदैविको रात्रियों में वे प्रिया मेरे में स्थित होंगी। उनमें तुम पद्म के समान नैयनों वाली गोपियों के साथ देखो मैं रमण करूँगा। उनके घर से पुनः छीटने पर कालानुसार काम का सेवन करूँगा।। १०-११।।

कुमारीभ्यः स्वगततत्तदंशस्वरूपदानायैव वस्त्रहरणलीलां कृतवान् भगवानिति ज्ञेयम् ।

ततो लब्धवराः सर्वा गोप्यः पूर्णमनोरयाः। गृहं जग्मुः प्रगायन्त्यः कृष्णलीलां मुदान्विताः॥ १२॥

तब वर प्राप्त करके सभी गोपियाँ पूर्ण मनोरथ होकर प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण हीला का प्रकृष्ट रूप से गान करते हुए अपने अपने घर चली गईं॥ १२॥

जनयन् मन्युमिन्द्रस्य छत्वा गोर्वधनोत्सवम् । इन्द्रोत्सृष्टजलेरन्नेः सङ्घर्षणमहीश्वरम् ॥ १३ ॥

इन्द्र के क्रोघ को पैदा करके एवं गोवर्धन-उत्सव करके इन्द्र के उत्कृष्ट जल एट अन्न से कृष्ण ने सङ्कर्षण एवं ब्राह्मणों को प्रसन्न किया ॥ १३ ॥

> वर्षद्वादशकं योऽसी त्यक्ताम्बुफलमूलकः। तर्पयामास त कृष्णः पृष्टहृतमदं नुदन्॥ १४॥

१२ वर्ष तक जिन्होंने इस जल, फल और मूल को छोड़कर इन्द्र के मद का मर्दनः करते हुए उन ऋष्ण ने उनको तर्पित किया ॥ १४ ॥

एकदा कृष्ण एवैको गतो वृन्दावनं शुभम्।
रमणाय मित चक्रे सखीभिः सह केवलम्॥ १५॥
दृष्ट्वा वृन्दावनं रम्यं नमत्कुसुमपादपम्।
कृजतपिक्षमरालालिप्रतिहवनिमनोहरम् ॥ १६॥
प्रफुल्लमिलकामभोज मन्दमास्तकम्पितम्।
योगमायामथो कृष्णः कालमायाविनाशिनीम्॥ १७॥
जाग्रदन्ते सुषुप्त्यादौ स्फुरणायोपलभ्यते।
ताद्शीमकरोद् देवि लीलाथं पुरुषोत्तमः॥ १८॥

एक बार कृष्ण अकेले ही शुभ वृन्दावन में गए। सिखयों के साथ उन्होंने एकान्तें में रमण करना चाहा। तब रमणीय एवं फ्लों से झुके हुए वृक्षों वाले वृन्दावन की उन्होंने देखा। पिक्षयों से कूजित, हंस और ध्रमर से प्रतिव्वनित एवं मनोहर उस वन में प्रफुल्लित मिल्लिका तथा कमल के पुष्प मन्द-मन्द समीर से किम्पत होते थे। तब वहाँ काल माया का विनाश करने वाली योगमाया को कृष्ण ने जाग्रत अवस्था के अन्त में और सुषुधि के आदि में स्फुरण के लिए उपालम्भन किया। उन पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण ने लीला के लिए उस प्रकार की देवी को प्रकट किया। १५-१८।।

प्रकाशा चाप्रकाशा च दिघा सेयं व्यवस्थिता । दर्शनांशे प्रकाशा च दृषट्टत्वाच्छादने तथा । १९ ।। बहिः प्रकाशं विच्छिद्य अन्तराकाशते यथा। योगमायेति विख्याता जाग्रत्स्वप्नमयोश्चितुः ॥ २०॥ कालमाया हृता तूर्णं तया तिच्चत्स्वरूपया। तत्कार्यमात्रमिललं लीन स्थाचरजङ्गमम्॥ २९॥

प्रकाश और अप्रकाश—इन दो रूपों में वही व्यवस्थित हुईं। दर्शनांश में वह हिण्टत्व और आच्छादन में तो वे प्रकाश रूप में हैं। बाहर के प्रकाश का विच्छेदन करके जैसे वह अन्तः करण में प्रकाश करती हैं। ईश की जाग्रत और स्वप्नावस्थामय यही योगमाया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस के द्वारा शीझ ही दर्शनीय कालमाया उस चित्स्वरूप के द्वारा हत होती है। उसका कार्य मात्र इतना ही है कि वह समस्त स्थावर एवं जङ्गम जगत् को लोन कर लेतो है।। १९—२१।।

योगमायोद्भवं स्वप्नमक्षरः संदर्श ह ।
अन्यूनाधिकमीशानि भूतेन्द्रियगुणात्मकम् ॥ २२ ॥
दिव्यमाणिक्यमुकुटं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
दिव्यमुक्तामणिश्राजन्तानाभूषणभूषितम् ॥ २३ ॥
कृष्णक्ष्पमभूत्तत्र योगमायोपबृंहितम् ।
अलौकिकलतादिव्यकुसुमामोदवायुना ॥ २४ ॥
सेवितं सर्वतः श्रीमद् वृन्दावनमहाद्भुतम् ।
खगा मृगा लता वृक्षा वायवश्चन्द्रतारकाः ॥
ऋतुः पुष्पाणि रात्रिश्च सर्वमासीन्नवं प्रिये ॥ २५ ॥

उस अक्षर ने योगमाया से उद्भूत स्वप्न को देखा। वह स्वप्त न कम थान अधिक था। हे ईशानि ! वह भूतेन्द्रिय गुणात्मक था। योगमाया से उपबृहित वहीं कृष्णरूप में प्रकट हो गया। यह कृष्ण दिन्य माणिक्य का मुकुट पहने थे। मकर के आकृति का कृष्डल उनके कानों में शोभा पा रहा था। वह दिन्य मुक्ता-मणि से देदीप्यमान और नाना प्रकार के आभूषणों से भूषित थे। अलौकिक लता, दिन्य कुमुम और आन्ददायिनी वायु से चारों और से सेवित वह महान् एवं अद्भूत वृत्वावन था। हे प्रिये! पक्षी, पशु, लता, वृक्ष, वायु, चन्द्र और तारे, ऋतुएँ, पुष्प और रात्रि सभी कुछ नवीन थी।। २२-२५।।

प्रससारोत्मृजन्ती सा ग्रसन्ती विश्वमोजसा। उत्सारयन्ती तिमिरं यथा दीपशिखाम्बरे॥ २६ ॥

आनन्द का सृजन करती हुई वह माथा प्रकृष्ट रूप से फैल गयी तथा अपने ओज

से विश्व को ही निगलती हुई, जैसे—दीप की शिखा अन्यकार को हटाती है उसी प्रकार विश्वके अन्यकार को हटाती हुई जान पड़ी ॥ २६॥

> योगमायाप्रपञ्चोऽपि सदेवासुरमानवः। तासु सङ्कल्पमकरोन्मनसा पुरुषोत्तमः।। २७ ॥

देवताओं के सहित असुर और मानव और उन योगमाया का प्रपश्च भी मन से ही उनमें पुरुषोत्तम ने संकल्प करके बना दिया ॥ २७ ॥

अवोधयत्पूर्वकामं कामरूपतया हृदि।
यावदङ्कुरितो भूयात् हृदि कामस्तु सुभूवास् ॥ २८ ॥
तावत्तदृर्धनार्थाय वेणुनादमथाकरोत्।
योगमायोदभयाकाशे वेणुनादः प्रतिष्ठितः।
तं नादमेव गोष्यस्ताः शुश्रुवः प्रथमं प्रिये ॥ २९ ॥

हृदय में कामरूप से उन्होंने पूर्वकाम का उद्बोधन किया। ज्योंही उन सुन्दर मीहों वाली गोपियों के हृदय में काम अङ्कुरित हुआ त्योंहि उसके बर्धन के लिए उन्होंने वंशी के व्विन बजाई। योगमाया से उद्भूत आकाश में वह वंशी-व्विन प्रतिष्ठित हो गयी। हे प्रिये! उसी वंशी की व्विन को उन गोपियों ने प्रयमतः सुना।। २८-२९।।

अधरामृतसंसिक्तवेणुनादः सहानिलः । प्रविष्य कर्णरन्ध्रोण हुच्छयं समतेजयत् ।। ३० ।

अघर रूपी अमृत से ससिक्त वेणु के नाद ने वायु के सहित उनके कर्ण रन्ध्रों में अविष्ट होकर हदय में सोये हुए काम को दीप्ति युक्त किया ॥ ३०॥

ततस्ताः सहसा हित्वा शयनासनभोजनम् । सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति विश्रुताः ॥ ३९ ॥ श्रुतिरूपा कुमार्यश्च आजग्मुनदिमोहिताः । निषिद्धा अपि यत्नेन बन्धुवर्गेरनेकधा ॥ ३२ ॥

उसके बाद वे सभी सहसा शयन, आसन एवं भोजन छोड़कर सास्त्विकी, राजसी और तामसी नाम से—ये श्रुति रूप कुमारियाँ उसी वंशी नाद से मोहित होकर, यद्यपि बन्धु-बान्धवों ने बहुत प्रयत्न करके रोका, फिर भी वे, वहाँ आ गयीं ॥ ३१–३२ ॥

न निवृत्ता यथा वेगः सरितामर्णवं प्रति ॥ ३३ । वे उसी प्रकार न रुक सकों जैसे समुद्र की ओर जाने वाली नदी के वेग को नहीं रोका जा सकता ॥ ३३ ॥ बलात् रुद्धाः अपि जहुः प्राणान् विरहकर्षिताः । काश्चिद्गोप्यः क्षणादेव दिन्यदेहाः समाययुः । ३४ ॥

यदि बलपूर्वक वे रोक भी दी गयीं तो विरह से कर्षित होकर उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिए और कुछ गोपियों ने क्षण में ही दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया।। ३४॥

पुरः प्रकाशः पश्चात्त् शून्यमासीत् वजस्त्रियः। प्रविष्टा मण्डलं सर्वा योगमायिकमुत्तमम्। ३५॥

उन वजिल्लयों के सामने प्रकाश था और पीछे शून्य था। उन सभी ने योग-माया के उत्तम मण्डल में प्रवेश किया । ३५॥

कुमार्यो द्वादश श्रोक्ताः सहस्राणि तथा पराः। तावन्त्यः किल विज्ञेयाः श्रुत्वा वेणरव निश्चि ।। ३६ ।। वे सभी कुमारियाँ बारह हजार कही गयीं हैं। उतनो ही हमें जाननी चाहिए जो रात में वेणु के स्वर को सुनकर वहाँ आयीं ।। ३६ ।।

चत्वारिशत्तुः यूथानि तासा प्रोक्तानि योषिताम । तासां हादशसाहस्रो संख्या सयोगभावतः ॥ ३७॥

उन युवितयों का चालीस चालोस का एक समूह कहा गया जिनकी संख्या संयुक्त होने से बारह हजार कही गया है।। ३७।।

> त्रियसङ्गाईमेतासां माया वेषमरीरवत्। भूषामालाम्बराण्यासन् लोकसिद्धेतराणि च ॥ ३८॥

माया से इनकी वेष रचना प्रिय के सङ्गम के योग्य बनायी गयी थी। उनके आभूषण, मालाएँ और वस्त्र तथा अन्य सभी कुछ दिव्य लोक के योग्य थी।। ३८॥

समानवेषाभरणाः सर्वाः सवयसः प्रिये। समचित्ताः समरसाः कृष्णस्य निकटं ययुः ॥ ३९ ॥

हे प्रिये ! सभी गोषियाँ समान वेष और आभूषण पहने हुए सभी एक ही उन्न की थीं। वे सभी समान चित्त बाली और एक ही समान रस में सराबोर कृष्ण के निकट गयी।। ३९॥

> वेदस्थित्यर्थमेवासी क्रीडन्तिप समाहितः। मर्यादामृक्तवान् वाचा वागासीत्कारणोदया।। ४०॥

समाहित चित्त क्रीडा करते हुए भी ये वेद स्थित अर्थ ही थीं। वाणी ही उदय का कारण है। अतः वाणी से ही उन्होंने मर्यादा को कहा।। ४० ।।

न निषिद्धाः स्वरूपेण स्वरूपं वागगोचरत्। रसभोक्तृरसात्मत्वं विरुद्धेदान्यथा त्रिये॥ ४९॥ वह स्वरूप से निषिद्ध नहीं थीं। क्योंकि स्वरूप की प्रतीति वाक् से होती है। वस्तुतः हे प्रिये! रस का भोक्ता और रसात्मत्व दोनों ही विषद्ध और अलग अर्म हैं॥ ४१॥

श्रीकृष्ण उवाच-

किमर्थमागताः सर्वाः मिलिताश्च परस्परम् । रात्र्यामघटमानं तु वनेष्वागमनं स्त्रियः ।। ४२ ॥

श्रोकृष्ण ने कहा---

आप सभी परस्पर एक दूसरे के साथ मिलकर यहाँ क्यों आयी हैं ? क्योंकि रात्रि में बन में स्त्रियों का आना अवस्याधित घटना है ॥ ४२ ॥

स्त्रीधर्मं सहसा हित्वा भर्तृ सेवामयं शुभम् । ऐहिकं पारलौकिक्यं स्त्रियो नाशयति ध्रवम् । ४३ ।।

शोभनीय पित की सेवा रूप स्त्री के धर्म को सहसा छोड़कर आप लोगों ने इस लोक और परलोक को निश्चय ही नष्ट किया है।। ४३।।

> येन संतुष्यते भत्तीस धर्म उचितः स्त्रियः। तं विहाय ध्रुवं नारी पतत्येव न संशयः॥ ४४॥

स्त्रियों के लिए वही उचित घर्म है जिससे पित सन्तुष्ट हों। उसे छोड़कर निश्चित ही नारी (पातिबत घर्म से) पितत होती हो हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४४॥

तस्माद्वजं स्त्रियो यात मदुक्त्या यन्त्रिताशयाः ।
गोप्यस्तद्वाक्यमाकर्ण्य तीक्ष्णं हालाहलोपमम् ॥ ४५ ॥
कि वज्जनिर्घातहता इव पेतुः क्षितेस्तले ॥ ४६ ॥
॥ इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे गुप्तसारे
शिवोमासंवादे त्रयोदशं पटलम् ॥ १३ ॥

इसिलिए मेरी उक्ति से यन्त्रित आशय को समझकर सभी स्त्रियों को व्रज चला जाना चाहिए। किन्तु गोपियों ने उनके विष सदश तीखे वाक्यों को सुनकर वज्ञ को चोट से आहत हाने के समान पृथ्वी तल पर गिर पड़ी ॥ ४५-४६॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के तेरहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।। १३।।

अथ चतुर्दशं पटलम्

पार्वत्युवाच —

देनेश परमेशान धूर्जंटे नीललोहित। ततः किमभवत्तत्र तन्मे बृहि सदाशिव ॥ १ ॥

पावंती ने कहा —

हे देवताओं के ईश, परम ईशान, धूर्जिट, नीललोहित, हे सदाशिव उसके <mark>बाद</mark> ैफिर क्या हुआ ? उसे मुझे बताइए ॥ १ ॥

शिव उवाच-

रूक्षं वचनमाश्रृत्य सहसा जातसम्भ्रमाः। गतप्राणा इवासंस्ताः प्राणरूपी प्रियोऽभवत्॥ २॥

शिव ने कहा-

इस प्रकार के एकाएक रूखे बचनों को सुनकर वे अत्यन्त सम्भ्रमित हुई। वे उस समय प्राण के निकल जाने के समान सी हो गई। उस समय मात्र प्रिय ही प्राण के आधार हुए।। २।।

> दुःखाकुला रुद्धवाचो निरुछ्वासा व्रजस्त्रियः। अश्रुण्यमुङचन्नेत्रेभ्यस्तापेनोष्णतराणि च ॥ ३॥

दुःख से व्याकुल और निरुद्ध कण्ठ होकर साँस प्रश्वास से लेते हुए व्रज को स्त्रियाँ (विरह से) अत्यन्त तप्त होकर अपनी आंखों से गरम-गरम आसूँ बहाने लगी।। ३।।

अब्रुवन् धैर्यमालम्ब्य तामस्यो विरहातुराः । किमेवं भाषसे कृष्णविचाररहितं वचः ॥ ४ ॥

उन विरह से आतुर गोपियों ने धैर्य घारण कर इनसे इस प्रकार कहा— है ^{कृष्ण} ! इस प्रकार विचाररहित वाणी आप क्यों बोलते हैं ? ॥ ४ ॥

> अविचारितवक्तारो लोके मूर्खा इति स्थिताः। तस्माद्विचायं वक्तव्य सर्वज्ञोऽसि यतः स्वयम्।। ५।।

बिना विचार के बोलने वाले लोक में 'मूर्ख' कहें जाते हैं। इसलिए, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं, अतः विचार कर बोलना चाहिए ॥ ५ ॥ वयं गोप्यो भवद्दास्यस्त्विच्चत्तास्त्वत्परायणाः। त्वत्प्राणास्त्वन्मयाः कृष्ण नान्यत्पदयामि किञ्चन ॥ ६॥

हम गोपियां आपकी दासी हैं, तुम्हारा चित्त हैं और हम तुम में ही परायण हैं। हम तुम्हारे प्राण है, यहाँ तक कि हम गोपियां तुम-मय ही हैं। अतः हे कृष्ण! तुमसे अलग करके हम और कुछ भी नहीं देख रहीं हैं॥ ६॥

> नास्माकं पतयः पुत्रा भ्रातरो न च बान्धवाः । वयं त्वदेकशरणाः त्वन्त्यस्तात्मकलेवराः ॥ ७ ॥

हमारे न पित हैं, न पुत्र, न भाई, और न तो बन्धु ही हैं। हम सब के लिए तो तुम्ही एकमात्र शरण हो, हम लोगों का शरीर तुम्हारा ही है।। ७।।

अहं स्त्री मत्पतिश्चायिमिति यासां मितः स्थिता। तासामयं परो धर्मो यस्त्वया चोपदिश्यते ॥ ८ ॥

'मैं स्त्री हूँ' 'आप मेरे पति हैं' यही जिस बुद्धि में स्थित हैं वही यह मेरा श्रेष्ठ धर्म है और जो आप से उपदिष्ट है।। म।।

> यस्याधिकारो यद्धमें त्यजेत्त न कदाचन-।-्नोचेत्सन्त्यासिनः कुर्युः कथं न गृहिवादिनाम् ॥ ९ ॥

जिसका अधिकार जिस धर्म में है उसे कभी भी नहीं छोडना चाहिए। गृहस्थी करने वालों को क्या सन्यासिनी बनाना ठीक है।। ९।।

देहातीता गृहातीता लोकातीता वयं प्रभो । त्वामेव शरणं प्राप्ताः कथमहंन्ति लोकिकस् ॥ १०॥

फिरभी हमलोग देह से परे और गृह से परे और यहाँ तक कि लोक से भी परे हैं, क्योंकि हमलोगों ने तो तुम सर्वोश्वर भगवान की शरण प्राप्त कर ली है। अतः क्या लौकिक लोगों के यह योग्य है।। १०।।

विकारेऽहमिति भ्रान्तिः पुत्रदारधनादिषु । तदध्यासवद्यात्तेषां देहधमधिकारिता । ११॥

वस्तुतः विकार आने पर 'हम' का भान भ्रान्ति वशात् पुत्र, स्त्री और धन में प्राप्त हो जाता है। उसी के अध्यास के कारण उनमें देह धर्म का मान होता है।। ११।।

प्रवृत्ते ह्यधिकारे तु धर्मं लुम्पति यः खलः । पतत्येव न सन्देहो यतः स वासनान्तरे ॥ १२ ॥

उस अधिकार में प्रवृत्त होकर भी जो खल धर्म को भुला देता है वह निःसन्देह रूप से अन्य तुच्छ वासना (के गर्त) में गिर जाता है ॥ १२ ॥ अह ममायमित्येषः पतिपुत्रादिषु स्थितः। समूलमाग्रहो नष्टः कथं तत्र नियुञ्जसि ॥ १३ ॥

पित और पुत्रों में 'मैं हूँ' और 'यह मेरा है'-ऐसी बुद्धि स्थित करने से उसका समूल नाश हो जाता है वहाँ नियोग कैसे--?॥ १३॥

न प्रेम्णि बाधकं किञ्चित्प्रेमस्थितिरलौकिकी । वयं प्रेमसमाकृष्टा निशि प्राप्ता वनान्तरे । १४ ।।

प्रेम में कोई भी वस्तुतः बाधक नहीं होता। प्रेम की स्थिति तो अलौकिक है। है। इसलिए रात्रि होने पर भी हमलोग प्रेम के कारण इस वनान्तर में प्राप्त हुई हैं॥ १४॥

> अविद्वानिव तद्विद्वानिष त्वं कि प्रजल्पसि। लोकवेदपथांस्त्यक्त्वा समूलान्विषिनान्तरे॥ १५ ॥ निश्चि स्त्रियो वयं प्राप्तास्ता अपि त्यजता त्वया। विनाशिता प्रेमरीतिः कृतध्नत्वमुपाजितम्॥ १६॥

मैं अनजान हूँ। फिर विद्वान होकर भी आप यह क्या कह रहे हैं? लोकिक वेद के पथ को मूल सहित छोड़कर विपिनान्तर में और मध्य राश्रि में हम लोग यहाँ आई हैं और उन्हें भी आप परित्यक्त कर रहे हैं। प्रेम की रीति का तुमने तो विनाश कर दिया और तुमने कृतध्नत्व को प्राप्त कर लिया है।। १५-१६।।

> वयं तु न गमिष्यामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहाः। विरहाग्नौ तन् र्हुत्त्वा त्वामेष्यामो न संशयः॥ १७॥

हम लोग सभी घर-बार आदि परिग्रहों को छोड़कर आई हैं अतः अब लौटकर नहीं जाऊँगी। इतना ही नहीं बल्कि विरह की अग्नि में अपने शरीर को जलाकर निसन्देह हम लोग आपको ही प्राप्त कर लूँगी।। १७।।

> तस्माद्भजस्व गोविन्द नोपेक्ष्या गोपिका वयम् । त्यजाग्रहिममं कृष्ण प्रेमरीति समाश्रय ॥ १४ ॥

इसलिए हे गोविन्द ! हम लोगों को स्वीकार करो ! हम गोपिकाएँ उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। हे कृष्ण ! इस प्रेम की रीति के संक्षिप्त आग्रह का त्याग न करो ।। १८ ॥

इत्यावेदितमाकर्ण्य गोपिकानां यथार्थतः। वचः पीयूषधाराभिस्तासामाह्वादयन्मनः॥ १९॥ उवाच वचनं कृष्णो मधुरस्मितवीक्षणः। धन्यातिधन्या भो गोप्यो यूयं मत्प्राणवल्लभाः॥ २०॥

इस प्रकार गोपियों का यथार्थ निवेदन सुनकर उनके मन को अपने वाणी रूपी अमृत की घाराओं से आह्लादित करते हुए भगवान कृष्ण ने मधुर मुस्कान और आवेक्षण से युक्त बचन कहा—हे गोपियों ! तुम घन्यों में भी अत्यन्त घन्य हो जो मेरी प्राणवल्लभा हो ।। २० ।।

> न निवार्याः कदाचिद्वा भवत्त्राणसयेन मे । निषेधो वाग्विलासोत्यो मयि युङ्ख्यो न कहिचित् ॥ २९ ॥

तुम मेरी प्राणमय होने के कारण कभी भी विवारित करने योग्य नहीं हो । 'मेरे में कभी भी तुम युक्त न होवो'—यह निषेघ तो मेरा वाणी का विलास है ॥ २१ ॥

> जानेऽहं भवतीः प्रेमबद्धा एव मिय स्फुटम्। त्वद्वनः श्रोतुकामत्वान्निषेघोऽयं न वास्तवः॥ २२॥

मैं यह जानता हूँ कि आप सब 'मुझसे प्रेम से आबद्ध हैं।' यह निषेध वास्तविक नहीं है। यह तो आप लोगों की वाणी को सुनने की इच्छामात्र से ही किया गया था।। २२।।

> जिज्ञासूनामसन्दिग्धो रूपितो धर्मनिर्णयः। पतिसेवापरं शास्त्रं मामेव पतिरूपिणम्।। २३।।

जिज्ञासुओं के लिए धर्म का निर्णय असंदिग्ध रूप से निरूपित किया गया है । शास्त्रों के वचन स्त्रियों के लिए पति सेवापरक ही हैं और मैं ही पति रूप हूँ ॥ २३ ॥

निरूपयस्यलब्धस्वाद् भावनामात्रमन्यतः।

भवतीनां पतिस्तस्मादहमेव सनातनः ।। २४ ।। वस्तुतः मेरे अलम्य होने के कारण ही दूसरे में मुझ पति की भावना मात्र को निरूपित करता है। इसलिए आप सब का मैं ही सनातन पति हूँ।। २४ ।।

> इत्युत्त्ववा मध्यगस्तासां रेमे रामाभिरन्यितः। पृथगालिग्य ताः सर्वा बिम्बाधरसुधां पपौ ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर युवितयों से घिरे हुए उनके बीच में उन्होंने रमण किया । प्रथक् पृथक् उन सभी का आर्लिंगन करके बिम्ब के समान अधरामृत का पान किया ॥ २५॥

> हासयन् प्रहसन् कृष्णो नानाक्रीडाकुतूहलै:। नीवीराक्षयम्कासां कासामास्यं पिवन्नपि॥ २६॥

हँसाते हुए और हँसते हुए कृष्ण ने नाना प्रकार के क्रीडा कुतूहलों से किन्हीं की नीवी को खींचते हुए और किन्हीं का अघरामृत भी पीते हुए रमण किया ॥ २६॥

आलिङ्गतीविहायान्या अन्यां आलिङ्गयन्नपि । पिबन्नधरपीयूषं कासान्धिट्दद्भिरादशत् ॥ २७ ॥

एक के द्वारा आलिङ्गन किए जाकर, उसे छोड़कर दूसरे दूसरों का भी आलिङ्गन करते हुए, अघरामृत का पान करते हुए उन्होंने पुनः किसी गोपिका को दन्त क्षत किया ॥ २७ ॥

> सीत्कृतान्यसृजन् गोप्यः अर्द्धमीलितलोचनाः। एवं रमवज्ञः कृष्णो रेमे तन्मण्डले प्रभः॥ २८॥

उस समय अर्धनिमीलित नेत्रों वाली उन गोवियों ने सीत्कार किया। इस प्रकार रस के वशीभूत प्रभु भगवान कृष्ण ने उनके मण्डल में रमण किया।। २८॥

> अत्यानुरमिति ज्ञात्वा कृष्णं स्ववशमागतम् । मेनिरे गोपिकाः सर्वाः स भावोऽपि रासात्मकः ॥ २९ ॥

रूटण को अत्यन्त आतुर और अपने वश में आया जानकर सभी गोपियों ने उस रसात्मक भाव को भी मान प्रदान किया ॥ २९ ॥

> रसः परिणतः सोऽयं मानरूपेण निश्चितम् । एषा शुङ्गारमय्यीदा रसशास्त्रनिरूपिता ॥ ३० ॥

वहीं यह निश्चित रूप से मानरूप में परिणत हो गया। यही श्रृङ्गार की मर्यादा है जो रसशास्त्र के आचार्यों द्वारा बतलाई गई है।। ३०॥

> कारण श्रृणु तन्नापि यन्न वाच्यं कथ्यञ्चन । अक्षरस्य दिद्धाय या पूरणार्थमपेक्षिता ॥ ३१ ॥

उसमें भी, हे देवि ! तुम उसका कारण सुनी, जो किसी भी प्रकार दूसरों से कहने योग्य नहीं है। अक्षर के देखने की इच्छा के लिए तथा सम्पूर्णता के लिए यह अपेक्षित है ॥ ३१ ॥

अन्तर्द्धानं च तत्रापि मानो हेतुतयोद्गतः। अथ मानवतीर्विक्ष्य तासामेव हृदि प्रभुः। रसरूपो विळीनोभून्मानमुद्यादयःनिव ॥ ३२ ॥

वहाँ भी उनका अन्तर्द्धान हो जाना मान के हेतु से उद्गत है। इसलिए उन गोपियों को मानवती देखकर उन्हीं के हृदय में रसरूप प्रभुश्री कृष्ण मानो मान को हटाते हुए विलीन हो गए॥ ३२॥ अक्षरस्य मनोवृत्तिरावेशरिहता पुनः। स्थानं प्राप्ता रासलीलावासनावासिता सती ॥ ३३॥ तया विहितविज्ञानो मण्डलस्थमतर्केयत्। एवं ददर्शं भगवान् रासक्रीडामहोदयम्॥ ३४॥

। इति श्रीमाहेदवरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे चतुर्दशं पटलम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार उस अक्षर रूप परब्रह्म परमात्मा श्री कृष्ण की मनोवृत्ति पुनः आवेश से रहित हो गई और रास लीला को वासना से सुवासित होती हुई स्थान प्राप्त किया। उन गोपियों के द्वारा विधिष्ट प्रकार के ज्ञान से अपने मण्डल में विचार विमर्श किया गया। इस प्रकार भगवान ने रासक्रीडा के महान उत्सव को देखा ॥ ३३-३४ ॥

।। इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और मगवान् शङ्कर के संवाद के चौदहवें पठल की डाँ० सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १४ ।।

अथ पञ्चहशं पटलम्

शिव उवाच-

अन्तर्भू ते परमानन्दे द्विधा च हृदि मण्डले । अदृष्ट्वा निजनायं तमतप्यन्विरहातुराः ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

उन दो प्रकार के हृदयावस्थित और मण्डलावस्थित सर्वोत्कृष्ट आनन्द के अन्तर्भृत हो जाने पर और अपने उन स्वामी को न देखकर उनके विरह में वे अत्यन्त आतुर हो संतप्त होने लगीं।। १।।

मनस्यानन्दसम्पूर्णे लतावृक्षादिषु स्फुटम् । चैतन्यस्फूर्तिरभवत्ततोऽपृच्छंस्तरू ल्लताः ॥२॥

लता और वृक्ष आदि में स्फुट रूप से आनन्द की पूर्णता होने से उनमें भी चैतन्य का स्फुरण हो गया। मन के आनन्द से पूर्ण होने के कारण ही उन गोपियों ने उन वृक्षों और लताओं से 'श्री कृष्ण को देखा है'—ऐसा पूँछा॥ २॥

> यो नादादुत्तरं तं तं निनिन्दुधृंतिनिर्चयाः । कृष्णावेशात् कृष्णभावं गताः कृष्णोऽहमूचिरे ॥ ३ ॥

जो नाद अहा से पर हैं उन बहा की भी निश्चय घारण करके निन्दा की। भगवान कृष्ण का वेश घारण करने से कृष्ण के भाव को प्राप्त उन गोपियों ने 'मैं कृष्ण हूं' 'मैं कृष्ण हूँ – इस प्रकार कहा।। ३।।

> एवं नानाविधा लीलाः कुर्वन्त्यो विरहातुराः। तामसीशिक्षया सर्वा एकीभूत्वाय यूयशः ॥ ४ ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार की लीलाओं को करती हुई वे ऋष्ण के विरह में <mark>आतुर</mark> हो गईं। तामसौ शिक्षा से अभिभूत होकर वे सभी एकीऋत होकर एक एक झुण्ड में आ गईं।। ४।।

> त्रजस्य लीलानुकृति चक्रुस्तत्प्राप्तिसाधनम् । पूतनावधमारभ्य यावद्दाम्ना निबन्धनम् ॥ ५॥

वहाँ उन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए लीला रूप साधन को वज की लीलाओं की अनुकृति में करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने वहाँ पर पूतना के वध से लेकर दामा के निबन्धन तक की कृष्ण-लीला की ॥ ५॥

विद्यमिविश्चित्तगो'भूत्परात्मनः। नित्याखण्डा व्रजस्येयं लीला वेदेनुवर्णिता । ६ ॥

[इस स्थल पर नवरङ्ग स्वामी का मत है कि रासलीला के अवसान में जल फ़ीडा के अनन्तर जब भगवान यमुना जी के तट पर मण्डप में सिखयों के मध्य विराजमान थे तब सिखयों के समूह ने यह कहा कि 'आप के अन्तिहित होने पर हम लोगों ने विरह के समय सभी जज लीला कर डाली'—तब भगवान ने भी सम्पूर्ण क्षज लीला का स्मरण किया] उस श्रेष्ठ जज लीला के स्मरण से वह भाव विभोर हो गए। क्योंकि वेद में विणत जज की यह लीला नित्य और अखण्ड हैं।। ६।।

पुनरक्षरिचत्वृत्तिराविष्टाविषेभौ ततः। सखीनां मण्डलादेव विस्मितोदारमुखाम्बुजः॥ ७॥

तब सिखयों के मण्डल ः मध्य में ही विस्मित और उदार मुख कमल वाले उन ऋष्ण की अक्षर रूप चित्तवृत्ति पुनः आर्विभूत हुई ॥ ७ ॥

तिहत्प्रकाशवसनस्तारहारविराजिताः । स्फूरत्कटाक्षमालाभिः सुवाभिरिव शीलयन् । ८ ॥

उन भगवान का स्वरूप विद्युत के प्रकाश से जाज्वल्यमान था। वस्त्रों और हार से युक्त वे शोभित थे तथा कटाक्षों की श्रृङ्खलाओं से अमृत की मानों वर्षा कर पहेंथे॥ द।।

> तं दृष्ट्वा विरहाक्रान्ता दु.समात्यन्तिकं गताः। पुनरानन्दसन्दोहमग्ना एव हि केवलम्।। ९॥

उन सिखयों को विरह में पड़ी हुई और अत्यन्त दुःख में पड़ी हुई देखकर और पुनः आनन्द के समुद्र में ही निमग्न देखा ॥ ९ ॥

रदन्तीनां मुखान्यश्रुप्रवाहकलुशान्यपि । स्ववस्त्राञ्चलमादाय करेणामृजदच्युतः ॥ १०॥

नयोंकि उन भगवान अच्युत ने स्वयं ही अपने पीतास्वर के अञ्चल से रोती हुई तथा मुख पर अश्रु की बहती घारा का पोंछकर मिलन मुख को भी साफ कर दिया।। १०॥

^{🐍 &#}x27;ब्रजलीलाविभवतश्चित्तगो' इत्यपि पाठः ।

रासलीलावसाने जलक्रीडानन्तरं श्रीयमुनातटमण्डपस्यसलीमध्यगतः भगवान् स्मृतरासमध्यान्तर्धानेन सखीगणेन अन्तर्हिते भवति मया सम्पूर्णतया व्रजलीला कृतेति' यदा निज्ञापितस्तदैव सम्पूर्णवज्ञलीलां स्मृतिपथारूढां कृतवानिति सम्प्र-सादो नवरङ्गस्वामी किलाज्ञापयति ।

आिङ्किनाति चुम्बानि नानाभावितदर्शतम् । चकार भगवांस्ताभी रसलीलामहोदयम् ॥ ९९ ॥ बार-बार आिङ्किन और चुम्बन तथा नाना प्रकार के भावों को दिखाते हुए भगवान् ने उनके साथ महान् रस लीला की ॥ ११ ॥

> सञ्जीभिविरहे दुःखननुभूतमभूच्च यत्। तच्चानन्दस्याम्भोद्यौ विलाहितमभूदहो ॥ १२ ॥

सिखयों द्वारा विरह में जो जो अनुभव हुआ था उसका आनन्द के सुधा समुद्र में उन्होंने विलाप किया ॥ १२ ॥

> जलक्रीडां ततस्चक्रे यमुनाया ज<mark>ले शुची।</mark> तीरे स्थित्वा पुनर्गोप्यो विवादांश्चक्रिरे ततः ॥ १३ ॥

उसके बाद यमुना के शुद्ध जरु में जलक्रीडा की। उस यमुना के तीर पर पुनः बैठकर उन गोपियों में पुनः विवाद हुआ।। १३॥

> समाहिता भगवता विष्यानन्दत्रमण्ड्ताः। इत्येषा रासलीलायाः स्थितिः प्रोक्ता तवान्षे ॥ १४ ॥

परम आनन्द में विभोर होकर समाहित चित्त उन भगवान ने, हे निष्पाप ! इस रासळीला की स्थिति को तुम्हारे लिए कहा ॥ १४॥

शिव उवाच---

अविश्वकार कामस्य सखीनां पूरणाय च । आविश्वकार कालमायां पुनस्तां पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

शिव ने कहा-

उन पुरुषोत्तम ने शेष बचे हुए सिखयों के काम की पूर्ति के लिए कुछ काल के लिए पुन: माया का आवरण डाल दिया ॥ १५ ॥

अपरयदक्षरः स्वप्नं कालमायाविज्ञितम् । प्रातनंन्दगृहे सुप्तः प्रबद्धोऽस्मीति निश्चितम् ॥ १६ ॥ कालमाया के विज्ञस्मण से अक्षर ने स्वप्न देखा । नन्द के घर पर सोए हुए वे प्रातःकाल उठे हैं ऐसा उन्हें जान पड़ा ॥ १६ ॥

> सखीरच दद्शे सर्वा गोपगेहेम्य उत्यिताः। न मूलावेशतः किञ्चित् कूटस्यस्यैव वासनाः ॥ १७ ॥ उज्जृम्भिता बहुविधा तदद्भुतिमवाभवत्। कुर्मार्थ्यः श्रुतयरचापि कालमायाप्रपञ्चगाः॥ १८॥

सिखयों ने भी स्वप्न देखा कि वे भी गोपों के घर में सवेरे उठी हैं। किन्तु कृटस्थ की वासना कुछ भी विचिलित नहीं हुई। बहुत प्रकार से भी जम्भाइ छाने पर बड़ा अद्भुत सा हुआ कि गोप कुमारी श्रुतियाँ भी कालमाया के प्रपश्च में आ गईं।। १८।।

> अत्युप्रविरहावेशादुद्धवस्यापि शिक्षया। कृटस्थान्तहं दि स्फूर्जंदवजलीलारसोदधौ ॥ १९ ॥

उद्धव की शिक्षा से और अत्यन्त विरह के आवेश से कूटस्थ के अन्तःकरण में में वजलीला का रस समुद्र निकल पड़ा।। १९॥

निम्नगा इव तिष्ठन्ति तिच्चित्तस्य रसस्पृशः। अथ कंससमदिष्टो ह्यक्रूरो गोकुलं गतः।। २०।। नदी किनारे बैठी हुई उनके चित्त के रस का स्पर्श करती वे स्थित थी। इसके बाद कंस के आदेश से अक्रूर गोकुल गएं।। २०॥

तेन साकं गते कृष्णे गोपिका विरहातुराः। दुःखेन निन्युदिवसान् तत्कथा' ख्यापनादिभिः॥ २१॥

जनके साथ कृष्ण के चले जाने पर गोपियाँ विरह से व्याकुल हो गई। उन्होंने जन विरह के दिनों में जन भगवान् कृष्ण की लोलाओं का परस्पर कथन करते हुए अत्यन्त दुःख से दिनों को बिताया ।। २१ ।।

> हत्वा कंसं मल्लयुद्धे चाणूरं मुब्टिक तथा। बद्धकच्छोल्लसद्धलिधसरश्चास्गांकितः॥ २२॥

कंस चाण्र और मुष्टिक नामक दैत्यों को मल्लयुद्ध में मारकर वे लंगोट पहने घूलि घूसरित होकर शोभित हुए ॥ २२ ॥

> पश्यतां सर्वलोकानां प्राप्तः कारागृहं गृहस् । देवकी वसुदेवश्च यत्रैवासत् हत्सुकौ ॥ २३ ॥

वे सभी लोकों के देखते-देखते उस कारागार में पहुँच गए जहाँ देवकी <mark>और</mark> बसुदेव बड़ी ही उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।। २३।।

> ववन्दे चरणौ मातुः पितुः प्रणयविह्वलः। बद्धाञ्जलिर्जगादेदं क्षम्यतामिति मां प्रति । २४॥

अत्यन्त प्रेम से विह्लल होकर माता और पिता के चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़कर फिर कहा कि—'आप मुझे क्षमा कर दें॥ २४॥

१. तत्कथेल्लापनादिभिरित्यपि पाठः।

प्रसाद्य पितरं कृष्णो मातरं च विशेषतः। यमुनायां ततः स्नात्वा शुचिदिव्याम्बरं दधौ । २५॥

पिता को और विशेषत। माता का कृष्ण ने प्रसन्न करके यमुना में तब स्नान करके शुद्ध-दिच्य वस्त्रों को पहना ॥ २५ ॥

> जरासन्धादिकान् हत्वा समुद्वाह्य सुलोचनाः । षोडर्शेव सहस्राणि शतमष्टोत्तरं तथा ॥ २६ ॥

जरासन्ध आदि राक्षसों को मारकर और सुलोचनों वाली सोलह हजार <mark>एक</mark> सो आठ कन्याओं से विवाह किया ॥ २६ ॥

> हत्वासुरभरं पृथ्व्याः यादवैरुपवृ'हितम् । भारं जिहीर्षुभगवान् कुले शापमपातयत् ॥ २७ ॥

असुरों को मारकर पृथ्वी का भार भगवान ने उतार दिया। जब यादवों से सम्पूर्ण पृथ्वी उपबृद्धत हो गई, तब उन्हीं को शाप में डाल दिया।। २७॥

> शापदग्धधियः सर्वे यादवाश्च परस्परम्। विनेशुर्भगवांस्तत्र प्रभासे रहसि स्थितः॥ २८॥

शाप से दग्ध बुद्धि वाले उन यादवों ने परस्पर ही लड़कर एक दूसरे का विनास कर डाला। तब भगवान गुप्त रूप से प्रभास क्षेत्र में चले गये थे।। २८॥

> चतुर्भुं जः कञ्जपलाशलोचनः पीताम्बरः कौस्तुभशोभिताकृतिः।

स्वपाञ्चजन्याम्बजचक्रसद्गदः

प्रगल्भसङ्गीतगुणो बभौ हरिः ॥ २९ ॥

भगवान की चार भुजाएँ और कमल के पत्तों के समान लोचन थे। शरीर पर पीताम्बर और कौरतुभमणि शोभित हो रहेथे। उनके हाथों में उनका अपना पान्त्रजन्य नामक शङ्क्ष, कमल, चक्र और सुन्दर गदा थी। इस प्रकार उदात्त गुर्णों से युक्त भगवान विष्णु शोभित थे।। २९॥

> व्याधेन शरसंस्पृष्टः पादे मृगविशङ्कितः । वैकुण्ठमगमत्साक्षद्धारिः कमललोचनः ॥ ३० ॥

कमल के समान लाल वर्ण के पैर को दूर से देखकर एक व्याघ ने मृग समझकर बाण चला दिए। इस प्रकार साक्षात् रूप से कमललोचन भगवान् हरि बैकुण्ठ को चले गए।। ३०।। कालामायागृहीताङ्गा मूलसस्यस्तुयाः स्थिताः । ता अपि स्वप्नलीलायां विचित्राकृतयोऽभवत् ॥ ३९॥

्र कालमाया से गृहीत अङ्गीं वाली मूल रूप से जो सिखयाँ स्थित थी वे भी स्वप्त कीला में विधित्र आकृति वाली हो गई।। ३१।।

> तद्वासनास्तासु लीना भविष्यन्ति यदा प्रिये। बोधमाप्स्यति कृटस्थः प्रलयोऽयं महान् शिवे । ३२॥

हे प्रिये ! उनकी वासना जब उनमें लीन होंगी तब कूटस्य [ब्रह्म] प्रबुद्ध होगा। हे शिवे ! यही महान् प्रलय है ।। ३२ ।

> मोहनाको भविष्यन्ति सर्वे ब्रह्ममधा इमे । इत्येतलो समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया शिवे ॥ ३३ ॥

जब उनका मोह नाथा होगा तब ये सभी [श्रुति रूपा] गोपियाँ ब्रह्मसय हो जायँगी। हे शिवे! यह रहस्य तुम्हारे लिए मैंने उद्धाटित किया है जो तुमने पूँछा है।। ३३।।

गुह्याद् गुह्यतरं शाम्त्रसिदमुक्तः मयाऽनघे। गोपितव्यः प्रयत्नेतः जननीजारगर्भवत्।। ३४॥ ॥ इति माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे शिवोमासंवादे पञ्चदशं पटलम् ॥ १५॥

हे अनघे ! मैंने गुद्ध से भो गुद्ध इस शास्त्र को तुमसे कहा है। इसिलए इसे व्यभिचरित सन्तान के समान छिपाना चाहिए॥ ३४॥

श्वाद प्रकार श्रीनारदपाश्चरात्र आगमगत 'माहेश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के पन्द्रहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १५ ।।

अथ षोडशं पटलम्

देवेश भगवन् शम्भो यत्त्वयोक्तमलौकिकम् । तच्छुत्वा हृदय मेद्य मज्जते विस्मयोदधौ ॥ १ ॥

देवी पावँती ने कहा-

हैं देवों के ईश, भगवन, शम्भु (जगत् का कत्याण करने वाले) जो आपने यह अलौकिक (कृष्ण की रास लोला की) बात कही है, उसे सुनकर आज मेरा हृदय विस्मय के सागर में स्नान कर रहा है अर्थात् मैं इस रास को सुनकर बहुत अश्चर्यान्वित हुई हूँ॥ १॥

तत्रोक्तं यत्त्वया देव प्रिया भगवतस्तु याः। कामशेषानुभ्त्यर्थमिहासन्निति शङ्कर ॥ २ ॥ अवशिष्टः कथं कामोऽनुभूतस्ताभिरीश्वर । कथं वा लक्षयेयुस्ता लक्षणीरिति तदद । ३ ॥

वहाँ, हे देव ! 'जो भगवान की प्रिया काम की शेष अनुभूति के लिए थी' जो आपने, हे देव ! यह कहा, तो हे शब्द्धर (कल्याण करने वाले) ! वे अविशब्द प्रियाएँ कैसी थीं और उनके द्वारा काम की अनुभूति कैसे की गई! हे ईश्वर! वे किन लक्षणों से लक्षित थीं ? उसे कहिए ॥ २-३ ॥

मत्र्यं लोक गतानां च कृष्णस्त्रीणां महेश्वर।
गुरुभावं गतोऽसि त्वं प्रोक्तवानसि यद्रहः । ४॥
योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः कर्मनिष्ठास्त्रयोधनाः।
तथां गुरुस्त्वमाद्यो हि तत्तत्तत्त्वोपदेशकः। ५॥

है महेश्वर ! मर्त्यलोक में गई कृष्ण की स्त्रियाँ गुरुभाव को प्राप्त हुई थीं, यह जो आपने रहस्य की बात कही, वह कुछ ठीक नहीं लग रही है क्योंकि उन योगियों, जानियों, भक्तों, कर्मयोगियों और तपोधनों से भी बड़े आप ही हैं खीर उन उन लोगों को तत्त्व का उपदेश करने वाले भी आप ही हैं ॥ ४-५॥

त्वामनादृत्य ये पापाः प्रवर्त्तान्ते स्वकर्मसु।
न तेषां जायते सिद्धिः कोटिकरपशतेरिष ॥ ६॥

तुम्हें छोड़कर जो पापी अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं उन्हें सौ करोड़ कल्प में मी सिद्धि नहीं प्राप्त होती है ॥ ६ ॥ त्वमेव सर्वधर्माणां कत्ती वक्ताभिरक्षिता।
त्वद्भवत्यैव हि संसिद्धिनृंणां भवति कर्मजा।। ७।।
आप ही सभी धर्मों के कर्ता हैं, उनके वक्ता एवं रक्षक भी आप ही हैं। तुम्हारो
भिक्ति से ही, कर्म से उत्पन्न मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त होती है।। ७।।

त्वदुक्त्या बोधमाप्स्यन्ति भूतले भगवित्त्रयाः ।

मर्त्यदेहगतानां तु गुरुभूतोऽसि शङ्कार ।। ८ ।।

भूतल में मगवान की उन प्रियाओं को आपकी ही मिक्त से बोध की प्राप्ति

होगी । हे शङ्कार ! मर्त्य शरीर वालों के लिए आप ही गुरु हैं ।। ८ ॥

तस्मादवश्यमेवैतदृपदेष्टव्यमीश्वर । मध्यपि कृपया नूनं रहस्यिमदमद्भृतम् ॥ ९ ॥ इसिल्ए, हे ईश्वर ! उन्हें अवश्य ही आप द्वारा उपदेश देना चाहिए । मेरे उपर भी कृपा करके इस अद्भुत रहस्य को कहें ॥ ९ ॥

शिव उवाच-

धन्यासि देवदेवेशि लिलत ते परं वचः। श्रृत्वा प्रसन्तहृदयः कथिष्ये कथां शुभामः॥ १०॥ अहं लोकगुरुः साक्षात् धर्मवक्ता जगत्त्रये। तं मां निन्दन्ति ये मूढास्तेषां सिद्धिः कथं भवेत्॥ १९॥

शिव ने कहा-

हे देव देवेशि ! तुम घन्य हो । तुम्हारी वाणी श्रोष्ठ और लिलत है जिसे सुनकर हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ है । अतः मैं शुभ कथा को कहूँगा । मैं सम्पूर्ण लोक का गुरु हूँ और तीनों लोको में साक्षात् रूप से घर्म का बक्ता भी मैं ही हूँ । इसलिए जो मूर्ख मेरी निन्दा करते हैं तो उनको कैसे सिद्धि प्राप्त होगी ।। १०-११ ।।

नानादेवतसद्भवत्या नानाधर्मे व्यंवस्थिताः। तत्र तत्रोपदेष्टाऽहं तं मां निन्दन्ति पामराः।। १२ ॥ कि न कुर्वन्ति ते मूढाः यतो माया महेशितुः। बलीयसी विभोहार्हान् विमोहयति नापरान्।। १३ ॥

नाना देवताओं की भक्ति करने वाले जो हैं और नाना धर्मों में व्यवस्थित जो हैं - उन उनका मैं ही उपदेष्टा हूँ। अतः पामरजन ही मेरी निन्दा करते हैं। वे मूर्ख क्या नहीं करते हैं क्योंकि वे माया से संचालित होते हैं। वह बलवान माया, मोह से विमुख रहने वाले उन को मोहित करती है। किन्तु अन्य (मेरे परायण) को मोहित नहीं करती।। १३॥

भविता फलरूपश्च येषां धर्मः सनातनः। ते' न निन्दन्ति देवांश्च धर्मान्वेदान्मतानि च ॥ १४॥

जिनका सनातन धर्म है, वे देवों की, धर्मों की, वेदों की और अन्य मतों की निन्दा थोड़े-ही करते हैं। इसीलिए उनकी तपस्या फलक्ष्य में परिणत हो जाती है।। १४।।

पाखण्डवादनिरता वेदधर्मविनिन्दकाः । नरकं प्रतिपद्यन्ते न निवर्त्तन्ति कहिचित् ॥ १५ ॥

किन्तु जो पाखण्ड में रत हैं और जो वेद एवं धर्म की निन्दा करने वाले हैं, वे नरकगामी होते हैं तथा कभी भी वहाँ से नहीं छौटते हैं ॥ १५॥

> इदमेव लक्षणं देवि मर्त्यलोकगतासु तत्। अक्षरः परमात्मा च स्वभिन्नौ पुरुषावुभौ॥ १६॥

हे देवि ! मर्त्यं होक में जाने वाले उन मनुष्यों का यही [धर्म की निन्दा करने वाले और धर्म की निन्दा न करने वाले का] लक्षण है : वस्तुतः वह अक्षर ब्रह्म परमात्मा इन दोनों प्रकार के पुरुषों से भिन्त है ॥ १६॥

शब्दब्रह्म परब्रह्म ह्योतदप्यद्वयं प्रिये। शब्दब्रह्मोदिता धर्माः कर्मज्ञानादयः प्रिये।। १७।। हे प्रिये ! क्योंकि शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों एक ही है। हे प्रिये ! कर्म एवं ज्ञान आदि का तथा धर्मों का उदय शब्द ब्रह्म से ही होता है।। १७॥

> ते सर्वे स्वात्मबोधाय यदि कामविवर्जिताः। धर्माऽनुष्ठातृनिन्दाभिर्धमी एव विनिन्दिताः॥ १८॥

वे सभी अपना स्व का बोध करने के लिए होते हैं यदि काम से रहित हों तो। धर्मानुष्ठान की निन्दा के द्वारा धर्म ही विनिन्दित होता है।। १८।।

तत्र धर्मस्य निन्दाभिः शब्दब्रह्मं व निन्दितम् । तन्निन्दया परब्रह्मा अक्षरः स्याद्विगहितम् ॥ १९॥ वहां धर्म की निन्दा से शब्द ब्रह्म की निन्दा होती है और उनकी निन्दा से परब्रह्म अक्षर का भी अपमान होता है ॥ १९॥

१. बहुवाबुनिका मूढिधियः 'सुलिमिति स्वर्गः' दुःखमिति नरक' इति अभिघा-यान्यत्र स्वर्गनरकस्थानं पृथक् न मन्यन्ते तदसत्, चतुर्दशलोकानां मध्ये इत उच्वै तृतीयं स्वः, अधः सप्तमः पातालाख्यो लोकस्तत्रैव दक्षिणाशायां निरयाणा-मनकेषां स्थितिरित्ति सत्यम् ।

गहिते ह्यक्षरे देवि गहितः पुरुषोत्तमः। स्वमत्तिन्दया देवि तत्तिप्रवाणां कुतो गतिः॥ २०॥

अतः इस प्रकार अक्षर के गहित होने सें, हे देवि ! वह पुरुषोत्तम भी गहित हो जाते हैं। इसलिए हे देवि ! यदि अपने पति की निन्दा की जाय तो उसके प्रिय की फिर क्या गति होगी ॥ २०॥

> न निन्देन्मनसा वाचा धर्मान्वेदपथांन् शिवान् । ब्राह्मणान्कर्मनिष्ठांश्च हविः कामदुधाश्च गाः ॥ २१ ॥

इसलिए, मन एवं वाणी से धर्मी की, वेदनिरत लोगों की, शिव परायण भक्तों की, ब्राह्मणों की एवं कर्मनिष्ठ लोगों की, हिव की और कामनाओं की प्रदाता गायों की निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ २१ ॥

> तस्मादित्यादिकं सर्वं मनसा वेद्य तत्वतः। निन्दाद्वेषादिरहितो भजते पुरुषोत्तमम् ॥ २२ ॥

इसलिए इन सभी को तत्त्वतः मन से जानकर निन्दा-द्वेष से रहित होकर पुरुषोत्तम को भजना चाहिए॥ २२॥

> प्रतिविद्याद् देवदेवेशि कृष्णस्यैव प्रियेति ताम् । सर्वमक्षरसम्भतं विदित्वानन्यभावतः ॥ २३ ॥

हे देवों के देव ईश की अर्वाङ्गिनी ! उन्हें कृष्ण की ही प्रिया जानना चाहिए। सभी चराचर जगत् अक्षर से ही सम्भूत है— यह जानकर अनन्यभाव से उन्हीं पुरुषोत्तम को बाराधना करना चाहिए ॥ २३॥

> प्रणमेन्मनसा वाचा तमाहुः कृष्णवल्लभा। पातिव्रत्यमिदं देवि तदनन्यविभावनम् ।। २४॥

वाणी और मन से उन्हें प्रणाम करना चाहिए । उन्हें विद्वत् जन कृष्ण की बिल्लभा कहते हैं। हे देवि ! अनन्यभाव से उन्हीं का भजन करना पातिव्रत्य वर्म है ॥ २४॥

स एवेदं बभूवाग्रं पश्चादप्येवमेव सः। क एवान्योऽस्ति देवेशि तत्त्वदण्टचावलोकने ॥ २५ ॥

वह पति (बालक श्री कृष्ण) ही पहले विद्यमान थे और बाद में वही स्वामी रहेंगे। वस्तुतः, हे देवेशि! तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उन कृष्ण के अतिरिक्त भला अन्य कौन पति (पालन कर्ता) हो सकते हैं।। २५।। तस्मादिदं पातित्रत्यं कृष्णस्त्रीणां मयोदितस् । पातित्रत्यपरिज्ञानं यो न जानाति केवलम् ॥ २६॥ न तस्मिन्वासनालेशो निश्चितं सुरवन्दिते । पतित्रताधर्ममिमं सद्गुरोः शास्त्रतोऽपि वा ॥ २७॥

इसलिए मेरे द्वारा यह कृष्ण परायण स्त्रियों (भक्तों) के लिए पातिवृत्य वर्म कहा गया। जो भक्त मात्र पातिवृत्य का परिज्ञान नहीं करते हैं, हे सुरवन्दिते! निश्चित ही उन साधक में (कृष्ण परक) भावना का लेशमात्र भी नहीं रहता है। यह पातिवृत्य धर्म सद्गुरु अथवा शास्त्र से प्राप्त होना चाहिए।। २६-२७॥

निशम्याप्नोति तन्निष्ठां तमाहुः कृष्णवल्लभा । केचिद्वदन्ति वै मूढाः पातिव्रत्यमितोऽन्यथा ॥ २८॥

गुरुमुख से सुनकर जो भक्त उन भगवान कृष्ण में निष्ठा रखता है उसे ही विद्वान, कृष्णबल्लभा' कहते हैं। कुछ मूर्ख बृद्धि के जन इस पातिव्रत्य वर्म को अन्यथा करके कहते हैं (यह ठीक नहीं हैं। २८॥

एक एव पतिः सेव्यो नान्यो मान्यः कदाचन । अन्यस्य सेवया लोके योषित्सा पतिता भवेत् ॥ २९ ॥

एक ही पति की सेवा करना चाहिए। कभी भी अन्य को पति नहीं मानना चाहिए। लोक में अन्य व्यक्ति की सेवा से नारी पतिता हो जाती है।। २९॥

> पातित्रत्यिमदं देवि लौकिकं न त्वलौकिकम् । अनौश्वरः परिच्छिन्नः सदोषो लौकिकः पतिः ॥ ३० ॥ योषित्सापि तथा लोके पातित्रत्यमतस्तथा । ईश्वरस्तु विभुः साक्षाद्विश्वात्मा विश्वविग्रहः ॥ ३९ ॥

हे देवि ! यह लौकिक पातिव्रत्य-धर्म है । यह अलौकिक पातिव्रत्य नहीं है । लौकिक पति चारो ओर से दोष से युक्त है तथा सर्व सामर्थ्य युक्त नहीं है । अत। वैसा ही लोक में युवती का पातिव्रत्य-धर्म है । किन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापी है और विश्व शरीर में तथा साक्षात् विश्व की आतमा रूप से विद्यमान है ।। ३०-३१ ॥

स एव सर्वरूपैश्च नामभिः स्यातिमागतः। सर्वनामस्वरूपं विज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम्।। ३२ ॥ दृष्टचाऽविषमया देवि सर्वत्र परिपश्यति। पातिव्रत्यमिदं भद्रे मयैतत्कथितं शुभम्॥ ३३ ॥

वह परमात्मा ही सभी रूपों और नाना प्रकार के नामों से विख्यात होते हैं। सर्वेनाम-स्वरूप को जानकर हम सनातन ब्रह्म को ही, हे देवि ! अभेद हिट से सर्वेत्र देखते हैं। यह गुम पातित्रत्य-धर्म हमारे द्वारा, हे कल्याण किरने वाली देवि ! कहा गया ॥ ३२-३३॥

इत्येतन्तिर्णयाज्ञानाद्विभ्रमन्ति विमोहिताः। षट् दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षी करौ शिरः ॥ ३४॥

इस प्रकार के ज्ञान के निर्णीत न होने से व्यक्ति अज्ञान के कारण विशेष रूप से मोहित होकर जन्म मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। साधक को सदैव अभेद हिट ही रखनी चाहिए। वस्तुतः छः दशन मेरे दोनों पैर एवं दोनों हाथ तथा दोनों कुक्षि और शिव के तुल्य मेरे अङ्ग हैं॥ ३४॥

तेषु भेद तु यः कुर्यान् मदङ्गच्छेदको हि सः। एव पतित्रताधमं सम्यक् ज्ञात्वा गुरोर्मुखात्।। ३५ ।।

उन षड्दर्शनों में जो साधक भेद करता है तो वह मानों मेरे अङ्गों का ही विच्छेद करता है। इस प्रकार के पतिव्रत्य धर्म को गुष्मुख से भली प्रकार से जानकर जो साधक पति (पालक श्रीकृष्ण) की परिचर्या करता है उसे ही 'कृष्ण-बल्लमा' कहा जाता है।। ३५॥

> पति परिचरेद्यस्तु तमाहुः कृष्णवल्लभा । श्रुत्वा कृष्णकथालापं यद्वपुः पुलकािङ्कितम् । आनन्दाश्रुजलं नेत्रे तमाहुः कृष्णवल्लभा ॥ ३६॥

वस्तुतः उसी सामक को 'कृष्णवल्लभा' कहा जाता है जिसका शरीर कृष्ण की कथा-लीला को सुनकर रोमाश्वित हो जाय और आनन्द विमोर होकर नेत्रों में अश्रुजल डब-डबा जायें।। ३६।।

श्री पार्वत्युवाच —

कामसङ्कल्परहितं कमं वर्णाश्रमोचितम् । कस्मात्करोति यस्येच्छा कामसङ्कल्पवर्जिता ॥ ३७ ॥ अनुद्दिश्य फल्लं देव न बालोऽपि प्रवर्तते । ब्रह्मसृष्टि' गतो जीवः कस्माद् व्यथं प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

पार्वती ने कहा--

इस वर्णाश्रम में उचित तो यह है कि निष्काम कर्म किया जाय। तो जिस साधक की कामना रहित इच्छा है तो वह कैसे कर्म करता हैं। निष्प्रयोजन कर्म तो एक अबोध बालक भी नहीं करता है तो फिर ब्रह्म सृष्टि-गत जीव आखिर क्यों व्यर्थ ही इसमें प्रवृत्त होते हैं।। ३७-३८।।

ब्रह्मसृष्टिवासनेह ह्यत्तमजीवानामुपरि सस्थिता मायामनु भवति ।

मोहसृष्टिसमुद्भूताः स्वर्गादिफलमोहिताः। ते कर्मणि प्रवर्त्तन्ते न तन्नित्र महेश्वर ॥ ३९॥

स्वर्गादि फल की कामना मोह सृष्टि से उत्पन्न हुई है। उन यज्ञ यागादि कर्मों में जो जन प्रवृत्त होते हैं तो, हे महेश्वर ! उसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ३९ ॥

> कृष्णित्रयाः कृष्णरूपा वासनाभिः समागताः । कथं ताः कर्मणि व्यर्थे नियोजयसि शङ्कर ॥ ४० ॥

अता है शङ्कर ! कृष्ण रूप वासना द्वारा आई हुई वे कृष्ण की प्रियाएँ उन-उन कर्मों में अपने को व्यर्थ ही कैसे नियोजित करती हैं ? आखिर उनका कुछ तो प्रयोजन होगा ?।। ४०॥

शिव उवाच--

अप्रबृद्धः प्रबृद्धो वा कर्म कुर्यात्सदाहितम् । सकामं निन्दितं कर्मं मुमुक्षुं प्रति मानिनी ॥ ४९॥

शिव ने कहा—

हे मानिनि ! चाहे व्यक्ति जागता हो या सोया हो, वह सदैव कर्म करता ही रहता है । किन्तु मोक्ष की आकाङ्क्षा वाले साधक के लिए सकाम कर्म करना निन्दित है ॥ ४१ ॥

> क्रियावान् पुरुषः श्रेष्ठो भवाब्धि तरते सुखम् । क्रियाविरहिता लोके धर्मश्रष्टा विभान्ति मे ॥ ४२ ॥ अश्रद्दद्यानात् धर्मेषु विद्वांसः कृपया विभो । नोपदेश्यन्ति शास्त्रार्थमुषरे बीजवित्प्रये ॥ ४३ ॥

वस्तुतः सदैव कर्म करते रहने वाला पुरुष इस संसार साग्य को सुख से प्राप्त कर जाता है। मेरे अनुसार क्रियारहित व्यक्ति घर्म अध्ट हुआ-सा लोक में कान्तिहीन रहता है। विद्वान लोग परमात्मा की कृषा से धर्मों में श्रद्धा न करने वाले को कभो मी शास्त्र का उपदेश नहीं करते हैं क्योंकि है प्रिये! बह तो उषर भूमि में बीज बोने के समान ही निष्फल है॥ ४२-४३॥

> न च तत्वस्य निर्घारः शास्त्रहीनस्य जायते । तद्यं निर्णयं शास्त्र त्यवत्वाऽन्यत् साधनं मुद्या ॥ ४४ ॥

शास्त्रहीन व्यक्ति तत्त्व के निर्धारण में अक्षम हो होता है। इसलिए उसके निर्णायक शास्त्र को छोड़कर अन्य साझक तो ईश्वर प्राप्ति के लिए झुठे हैं।। ४४।।

१. कामनाभिरित्यपि पाठः।

११ मा०

इवपुच्छालम्बनं यद्वतितीर्षोः सागरं यथा। विना तत्वस्य निर्धारं शङ्कापि न निवर्त्तते ॥ ४५ ॥

अन्य साधक को अपनाना तो कुरो की पूँछ पकड़कर सागर को पार करने की इच्छा के समान है। विना तस्त्र के निश्चय हुए तो (मन में आने वाली अन्यान्य) शब्द्वाए भी नहीं मिटाई जा सकती। ४५।।

शङ्कापङ्काष्ट्रमिलने हृदये नेव सुन्दरि। प्रेमार्कप्रतिबिम्बः स्याद्येन कृष्णः प्रभासते॥ ४६॥

हे सुन्दरि! शाङ्का रूप कीचड़ से मिलन हृदय कमल में प्रेम के सूर्य का प्रतिविम्ब भी नहीं पड़ता है जिसमें कृष्ण प्रतिभासित होवें।। ४६॥

तस्माद्वणिश्रमाचारभ्रष्टे नरचतुष्पदे । नैव ज्ञानं तथा भक्तिर्यथार्थोदेति निश्चयः ॥ ४७ ॥

इसलिए वर्णाश्रम के आचार से अष्ट व्यक्ति चौपाए जानवर के समान है। यह निश्चित है कि उस आचार अष्ट साधक में न तो कर्म ही होता है और न ही मिक्त यथार्थ रूप से उदित होती है।। ४७॥

> नित्यं नैमित्तिकं तस्माहकर्तव्यं तदशङ्कया। काम्यं निषिद्धं यत्कर्मं तत्तुदूरात्परित्यजेत् ॥ ४४ ॥

इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि नि:सन्देह रूप से नित्य और नैमित्तिक (श्राद्ध-व्रत आदि) कर्म जरूर करे। किन्तु काम्य कर्म जो निषिद्ध हैं, उन्हें दूर से ही त्याग दे॥ ४८॥

नित्यं नै मित्तिकं कर्म फलं बहनाति न क्वचित्। अननुष्ठानमात्रेण प्रत्यवायस्तु जायते।। ४९।। नित्य और नैमित्तिक कर्म कहीं भी फल को नहीं बांधते हैं। उनके तो अनुष्ठान मात्र से ही प्रत्यवाय (बाधाएँ) हट जाती हैं।। ४९॥

> अनुष्ठाने फल नास्ति चित्तर्युद्धि विनेतरत्। काम्यादिकर्मकर्तारो देहभाजः पुनः पुनः॥ ५०॥

नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करने से, यद्यपि कोई फल नहीं होता है, किन्तु विना उसके किए चित्त बुद्धि भी नहीं होती। जबकि काम्यादि कर्मों के कर्त्ता को (पुण्य की समाप्ति होने पर) बार-बार जन्म लेना पड़ता है।। ५०।।

> तस्मात्काम्यं परित्यज्य नित्यं विद्वान् समाचरेत् । अप्रवृद्धदशायां च । प्रबुद्धायामपि प्रिये ॥ ५१ ॥

कत्तंव्यं सहजं कमं न तान्विष्नः प्रभूयते। प्रबुद्धस्यापि यत्कमं तत्र मे निर्णयं श्रृणु॥५२॥

इसलिए विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि काम्य कर्मों का परित्याग करके नित्य कर्मों को करे। हे प्रिये! अप्रबुद्ध दशा में अथवा प्रबुद्ध दशा में सहज (नित्य) कर्म करना चाहिए। उन कर्मों से विघ्न बाघाएँ नहीं आती हैं। अब प्रबुद्ध दशा में भी जो कर्म करना चाहिए, उसका निर्णय हमसे सुनिए॥ ५१-५२॥

वात्तीमात्रेण विज्ञानं प्रबोधो नैव वास्तवः। साक्षात्प्रबोधे देवेशि देहः सद्यो विलीयते॥ ५३॥

वार्ता मात्र से ही वास्तविक ज्ञान रूप विशेष प्रबोध नहीं होता है। वस्तुता, है देवेशि ! साक्षात् प्रबोध (विज्ञान) होने पर तो सद्यः देह विलीन हो जाता है (अर्थात् वह ज्ञानाश्नि से नष्ट हो जाता है)।। ५३॥

तस्माच्छाब्दप्रबोघोऽयं परमार्थौ न विद्यते । ससारमोहनाशाय शाब्दबोघो न हि क्षमः ॥ ५४॥

इसलिए मात्र शाब्द प्रबोध (वात ही बात करने से) परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती है। वस्तुत संसार में मोह के नाश के लिए 'शाब्द प्रबोध' समर्थ नहीं है॥ ५४॥

न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया।
जवलितः पतितो देही यदा विरहविह्निना ॥ ५५ ॥
तदा विद्यादात्मबोधमन्यथा बाब्द एव सः।
शाब्दप्रबोधमात्रेण नित्यं नैमित्तिकं त्यजेत्॥ ५६ ॥

कभी भी मात्र दीपक की बत्ती से अन्धकार नहीं हटता है। वस्तुतः (श्रीकृष्ण के) विरह की अग्नि में जब गिरकर भरीर जल जाता है तभी साधक को आत्म-बोब (अग्निक्स साथक को आत्म-बोब (अग्निक्स साथक को आत्म-बोब (अग्निक्स साथक को आत्म-बोब ही साथक साथक प्रबोध साथ ही रहता है। हो गाब्द प्रबोध मात्र से नित्य एवं नैमित्तिक कर्म का त्याग करना चाहिए ।। ५५-५६ ।।

प्रत्यवायी स विज्ञेयो नासी बोधमवाष्नुयात् । यावद्देहाभिमानः स्यान्ममता तावदेव हि ॥ ५७ ॥

यदि ऐसा नहीं करता है तो उसे साधना में स्वयं को 'बाधक' समझना चाहिए और ऐसे व्यक्ति को कभी भी बोच नहीं होता है। वस्तुतः जब तक देहाभिमान रहता है, तभी तक ममता बनी रहती हैं।। ५७।।

तावद्देहानुबन्धित्वात्कर्म कर्तव्यमेव हि । शास्त्रोक्तं कर्म कर्त्तव्यं विकमं विनिवृत्तये ॥ ५८ ॥

तभी तक देहाभिमान के कारण कर्म और कर्तव्य के प्रति ममता होती है। बस्तुता निवृत्ति के लिए शास्त्रकेक्त कर्म ही कर्तव्य हैं। तदितिरक्त अन्य कर्म तो 'विकर्म' कहे जाते हैं। १८॥

> विकर्मण प्रवृत्तिस्तु नृणां स्वाभाविको यतः। विकर्मणः प्रभावेन देहभाजः पुनः पुनः॥ ५९॥

मानवों की 'विकर्म' में प्रवृत्ति तो स्वभाविक होती है। अतः विकर्मों के प्रभाव से मनुष्य को पुनः पुनः देह घारण करना होता है।। ५९॥

नित्यं नैमित्तिकं देवि फलं सङ्कल्पवर्ज्जितम्। चित्तं शोधयते साध्वि ! न तु देहाय जायते ॥ ६० ॥

हे देवि ! नित्य एवं नैमित्तिक कर्म के फल तो संकल्परहित होते हैं। हे साब्वि ! वे कर्म तो चित्त का शोधन करते हैं। वे शरीर के लिए नहीं होते हैं।। ६०।।

> का हानिस्तत्र देवेशि निष्कामाचरणे नृणाम् । इत्येवं निर्णयाज्ञानान्मूढाः पण्डितमानिनः ॥ ६१ ॥ त्यजन्तः शोधनं कर्मं पापचित्ता भ्रमन्ति व । सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मजोऽस्मीति वादिनम् ॥ ६२ ॥

हे देवेशि ! अतः मनुष्य को निष्काम कर्म करने में फिर हानि क्या है ? मात्र इतने का ही निर्णय न कर पाने के कारण अज्ञानवश्य मूर्ख और पिष्डित मानी जन अपने चित्त के शोधक कर्म को छोड़ते हुए पापचित्त होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं और 'मैं ब्रह्म-ज्ञानी हूँ' यह कहते हुए सांसारिक सुखों में आसक्त रहा करते हैं ॥ ६१-६२ ॥

> कर्म ब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा। देहेन्द्रियसुखासक्तो' ब्रह्मज्ञोऽस्मीति यो वदेत् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार देह एवं इन्द्रिय में आसक्त जन, जो अपने को ब्रह्मज्ञानी बताते हैं उन 'कर्म एवं ब्रह्म' दोनों से अष्ट हुए मूर्ख पण्डितों का उसी प्रकार परित्याग कर देना चाहिए जैसे चाण्डाल का त्याग कर दिया जाता है ॥ ६३॥

> न तं वैज्ञानिनं मन्ये मणिभूषितगर्दभम्। ब्रह्मवादं पुरस्कृत्य वर्णाश्रमनिबन्धनाः॥ ६४॥

१. सुखासक्तमिति मूलपाठः ।

उन भ्रष्ट जनों को उसी प्रकार ज्ञानी नहीं समझना चाहिए जैसे मणि से अलङ्कत गदहे को कोई ज्ञानी नहीं समझता है। ब्रह्म के विचार को आगे आगे लेकर वे वर्णाश्रम में फंसे जन ही हैं।। ६४॥

विलु'पन्तः क्रियाः सर्वाः लोकनाशकरा हि ते । ब्रह्मवादः कलियुगे गेहे गेहे जने जने ॥ ६५ ॥

उनकी ज्ञान सम्बन्धी किया का लोप ही गया है। वे तो समस्त संसार को नष्ट करने वाले हैं। वस्तुत कलियुग में 'ब्रह्म विचार' तो घर-घर में और जन जन में व्यास रहता है।। ६५।।

भविष्यति ततः काले धर्मकर्मं विलोपनम् । धर्मकर्मे विहीनानां पापमेवानुसेवताम् ॥ ६६ ॥

इस कारण से काल क्रम से घर्म-कर्म का लोप हो जायेगा और घर्म-कर्म से विहीन व्यक्ति मात्र पाप कर्मों का ही सेवन करते हैं । ६६॥

तेषामासुरजीवानां नरकं न निवर्त्तते।

तस्मादेवं सुनिर्णीय धर्मकर्मपरायणाः ॥ ६७ । उन आसुरी जीवन जीने वालों के लिए उस नरक से निकल पाना मुश्किल है । इसलिए इस प्रकार का (चिनष्काम कर्म रूप) सुन्दर निर्णय करके सावक को

धर्म-कर्म में परायण होना चाहिए ॥ ६७ ॥

कृष्णमेवानुसेवन्तस्तान्मन्ये कृष्णवस्त्रभाः। इति ते कथितं देवि वासनालक्षणं मया।। ६८।। यज्ज्ञात्वा ह्यचिरादेव स्वात्मबोधः प्रजायते।। ६९।।

। इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती संवादे षोडशं पटलम् ॥ १६॥

मात्र कृष्ण की सेवा करने वाले उन साघकों को ही 'कृष्णवल्लभा' जानना चाहिए। हे देवि ! इस प्रकार मैंने आपसे वासना का लक्षण बताया है जिसे जानकर साबक भक्त को शीघ्र ही आत्मबोघ हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के सोलहवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशं पटलम्

पार्वत्युवाच-

भगवन् देवदेवेश निणेयः साधुसंमतः। कथितोऽयं सदाचारलक्षणः पावनो नृणाम् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा-

हे भगवन्, है देवदेवेश, आपने साधुसम्मत निर्णय किया है। आपने मनुष्यों को [अनाचार रूप पाप से मुक्त करके] पवित्र करने वाला यह सदाचार का लक्षण कहा है।। १।।

> धमंकमंविहीनानां सदाचारं विमुञ्चताम्। मलीमसानां दुष्टानां ब्रह्मसिद्धिनं जायते।। २।।

घर्म [= श्रुति में आस्तिकता रूप से] और कर्म [नित्य एवं नैमित्तिक] से विद्वीन और सदाचार छोड़कर जीवन पथ पर चलने वाले दुष्टात्मा एवं निकृष्ट बुद्धि बाले मनुष्य को 'ब्रह्मसिद्धि' नहीं होती है ॥ २ ॥

यथा जहचात् शनैरम्भः सोपानानि क्रमात् क्रमात् । तथा देहानुसम्बन्धान् शनैजेहचात् स पण्डितः ॥ ३ ॥ सोपान के क्रम से क्रमशः जैसे बादल धीरे-घीरे जल छोड़ते हैं वैसे ही घीरे-घीरे जो देह से सम्बन्ध [त्रर्थात् देह में आसक्ति] त्याग दे वही विद्वान् व्यक्ति है ॥ ३ ॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते स्वात्मनि स्वयम् अस्मकाञ्चनयोस्तुल्यं भावप्राप्ती समस्थिती ॥ ४ ॥

इस प्रकार देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर स्वयं अपनी आत्मा में अपने को जान लेने पर पत्थर और सुवर्ण में उसे समान भाव की प्राप्ति हो जाने पर समिष्ठित उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है ए ४॥

> उदासीनारिमित्रेषु स्वानन्दानुभवोदये। न कर्मभिस्तदा कार्यं सम्बन्तो भिक्षया यथा।। ५।।

शत्रु और मित्र दोनों में ही उदासीन भाव रखने वाले को और अपने में आनन्द के अनुभव होने पर भी उदासीन होकर उसे कर्मों के द्वारा आसिवत से कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि भिक्षा के द्वारा कार्य चलाने वाले को साम्राज्य से क्या ? ॥ ५ ॥ यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् । स्वारमानन्दोदये तद्वरकर्माभिनं प्रयोजनम् ॥ ६ ॥

क्योंकि जैसे अमृत से तृष्ठि प्राप्त हो जाने पर आहार करेया न करे उससे क्षुत्रा का प्रयोजन हो क्या है? उसो प्रकार जब अपने में आनन्द का उदय हो गया हो तो कर्मों में कोई प्रयोजन नहीं होता॥ ६॥

> तालवृन्तेन कि कार्यं छब्धे मलयमास्ते। स्वात्मानन्दोदये जाते कर्मणा कि प्रयोजनम् ॥ ७ ॥

यदि मलयाचल की वायु ही प्राप्त हो जाय तो पंखे का क्या प्रयोजन है ? उसी प्रकार अपने में ही आनन्द का उदय यदि हो जाय तो आसिवत से कार्य करने का क्या प्रयोजन है ? ।। ७ ॥

पार्वती उवाच--

साध्वेतद्व्याहृतं देव त्वया भागवता प्रभो।
परं वेदितुम्बद्धामि सन्देहाकुलमानसा॥८॥
ब्रह्मवादः कलियुगे गेहे गेहे जने जने।
धर्मकमेविलोपार्थ भविष्यति न संशयः॥९॥

पार्वती ने कहा-

हे देव ! आप भगवान् प्रभु के द्वारा इस प्रकार ठीक ही कहा गया है । घरन्तु सन्देह से आकुल मन वाली मैं यह जानना चाहती हूँ कि किल्युग मैं ब्रह्मवाद [ब्रह्मज्ञान] घर-घर में और जन-जन में धर्म कर्म के लोप के लिए ही होगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८-९॥

> इति यद्भवता प्रोक्तं तत्र मे संशयो महान्। ब्रह्मवादेन सदृशं पवित्रं नहि किञ्चन ॥ १० ॥

इस प्रकार जो आपने कहा उसमें हमें महान संशय यह है कि 'ब्रह्मवाद' के सहस तो और कुछ भी पित्रत्र नहीं है ।। १०॥

तपो दान क्रिया योगः स्वाध्यायनियमा यमाः । समाप्यन्ते महेशान ब्रह्मजानोदयादनु ॥ ११ ॥

हे महेश, हे ईशान ! ब्रह्मज्ञान के उदय हो जाने के बाद तप, [दान, क्रिया और योग, स्वाध्याय आदि नियम और यम [निरोध] समाप्त हो जाते हैं॥ ११॥

> श्रह्मजानैकनिष्ठानां महादेव महात्मनाम् । सर्वं सम्पूर्णतां याति नित्थं नैमित्तिकं च यत् ॥ १२ ॥

ब्रह्मज्ञान में एकनिष्ठ महात्मा जनों के लिए, हे महादेव! नित्य नैमित्तिक स्नादि जो भी कर्म हैं वह सभी सम्पूर्णता को प्राप्त करते हैं।। १२।।

> ब्रह्मज्ञानेन मुच्येत यदि चेद्विश्वघातकः। न तस्य कर्मलोपोऽस्ति पद्मस्येवाम्भसा यथा।। १३।।

यदि विश्व का घातक ैं ब्रह्मज्ञान से छुटकारा पा जाता है तो उसके कर्म का लोप भी उसी प्रकार नहीं होता जैसे पद्म में जल का लोप नहीं होता है ॥ १३ ॥

> कलिस्तु सुमहान् पापस्तामसात्मा मलीममः। अधर्मे रमते नित्यं येन स्पृष्टा प्रजा भृवि। १४॥

कियुग महान् पापों वाला हैं। इसमें तामस हृदय के और मिलन बुद्धि के जन नित्यप्रति अधर्म में ही रमण करते हैं, जिससे प्रजा इस भूमि पर स्पृष्ट होगी ।। १४ ।।

यत्रोदेष्यन्ति पाषण्डा धर्मानिनशिहेतवः। वर्णानां सङ्करो यत्र स्वस्वकर्मविलुम्पताम् ॥ १५ ॥

घर्म के निःशेष रूप से नाश के हेतुभूत पाखण्ड बहुत होंगे। वहाँ कलियुग में वर्णसंकर होगा। [ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र के] अपने कर्मी का लोप हो जायगा।। १५।।

> कन्या विक्रियणर्श्चेव वेदविक्रियणो हिजाः। म्लेच्छाचाररता लोके म्लेच्छभाषाविशारदाः। १६॥

लोग कन्या को बेच देने वाले होंगे और ब्राह्मण वेद का विक्रय करेंगे। लोक में जन म्लेच्छों के आचार में रत रहेंगे और वे म्लेच्छभाषा के पण्डित होंगे॥ १६॥

> म्लेच्छान्नपानपुष्टाङ्गा धर्मकर्मविनिन्दकाः। स्वाहास्वधाविरहिताः शिक्नोदरपरायणाः॥ १७॥

म्लेज्छों के अन्त से और उनके [मिदिरा आदि] पेय द्रव्यों से पुष्ट अंगों वाले वे घर्म कर्म के विशेष रूग से निन्दक ही होंगे। वे नित्य अग्निहोत्र और श्राद्ध आदि पितृ कृत्यों से भी विहीन होंगे। वे एकमात्र उदर के पोषण एवं मैथुन में लिस रहेंगे॥ १७॥

> परस्त्रीपरधनलोभाय हेतुवादपरायणाः। कलौ सर्वे भविष्यन्ति सर्वधर्मविवर्जिताः ।। १८ ।।

पराई स्त्री एवं पराए घन के लोभ के लिए 'हेतुवाद' [तर्क द्वारा अवसरवादिता] में रत रहेंगे। इस प्रकार कलियुग में सभी लोग सभी धर्मों से विहींन होंगे।। १८॥ ब्रह्मवादः कलियुगै गेहे गेहे ज<mark>ने ज</mark>ने । असम्भाव्यमिवाभाति ममैतत्सुरपूजित ॥ १९ ॥

इस प्रकार कलियुग में ब्रह्मवाद घर घर एवं जन-जन में होगा। हे देवताओं से पूजित! हमें तो यह असम्भावित ही सा लगता हैं।। १९।।

> कलावि महापापे प्रवृत्तं ब्रह्मकीर्तनम् । तत्कथं धर्मलोपाय लोकानां मेऽत्र विस्मयः ॥ २० ॥ विचार्यं बृहि मे देव कृपया करुणानिधं ।

महान् पापारमक किल में भी जब ब्रह्म के प्रतिपादन में लोग प्रवृत्त होंगे तो फिर धर्म का लोप कैसे सम्भव होगा—मुझें यही सन्देह हो रहा है। है देव है करुणानिधान ! आप सोंचिवचार कर मेरे सन्देह की निवृत्ति करें।। २०-२१।।

शिव उवाच-

साधु पृष्टं त्वया भद्रे सर्वलोकैकहेतवे।। २**९**॥ तदहं ते प्रवक्ष्यामि प्रृण्^दकाग्रमानसा। यस्य श्रवणमात्रेण धर्मश्रद्धा प्रजायते॥ २२॥

शिव ने कहा-

हें मद्रो ! तुमने सभी लौकिक जनों के कत्याण लिए अच्छा प्रश्न किया है। तुमको मैं वह कहता हूँ जिसके श्रवणमात्र से धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जातो है। उसे तुम एकाग्र मन से सुनो।। २१-२२॥

पुरा द्वादशवाधिक्यामनावृष्टशामनम्भित । दवाग्न्यकंविनिर्दग्धवनकन्दादिसम्पदि ॥ २३॥

प्राचीनकाल में एक बार बारह वर्षों का अकाल पड़ा। जल की वर्षा हुई ही नहीं। दवाग्नि और सूर्य से वन की कन्द-मूल आदि सम्पदा भी दग्ध हो गई।। २३।।

'क्षुत्तृद्परीता वे काश्चित्प्रजा गिरिगृहाश्चिताः । परस्परं भक्ष्यमाणा मस्त्रिरे व्याधिकर्षिताः ॥ २४ ॥

भूख और प्यास से सन्तप्त कुछ प्रजाजन गिरि की गुफा में चले गए, और परस्पर एक दूसरे की खाते हुए व्याधि से दु:खित होकर मर गए।। २४॥

गौतमस्याश्रमे रम्ये तपतीतीरसंस्थिते । क्षवार्ता ब्राह्मणाः प्राप्ता देहनिर्वाहकाम्यया ॥ २५ ॥

 ^{&#}x27;क्षतृङ्क्यां च परीतापैः' इत्यपि पाठः ।

तपती नदी के तीर पर अवस्थित होकर गीतम के आश्रम पर क्षुधा से आहैं ब्राह्मणगण शरीर निर्वाह की कामना से आए । २५ ॥

> अलक्षन् गौतममुनि शिष्यराशिपरिवृतम् । ब्रह्मतेजःप्रभावेन ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २६ ॥ अन्नान्युत्पाद्य तपसा पुष्णन्त शिष्यसंहतिम् । प्रणेमुर्बाह्मणाः सर्वे निवद्धकरसम्पुटाः ॥ २७ ॥

शिष्यों आदि से विरे हुए गौतम मुनि को देखकर प्रज्ज्विलत अग्नि के समान ब्रह्म तेज के प्रभाव से शिष्यों की सहायता से अन्तों का .उत्पादन करने वाले तप से पुष्ट मुनि को सभी ब्राह्मणों ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ २६-२७॥

ब्राह्मणा कचुः—

त्राहि त्राहि मुने प्राप्तान् शरण्यान् शरणप्रद । जाठरेणाग्निना तप्ता वयं सर्वे द्विजातयः ॥ २८ ॥

ब्राह्मणों ने कहा----

है मुनि ! आपकी शरण में आए हुए हम लोगों को शरण दीजिए । हम सभी आहाणजन जठराग्नि [भूख] से संतप्त हैं ॥ २८ ॥

खलभ्य कन्दमूलादि निर्जले क्षितिमण्डले। न प्रवर्त्तन्त एवेह क्रिया निगमचोदिताः॥ २९॥

इस जलविहीन भूमितल पर कन्दमूल आदि भी नहीं प्राप्त हैं। अतः वेद से विहित क्रियाओं को भी हम नहीं संपादित कर पा रहे हैं।। २९॥

अन्तं वे प्राणिनां प्राणाः प्राणदोन्त ददाति यः। तस्मादन्तप्रदानेन प्राणदो नः पिता भवान्।। ३०॥

अन्न ही प्राणियों का प्राण है अतः प्राणदायक अन्न को जो देता है उस अन्न प्रदान से प्राण देने वाले आप हमारे पिता ही हैं॥ ३०॥

एकतः सकला धर्मा यज्ञाः सर्वस्वदक्षिणाः। तपांस्युग्राणि दानानि व्रतानि सुबहून्यपि ॥ ३९॥ न तुलामधिगच्छन्ति ह्यन्तदानस्य व मुने। क्षुत्विपासे प्राणधर्मी क्षुधया कृष्यते वयुः॥ ३२॥

सभी घर्म और यज्ञों की सभी दक्षिणा एक ओर ही रह जाती है। उग्र तप, बहुत से दानों और बहुत से ब्रन भी, हे मुने! अन्तदान से अधिक नहीं ही होते। भूख और प्यास तो प्राण के धर्म हैं। क्षुघा से शरीर दुर्बल हो जाता है।। ३१-३२।। वपुःकाश्यें चेन्द्रियाणि किषतानि भवन्ति वै। म्लानेन्द्रियमनोवृत्तेः विविधितवे प्रपद्यते॥ ३३॥

शरीर के दुर्बल पड़ जाने पर इन्द्रियां भी कमजार हो जाती हैं जौरः पुरुष म्लान इन्द्रियों से मन की वृत्तियों के वश में पड़ जाता है।। ३३।।

> मनोम्लानौ बुद्धिलयस्ततो ध्यानं निवर्तते। अध्यायतः कुतः स्वात्मानुभूतिर्भवति प्रभो॥ ३४॥

वस्तुत। मन के म्लान होने से बुद्धि ही अब्ट हो जाती है। अतः बुद्धि के लय के कारण व्यान नहीं होता है। अतः हे प्रभो ! विना व्यान के स्वात्मानुभूति कैसे सम्भव है ? ।। ३४ ।।

तस्मादन्नेन' सदृश दानं नास्ति जगत्त्रये।
म्लानेन्द्रियमनोवृत्तेः क्षुधया पीडितस्य च । ३५ ॥
अन्नाभिकाङ्क्षिणो येन प्राणतृष्तिः कृता मुने।
तेन दत्तं हुतं जप्तं तपस्तप्तं शुभ कृतम्। ३६॥

इसलिए तीनों लोकों में अन्त दान सहश कोई भो दान नहीं है। म्लान इन्द्रिय रूप मनोवृत्ति से और क्षुधा से सन्तप्त अन्त की आकांक्षा वाले पुरुष को, हे मुने! जिससे प्राण की तृष्ति हो और दिया हुआ, हुत, जप, तप, शुभ हो वैसा कीजिए!! ३६!!

पृथ्वी रत्नेन सम्पूर्णा तेन दत्ता दिजातये। तस्यैव ज्ञानसिविद्धभैवतीति श्रुत हि नः॥ ३७॥

यह सम्पूर्ण पृथ्वी रत्न से भरी है अतः उसे द्विजाति को देना चाहिए। उसी से जान की सम्यक् रूप से सिद्धि होती है ऐसा हमने सुना है। ३७॥

किमन्यज् ज्ञाप्यते तुभ्यं सर्वज्ञाय मुनीक्वरः। तथाविधेद्यंग तूर्णं यथा नः प्राणधारणाः॥ ३८॥

हे मुनियों में ईश्वर, आप सर्वेज्ञ के लिए क्या कुछ ज्ञान कराने योग्य हैं ? इसलिए आप शीझातिशीझ वैसा ही करें, जिससे प्राण को घारणमात्र हो जाये ॥ ३८॥

> शरीरमूलमन्नं हि धर्ममूलमिदं वपुः। चित्तजुद्धौ विशेषेण धर्म एव हि कारणम्। ३९॥

वस्तुत। शरीर का मूल अन्त ही है और धर्म का मूल शरीर ही है और विशेषः रूप से चित्त को गुद्धि में धर्म ही एकमात्र कारण है ॥ ३९॥ भक्तिज्ञीनं च वैराग्यं शुद्धचित्तस्य जायते । सर्वार्थसाधनं तस्माच्छरीरमिदमुच्यते ॥ ४० ॥

शुद्ध हुए चित्त वाले व्यक्ति से ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य संपादित होता है । इसलिए हे मुने ! यह शरीर ही सभी [अलौकिक या लौकिक] अर्थ की सिद्धि का √एकमेव साघन कहा गया है ।। ४० ।।

> पुनग्रीमं पुनिवत्तां पुनः क्षेत्रं पुनगृहिस्। पुनः शुभाशुभं कर्मन शरीरं पुनः पुनः॥ ४९ ॥

इस लोक में फिर से ग्राम हो सकते हैं, पुन: घन की प्राप्ति सम्भव है, पुन: खेत वनाए जा सकते हैं और घर भी फिर से बन सकता है। पुन: ग्रुम अथवा अग्रुम कर्म तो कर सकते हैं किन्तु शरीर पुन: पुन: नहीं बनाया जा सकता है। ४१।।

> शरीररक्षणायासः कत्तिव्यः सर्वथा बुधैः। नहीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्टादिरोगिणः॥४२॥

इसलिए इस शरीर की रक्षा का प्रयत्न विद्वान व्यक्ति की अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि इस शरीर की तो कोई कुष्ठ आदि रोग से पीड़ित कुरूप व्यक्ति भी छोड़ना नहीं चाहता।। ४२ । ४

> तद्गोषितं स्याद्धमिथे धर्मो ज्ञानार्थमेव च। ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात्तोन मुच्यते ॥ ४३॥

इसलिए घर्म के लिए इस शरीर की सुरक्षा करनी चाहिए और घर्म (दिखावे के लिए नहीं अपितु) मात्र ज्ञान के लिए करना चाहिए। घ्यानयोग के लिए ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए। उसी घ्यान योग को चिरकाल तक करने से ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४३॥

> तपः प्रभावमास्थाय पाहचस्मान् कृपणानिह । इत्येवं वचनं तेषां व्राह्मणानां तपोधनः ॥ ४४ ॥

हे मुने ! तप के प्रभाव से आप हम कृपणों एवं दीनजनों की रक्षा की जिए । इस प्रकार के उन तपोधन ब्राह्मणों के क्षुधा से आतं हुए दीन बचनों को सुनकर गौतम मुनि अत्यन्त करुणा से आद्र हो गये ।। ४४।।

दीनानां क्षुष्ठयात्तीनां निशम्य करुणोऽभवत् । गौतम उवाच—

साधु साधु महाप्राज्ञा स्थाय्यमेतद्वचो हि वः ॥ ४५ ॥

१. 'शुद्धिम्चित्तस्य' इत्यपि पाठः ।

गौतम मुनि ने कहा-

साधु, साधु, हे महान् प्रज्ञावान् ब्राह्मणों आपके ये वचन निश्चित ही न्यायोचितः एवं युक्तियुक्त हैं ॥ ४५ ॥

> धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं देह उच्यते। रक्षितव्यः प्रयत्नेन तस्माद्देहो मुनीश्वराः॥ ४६॥

वस्तुतः यह शरीर ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का साधन कहा गया है। इसिलिये, हे मुनीश्वरों ! इसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये॥ ४६॥

> देहत्यागं न चेच्छन्ति ये भक्ता ये च साधकाः। महापापादिभिलिप्तः सर्वकर्मविनिर्गतः॥ ४७॥

वस्तुतः जो सावक हैं और जो भक्त जन हैं, वे कभी भी इस अलभ्य शरीर के त्याम की इंच्छा भी नहीं करते हैं। शरीर त्याम के लिये तो [प्रायश्चित स्वरूप में] उसे सोंचना चाहिये जो महान् पापादिकों में लिप्त हैं अथवा जो सभी कमों से विशेष रूप से विहीन है।। ४७॥

पृथिवीभारभूतो यो देहस्त्याज्यः स एव हि । पितृदेवातिथीनां च कर्मणियः सुपुण्यकृत् ॥ ४८ ॥

ये पृथ्वी के लिये भार ही हैं और वे ही देह त्याग करते के योग्य हैं। जो श्राद्धादिकिपतृ कार्य और अतिथियों के सत्कार में रत हैं वे सुन्दर पुण्य करते वाले हैं।। ४८।।

ईश्वरध्यानयोग्यश्च स कथं त्यागमहंति । कर्मणापि निषिद्धेन देहः पोष्य इहा यदि ॥ ४९ ॥

इसलिए ईश्वर के ध्यान के योग्य वे पुण्यवान् जन कैसे शरीर त्याग के योग्य हो सकते हैं ? निषिद्ध कर्मों के द्वारा भी यदि हो सके तो यह शरीर पोषण के योग्य ही है ॥ ४९॥

> दग्डवा तानि पुनः सोऽयं नयते हि गति पराम् । यावद्देहस्थितिलोंके तावत्कुशलमाचरेत् ॥ ५० ॥

वह पुनः उन्हें जलाकर इस श्रेष्ठ गित को ही प्राप्त करते हैं। अतः इस लोकः में जब तक शरीर की स्थिति रहे तब तक कुशल पूर्वक ही जीना चाहिये।। ५०॥

जलबुद्बुदतुल्योऽयं यस्मादेषो विनश्वरः। अस्थिरेण शरीरेण स्थिरधर्मं समाचरेत्॥ ५९॥ यद्यपि यह शरीर जल के बुलबुले के सभान विशेष रूप से नम्बर ही है इसलिये वो उसे इस अस्थिर शरीर से स्थिर वर्म का आचरण करना चाहिये ॥ ५१॥

> सवं ब्रह्मसयं पश्यन् मुच्यते मोहसङ्कटात्। स चाहं तपसा तस्मात्करिष्ये वः समीहितम्॥ ५२॥

सभी चराचर जगत्ं को ब्रह्ममय देखते हुये वह धर्मात्मा व्यक्ति मोह जाल रूप महान् सङ्कट से छूट जाता है। अतः जो कुछ हो सके वह तपस्या से मै आप लोगों के लिये उपलब्ध कराऊँगा ॥ ५२।

> विज्वराः सन्तु भो विष्ठाः स्वस्वकर्मण्यतिन्द्रताः । धन्यस्य कृतपुण्यस्य द्वार्यायान्त्यिथनो जनाः ॥ ५३ ॥

अतः हे वित्र ! अपने-अपने कर्मों में अतीन्द्रिय आप सब विगत ज्वर होवें। क्योंकि पुण्यवान और घन्य छोगों के ही द्वार पर अत्यन्त क्षुघार्तजन आते हैं।। ५३।।

> तेन सम्भावनीयास्ते प्राणैरिप धनैरिप । पञ्चभूतात्मको देहस्वनित्यः क्षणभङ्गुरः ।। ५४ ॥

इसिलये प्राणों आँर धनों से भी अधिक वे सम्भावनीय हैं। वस्तुत। यह पञ्च-भूतात्मक शरीर तो अनित्य और क्षणभर में ही नष्ट हो जाने वाला है।। ५४॥

> अवन्यं नाशमायाति कीर्तिधर्मौ न सर्वया। भूतद्रोहं परित्यज्य दया भूतेषु नो धृता।। ५५ ।।

किन्तु अवश्य ही, कीर्ति और धर्म सर्ध्या नष्ट नहीं होते । इसिलये प्राणियों से द्रोह का त्याग करके हमें प्राणियों पर दया करनी चाहिये ॥ ५५ ।

नोपाजितोऽि सद्धर्मः स्फारितं न यशो भृवि । नात्मा विमर्शितः शुद्धो वेदविद्धिश्च साधुभिः ॥ ५६ ॥

इस पृथ्वी पर उपाजित सद्धर्म भी यश का विस्तार नहीं करता। वेद वेता श्रीर सज्जनों के द्वारा भी आत्मा शुद्ध और निर्मेल नहीं की जा सकती ॥ ५६॥

> भूमिभराय तज्जन्म जीवन्नेव मृतो हि सः। तस्मात्तपोव्ययेनाहमिंथनां वो मुनीश्वराः॥ ५७॥ परिचर्यां करिष्येहं यथा स्याद्देहधारणा। इत्युक्तवा गौतमस्तान् वै दानमानार्हणादिभिः॥ ५७॥

सम्भावयामास तदातिष्यागमनहर्षितः ॥ ५९ ॥
॥ इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेक्वरनन्त्रे उत्तरखण्डे
शिवोमासंवादे सप्तदशं पटलम् ॥ १७ ॥

उसका जन्म तो पृथ्वी के लिये मात्र भारस्वरूप ही है और वह तो जीते हुये भी मृत के समान है। इसलिये न खर्च होने वाले तप से, हे मुनीश्वरों, क्ष्मा से अति दीन आप के शरीर का जैसे घारण हो सके वैसी मैं परिचर्या करूँगा। ऐसा कहकर गौतम ऋषि ने अतिथ्य प्राप्त करने आये हुए उन-ब्राह्मणों से हिषत होकर उनकी दान, सम्मान एवं जरुरत की वस्तुओं के द्वारा रक्षा की ए ५७-५९॥

श इस प्रकार श्रीनारदपा खरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड') में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के सत्रहवें पटल को डॉ॰ सुधाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १७ ॥

अष्टदशं पटलम्

शिव उवाच-

एवं सम्भावितास्तेन मुनिना मुनयस्त्रदा। असम्बाधे शिवे तस्मिन्नाश्रमे न्यवसन्सुखम् ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

इस प्रकार उन गौतममुनि के द्वारा उन मुनियों को अपनी क्षत्र छाया में ले लेने के बाद तब उन गौतम मुनि के उस विब्नरहित एवं शुभ आश्रम में उन ब्राह्मणों ने मुख से निवास किया ॥ १॥

> 'प्रातरप्तानि मध्याह्वे परिणामं गतानि च। अन्यान्यपरभागे तु तेमुंनिस्तानजीवयत्।। २।।

उन गौतम मुनि ने प्रातः उठकर मध्याह्न में और दिन ढलने तक तथा अन्य सौर भी अपर भाग में उन ब्राह्मणों को जिलाया।। २।।

> हन्येदेवान् पितृन्कन्येस्तर्पयन्तो मुनीश्वराः। ततः शेषामृतभुजो निन्युस्तेऽहर्गणान् बहून्॥ ३॥

उन मुनियों ने भी हब्यों से देवों को और पितरों को कब्यों से तृप्त किया। फिर शेष बचे अमृत रूप भोजन से अपने को तृप्त करते हुए बहुत दिनों तक सुख से समय बिताया।। ३।।

> ततो द्वादशवर्षान्ते वृष्टिरासीत्मुशोभना। साङ्कुरा सजला पृथ्वी पुनरासीद्यथा पुरा ॥ ४ ॥

इसके बाद बारहवें वर्ष के अन्त में खूब वृष्टि हुई। पृथियी जैसे पहले थी वैसे ही जल युक्त तथा अन्न के अंकुरों से युक्त हो गई।। ४॥

> प्रजाः स्थानानानि भेजुस्ताः पूर्वं गिरिगुह्राशयाः । अन्नादिविरहान्नष्टो धर्मः प्रावर्तत प्रिये ।। ५ ।।

पहले जो प्रजा गिरि के गुफाओं में चली गई थो वह भी अपने स्थानों पर आ गई। हे प्रिये! अन्न आदि के अभाव में बन्द हुए घर्म कार्य पुनः होने लगे गए।। ५।।

१. 'प्रातरुत्थाय' इति वा पाठः।

क्षितिरन्नादिसम्पूर्णा विश्वमासीत्सुमङ्गलम् । ततः कतिपये काले गन्तुकामाः मुनीश्वराः ।। ६ ।।

सम्पूर्ण पृथ्वी अन्तादि से पूर्ण हो गई समस्त विश्व में सुन्दर मङ्गल हो गया। सब कुछ काल के बाद उन मुनि गणों ने जाने की इच्छा व्यक्त की ॥ ६ ॥

> प्रेमबद्धोऽन्वहं विप्रान्त्येषधद्विरहाक्षमः। निषिद्धाः कतिचित्मासान् न्यवसंस्ते मुनीश्वराः। ७॥

प्रेम से आबद्ध एवं विरह सहने में असमर्थ मुनि ने उन विप्रों को निल्य जाने से रोका। उनके इस आग्रह को वे टाल न सके। इस प्रकार उनसें राके गए वे मुनि गण कुछ और महीनों तक वहाँ रहे।। ७॥

> पुनः पप्रच्छुरौत्सुक्यात्स्वस्वाश्रमगति प्रति । नेत्याह गौतमो विप्रान् विरहव्यथितो भृशम् ।। ४ ।।

बारम्बार मुनियों ने बड़ी उत्सुकता से अपने अपने आश्वमों को जाने के लिए गौतम मुनि से पूछा। किन्तु विरह से व्यथित होने की आशंका से गौतम मुनि ने पुनः पुन उन विप्रों को नहीं ही कहा।। पा।

> ततस्ते कृतसङ्केताः केचित्तेष्विप वाडवाः। कचुः परस्परं येन मुनित्यागः कथं भवेत्॥९॥

इसके बाद उनमें से कुछ ब्राह्मणों के दल ने एक सुझ का संकेत दिया। परस्पर एक दूसरे से वे बहने लगे कि ब्राखिर मुनि का अध्यम से हम लोगों का जाना कैसे हो ?।। ९॥

मुनिः स्नेहवशाद्बद्धः स्वयमस्मान्न सन्त्यजेत् । अस्माभिस्त्यज्यते सोऽयं तथा कुर्वष्ठवमादृताः ॥ १० ॥ मुनि तो स्नेहवश हमलोगों से आबद्ध है। अतः वे स्वयं हमें नहीं जाने देंगे । इसलिए हम लोग ही उन्हें छोड़ देवें ऐया कार्य हमें करना चाहिए॥ १०॥

विमर्षंतस्तथान्योऽन्यमुपायं मनसागमन्।
अभिषापं मुनौ घृत्वा गमिष्यामो यथारुचि ॥ १९॥
एक दूसरे से इस प्रकार विचार विमर्शं करने पर उनके मन में एक उपाय सूझा
कि मुनि का अभिशाप घारण करके ही हमें यथारुचि यहाँ से चले जाना
चाहिये॥ ११॥

ते दैवनिहताः सर्वे परस्परममन्त्रयन्।
कदाचिदथ मध्याह्ने कर्तुं मध्याह्निकीं क्रियाम्।। १२।।

ऋषिसङ्घेः परिवृतो जगाम तपतीं प्रति । निर्मितां मुनिभिर्धेनुं जरठामतिवेपतीम् ॥ ५३॥

वे दैव के मारे सभी ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे से मन्त्रणा करने लगे। फिर किसी समय मध्याह्न की क्रिया करने के लिए ऋषियों के सङ्घों से घिरे हुए गौतम ऋषि तपती नदी के तट की ओर गए। वहाँ पर उन्होंने मुनियों के द्वारा मायानिर्मित अत्यन्त कृशकाय एवं बृद्ध गौ को काँपते हुए देखा ॥ १२-१३।

> सीदन्तीं कलिले वीक्ष्य गौतमः करुणोऽभवत् । आसाच सुरभेः पार्वं यावत्तामस्पृशन्मुनिः ॥ १४ ॥ तावत्यपात सहसा मायाधेनुमृति गता । तद्दृष्ट्वा मुनयः प्रोचृधिग्धिक् गौतम ते कृतिम् ॥ १५ ॥

कीचड़ में फँसो हुई गौ को देखकर गौतम ऋषि अत्यन्त करणा से आड़ हो गए। उस गाय के पास आकर ज्योंहि उन मुनि ने उसका स्पर्श किया कि वह मायानिर्मित गौ सहसा गिर पड़ी और मर गई।। १४-१५।।

हिंसिता धेनुरबला किमतो निन्दितं भवेत्। अद्य प्रभृति ते द्वारि जलमात्राधिमिनंरैः॥ १६॥

उस गी को मरा देखकर मुनियों ने कहा—हे गीतम ! विकार है, विकार है, यह आपका कृत्य उचित नहीं है। बरे आपने इस अवला गी की मार डाला। यह तो बड़ा ही निन्दित कर्म है। आज से आपके द्वार पर पुरुष जल भी ग्रहण नहीं करेंगे॥ १६॥

> न स्थातुमहीः कि कुर्मी गमिष्यामी वय ततः। एवमुक्ती मुनिध्यत्वा तत्कृतानर्थमाप सः॥ १७॥

अब हम लोग भी यहाँ ठहरने के योग्य नहीं रहे। अतः हमलोग क्या करें? अब हम लोग अपने-अपने आश्रमों पर चले जायँगे। इस प्रकार उनके कहने पर गौतम मुनि ने व्यान करके उनके अनर्थ-कृत्य की जान लिया।। १७॥

उवाच वचनं क्रुद्धो डवलन्निव हुताशनः। वेदबाह्या भविष्यध्वं कृत्यद्याः स्वेन कर्मणा।। १८।। उन्होंने अग्निकी ज्वाला के समान उन पर क्रोधित होकर इस प्रकार वचन कहें—अपने ही कर्म से कृतघ्न आप सब वेद से तिरस्कृत हो जायेंगे॥ १८॥

> वेदबाह्यणगोमन्त्रतिन्दावादपरायणाः । कलौ भविष्यथो मूढाः ब्रह्मवादपरायणाः ॥ १९॥

आप सभी किलयुग में वेद, ब्राह्मण, गो एवं मन्त्र की निन्दा में परायण रहेंगे। आपकी आस्था इनसे हट जायगी। आप सब मूर्ख होकर ब्रह्मवाद (अहं ब्रह्मास्मि आदि वेदान्त वाक्यों) में परायण रहेंगे॥ १९॥

> अन्तर्दुष्टा बहिः स्वच्छा हेतुंवादपरायणाः । ब्रह्मज्ञत्वाभिमानेन धर्मकर्मबहिर्मुखाः ॥ २० ॥

आप कृतका ब्राह्मण अन्दर से दुष्ट प्रकृति के और बाहर से स्वच्छ दिखने वाले तर्ककास्त्र में परायण होंगे। ब्रह्मज्ञानी होने के अभिमान में आप सब धर्म एवं कर्म से बहिमुख होंगे॥ २०॥

> ब्रह्म सत्यं जगन्मिश्येस्यनुवादविचक्षणाः। भिश्यास्वाज्जर्गतः किं स्यास्कर्मभिश्च शुभाशुभैः॥ २१॥

'ब्रह्मसत्य' हैं और जगत् मिथ्या है'—इस वेदान्त वाक्य का मात्र अनुवा<mark>द करते</mark> मैं वे परायण रहेंगे। जगत् के मिथ्या होने से शुम या ब्रशुंभ कंमों से क्यां लेना देना ? इस प्रकार उनकी बुद्धि मूढ़ हो जायंगी ॥ २१॥

इत्येवं नास्तिका मूढा दुहुँदा वेदनिन्दकोः। ब्रह्मवादिवलासोत्येर्वचनैभविगवितः ॥ २२॥

इस प्रकार से नास्तिक, मूर्ख, दुष्ट हृदय और वैदनिन्दक ब्राह्मणे हो जायँगे। ब्रह्मवाद में सराबोर एवं भावगवित बचनों से वे अभिमानी बने रहेंगे॥ २२॥

साधुवेषेण शिक्षाभिः प्रियवाक्यामृतादिभिः। एतैर्जवनिकाकारैः पापमावृत्य केवलः ॥२३॥ सांघुके वेष में शिक्षाओं द्वारा तथा वमृत सदृशं प्रिय वाक्यों द्वारा लोगों को

एक नट की तरह पाप से आवृत होकर वे ठगेंगे ॥ २३ ॥

ज्ञानित्त्वमात्मनो लोके ख्यापयन्तो दुराशयाः ।

युयं वैडालिनो लोके भवन्तु चरमे युगे ॥ २४॥

ये दुराचारी लोक में अपने ज्ञानी होने की प्रसिद्धि करने के फेर फार में ही

व्यस्त होंगे। इस प्रकार आप सभी कृतक्ष्त ब्राह्मण लोक में कलियुंग में वैडाल वृत्ति

(= बिल्ली की तरह घोखां देकर छीना-झपटी करने) बाले हींगे ॥ २४॥

न तु वो वास्तवं ज्ञानमुदेण्यति कदाचन । इति गौतमशप्तानां धर्मच्छेदोद्यमे ततः ॥ २५ ॥ वासना समभूत्तेषां गौतमं प्रतिकुर्वताम् । अय तदासनायुक्ताः कलौ पापयुगे शठाः ॥ २६ ॥ जाप कृतकों में कभी भी वास्तविक ज्ञान का उदय नहीं होगा। इस प्रकार गौतम ऋषि द्वारा अभिशास हुए वे उसके ही बाद से धर्म के ही उच्छेद में बुद्धि लगाने वाले हो गए। गौतम के प्रति जैसी कृतकाता उन्होंने की थी वैसी शठ बुद्धि वाले वे ब्राह्मण इस पाप युक्त कलियुग में उनके शाप से उत्पन्त हुए।। २५-२६।।

अवतीर्य क्षितितले ब्रह्मसृष्टिमुपाश्रिताः। वेदशास्त्रविरुद्धानि ध्याचरन्तीह पामराः॥ २७॥

ये पामर ब्राह्मण पृथ्वी पर आकर ब्रह्मसृष्टि के आश्रित होकर भी वेदशास्त्र के विरुद्ध कर्मों का आचरण करने लग गए।। २७।।

द्विषन्त्याचारमास्तिक्यं यज्ञव्रततपांसि च । द्वहचन्त्यन्योऽन्यमासाद्य नष्टज्ञाना विचेतसः ॥ २८ ॥

ये आचारवान, आस्तिक एवं यज्ञ, तप तथा व्रतों के करने वाले लोगों से द्वेष करने लग गए। ज्ञान के नष्ट हो जाने से और बुद्धि के विपरीत हाने से ये एक दूसरे के पास आकर द्रोह करते हैं।। २८।।

> परद्रव्यपरद्रोहपरस्त्रीगमनोत्सुकाः । तत्सम्बन्धात् ब्रह्मसृष्टिर्मालिन्यमुपयास्यति ।। २९ ।।

ये कृतभ्त परद्रव्य, परद्रोही तथा परस्त्रीगमन में उत्सुक रहते हैं। इनके सम्बन्ध से ब्रह्मसृष्टि में मालिन्य आ जायगा ॥ २९ ॥

> यथा कालिमसम्बन्धात् स्फटिकोऽपि मलीमसः। आभाति तद्वदेवेयं ब्रह्मसृष्टिस्तदाश्रयात्।। ३०॥

जैसे कालिख के सम्बन्ध से स्फटिक भी मैला हो जाता है वैसे ही इन कृतध्नों के सम्बन्ध से ब्रह्मसृष्टि भी मलिनता को प्राप्त करेगी।। ३०।।

> तस्माद् बुभूत्सुभिः साध्व त्याज्यो वैद्यालकाश्रयः। समधर्मक्रियाख्यधारिणस्ते तु कीत्तिताः॥ ३१॥

इसलिए, हे साध्व ! कृष्ण भक्त-साधक को इन विश्वाल वृत्ति वाले कृतध्नों से दूर रहना चाहिए । वे घर्म कर्मों में छदा वेष धारण करने वाले कहे गए हैं ॥ ३१ ॥

अन्येऽपि सन्ति पाषण्डा आसुरं भावमाश्रिताः। तेऽपि निन्दन्ति पापिष्ठा वेदधर्म पुरातनम् ॥ ३२ ॥

१. वचनिमदमाकर्ण्यं श्रीपूर्णपुरुषोत्तमसेवामितक्रम्य वेदप्रतिपादितकर्मकाण्डादि चावलम्बय निजवाममार्गो ब्रह्मसृष्टिभिर्दिह नैव त्याज्यः, पितसेवात्यागेन प्रत्यवायदर्शनात् अतो ब्रह्मसृष्टीनां निजपितपुरुषोत्तमसेवैव परमो धर्मः। अन्य भी पाखण्डी और आसुरी (मांस-मदिरा आदि तामसी) प्रकृति के ब्राह्मण हैं। वे पापिष्ठ भी पुरातन वेद घर्म की निन्दा करते हैं। उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥ ३२ ॥

> तांस्ते व्रवीमि सङ्क्षेपात् श्रृणुष्वेकाग्रमानसा । यत् ज्ञण्वतां न पास्तण्डो बुद्धि मोहयति क्वित् । ३३ ॥

वे पाखण्डी कृतध्न ब्राह्मण कीन से हैं उन्हें मैं संक्षेप से कहता हूँ। हे देवि । आप एकाग्रमन से सुने। जिसके सुनने से कभी भी पाखण्ड में बुद्धि मोहित नहीं होती है।। ३३॥

पूरा देवासूरयुद्धे निजितेष्वसुरेष्वथ । पाखण्डाधिकृताः सर्वे हघेते सृष्टाः स्वयम्भृवा ॥ ३४ ॥

प्राचीन काल की बात है कि देवों और असुरों के युद्ध में जब असुर लोग देवों के द्वारा चीत लिए गए तो वे असुर पाखण्डियों के रूप में ब्रह्मा द्वारा सुष्ट हुए ॥ ३४ ॥

> तपश्चरत्सु सर्वेषु असुरेषु जयार्थिषु। विष्णुः सुदृक्तरां मायामास्याय सुरनोदितः॥३०॥ मोहयामास योगात्मा तपोविष्नाय तान्त्रभुः। स मूढान् बुद्धरूपेण तानुवाच महामनाः॥३६॥

उन सभी विजय की आकाङ्क्षा वाले असुरों के तप करने से विष्णु ते सुन्दर किन्तु दुस्तर माया के द्वारा उन्हें मोहित कर लिया और उन^क तप में विष्न डालने के लिए बुद्ध रूप से उन महामना प्रभु ने उन मूर्खों से कहा ॥ ३५-३६॥

> शक्या जेतुं सुराः सर्वे युष्भाभिरितिदर्शनैः। बौद्धधमं समास्थाय शक्यास्ते बभूविरे ॥ ३७॥

दर्शनों के द्वारा सभी देवता आप लोगों के द्वारा जीते जा सकते हैं। अता आप सब बौद्ध धर्म में आस्थावान होकर उन्हें जीत सकते हैं। बुद्ध भगवान के ऐसा कहने पर वे बौद्ध धर्मावलम्बी हो गए।। ३७।।

> तानुवाचाहँतो मम यूयं भवत महिधाः। ज्ञानेन सहितं धर्मं ते चाहँन्त इति स्मृताः।। ३७ ॥

अर्हत हुए उन्होंने उन (असुरों) से कहा — जैसे मैं हूँ वैसे ही तुम सब हो जाओ। ज्ञान के सहित धर्म धाले वे 'अर्हत' कहलाए।। ३८।। बौद्धश्रावकनिर्प्रन्थाः सिद्धपुत्रास्तथैव च। ऐते सर्वेषि चाहंन्तो विज्ञेया दुष्टचारिणः॥३९॥

बौद्धश्रावक, निर्प्रन्थी (= जैन सन्यासी), सिद्धपुत्र (= जैनी) आदि दुष्ट बुद्धि बाले ने सभी 'अर्हन्त' के नाम से जाने गए ॥ ३९ ॥

> त्रयीक्लेशं समुत्सृज्य जीवतेत्यत्रवीत्तु यान्। जीवकानाम ते जाताः सर्वधर्मबहिष्कृताः । ४०॥

जो असुर वेदनिन्दक होकर वेद छोड़ कर जीवित थे वे 'जीवत' सभी धर्मों से धिक्कित होकर 'जीवक' नाम अभिहित हुए।। ४०॥

यान् भूत्वादित्ययद्व्योम्नि धर्मान्वं प्रतिपादयत् । कापिलास्तेपि सम्प्रोक्ताः कपिलो हि दिवाकरः ॥ ४९ ।

आदित्य के समान जो आकाश में घर्मी का प्रतिपादन करते थे वे 'कापिल' (मूरे पक्क के) कहे गए क्योंकि दिवाकर किपल हैं ॥ ४१॥

चरध्वं तानुवाचेदं मच्छासनमतिद्यृति। चरकास्तेषि विश्वेया अधर्माचारणाः शठाः ॥ ४२ ॥

हमारे शासन में बुद्धि रखकर 'घरध्यम्' (=शासन मानों) ऐसा उमसे विष्णु ने कहा। वे अधर्माचारी और शठ असुर 'चरक' नाम से अभिहित हुए॥ ४२॥

दीर्घंचरिमिति प्रोक्त सूक्ष्म वा धर्मे रूपकम् । धर्मचरध्विमित्युक्ताः यस्मात्ते दीर्घंचक्षुषः ॥ ३ ॥ 'दीर्घं आपरण करो' ऐसा धर्म का लक्षण सूक्ष्म रूप से कहा । धर्म का आचरण करो' ऐसा कहने से वे 'दीर्घंचक्षु' कहलाए ? (अर्थं अस्पष्ट है)॥ ४३॥

चीराणि चैव नीलानि विभ्राणाद्यीरकास्ततः।
एत्रश्चोक्षोतिसंशुद्धो धर्मस्तं श्रयतेति यान् ॥ ४४ ॥
उवाच मायया विष्णुस्ते हि चौक्षाः प्रकीत्तिताः।
विद्भक्षाद्यवेव ये केचित् कपालकृतभूषणाः ॥ ४५ ॥
तथेतरे दुरात्मानः सर्वेष्यासुरदेवताः।
बौद्धश्चावकनिर्ग्रन्थाः सिद्धाः शास्तथेव च ॥ ४६ ॥

वे नील वस्तों को पहने थे। अत. वे चीरक' कहलाए। ये शुद्ध 'उक्ष' थे। जिनमें घर्म आश्रित था। अतः विष्णु की माया ने इस उक्ष असुरों को 'औक्ष' रूप से प्रसिद्ध कर दिया। मांस आदि विष्ठाभोजी और कपालों को अपना आभूषण जनाने वाले पाखण्डी तथा अन्य दुरात्मा एवं आसुरी वृक्ति वाले वे सभी देवता।

बौद्ध सन्यासी और जैनी तथा जैन सन्यासी, आत्मा को न मानने वाले तथा कुत्सित ज्ञान वाले चार्वाक आदि कल्यिग में रहेंगे और वे अधर्म में सर्देव रत रहकर पुनः पुनः पैदा होते रहेंगे ॥ ४४-४६॥

> नैरात्म्यवादिनः सर्वे अपज्ञानास्तिवादिनः। वर्त्तमानास्त्वधर्मेषु जायन्ते तु पुनः पुनः ॥ ४७ ॥ निरय प्राप्य तैरेव कर्मभिर्भावितैः पुनः। व्या जटी व्या मुण्डी वृथा नग्नाश्च ये नराः॥ ४८ ॥ एते उन्ये च त्रयीबाह्याः पाखण्डाः पापचारिणः। पाशब्देन त्रयीधर्मः पालनाज्जगतः स्मृतः ॥ ४९ ॥ तं खण्डयन्ति यस्मात्ते पाखण्डास्तेन हेतुना। यदि ह्यनादरेणेषां न कथ्येता प्रमाणता ॥ ५०॥ समद्ब्यः। अश्ववयविति मत्वान्ये भवेयः त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य ये हचत्यन्तिवरोधिनः ॥ ५९॥ अनिराकृत्य तान् सर्वान् धर्मशुद्धिर्न लक्यते। पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालान् हेतुकांस्तथा ॥ ५२ ॥ बकवृत्तांदच यान् तान्वै वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्। या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुद्ष्टयः ॥ ५३ ॥ सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ते स्मृता। ।

वे नरक को प्राप्त कर अपने कर्मानुसार पुनः उत्पन्न होंगे। वे वृथा ही जटाघारी
होंगे तथा वृथा ही सर मुड़वा लेंगे। ये वृथा ही नग्न रहने वाले और वेदल्यों को न
मानने वाले अन्य पाखण्डी तथा पाणचरण करने वाले लोग पुन पुना जन्म लेंगे।
वस्तुतः 'पा' शब्द से वेदल्यों के धर्मानुसार जगत् का पालन करना कहा गया है। वे
उसका खण्डन करते हैं अतः वे पाखण्डी कहलाए। यदि अनादरपूर्वक वेद का प्रामाण्य
न स्वीकार करे तो उन्हें अधनय के समान समझकर अन्य में समद्दिर रखनी चाहिए।
त्रयी मार्ग के अत्यन्त विरोधों जो सिद्ध हैं उन सभी बौद्धों (और जैनों आदि) का
बिना त्याग किए धर्म गुद्धि प्राप्त नहीं हाती है। अतः उन पाखण्डी सन्यासियों को
जो विकर्म में लिप्त हैं तथा विडाल (नोंच खसोट कर खाने की) वृत्ति वाले हैं तथा
जो कुतर्क करने वाले और जो बगुले के समान झपट कर खा जाने वाले हैं, व्यक्ति
को कभी भो उनसे बात भी नहीं करना चाहिए। जो वेद से बाह्य स्मृति या कुद्दिः
वाले जो भी साहित्य हैं वे सभी निष्पल होकर अन्धकारमय जगन् की ही सृष्टि
करते हैं। (अतः उन्हें नहीं पढ़ना चाहिए)॥ ४७-५४॥

पुराणानि तथा सांख्यं योगः पाशुपतं तथा।। ५४।। देशजातिकुलानां च धर्माश्चान्ये महत्तराः। सर्वे वेदाविरोधेन प्रमाणं नान्यथा भवेत्।। ५५॥

पुराण तथा सांख्य योग एवं पाशुपत (शैव) शास्त्र, देश, जाति एवं कुल तथा अन्य भी महान् धर्म सभी वेद से विरोध न रखने के कारण साधक के लिए प्रमाण हैं। वे अन्यया नहीं होते ॥ ५४–५५ ॥

> या वेदबाह्याः स्मृतयो यारच काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः किञ्च प्रत्यवायस्य हेतवः ॥ ५६ ॥

जो वेद से विरोध रखने वाली स्मृतियाँ अथवा कुट्टिट वाले चतुर चालाक व्यक्ति हैं, वे सभी निष्फल होते हैं और साधक के कार्य में बाधक होते हैं। (अतः उन्हें छोड़कर मात्र वेद सम्मत साहित्य एव व्यक्ति से प्रयोजन रक्खें)।। ५६।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन देवि देवेन्द्रवन्दिते । त्यक्तवा वेदविरुद्धानि वेदमेकं समाश्रयेत् ॥ ५७ ॥

इसलिए, हे देवेन्द्रवन्दित देवि ! सभी प्रयत्न करके इन वेद विरुद्ध साहित्य की ल्याग कर मात्र एक वेद की ही शरण लेनी चाहिए ॥ ५७॥

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां घर्मस्येति चतुद्देश ॥ ५८ ॥

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और उनके अन्य अंगों वाली चौदह विद्याएँ वेद सम्मत होने से साधक के लिए धर्म ही हैं।। (अतः उनका ही पठन पाठन करें)।। ५८।।

यथा वेदास्तथा तन्त्रं धर्मानिद्धरिहेतवे । तदुक्तमाचरन् देवि ! भवपाशाद्विमुच्यते ।। ५९ ।।

जैसे नेद हैं वैसे ही तन्त्र शास्त्र भी धर्म निर्धारित करने में हेतु हैं। अतः है देवि ! उनके आचरण से साधक भव-पाश (माया मोह) से मुक्त हो जाता है।। ५९।।

> अतोऽन्यथा प्रवर्त्तन्ते ये मूढाः पापबुद्धयः। असुरास्तान्विजानीहि विष्णुना मोहिताः पुरा ॥ ६० ॥

अतः जो मूर्ख एवं पाप बृद्धि वाले जन बौद्ध-जैन आदि अन्यथा धर्म में प्रवितित हैं, उन्हें असुर हो जानना चाहिए, क्योंकि वे पहले विष्णु भगवान् द्वारा मोहित किए जा चुके हैं।। ६०।। ब्रह्मवादेषु वाचाला धर्मोच्छेदैकतत्पराः। तेषां मुखावलोकेन कुर्यात्सूर्यावलोकनम्।। ६९ ॥

महा चिन्तन में वाचाल और घर्म का उच्छेद करने वाले उन बौद्ध एवं जैनों का यदि दर्शन हो जाय तो सूर्य का अवलोकन करके ही साधक को शुद्ध होना चाहिए।। ६१।।

> तस्य संस्पर्शमात्रेण सवासा जलमाविशेत्। कलौ ते घोषयिष्यन्ति ब्रह्मवादं जने जने ॥ ६२॥

यदि उनका स्पर्श हो जाय तो साधक वस्त्र सिहत (सर्चेल) स्नान करे। क्योंकि ये ही जन कलिकाल में जन-जन में ब्रह्म चिन्तन की उद्घोषणा करेंगे।

विमर्श — पहले प्रश्न किया गया था कि जब घर घर में ब्रह्मवाद होगा तो कैसे धर्म नष्ट हो जायगा? उत्तर है कि बौद्ध-जैन आदि वेद विरुद्ध घर्मों से सनातन धर्म का छोप हो जायगा।। ६२।।

इति मे कथितं देवि यत्त्वया पृष्टमुत्तमम् । समासेन महादेवि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे अष्टादशं पटलम् ॥ १८ ॥

है देवि ! इस प्रकार जो आपने पूँछा था उसे हमने आपसे संक्षेप में कहा है। है महादेवि ! अब आप पुनः क्या सुनना चाहती हैं ?।। ६३।।

श्वार प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के अट्ठारहवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी ज्याख्या पूर्ण हुई ।। १८ ।।

अथ एकोनविंशं पटलम्

शिव उवाच-

अथेदानीं शृण् शिवे प्रियाणां कामनिर्णयम् । यस्य श्रवणमात्रेण वैराग्यं देहगेहयोः ॥ १ ॥ मनोरथक्च यक्चासीत् प्रियाणां दुःखदर्शने । रासे प्रदक्षिते प्रायो ह्यसम्पूर्णेविशेषितः ॥ २ ॥

शिव ने कहा-

इसके बाद, अब हे शिवे ! प्रियों के कामनिर्णय को सुनो । जिसके श्रवणमात्र से शरीर और गृह से वैराग्य प्राप्त होता है। प्रिय लोगों के दुःख रूप दर्शन में जो मनोरथ था। प्रायः उसे रास में सम्पूर्ण रूप से और विशेष प्रकार से प्रदर्शित किया गया था।। १-२।।

तद्भोगार्थं पुनः सर्वाः प्रियास्ता रासविच्युताः । कालमायामयं देवि ब्रह्माण्डं विविशुः सह ॥ ३ ॥

उसे मोगने के लिए सभी प्रिया रास से च्युत हो गईं। हे देवि ! काल रूप मायामय ब्रह्माण्ड में उन्होंने साथ में प्रवेश किया ॥ ३ ॥

> संभूता भारते वर्षे नैकत्र स्थितयोऽभवन् । मोहावेशवशाद् देवि ! दुस्तरादीशनिमितात् ॥ ४ ॥ विच्युतात्मान्सन्धःना बभूवुभंगवित्प्रयाः । यथा स्त्रप्ने जनः कश्चिन्निद्वात्याजितसंस्मृतिः ॥ ५ ॥

उन्होंने भारतवर्ष में जन्म लिया। किन्तु हे देवि ! उनकी एक स्थान पर स्थिति न हुई । दुस्तर ईश निर्मित मोह जाल के कारण फिर भो वे विछुड़ी हुई भगवान की प्रियाओं ने आत्मानु सन्धान किया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई मनुष्य स्वप्न देखते हुए जगकर उसकी पुनः स्पृति में संलग्न हो ॥ ५ ॥

स्वप्नलब्धगजाकार आत्मानं मनुते गजम्। मोहलब्धाकृतिस्तद्दन्लब्ध्वा तादात्म्यभावतः।। ६ ॥ उच्चावचासु योनीषु विश्वमन्ति विचित्रधा। तत्र देहाभिमानोत्त्यकर्मसंसर्गदूषिताः॥ ७ ॥ कर्मबन्धस्तनो जातो यथा स्यादुत्तरोत्तरम्। श्वकाकोल्कमार्जार -खरगृध्रादियोनिषु॥८॥ भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा मनुष्येषु भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः। जायन्ते च भ्रियन्ते च तेषामन्तो न विद्यते॥ ९॥

स्वप्न में दिखने वाले गज के आकार में वह स्वयं को ही गज मान लेता है।
स्वप्न की वस्तु से तादात्स्य के कारण मोह से उत्पन्न आकृति के समान आकृति को
पाकर ऊँची एवं नींची विचिन्न प्रकार की योनियों में भ्रमित होते हैं। वहाँ भी भरोर
रूप अभिमान से प्राप्त कमं के संसर्ग से दूषित होकर वे कमं के बन्धन में उत्तरोत्तर
बाघते हुए, कुत्ता, कौ आ, उत्तरू, बिल्ली, गदहा, और गिद्ध आदि योनियों में जन्म
लेते हैं। इस प्रकार अनेक योनियों में भ्रमित होते हुए बार-बार मनुष्ययोनि में
जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनका अन्त फिर भो नहीं होता।। ९।।

जन्मदुःख जराःदुख बाल्ये यद्दुःखमुरुवणम्। देहत्यागनिमित्तं च दुःखसाप्ताः पुनः पुनः॥ १०॥ क्वचिद्धर्मः क्वचिच्छोको रागद्वेषादिकं क्वचित्। क्वचिद्वन्यः क्वचिन्मोक्षो राजसन्ताडनं क्वचित्॥ १९॥

इस तरह उन े जन्म के समय और वृद्धावस्था में भी अथवा-बाल्यकाल में या देह त्याग में भी बारम्बार दुःख ही प्राप्त होता है। इस ससार में कही धर्म है तो कहीं शोक है, और कहीं राग है तो कही द्वेष है, कहीं बन्धन है तो कहीं मोक्ष है। कहीं राज्य का प्रतादन है।। १०-११।

> अन्तादिकाङ्क्षया क्वापि दरिद्रेणापि विद्रुताः । म्लानेन्द्रियमुखाकारा दैन्यभावं समागताः ॥ १२ ॥

अन्त आदि जरूरत को वस्तुओं को आकाङ्क्षा से घूमते हुए वे दरिद्रता से भी दुःखी रहते हैं। इस प्रकार स्लान इन्द्रियों के कारण उदास मुखाकृति में वे दैन्यभावको प्राप्त करते हैं।। १२।।

पुत्रमित्रकलत्रादिनाशोत्थं दुःखमद्भुतम्। प्राप्य हाहेति हाहेति परितापान् जुषन्ति ताः ॥ १३ ॥ बृहत्सेनस्य राजर्षेयंथा राज्ञी पतिव्रता। अधौतपादा चोच्छिष्टा सुष्वाप विधिमोहिता ॥ १४ ॥

इस संसार में पुत्र, मित्र और स्त्री आदि की मृत्यु से प्राप्त अद्भुत दुःख प्राप्त करके 'हा, आह' आदि रूप से विलाप करते हुए वे चारो तरफ से दुःख से पीडित होते हैं। जैसे — इस सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार है] बृहत्सेन नाम राजि की महिषी पतिव्रता नारी थीं। किन्तु एक दिन विधि के विधान से मोह को प्राप्त करके बिना पैर एवं मुर्ह घोए ही जूँठे मुर्ह सो गई।। १३-१४॥

यक्षः कश्चित्रिशाचारी प्रमुप्तामहरच्च ताम् । समुद्रद्वीपमानीय यक्षमायामयं महत् ॥ १५ ॥ ददर्श नगरं दिव्यं दिव्याट्टालकगोपुरम् । यक्षस्तिरोदधे तस्यां तदावेशविमोहिता ॥ १६ ॥

इस दोष के कारण वह किसी रात में विचरण करने वाले यक्ष के द्वारा सोते हुए हरण कर ली गई। किसी समुद्र के द्वीप में लाई गई उन्होंने यक्ष की महान् भाया से व्याप्त एक नगर की देखा। उस दिव्य नगर में गोपुर से युक्त दिव्य अष्टालिकाएँ थी। वहाँ पर जाकर यक्ष ने उन्हें आवेश से मोहित कर उस नगरी में छिपा दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये।। १५ १६।।

संका बिभाम नगरे गृहे गृहे विचेतना।
यत्र यत्र गता सातु जनस्तत्र विभीषिता।। १७॥
तिमिश्रायां तमोमय्यां भ्रमन्ती भ्रान्तमानसा।
हतवस्त्राम्बरा क्वापि प्रसह्य परिपन्थिभिः।। १८॥

वह अकेली ही इघर-उघर नगर में घर घर अमित हुई। जहाँ-जहाँ वह गई, वहाँ सभी लोगों के द्वारा डराई गई। तमोमयी तामिश्र नामक रात्रि में वह आग्तिचित्त होकर अमित हो रही थी कि किन्हीं पथिकों ने वस्त्राच्छादन आदि जबरदस्ती छीन लिया।। १७-१८।।

> मुक्तकेशा वस्त्रहीना धूलिधूसरविग्रहा। पिशाचिनीव नगरे बभ्रामैका दिवानिशम् ॥ १९॥

अन्ततः वह उस नगर में ख़ुले बालों से वस्त्रहीन होकर एवं घूलि से घूसरित सरीर से पिशाची के समान होकर अकेले ही दिन-रात घूमने लगी ॥ १९ ॥

रुदन्ती करुणा दीना ताड्यमाना जनैमुँहुः। क्षृत्तृड्व्याकुलिक्ता सा वल्गन्तीव जनाज्जनम् ॥ २०॥ महाजनैश्च विपिने नगरात्तृ विवासिता। व्याघ्रसिहब्वनि श्रुत्वा भीषणं त्रस्तमानसा॥ २९॥

वे रोती हुई, करुणा से दीन हुई, बारम्बार वहाँ के लोगों के द्वारा प्रताड़ित होती हुई, भूख और प्यास से व्याकुल चित्त होकर जनजन से दुतकारी जाकर बहुत लोगों के द्वारा नगर से वन में निकाल दी गई। वहाँ पर सिंह, चीता आदि वन्य प्राणियों की आवाज सुनकर वे भयंकर रूप से भमभीत हो गई।। २१।।

दृष्ट्वा तांस्तु पुनः साध्वी वृक्षखण्डेष्वेवलीयत । वृक्षकोटरगैः सर्पेदंशिता विवशाभवत् ॥ २२ ॥

फिर उन्हें देखकर वह सती साघ्वी वृक्षों की आड़ में छिप गई। किन्तु वृक्षों के कोटरों में रहने वाले सर्पों से डसी जाकर अत्यन्त विवश हो गई॥ २२॥

अशेत भूमिशयने विषव्याघूर्णमानसा। भूविलोत्थैर्वृहिचकाद्यैः सन्दष्टा सर्वसन्धिषु ॥ २३॥ एवं नानाविधांस्तापान् प्राप्ता नृपसुन्दरी। कर्कराकण्टकैविद्धपादाम्भोजा महावने॥ २४॥

विष से अमित होकर वह भूमि पर सो गई। भूमि के बिल आदि से निकलकर विच्छू आदि से सभी जोड़ों में इसो जाकर वह नृपित सुन्दरी अनेक प्रकार के कब्टों को प्राप्त हुई। उस महान् अरण्य में कर्करा के काटों से उसके पद कमल विद्ध हो गए।। २३-२४।।

> का त्वं कस्यासि वामोष ! पृष्टा सप्तिषिभिस्तु सा । नाहं विदामि चात्मानं न तातं मातरं पति ॥ २५ ॥ दुःखातिदुःखपाथोघौ मग्नास्मीत्यभ्यभाषत । भृशं नागरिकदुष्टैः पीडिता भत्सिता पुनः ॥ २६ ॥

वहाँ सप्तियों ने उससे पूँछा—हे वामोर ! तुम कौन हो ? और किसकी पत्नी हो ? उसने कहा — मैं अपने को नहीं जानतो । मैं अपने माता-पिता एवं पित को भी नहीं जानती । मैं तो अत्यन्त दुःख रूप पाप के समुद्र में डूबी हुई हूँ । मैं यहाँ पर दुष्ट नागरिकों के द्वारा बारम्बार दुतकारी गई हूँ और पीड़ित की गई हूँ ॥ २५—२६ ॥

तस्करैर्वस्त्रभूषादि दुष्टैरपहृतं हि मे । क्षुतृट्परीता पापिष्ठैर्नेगराच्च विवासिता ॥ २७ ॥

दुष्ट लुटेरों के द्वारा मेरे आभूषण आदि लूट लिए गए। भूँख और प्यास से व्याकुल मुझे पापिष्ठों ने नगर से निकाल दिया है।। २७।।

याता महावनं भ्रान्ता व्याघ्रसिंहभयाकुला । भुजङ्गवृश्चिकः कूरैविषव्यापादितान्तरा ॥ २८ ॥

व्याघ्न, सिंह आदि वन्य प्राणियों से भयकारक महावन में इसलिए मैं भ्रमितः होकर सा गई है। उसके बाद क्रूप सर्प और विच्छूओं के द्वारा विष से इसी गई हैं॥ २८॥ भ्रमाम्यहं दिवारात्री न जाने विदिशं दिशम् । अतः कुरुव्वं साहाय्यमनाथायाः कृपालवः ॥ २९ ॥

दिशा-दिशा में मैं न जाने कहाँ-कहाँ रात दिन श्रमित हो रही हूँ। अत: हे कृपालु सप्तियों ! आप मुझ अनाथ की सहायता करें।। २९॥

एवमुक्तं तया साहव्या कृपया पीडिता भृशम् । कमण्डलृजलेनौक्षन् यक्षोघ्रोन मुनीश्वराः ॥ ३०॥

इस प्रकार उस साव्वी रानी के कहने पर उन मुनोश्वरों ने बहुत दुःखित हो कृपा करके कमण्डलु के जल से प्रोक्षण [छींटा | किटा ॥ ३० ॥

लीनायां लक्षमायायां आत्मानं समपद्यत । सस्मार मातरं तातं बृहत्सेनं पति तथा ॥ ३९॥

तभी यक्ष की माया में लीन वह अपने-आप में सुस्थिर हुई। फिर माता और :पिता को और पित बृहत्सेन को स्मरण किया ॥ ३१॥

वीडिताधोमुखी बाला मुनीन्द्रान् प्रस्यभाषत । सूर्यवंशप्रसूतस्य बृहत्सेनस्य धीमतः ॥ ३२ ॥ प्रियास्म्यहं विप्रदेशा उच्छिष्टा शयनं गता । केनचिष्ठजलधेस्तीरमानीता भयविह्वला ॥ ३३ ॥

इसके बाद लज्जा से अधोमुख उस बाला ने मुनियों से कहा — सूर्यवंश में उत्पन्त धीमान बृहत्सेन की, हे विप्रदेवों ! मैं प्रिया हैं। वस्तुतः जूँठे मुँह ही मैं सो गई थीं। अतः किसी यिक्ष के द्वारा मैं भयाक्रान्त करके समुद्र के किनारे लाई गई थीं।। ३२-३३।।

तत्रैकं नगरं दिव्यं मया दृष्टं महाद्भुतम् । तत्रैकला विभ्रमन्ती लोकपीडासहानिशम्।। ३४॥

वहाँ हंमने एक महान् अद्मुत एवं दिव्य नगर को देखा। वहाँ पर अकेले ही रात-दिन लोक की [नाना प्रकार] पीड़ा को सहती हुई घूमती रही ॥ ३४॥

ततो निष्कासिता पौरैः प्राप्तेदं विपिनं महत्। अस्तंगतात्मविज्ञाना भ्रान्ता दुःखमयेऽहवनि ॥ ३५॥

वहाँ से उन पुरवासियों के द्वारा निष्कासित मैं इस महान् अरण्य में आ गई हूँ। यहाँ पर मेरा ज्ञान अस्तंगत हो गया है और मैं इस दृश्खपूर्ण मार्ग में आन्त हो गई थी।। ३५॥ भवद्भिनंष्टमज्ञानं तमः सूर्याशुक्षियंथा। नष्टं लब्धमिवास्मानं मेने भवदनुग्रहात्॥३६॥

किन्तु आपने हमारे अज्ञान को नष्ट कर दिया। जैसे ही आपकी सूर्य रूप किरणों से अज्ञान का अन्यकार दूर किया गया वैसे ही आपके अनुग्रह से अपने आंप की मैंने पा लिया।। ३६।।

सवस्त्रभूषणाकल्पं देहं चैव यथा पुरा।
पश्यामि शयनोट्बुद्धा यथा स्वप्ने लयं गते।। ३७।।
भवत्त्रसादाद् दुःखाब्धिमुत्तीणां भगवत्तमाः।
इत्युक्तवा मुनिपादाब्जं प्रणताभूत्पुनः पुनः।। ३४।।

बस्ताभूषण से युक्त पहले जैसा शरीर था वैसा ही मैं अब भी देख रही हूँ। जैसे कोई स्वप्त देखते हुए सोते हुए जग जाने के बाद देखता है। हे भगवत्तम ! आपकी कृषा से इस दुःखरूष समुद्र से मैं पार पा सकी। ऐसा कहकर वह मुनि के चरण कमलों पर पुनः पुनः प्रणत हुई ॥ ३७-३८॥

> ततः प्रोचुर्मुनिवराः सान्त्वयन्तर्च तां सतीम् । भयं मा कुरु कल्याणि पातिवृत्यपरायणे ॥ ३९ ।।

इसके बाद उन मुनिश्चेष्ठों ने उन सती को सान्त्वना देते हुए कहा —हे पातिव्रत-वर्म में परायण, हे कल्याणि! मत डरो ॥ ३९॥

> अज्ञानंत्रभवं विश्वं वस्तुतो नास्ति किञ्चन । यावदंज्ञानमात्मस्यं तावदृशयते भयम् ॥ ४० ॥

वस्तुतः यहं विश्व अज्ञान से उत्पन्न है। यह सब कुछ भी शाश्वत नहीं है। जब तक आत्मा में अज्ञान विद्यमान है तभी तक भय है।। ४०।।

> मिथ्या स्वप्नोऽपि राजवित्रिये ! भयकरो यथा । तथा मिथ्यापि संसारो भयक्ततादृशा जुवाम् ॥ ४९ ॥

है राजिं की प्रिया ! जैसे क्षूठा स्वप्न भी भय प्रद होता है। वैसे ही यह क्षूठा संगर भी मनुष्यों को भय ही प्रदान करता है।। ४१॥

अज्ञातेव यथा रज्जुः सर्पभूता भयप्रदा। अविद्यासबलबहाविवर्तोऽयं प्रपञ्चका॥ ४२॥ तदंशभूतजीवानामविज्ञातो भयज्जुरः।

स्वात्मत्वेन तु विज्ञातो भयं नोहहते पुनः ॥ ४३॥

जैसे न जानकारी रहने पर रस्सी भी सर्पभूत होकर भयष्रद होती है वैसे ही यह सर्व प्रपश्च अविद्याजनित सबल ब्रह्म का परिणाम रूप है। उसी परमेश्वर का अंशभूत यह जीव विज्ञान न होने से भय को प्राप्त करता है और अपनी आत्मा को जान केने से फिर भय नहीं रहता है।। ४२-४३।।

आत्मा शुद्धोऽव्ययः सूक्ष्मो व्यापी नित्यो निरञ्जनः । स्वमायावरणाच्छन्नः स्वस्मिन् स्वप्नं प्रपश्यति ॥ ४४ ॥

यह आत्मा शुद्ध है, अन्यय, सूक्ष्म, न्यापक, निश्य और निरम्भन (निर्लेप) है। घस्तुतः अपनी ही माया के आवरण से आच्छादित हो अपने में ही वह स्वप्न देखता है।। ४४।।

यथा तदुद्भवैश्वन्तं शैवालैः सिललं भवेत्। स्वमायया तथा छन्त अक्षरं ब्रह्मकेवलम् ॥ ४५॥ मायावृतं परं ब्रह्म स्वप्तसाक्षितया पुनः। स्वाप्तमण्डं प्रविश्याशु धत्ते नारायणाभिधाम् ॥ ४६॥

जैसे पानी से ही उत्पन्न शैवाल (ज्यानी की घास) स्वयं पानी को ही ढक लेती है। वैसे ही अक्षर रूप ब्रह्म को स्वयं उन्हीं का माया ढक लेती है। माया से आवृत परब्रह्म स्वप्न के समान साक्षात् रूप से पुन: स्वप्नरूप अण्ड में शीद्र ही प्रवेश करके 'नारायण' नाम से अभिहित होते हैं ॥ ४६॥

> तस्य नाभेरभूत्पद्मं तत्र जातद्वतुर्मुखः। प्रवरो वेदविदुषां बीजं संसारभूरहः॥ ४७॥

उन 'नारायण' के नाभि से ब्रह्मा पैदा होते हैं। यही ब्रह्मा वेदवेत्ताओं में प्रवर हैं और इस संसार रूप भूरूपी वृक्ष के बीजस्वरूप हैं।। ४७॥

तत्र जाता वयं सर्वे स्वाप्तिका एव भामिति । भ्रमामः कर्मभिर्नुन्ताः स्वप्तमायामये पथि ॥ ४८ ॥ त्वयानुभूतमेतद्धि यथेदं यक्षमायिकम् । तस्यापसरणे साहिव स्वात्मालब्धो यथा पुरा ॥ ४९ ॥ जीवाः सर्वे वयं तद्भद् ब्रह्माभासमया अपि । मायाकायंशिविलये भविष्यामोऽक्षरात्मकाः ॥ ५० ॥

उसमें हम सब; हे भिमिनि ! स्वप्त की तरह ही [असत्य रूप से] पैदा होते हैं। स्वप्त रूपी माया से व्याप्त पथ में कर्मों के द्वारा श्रमित होते हैं। जैसा कि यक्ष के माया जाल में अभी अभी तुम्हारे द्वारा अनुभव किया गया है। हे साध्वि! जैसे तुम पहले थी वैसे ही उस माया के हटने से तुमने आत्मानुभूति की है। इसी प्रकार हम सब जीव उसी ब्रह्म के आभासक रूप हैं। माया के कार्यांश रूप से विलोन होने के वाद ही मैं अक्षरात्मक रूप से होर्ऊंगा।। ४८-५०।।

> मायाकार्ये विद्यमाने दुःखशोको भयं शुचः। धर्माधमौ पुण्यपापे सत्यमित्येव गम्यते॥ ५१॥

माया के कार्य रूप में विद्यमान रहने पर दु।ख, शोक और भय की शुद्ध रूप से आत्मा जानता है। किन्तु धर्म या अधर्म में, पुण्य अथवा पाप में 'सत्य' को जाना जाता है।। ५१।।

तस्मादबास्तवं दुःखं विज्ञाय हृदये दृढम्। वीतशोका वीतभया भव भामिनि नित्यदा । ५२ ॥

इसलिए, हे भामिनि ! हृदय में यह दृढ़ता से विश्वास करो कि यह 'दुःख' अवास्तविक है। अतः नित्य ही भय और शोक से तुम मुक्त होओ।। ५२॥

इत्युक्त्वा तां मुनिश्लेष्ठा योगमायाबलेन च । निमिषेण गृहं निन्युघेटिकांतरितं प्रिये ॥ ५३ ॥

हे प्रिये ! इस प्रकार कहकर वे मुनिश्रेष्ठ योगमाया के बल से पलक अपकते ही अन्तर्घान हो गए॥ ५३॥

> प्रिया राज्ञोऽपि तद्वृत्तं विचार्यं च पुनः पुनः । महाकुतूहलाक्नान्ता राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ ५४ ॥

राजा ने भी अपनी प्रिया के उस कथानक को बारम्बार विचार करके महान् कीतृहरू से आक्रान्त होकर अन्य सभी राजाओं से उसे बतलाया ॥ ५४॥

> एवं ता देवदेवेशि प्रिया भगवतो हि ताः। भ्रान्तात्मरूपविज्ञाना मायास्वप्ने परात्मनः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार, हे देवदेवेशि ! वे भगवान की प्रिया थीं जिन्होंने आन्त आत्मरूप के माया रूपी स्वप्न में परमात्मा का विज्ञान प्राप्त किया था ॥ ५५ ॥

> नानायोनिषु देवेशि ससरन्ति पुनः पुनः। भ्रान्तात्मानक्च्युतानन्दाः ससारेप्यसति प्रिये ॥ ५६ ॥

हे देवेशि ! इसी प्रकार जीव पुन: पुन: नाना योनियों में मरता और पैदा होता है। इस प्रकार, हे प्रिये ! वह जीव इस असत् संसार में आन्त आत्मा वाला होकर और [ब्रह्म के] आनन्द से च्युत होकर ही रहता है।। ५६।।

१. 'परात्मना' इत्यपि पाठः।

निजधाम्नि महानन्दे दुःखाभासो न विद्यते । न-दुःखानुभवश्चापि तत्रत्यानां कदाचन ॥ ५७ ॥

महान् आनन्द रूप में अपने घाम में आत्मा किसी भी दुःख का आभास भी नहीं होता है। उस [आनन्द] में विचरण करने वालों को कभी भी दुःख का अनुभव भी नहीं होता है।। ५७॥

> न कार्पण्यं न दुःखं च नोद्वेगो नारति। क्वचित् । तत्त्रियाप्राधितं मत्वा निर्वन्धेन गिरीन्द्रजे ।। ५८ ॥

वहाँ न कार्पण्य [- कंजूसी] हैं न दुःख है, न किसी भी प्रकार के उद्वेष ही है, न कोई रित है। हे गिरिन्द्रजे ! उसे बन्धन रहित जानकर … ॥ ५८॥

> कूटस्थस्वप्नसम्बन्धमनो भावान् प्रचिक्ररे। असन्निप महेशानि स्वप्नोऽयं दुःखदो महान् ॥ ५९॥

स्वप्त के सम्बन्ध से आतमा में मनोभावों की उत्पत्ति होती है। हे महेशानि ! असत्य होते हुए भी यह स्वप्त महान् दुःखदायी होता है । ५९॥

स्बवासनाकामशेषो ह्यधुनापि निषेव्यते ॥ ६०॥

।। इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे एकोनविंशं पटलम् ।। १९ ।।

क्योंकि [इन्द्रियजन्य] वासना और कामनाओं के शेष रहने से वह भी भोगता रहता है ।। ६० ।।

श इस प्रकार श्री नारदपश्वरात्र क्षागमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के उन्नीसवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्णं हुई ॥ १९ ॥

१. 'भावः' इत्यपि पाठः।।

अथ विंशं पटलम्

पार्वत्युवाच--

अहो देव महादेव परात्मन् परमेश्वर। त्वदुक्तमेलदाश्रृत्य मनो मे क्षुभ्यतेतराम्॥१॥

पार्वती ने कहा--

हे देव, महादेव, परमेश्वर आपके इस प्रकार के वचनों को सुनकर मेरा सन अत्यन्त क्षुभित हो रहा है।। १।।

> निरीहस्यापि देवस्य कूटस्थपरमात्मनः। दिदृक्षा यत्समुत्पन्ना रहःक्रीडावलोकने।।२।।

निस्पृह भी देव, जो कूटस्थ है और परमात्मा है, उसे 'रहाक्रीडा' के अवलोकन की इच्छा आखिर कैसे उत्पन्न हो जाती है ? ॥ २ ॥

> नित्यानन्दविहाराणां प्रियाणां परमात्मनः । दिद्क्षा यत्समुत्पन्ना केवलं दुखदर्शने ॥ ३ ॥

नित्यप्रति आनन्द समुद्र में बिहार करने वाले प्रिय परमात्मा की इच्छा केवल दु:खदर्शन की कैसे हो जाती है ? । ३ ॥

> इत्येतन्महदाइचयं प्रतिभाति महेश्वर। तन्निराकुष देवेश मनः शस्यं महातिकृत्।। ४।।

हे महेश्वर ! यह मुझे महान आश्चर्य हो रहा है कि परस्पर विरोधी बातें कैसे होती हैं ? अतः हे देवेश ! इस मन के दुःखदायी काँटे को मेरे मन से निकाल दीजिए अर्थात् संशय का निवारण करें ॥ ४ ॥

> पूर्णस्यैवाप्तकामस्य किन्तु क्रीडावलोकनैः। तदङ्गभूतास्तत्तुल्याः प्रियास्तु परमात्मनः।। ५ ॥

पूर्ण और आप्तकाम [- जिसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हैं] वह भी क्रीडावलोकन मात्र में कैसे प्रवृत्त होता है ? उसके अङ्गभूत और उसके तुल्य वस्तु परमात्मा का प्रिय कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

दुःखकामः कथं तासु केवलानन्दमूत्तिषु। न दुःखदर्शने कश्चिन्मूर्खो वा रमते क्विचित्।। ६॥

उन मात्र आनन्द की मूर्ति ब्रह्म में दुःखदर्शन की कामना कैसे जागृत होती है ? क्या कहीं भी कोई मूर्ख दुःख दर्शन की लालसा या उसमें रमण करने की कामना करता है ? ॥ ६ ॥

एतदाचक्ष्व भगवन् कृपां कृत्वा ममोपरि।

शिव उवाच-

प्रुणु देवि प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ७ ॥

अतः हे भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा करके उसे मुझे बताइए।।

शिव ने कहा—

हे देवि ! सुनो । मैं अत्यन्त अद्भुत (हस्य को तुमसे कहता हूँ ॥ ७ ॥

वेदागमपुराणेषु यत्तु गुप्ततरं प्रिये !। अद्यप्रभृति कस्यापि नोक्तवानहमद्रिजे ।। ८ ।।

वेद, आगम और पुराणों में, हे प्रियं, जो आजतक अत्यन्त गुप्त था और जिसे हमने आज तक, हे हिमवत् की पुत्री ! किसी से नहीं कहा ॥ = ॥

तव स्नेहवशाद् देवि ! प्रवक्ष्यामि न चान्यथा । त्वयापि गोपितव्यं हि स्कन्दाच्च गणपादपि ॥ ९ ।।

उसे मैं तुम्हारे स्नेह से वशीभूत होकर तुम्ही से कहता हूँ और किसी से नहीं। अतः तुम्हें भी स्कन्दकुमार और गणपित से भी इसे गुप्त रखना चाहिए।। ९।।

> प्रकाशितं हरेद्धमं यशोलक्ष्मीसुखानि च। वेदशास्त्रपुराणाणि सामान्यगणिका इव।। १०।।

यदि इसको किसी को बता दिया जाता है तो उसके घर्म, यश, लक्ष्मी एवं सुख तक का हरण हो जाता है। यह सामान्य वेश्या आदि जन को वेदशास्त्र और पुराणों को प्रकाशित करने के समान हो जाता है।। १०॥

> इयं विद्या महाविद्या गोप्या कुळवधूरिव। सुगुप्तेयं महाविद्या ज्ञानसिद्धिकरी नृणाम्।। १९॥

यह ब्रह्म-विद्या महन्त्र विद्या है। अतः इसका गोपन अच्छे फुल की वधू के समान करना चाहिए। वस्तुतः यह विद्या मनुष्यों को 'ज्ञानसिद्धि' प्रदान करने वाली है। अतः इस महान् विद्या का भलो प्रकार से गोपन करना चाहिए।। ११।। यथा प्रकाशितं द्रव्यं तस्करेभ्योपगच्छति । तथा प्रकाशिता विद्या पशुभ्य उपगच्छति ॥ १२ ।।

क्योंकि जैसे प्रकाशित कर देने पर द्रव्य लुटेरों के द्वारा लूट लिया जाता है वैसे ही प्रकाशित कर देने पर यह विद्या पशुवत् पुरुषों के पास चली जाती है ॥ १२॥

> गोपितव्या ततो यत्नादिद्येयं ब्रह्मदर्शिनी। मन्त्रोषधक्रियाधर्माः गुप्ता एव फलन्ति हि॥ १३॥

इसलिए ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली इस विद्या का यस्तपूर्वक गोपन करना चाहिए। क्योंकि मन्त्र, औषिष, [यौगिक] क्रियाएँ, और घर्म गुप्त रहने पर ही फलदायक होते हैं। १३॥

आवाच्यमपि ते विच्म श्रुणुष्वैकाग्रमानसा । गणनाविषयानन्दो वर्तते केवलेऽक्षरे ॥ १४ ॥ सप्तद्वीपवतीं पृथ्वीं यः शास्ता व्याहतेन्द्रियः । निरामयो निःसपत्नो युवा राजेन्द्रवन्दितः ॥ १५ ॥ तदानन्दो हि देवेशि ! मनुष्यानन्द ईरितः । मनुष्यानन्दशतकं गन्धर्वानन्द उच्यते ॥ १६ ॥

अतः जिसे नहीं कहना चाहिए उसे भी मैं [तुम्हारे स्नेहवश] तुमसे कहता हैं; उसे एकाग्रमन से तुम सुनो —

अक्षर रूप परब्रह्म में 'आनन्द' की गणना इस प्रकार होती है—यह पृथ्वी, सात हीपों नाली है उसका व्याहत [अजितेन्द्रिय] इन्द्रियों नाला, निरोग और शत्रु रहित जो राजाओं से वन्दित युवा शासक है उसके आनन्द को, हे देवेशि, 'मनुष्य का आनन्द' कहा गया है और मनुष्यानन्द से सीगुना अधिक 'गन्धवनिन्द' कहा गया है ॥ १४—१६॥

गन्धविनन्दशतकं पित्रानन्द उदीरित।।
पित्रानन्दशतेनैको हच्पदेवस्य चोच्यते॥१७॥
गन्धवीनन्द से सौ गुना अधिक पितरों का आनन्द कहा गया है। पित्रानन्द से सौ गुना अधिक 'उपदेवों का आनन्द' कहा गया है॥१७॥

> उपदेवानन्दशतं देवानन्द उदीर्यते । देवानन्दशतं देवि ! वैरंच्यानन्द उच्यते ॥ १८ ॥

उपदेवों के आनन्द का सी गुना अधिक 'देवों का आनन्द' कहा गया है । हे देवि देवानन्द का सी गुना अधिक 'ब्रह्मा का आनन्द' कहा गया है ॥ १८ ॥ वैरंच्यानन्दशतकमानन्दो वैष्णवः स्मृतः। वैष्णवानन्दशतकं रुद्रानन्दस्तु उच्यते॥ १९॥

श्रह्मा के आनन्द से सी गुना अधिक 'विष्णु का आनन्द' विद्वानों ने कहा है। श्रीय वैष्णवामन्द से सी गुना अधिक 'रुद्रानन्द' कहा गया है।। १९।।

> रुद्रानन्दशतेनोक्तः ईशानन्दपरो महान्। ईशानन्दशतेनोक्तः शैवानन्दस्तु केवलः॥ २०॥

रुद्रों के आनन्द से सी गुना अधिक ईश का महान् आनन्द है और 'ईशानन्द' से मात्र सी गुना अधिक शिव का आनन्द है।। २०॥

> तच्छतेन भवेद् देवि ! प्रकृत्यानन्द उत्तमः। प्रकृत्यानन्दशतकं पुरुषानन्द उच्यते ॥ २१ ॥

उस [भौवानन्द] से सी गुमा अधिक 'प्रकृति का उत्तम आनन्द' होता है।
प्रकृत्यानन्द से सो गुना अधिक 'पृष्य' का आनम्द कहा है।। २१।।
पुष्यानन्दशतकं अक्षरानन्द उच्यते।
अक्षरं परमं ब्रह्म ब्रह्मानन्दस्ततः स्मृतः।। २२।।

.. 'पुरुषानन्द' से सो गुना अधिक अक्षरारूप 'परब्रह्म का आनन्द' कहा गया है। विद्वानों ने इसे ही 'ब्रह्मानन्द' कहा है।। २२।।

> ब्रह्मानन्दमयं विश्व नानाभावो न विद्यते । मायोपाधिसमायोगान्नानात्वेन प्रतीयते ॥ २३ ॥

पह सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मानन्दमय है जहाँ नानात्व भाव नहीं होते । किन्तु माया के जावरण से बाच्छन्न होने से वही ब्रह्म नाना रूप में प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

> तत्प्रतीतिनिरासे तु परं ब्रह्मैव शिष्यते। तन्माया प्रकृतिदेवि नित्या तश्सहधर्मिणी। २४॥

उस नांनात्व की प्रतीति के निवारण होने पर वह 'परब्रह्म' ही शेष रह जाता है। है देवि! उनकी माया रूप प्रकृति नित्य और सहघमीं है।। २४।।

> शुद्धसत्वप्रधाना हि निर्मेला ज्ञानरूपिणी। तत्र यः प्रतिबिम्बोऽभूदक्षरस्य परात्मनः।। २५ ॥

वह शुद्ध, सत्तवप्रधान, निर्मल और ज्ञान रूप है।

 ^{&#}x27;इंश्वरानन्दसंजका' इत्यपि पाठभेदा।

तमाहुः पुरुषं देवि ! श्रृतिसिद्धान्तवादिनः। स एव कालरूपेण प्रकृतिक्षोभकारकः। २६॥

उस [प्रकृति] में परमाल्मा अक्षर का जो प्रतिविम्ब होता है उसे ही श्रुति सिद्धान्त के बक्ता, हे देवि ! 'पुरुष' कहते हैं। वही काल रूप से 'प्रकृति' को श्रुमित करने बाले है ॥ २५-२६ ॥

तस्मान्नारायणो जज्ञोस एव प्रणवाभिधः। हिरण्यगर्भमपि तं प्रवदन्ति मनीषिणः॥२७॥

उन [काल रूप पुरुष] से नारायण हुए। वही 'प्रणव' नाम से पुकारे जाते हैं। मनीषि गण उन्हीं को हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं।। २७।।

> शब्दब्रह्ममयं प्राहुस्तमेवागमवेदिनः । तस्माद्वेदाः प्रवर्त्तन्ते शब्दब्रह्मात्मना प्रिये ॥ २४ ॥

आगमशास्त्री उसे ही 'शब्दब्रह्म' भय कहते हैं। इसलिए, हे प्रिये ! वेद शब्द-ब्रह्मात्मक रूप में प्रवर्तित हैं।। २८।।

> आदौ शब्दात्मकं विश्वं तत्रश्चार्थमयं भवेत् । शब्दः प्रकृतिरूपरच अर्थः स्यात्युरुषात्मकः ॥ २९ ॥

वस्तुत। सबसे पहले शब्दात्मक विश्व की सृष्टि हुई। उसके बाद वह शब्दात्मक विश्व अर्थमय हुआ। शब्द प्रकृति रूप है और अर्थ पुरुषात्मक है।। २९।।

> उभयात्मकः प्रपञ्चोऽयं तस्मात्स्त्रीपुंस्वरूपधृक् । त्वमहं च तथा विष्णुरुंक्षमीर्बह्या सरस्वती ॥ ३०॥

यह प्रपन्त उभयात्मक है। उसी से स्त्री और पुरुष रूप घारण करके हम [शिव] और तुम [पावंती], विष्णु और लक्ष्मी, ब्रह्मा और सरस्वती उत्पन्त हुए हैं।। ३०।।

> सूर्यः सञ्ज्ञानलः स्वाहा पुरूहूतः पुलोमजा। अम्भोनिधिदच मर्यादा वृक्षः परलविनी लता ॥ ३१ ॥

सूर्य रूप में अग्नि और स्वाहा, इन्द्र और इन्द्राणी तथा समुद्र पृथ्वी की मर्यादा रूप से तथा वृक्ष एवं लता-प्रतान उल्पन्न हुए ॥ ३१ ॥

> महद्वारुपतरं वापि तत्सर्वमुभयात्मकम्। अक्षरे शास्त्रतावेतौ प्रकृतिः पुरुषस्त्रयाः। ३२।।

१. हिरगर्भः समवर्तताग्रे —ऋ•

छोटा या बड़ा सभी तत्त्व उभयात्मक रूप से उत्पन्न हुआ। मूल रूप 'अक्षर' में शाश्वत तो 'प्रकृति और पुरुष' ही हैं।। ३२।।

> जाग्रत्स्वप्नविभेदेन प्रपञ्चपरिणामिनौ । नित्यत्वमुभयोर्देवि विवदन्तेऽत्र वादिनः ॥ ३३ ॥

जाग्रत और स्वप्न के विशेष भेद से यह सम्पूर्ण प्रपश्च उसी प्रकृति और पुरुष] का परिणाम है। हे देवि ! विद्वान लोग दोनों में ही 'नित्यत्व' के विषय में विवाद करते हैं ॥ ३३ ॥

नित्यः प्रपञ्च एवेति ह्यनित्य इति केचन । अहङ्कारवशादेवि वादिनो मूढबुद्धयः ॥ ३४ ॥

'यह सम्पूर्ण प्रपञ्च नित्य ही है' कुछ विद्वान ऐसा कहते हैं और कुछ उसे 'अनित्य' कहते हैं। हे देवि ! वे दोनों वादों के मानने वाले अहङ कार के कारण मूढ़ बुद्धि के हैं।। ३४।।

नित्यानित्यं न जानन्ति स्व'पक्षाग्रहदोषतः। नित्यत्वात्कारणस्यापि प्रवाहे नित्यतास्तु वा ॥ ३५ ॥ श्रोतत्वाष्जन्यनाशस्य हचनित्यत्वेऽपि का क्षतिः। द्वैताद्वेते तथा देवि विवदन्ते कुबुद्धयः॥ ३६॥

वस्तुतः अपने अपने पक्ष में आग्रह होने के दोष के कारण वे 'नित्य और अनित्य' को नहीं जानते। कारण के नित्यत्व प्रवाह में नित्यता यदि होती है तो श्रीत यज्ञ में जो पशुबिल दी जाती है उसके अनित्य होने से भी क्या क्षति है ? इसी प्रकार कुल्सित बुद्धि वाले लोग भी, हे देवि, द्वैत और अद्वैत के विषय में विवाद करते रहते हैं ॥ ३५-३६॥

ईश्वराज्जीवपार्थवयमिति तत्त्वविदो विदः ! ब्रह्म वाज्ञानवद्यतो जीवस्तत्प्रतिगीयते ।। ३७ ।।

'ईग्वर से जोव प्रथक् है'—ऐसा तत्त्वविद लोग कहते हैं। वस्तुत: ब्रह्म ही अज्ञान से आच्छन्न होने के कारण 'जीव' रूप से जाना जाता है।। ३७॥

न जीवं परमार्थेन विदुरद्वेतवादिनः।

न विरुद्धिमदं देवि! ह्यज्ञानाविधभेदतः।। ३८॥

अहं तवादी 'जीव' को परमार्थरूप से नहीं समझते। हे देवि, इसलिए अज्ञान रूप अविध के भेद से यह [ब्रह्म का माया से आच्छन्न होकर सुष्टि करना और उसका नित्पत्व एवं अनित्यत्व] विरुद्ध नहीं है ।। ३८ ॥

१. 'स्बमताग्रहदोषतः इत्यपि पाठु।।

ज्ञानेनाज्ञाननाशे तु लब्धेनेश्वरतुष्टितः। जाग्रत्स्वप्नस्य विलये स्वप्नसाक्षीव सुन्दरि ! ।। ३९॥

ज्ञान से अज्ञान के नाश हो जाने पर ईश्वर की प्राप्ति से सन्तुष्ट होने पर कोई पिरोध नहीं जान पड़ता है। जैसे जग जश्ने पर स्वय्न का विलय हो जाता है वैसे ही, हे सुन्दरी! यह जीव एवं जगत् स्वय्नवत् ही है।। ३९।।

> एकमेवावशिष्येत नित्यं ब्रह्मीव केवलम्। अद्वेतवादिनो हचेवं श्रुतिमात्रावलम्बिनः॥ ४०॥

श्रुतिमात्र को मानने वस्त्रे अद्वैतवादी इस प्रकार यही कहते हैं कि एकमात्र नित्य ब्रह्म ही [ब्रज्ञान नाश के बास] बच रहता है ॥ ४० ॥

> एकमेव परं ब्रह्म नाना नास्तीह किञ्चन । मृदेव सत्यमित्येव नामरूपे विकारवत् ॥ ४९॥

एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है। उसका नानात्व कुछ भी नहीं होता जैसे घड़ें आदि मिट्टी के विकार मात्र हैं। वस्तुतः मिट्टी ही सत्यमेव सभी घड़ों में है॥ ४१॥

> इत्यद्वैतं श्रृतिशतैरुद्धोषितमनेकधा। द्वैतवादरताश्चापि द्वासुपर्णावितीरणात् ॥ ४२ ॥

इंस प्रकार सैंकड़ों श्रुति वाक्यों से अनेकधा अद्वीत का ही उद्घोष किया गया है और द्वीतवाद का भी प्रतिपादन श्रुति में 'द्वासुपर्णा' आदि मन्त्र सें किया गया है ॥ ४२ ॥

> द्वैतमेव प्रशंसन्ति हाभेदो भजनात्मकः। अद्वैतभूमिकाद्यस्तात्सोपानास्थास्तु ते प्रिये॥ ४३॥

इस प्रकार वह अभेद और भजनात्मक [अलग-अलग] रूप से हैं त की ही प्रशंसर करते हैं। हे प्रिये! ये अहीत की ही भूमि के नीचे सोपान हैं।। ४३।।

> तेषां नारायणः साक्षात्परब्रह्म श्रुतीरणात् । ब्रह्माभासमया जीवाः क्षुद्रीपाधिगुणाश्रिताः ॥ ४४ ॥

इसिलये भगवान नारायण ही साक्षात् रूप से श्रुति द्वारा 'परब्रह्म' रूप से प्रतिपादित हैं। उस ब्रह्म में ही क्षुद्रोपाधिगुण से आश्रित होकर [माया से आच्छा-दित] 'जीव' भासित होता है।। ४४।।

१. ऋ० १.१६४.२१।

अस्वतन्त्राः पराघीना नित्या इत्यपि चक्षते । अव्याहतं च नित्यत्वं भ्रान्तिमूलमपि प्रिये । ४५ ।।

उसे ही अस्वतन्त्र, पराघीन और नित्य भी कहा गया है। है प्रिये, उसे अन्याहत और नित्य एवं आन्तिमूलक भी कहा गया है।। ४५॥

> निद्रोपलब्धभावानां निद्रा तावित्स्थितः स्थिरा । इति यत् शास्त्रहृदयमज्ञात्वा विवदन्ति ये ॥ ४६ ॥

निद्रा के पहले के मान निद्रा क्षाने के पहले तक ही स्थिए होते हैं। इस प्रकार जो शास्त्र को नहीं जानते वही निवाद करते हैं॥ ४६॥

> द्वैताद्वैतिवचारेऽस्मिन्न ते तत्त्वमवाष्नुयुः। तस्मात्सवंप्रयत्नेन सर्वशास्त्रैकनिश्चयम्।। ४७॥ ज्ञात्वा भजन्ति देवेशि । निःसन्देहः फलात्मकः। वाक्यभेदाननादृत्य बुद्धिकलेशादहङ्कृते।।। ४८॥

अन्ततः इस द्वैत एवं अद्वैत के विचार में वे कुछ भी तस्व नहीं प्राप्त करते। इसिलिए सभी प्रयत्नों के द्वारा सभी शास्त्रों के निचोड़ को जानकर, हे देवेशि। वे निसन्देह और फलात्मक [ब्रह्म] का ही भजन करते हैं। वे वाक्य भेदों का अनादर करके बुद्धि के क्लेश के कारण अहङ्कार को छोड़ देते हैं।। ४८।।

> ये प्रवर्तन्त एवते सश्चल्याः फलविच्युताः। एकमेवाद्यं ब्रह्म द्विधा लीलाविभेदतः। ४९॥

जो उसमें प्रवर्तित होते हैं वे काँटों से युक्त होकर फल की प्राप्ति नहीं करते। एक ही ब्रह्म लीला के भेद से दो दिखाई देता है।। ४९।।

> प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च लीलाभेदे व्यवस्थिता। निवृत्तिः सुखसञ्ज्ञा हि सुखमानन्दरूपकम् ॥ ५०॥

वस्तुतः (संसार में) प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही लीला भेद से [माया के भावरण होने से ही | व्यवस्थित है। निवृत्ति सुख की संज्ञा है और सुख आनन्द रूप है।। ५०।।

> प्रसङ्गात् प्रकृतेर्देवि प्रवृत्तिर्बहुरूपिणी । अजानतां वरारोहे ! दुःखरूपतया स्थिता ॥ ५९ ॥ अक्षरस्य तु सा प्रोक्ता लीलान्यातीतधर्मिणी । प्रवृत्तिलीलालेशोऽपि नैवातीते परात्मिन ॥ ५२ ॥

हे देखि ! प्रसङ्कात् प्रकृति की प्रवृत्ति ही बहुत रूपों वाली है । हे वरारोहे ! उसे न जानने के कारण ही जीव दु.ख रूप समुद्र में गिरा जान पड़ता है । वह [प्रकृति] अक्षर रूप ब्रह्म की ही अतीत धर्मिणी लीलाएँ कही गई हैं । लेश मात्रः भी लीला होने से प्रवृत्ति अतीत परमात्मा में नहीं ही होती है ॥ ५२ ॥

> आग्रहमात्रो देवेशि ! नित्यानन्दमहोदधः। लेश एव सदा तिष्ठेत्सकामो नित्यरूपधृक् ॥ ५३ ॥ कामरूपी सदानन्दः कामांशो लेश उच्यते। तस्मादेवाक्षरे देवि ! नित्यकामो हि दर्शने ॥ ५४ ॥

हे देवेशि, नित्य आनन्द रूप समुद्र में वह आग्रहमात्र ही है। उसका 'लेश' सदैव रहता है और वह काम नित्यरूप घारण करने वाला है। कामरूप में वह सदानन्द है और काम के अंश रूप में वह 'लेश' कहा जाता है। इसलिये, हे देवि! अक्षर में ही नित्य कामना का दर्शन होता है।। ५४।।

तस्मादेवाक्षरे जाता दिदृक्षा या तु पार्वति।

न चेककतृ का सा तु परापरमधी हि सा ॥ ५५ ॥ इसलिए, हे देवि पार्वतो ! उस अक्षर में जो देखने को इच्छा जागृत होती है.

वह एक कृत नहीं अपितु एक दूसरे से परस्पर भावित है ॥ ५५ ॥

अक्षरे ज्ञानतन्मात्रे स्वत इच्छा न जायते।

न प्रवर्तयते साक्षात्पूर्णातमा पुरुषोत्तमः ॥ ५६ ॥

ज्ञान रूप तन्मात्र अक्षर में स्वतः इच्छा कभी भी नहीं होती हैं और कभी भी पूर्णंपरमात्मा वह उत्तम 'पुरुष' प्रविति भी नहीं होता ॥ ५६ ॥

सामरस्यमयीं प्राहुस्तस्मादागमवेदिनः। आनन्दगा सामरस्यात् स्वपक्षविषयग्रहा ॥ ५७ ॥ साङ्गिनं तु परित्यज्य भृशमङ्गेष्वसर्पत । स्वामिनीषु ततो जाता दिवृक्षा दुःखदर्शने ॥ ५८ ॥

इसलिए आगम के वेता जन उसे समान रस वाली मानते हैं। आनन्द तुल्य रस से एवं अपने पक्ष के विषय के आग्रह से अपने संगी को छोड़कर बहुतायत से अर्कों में सर्पण कर जाने से स्वामिनियों में दु:खदशँन की इच्छा जागृत होती है।। ५७-५८।।

उभयव्यापिनी सा तु सर्वकारणकारणाः। ततः कार्यप्रवृत्तिस्तु हेतोर्गुणनिबन्धिनी ॥ ५९ ॥ स्त्रीपुंभावात्मिका जाता ब्रह्मादिस्तम्बभेदतः। इच्छया समुजे निद्रा सापि जातोभयात्मिका ॥ ६० ॥

१. सर्वेकारणकारणं इत्यपि पाठः।

वस्तुत। वह तो सभी कारणों की कारण उभय रूप से व्याप्त है। उससे कार्य में प्रवृत्ति तो हेतुगुण से निबन्धित होने पर वही ब्रह्मा आदि चराचर भेद से स्त्री और पुंभाव को प्राप्त होती है। इच्छा के द्वारा निद्रा का सृजन होता है। वह भी उभयात्मक होती है। ५९-६०॥

ज्ञानात्मिका स्वतः शुद्धा बहिर्वृ तिविवर्णिता । निद्रया सृजते मोहश्चेतनाचेतनो हि सः ॥ ६१ ॥

बाहरी वृत्तियों से रहित ज्ञानात्मिका, स्वतः गुद्ध ब्रह्म निद्रा के द्वारा उस |पुरुष] चैतन और अचेतन [जड़] में [अर्थात् चेतना रूप पुरुष और अचेतन रूप प्रकृति रूपी जीव में] मोह उत्पन्न हो जाता है।। ६१।।

सर्चैतन्यस्य कायंस्य हेतुर्यच्चेतनात्मकः। स एव जडहेतुश्च यस्मादयमचेतनः॥६२॥

चेतनता से युक्त जो कार्य का हेतु है उससे वह चेतनात्मक और जड़ से युक्त कार्य के हेतु से वही अचेतनात्मक [जड़] है।। ६२।।

विद्याविद्ये स एवोक्तः श्रृणु तत्रापि कारणम् । चिद्विद्यत्थिको ह्ये षिद्विद्याकारेण केवलम् ॥ ६३ ॥ यदा परिणमेद् देवि ! यदा विद्येति तां विदुः । यदा चैतत्यमावृत्य केवलं मोहरूपधृक् ॥ ६४ ॥ जीवबुद्धि समावृण्यन् अविद्येति च गीयते । तमः कालुष्यमुत्सूज्य शुद्धसत्वप्रधानिका ॥ ६५ ॥ जीवबुद्धेर्भेदकरी मायेति कथिता प्रिये । सातिवकांशं परित्यज्य केवलं चित्स्वरूपिणी ॥ ६६ ॥

उसमें भी, हे देवि ! तुम कारण को सुनी । वह ही 'विद्या' और 'अविद्या' रूप से प्रतिपादित हैं। क्योंकि चित् और अचित् रूप से प्रथित यह चिदाकार के द्वारा ही जब परिणाम को [अर्थात् बदलाव] को प्राप्त करती है तब उसे 'विद्या' रूप से जाना जाता है और जब चैतन्य आच्छन्न होकर केवल मोह रूप में रहता है तब जीव बुद्धि समावृत्त होती हुई 'अविद्या' नाम से कही जाती है। वस्तुता तम रूप कालिमा को छोड़कर शुद्ध एवं सच्वप्रधान जीव और बुद्धि में भेद करने बाली उसे, हे प्रिये ! 'माया' नाम से पुकारा जाता है और जब सात्विक अंश का उसमें परित्याग होता है तो वही केवल 'चित् 'स्वरूप होती है।। ६६।।

अपरोक्षकरी विद्या ब्रह्मविद्येति तां विदुः। तस्माद्विधा त्रिधा प्रोक्ता मया ते वरवणिनि ! ।। ६७ ।। यह अपरोक्ष ज्ञान वाली विद्या ही 'ब्रह्मविद्या' नाम से जानी जाती हैं। हैं वरविणिति ! तुमसे वही दो प्रकार की ब्रह्मविद्या से समुत्पन्त तीन प्रकार (सत्व, रंज एवं तम) मेरे द्वारा कहे गए हैं।। ६७।।

ततो गुणास्त्रयो जातास्तेऽपि तादृग्विधा शिवे !। सत्वं तु चेतनं विद्धितमो विद्यादचेतनम् ॥ ६८ ॥

ये तीन गुण उससे उत्पन्न हुए। हे भिने ! वे भी उसी प्रकार के हैं। इस तरह चेतन को सत्व गुण वाला जानना चाहिए और अचेतन को तम गुणवाला जानना चाहिए॥ ६८॥

> रजस्तदुभयात्मत्वाच्चेतनाचेतनात्मकम् । भूतानि पञ्च जातानि तानि ताद्गिवद्यान्यपि ॥ ६९ ॥

उन दोनों से ही समुहपन्न चेतन और अचेतनात्मक को रजोगुण वाला जानना चाहिए। उन तीनों से उसी प्रकार से उद्भूत पञ्चभूतों [क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर] को जानना चाहिए॥ ६९॥

> अधिष्ठेयान्यधिष्ठातृतया द्वैविध्यवन्ति च । ब्रह्माण्डमभवत्तेभ्यस्तदेवोभयह्नपधृक् ॥ ७० ॥

अधिष्ठेय और अधिष्ठातृ रूप से वहीं दो प्रकार के हैं। उन्हीं [ब्रह्म और माया या प्रकृति और पुरुष | से उन्हीं दोनों के उभयात्मक रूप वाले 'ब्रह्माण्ड' का मृजनः होता है।। ७० ।।

> एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया शिवे !। समासेन महेशानि ! कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ७९ ॥ ॥ इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती संवादे विंशं पटछम् ॥ २० ॥

इस प्रकार जो तुमने पूँछा, हे शिवे! 'बह सभी कुछ हमने संक्षेप में तुम्हें बतलाया। अब, हे महेशानि! तुम और क्या पूँछना चाहती हो ?॥ ७२॥

श इस प्रकास श्रीनारदपाश्वरात्र क्षागमगत 'माहेश्वरतन्तृ' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के बीसवें पटल को डॉ॰ सुघाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २० ॥

अथ एकविंशं पटलम्

शिव उवाच-

अतोऽन्यत् शृण् देवेशि ! रहस्यं किञ्चिदुत्तमम् । गोपनीयं प्रयत्नेन यस्मै कस्मै न दर्शयेत् ॥ १ ॥

शिव ने कहा-

हे देवेशि ! अब कुछ और भी उत्तम रहस्य की बात सुनो। इसका प्रयत्न पूर्वक गोपन करना चाहिए। इस विद्या को जिस किसी को नहीं बताना चाहिए।।१॥

परीक्षिताय वक्तव्यं ताडनैस्तर्जनादिभिः। ऋते पात्रमिदं ज्ञानं न तिष्ठति कदाचन ॥ २ ॥

ताड़ना और तिरस्कार आदि बहुत प्रकार से परीक्षा करके ही इसे किसी को बताना चाहिए। यह ज्ञान कभी भी सुपात्र को छोड़कर [क्रुपात्र में] नहीं रहता।। २।।

अविभूँताक्षरे शक्तिरिच्छा नाम सुमङ्ग्रहा। अङ्गान्यावृत्य सत्प्रेमविरहौत्कण्ठघदर्शने॥३॥

'अक्षर' में सुमञ्जला नाम की इच्छा शक्ति उत्पन्न होने पर सात्त्विक प्रेम के कारण अञ्जों को आवृत्त करके विरह और दर्शन के लिए उत्कण्ठा जागृत हो जाती है।। ३।।

रतिमुत्पादयामास ततः सा पुरुषोत्तमम् । प्रार्थयामासुरौत्मुक्यात्स्वामिन्या सह सङ्गता ॥ ४ ॥

तब वह रित को उत्पन्न करती है। स्वामिनी के साथ सङ्गत होने की उत्पन्त के कारण वह इच्छाशक्ति पुरुषोत्तम से प्रार्थना करती है।। ४।।

निवारिता बहुविधैर्वावयैरिच्छाविमोहिताः। न मेनिरे प्रियाः सर्वा प्रार्थयामासुरन्वहम् ॥ ५ ॥

वह इच्छा शक्ति बहुंविघ वाक्यों से निवारित होने पर भी विशेष प्रकार से मोहित हो जाती है। उन सभी प्रियाओं ने मान नहीं किया और नित्य प्रति अर्चना प्रार्थना ही की ॥ ५॥ प्रार्थना स्वीकृतास्तासामतीतेनाक्षराद्यदा। तदा सा पुनरासाद्य निद्रा चित्यन्वधारिप्रये ॥ ६ ॥

अतीत अक्षर के द्वारा जब उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो जाती है तब, हे प्रिये! वह पुना निदा में आकर 'चित्' में आ जाते हैं ॥ ६ ॥

> चिदात्मा पुरुषः साक्षान्मोहमय्यैव निद्रया । घूर्णितोशेत सन्मंचे पञ्चब्रह्ममये शुभे ॥ ७ ॥

विदातमा पुरुष साक्षात् मोहमयी निद्रा के कारण पञ्च ब्रह्ममय और शुभ एवं सत् शब्या पर निद्रालु हो सो गए।। ७।।

> यदैव निद्रया घूणों विस्मृतात्माऽभवत् प्रिये। हृदयाक्जकणिकामध्ये विहरेतापरा हि सा ॥ ८॥

जभी निद्रा से वे निद्रित हुए तब, हे प्रिये! वे अपनी आत्मा को विस्मृत कर बैठे। क्योंकि अन्य वह हृदय कमल को कणिका के मध्य विहार करे।। ८॥

> व्यिचिनोत्पञ्चद्या देवि ! स्वरूपमिप चात्मना । उद्गारिणी पालिका च तथा संहारिकापि च ॥ ९ ॥ विद्याला व्यापिका चेति शक्तयः पञ्च कीर्तिता। ॥ ९० ॥

हे देवि ! उन्होंने पाँच प्रकार से अपने स्वरूप को भी विभक्त कर दिया—जो १. उदगारिणी [पैदा करने बाली], २. पालिका [पालन करने बाली], ३. संहारिका, ४. विशाला और ५. व्यापिका—नामक पाँच शक्तियाँ हैं ॥ ९-१०॥

> रजः प्रधानहारिणी पालिनी सास्विकी मता। तमःप्रधाना संहर्त्री शुद्धसत्वा विशालिका॥ १९॥

पालिनी अीर हारिणी (च उद्गारिणी) शक्ति रजः प्रधान और साख्तिक गुणयुक्ता है। संहत्रीं और विशाला शक्ति तमः प्रधान और गुद्ध सक्त्रगुण वाली है।। ११॥

> निगुंगा व्यापिका शक्तिरिच्छा पश्चिविधोदिता। एता एवोदिता देवि ! जाग्रति प्राकृतास्तथा॥ १२॥

व्यापिका शक्ति विना गुण वाली पांच प्रकार की इच्छा शक्ति को जन्म देती है। हे देखि! इसी से जाग्रत तथा प्राकृता शक्ति उत्पन्म होती है।। १२।।

इच्छामय्यस्तु शयने तस्मान्मञ्चो निरामयः। उद्गारिणीपालिकयोः स्कन्धयोस्तत्पदद्वयम् ॥ १३॥ शयन में वह ब्रह्म इच्छामय होते हैं किन्तु उनका मञ्ज निरामय [नी रोग] होता है। उद्गारिणी और पालिका दोनों ही उनके दोनों कन्छे भीर पैर के समान है।। १३।।

> ^¹विशालाहारिणीकण्ठदेशे पाणिद्वयं स्थितम् । व्यापिका मञ्चफलकीभृताद्यारतया स्थिता ॥ १४ ॥

विशाला जीर हारिणी (= उद्गारिणी) शक्ति कण्ठ प्रदेश और दोनों हाथ में स्थित रहती है। किन्तु व्यापिका शक्ति मश्च की चौकी पर आधार रूप से स्थित होती है। १४।।

पञ्चमु प्रतिबिम्बोऽभूदक्षरस्य चिदात्मनः। बिम्बितं यत् चैतन्यं तस्मिन्नुद्गारिणी हि सा ॥ १५ ।

अक्षर रूप चिदात्मा का उन पाँचों पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो यह चैतन्य रूप प्रतिबिम्ब है उस रूप में वह 'उद्गारिणी शक्ति' होती है।। १५॥

दर्शयामास वेदास्याद्युपाधिमतिविस्तृतम् । बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या पालिनी शिवे ॥ १६ ॥ अदर्शयच्चतुर्भुजाद्युपाधिमतिविस्तृतम् । बिम्बितं यत्तु चैतन्य तस्मिन् संहारिणी तु या ॥ १७ ॥ अदर्शयन्त्रिनेत्राद्युपाधिमतीव मुन्दरि ! । बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या तु विशालिका ॥ १८ ॥

उन्होंने उससे अतिविस्तृत आद्युपाधि मुख रूप वेदों को दिखलाया। हे शिवे हैं 'पालिनी शक्ति' में इनका तो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह अतिविस्तृत आद्युपाधि चतुर्भुज रूप को प्रकट करता है। संहारिणी ['विशाला'] शक्ति में जो उनका चैतन्य-रूप प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे, हे सुन्दिर ! विनेत्र आदि उपाधियों को प्रकट किया।। १६-१८।।

अष्टबाह्वाद्यपाधिं च दर्शयामास केवलम्। विम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या व्यापिका मता ॥ ९९ ॥ व्यापिका शक्ति में जो चैतन्यरूप प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे मात्र अष्टबाहु आदि उषाधियों को प्रकट किया ॥ १९ ॥

दशबाहुं च पञ्चास्याद्युपाधिमसृजित्प्रिये। ब्रह्मा विष्णुश्च **गद्र**श्च ईश्वरश्च सदाशिवः।। २०।। हे प्रिये ! उसने इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ध, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच मुख एवं दस हाथ की उपाधि का सृजन किया।। २०।।

१. 'हारिणी' इत्युद्गारिणोशक्तिरपर नाम ।

पञ्चपादत्वमापन्ना नित्यमुद्वहते परम्। सृष्टि स्थितिं च संहारं तिरोधानमनुग्रहस् ॥ २१॥

इस प्रकार नित्यप्रति सृष्टि, स्थिति, संहार, विरोधान और अनुग्रह रूप से पाँच प्रकार से वह संपादित है।। २१।।

> नित्यमेव प्रकुर्वन्ति भूताधिष्ठातृरूपिणः। सृष्टचादित्रयसिद्धचर्यं त्रयाणां 'बुभूजेंशतः।। २२।।

मूर्तों के अधिष्ठातृ रूप वाले ये नित्य ही सृष्टि [प्रलय और पालन] आदि तीन की सिद्धि के लिए अंशत: तीन का ही भोग करते हैं ॥ २२ ॥

तिरोधानानुग्रहो तु मञ्चपादस्थयोविदुः।
पेञ्चशक्तिप्रभेदेन परेच्छैव सुमङ्गला।। २३।।
ब्रह्मावष्ण्वादिरूपाणि धत्ते नानास्वरूपिणी।
अक्षरस्य तु रूपे द्वे पुरुषाक्षरभेदतः।। २४।।

तिरोधान और अनुग्रह को मञ्चपादस्य हो जानना चाहिए। उस श्रेष्ठ ब्रह्म की सुमञ्जला इंच्छा के ही पाँच भेद-प्रभेद से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप में नाना स्वरूपिणी सृष्टि संपादित होती है। वस्तुतः पुरुष और अक्षर भेद से अक्षर ब्रह्म [मब्द ब्रह्म] के ही दो रूप हैं।। २३-२४॥

नारायणस्तु पुरुषाज्जज्ञे स्वप्नेक्षिता स्वयम् ।
नादिबन्दू शिवः शक्तिर्जातौ नारायणात्प्रिये ॥ २५ ॥
नादिबन्दुमयत्वेन त्रिधा नारायणः स्थितः ।
सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः अनिरुद्धकः ॥ २६ ॥
चतुर्धा विष्णुरेवोक्तो हयंशभेदा हथनेकशः ।
एकादश विभेदातमा रुद्रोऽहमहमीरुवरि ॥ २७ ॥
मदात्मभेदाः शतशः कोटिशः सन्ति सुन्दरि ।
सदाशिवेदवरावेतौ आत्मभेदाविविज्जितौ ॥ २८ ॥

पुरुष से स्वयं ही स्वय्न रूप में 'नारायण' उत्पन्न हुए और हे प्रिये! उन नारायण से नाद और बिन्दु एवं शिव तथा शक्ति प्रकट हुए। इस प्रकार नाद एवं बिन्दु रूप से नारायण हो तीन प्रकार से स्थित रहते हैं। संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, एवं अनिरुद्ध—ये चार अंशभेद से विष्णु के ही अनेकशः रूप कहे गए हैं।

१ 'बुभुवे' इत्यपि पाठः ।

हे ईश्विर, मैं रुद्र प्रधान रूप से एकादश रूप वाला हैं। यद्यपि हे सुन्दरि ! सदा-शिव और ईश्वर मेरे इन दो रूपों को छोड़कर सैंकड़ों और करोड़ों हमारे भेद हैं॥ २५-२८॥

> वेदप्रणवभेदेन द्विषा नारायणोदभूत्। नाद एव महेशानि बहु स्यामिश्यवेक्षणात्॥ २९॥

वेद और प्रणव भेद से नारायण दो प्रकार में समद्भूत हुए। हे महेशानि ! एक मैं बहुत होऊ इस इच्छा से 'नाद' प्रकट हुआ ॥ २९ ॥

> न भेदो विद्यते बिन्दौ अखण्डात्मनि सुन्दरि। महत्तत्वमिदं भद्रे मनो नारायणस्य तत्।।३०॥

हे सुन्दरि ! अखण्डात्मक 'बिन्दु' के भेद नहीं हैं । उन नारायण का यह मन हो 'महत् तत्त्व' है ॥ ३० ॥

> मनसस्तु बहु स्यामित्यमन्यत यदा हि सः। अहङ्कारस्ततो जज्ञे प्रमृतो बिन्दुतां ययौ॥३९॥

जब उन नारायण ने यह सोंचा कि मैं बहुत होऊँ तो उनसे अहङ्कार पैदा हुआ जो फैलकर 'बिन्दु' बन गया.।। ३१ ।।

> बिन्दुः शून्यात्मको ज्ञेयस्तस्माद्विश्वं निरर्थकम्। व्याप्तोऽहङ्कार एवायं ब्रह्माभासे दृश्यते ॥ ३२ ॥

बिन्दु को शून्यात्मक जानना चाहिए। इसलिए विश्व निरर्थक [असत्य] है। वस्तुतः यह व्याप्त अहङ्कार ही ब्रह्म के आभास के रूप में दिष्टिगोचर होता है।। ३२।।

> ब्रह्माभासो निर्विकारो निष्प्रपञ्चो निरङ्जनः। न करोति न लिप्येत प्रदीप इव भासकः॥३३॥

यह ब्रह्माभास, निर्विकार, निष्प्रपञ्च और निरञ्जन [निर्मल] है। बस्तुत। न यह कर्ता है और न तो यह लिप्त होता है। जैसे दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने वाला दीपक स्वयं उसमें न लिप्त रहता है और न तो उसका कर्ता है।। ३३।।

> अहङ्कारस्य कर्नुं त्वं भोक्तृत्वमि सुन्दरि । धर्मीधर्मौ पुण्यपापे बन्धमोक्षादिकं तथा ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार हे सुन्दरि! अहङ्कार का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी, धर्म अधर्म, पुण्य-पाप एवं बन्धन तथा मोक्ष आदि वैसे ही आभासित है ॥ ३४॥

अहङ्कारेण भिद्येत नानाभेदव्यवस्थया। अहङ्कारेण तादातम्यादाभासेऽपीक्षते स्फुटम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकार के भेद की व्यवस्था से वह अहङ्कार द्वारा ही भेदित होता है। वस्तुतः अहङ्कार के तादारम्य से वह स्पष्ट रूप से आभास की अवस्था में भी देखता रहता है।। ३५॥

> अहङ्कारमयो ग्रन्थियांवन्नैव विभिद्यते। अविद्यमानः संसारः तथाप्येनं न मुञ्जति ॥ ३६॥

इस प्रकार अहङ्कार ग्रन्थि का भेदन जब तक नहीं होता, तब तक पह अविद्यमान संसार भी इस [जीव] को नहीं छोड़ता है।। ३६।।

स्फटिकस्यैव रागित्वं जपाकुसुमयोगजम् । नापगच्छति तद्देवि कुसुमापहृति विना ॥ ३७ ॥

जपा कुसुम के संधिलष्ट होने से स्फटिक में पड़ने वाली लालिमा, हे देवि, तब तक नहीं हटती जब तक कि जपा (बोड़हुल) के लाल फूल को उससे दूर न हटा दिया जाय ॥ ३७ ॥

तथा संसरणं जीवे ह्यहङ्कारच्युतिं विना। निवर्तते न देवेशि कल्पकोटियुतायुतैः॥३४॥

उसी प्रकार, हे देवि ! जीव में संश्विष्ट अहङ्कार की च्युति के बिना करोड़ों कल्पों में भी असत्य संसार का भान मण्ड नहीं होता ॥ ३८ ॥

> सोऽहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो गुणभेदेन पार्वति। अहङ्कारोऽयमेवाहं तथा जीवगतो द्विधा॥३९॥

हे पार्वित ! वह अहङ्कार ही गुण के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। यह 'अहङ्कार' मैं ही हूँ जो दो प्रकार से जीव में रहता हूँ ॥ ३९॥

महत्तत्वं त्रिधा प्रोक्तं आध्यात्मादिप्रभेदतः। नारायणमनोरूपमाधिदैविकमुच्यते ॥ ४०॥ अध्यात्म आदि भेद प्रभेद से 'महत्-तत्त्व' तीन प्रकार का है। नारायण का [जीव में] मन रूप में होना 'आधिदैविक' कहा गया है॥ ४०॥

जीवानां वित्तरूपं यदध्यात्म्यमिति चक्ष्यते। ब्रह्मणो देहरूपस्थमाधिभौतिकमुच्यते॥ ४९॥

जीवों में 'चित्त' रूप से जो घह 'अध्यात्म' रूप से अभिहित होता है। **बह्य**

का जो 'देहस्थ' रूप है वह 'झाविभौतिक' कहा जाता है ॥ ४१ ॥
- नारायणेद्यिदेवेन रूपेण' परिनिष्ठितम् ।
- आविबंभूव तद्वर्णभेदेवेंदस्वरूपतः ॥ ४२ ॥

आधिर्देविक रूप से परिनिष्ठित नारायण ही उनके वर्णभेदों के द्वारा वेद स्वरूप में अविभूत होते हैं ॥ ४२ ॥

> जीवगं यत्तु देवेशि चित्तरूपतया स्थितम् । सुषुम्णावित्तना प्राणवायुना सह सङ्गतम् ॥ ४३ ॥

हे देवेशि, जीव में जो चित्त रूप से स्थित है वह सुषुम्ना में रहने वाली प्राण वायु से संगत है ॥ ४३ ॥

वायुस्तेन युतो देवि ब्रह्मरन्ध्राहतः युनः।
ताल्बोष्ठपुटनासादिभेदेनः परमेश्वरि। ४४॥
वर्णात्माविभवति गद्यपद्यादिभेदतः।
ब्रह्मदेहतया यस्मात् स्थितं त्रैलोक्यकारणम् ॥ ४५॥
अतस्तस्माज्जगज्जालं दिवासुरनरोरगम्।
इति तेऽभिहितं देवि रहस्यं परमाद्भुतम्।। ४६॥

है देवि ! उससे युक्त होकर वायु पुनः ब्रह्मरन्ध्र से आहत होकर, हे परमेश्वरि, तालु, ओष्ठ, पुट और नासिका के भेद से उत्पन्न होता है । उस तालु, ओष्ठ आदि से गद्य और पद्य आदि भेद के रूप में वही [शब्द ब्रह्म] वर्णात्मक रूप से अविभूति होता है । क्योंकि शैलोक्य का कारण रूप ब्रह्म देह रूप से स्थित है । अतः उससे देव, असुर, नर और सर्प आदि जीवों की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार, हे देवि, परम अद्भुत रहस्य मैंने तुम्हें बताया है ॥ ४४-४६ ॥

श्रद्धाहीनाय दुष्टाय कृतघ्नाय दुरात्मने । नास्तिकायाविनीताय वेदशास्त्रोद्गताय च ॥ ४७ ॥ अविश्वस्ताय देवेशि दर्शयेन्म कथञ्चन । यदा राजा तु सर्वस्वं बलं कोशो महीगजान् ॥ ४८ ॥

१. 'नारायणे यदध्यातमरूपेण' इत्यपि पाठः ।

२. 'देहेन' इत्यपि पाठः।

३. 'तल्लोक' इत्यपि पाठः ।

निवेदयतु जिज्ञासुस्तदा तस्मै प्रकाशयेत्। अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४९ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपितव्यं त्वयापि हि ॥ ५० ॥

। इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती संवादे एकविंशं पटलम् ।। २१ ।।

श्रद्धाविहीन, दुष्ट, कृतध्न और दुरात्मा, नास्तिक, अविनीत एवं वेद शास्त्र को न जानने वाले को और अविश्वस्त पुरुष को, हे देवेशि, कभी भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान तभी प्रकाशित करें जब कोई जिज्ञासु राजा अपना बल [—सेना] खजाना, पृथ्वी और हाथी आदि सभी कुछ निवेदित कर दे। नहीं तो सिंडि समाप्त हो जाती है। यह निश्चय ही सत्य है। इस में कोई संशय नहीं जानना चाहिए। इसलिए, हे प्रिये, तुम्हें भी सब प्रकार से इस (रहस्य) का गोपन ही करना चाहिए।। ४७-५०॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के इक्कीसवें पटल की डाँ० सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशं पटलम्

पार्वत्युवाच-

यदुक्तं देवदेवेश त्वया पशुपते प्रभो। प्रविश्य कर्णरन्ध्रेण चिदानन्दायते हृदि॥१॥ «

भगवती पार्वती ने कहा--

हे देव देवेश, हे पशुपति, हे प्रभु ! जो आपने (तत्त्व ज्ञान की) बात कही, वह कर्ण के छिद्रों से प्रविष्ट होकर हृदय में चित्त को अत्यन्त आनिन्दित कर रही है ॥ १ ॥

> तीर्थानां परमं तीर्थं ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। योगानां परमो योगो धर्माणां धर्म उत्तमः॥२॥

यह ज्ञान तीर्थों में भी परम तीर्थ, प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान है। योगों में उल्कृष्ट योग और धर्मों में उत्तम वर्म है।।२॥

> श्रोतब्यानां च परमं श्रोतब्यमिदमेव हि। ज्ञातब्यानां च परमं ज्ञातब्यमिदमुच्यते॥३॥

क्योंकि सुनने में यह सुनने योग्य मर्म है और ज्ञातव्य में यह परम ज्ञातव्य (ज्ञान) कहा जाता है।। ३।।

> श्रुतं मया विशेषेण सोपपत्तिकमित्यपि । न तथाप्यन्तरात्मा मे तृष्तिमायाति शाइवतीम् ॥ ४ ॥

यह मी मैंने उपपत्तिपूर्वंक विशेष रूप से सुन लिया, तथापि मेरी अन्तराहमा नामात तृष्ठि को नहीं प्राप्त कर रही है ॥ ४ !।

> अतस्त्वां परिपृच्छामि विशेषं तत्र धूर्जटे। तं च ब्रूहि महादेव प्रसादपरमो भव।। ५।।

अत। है घूर्जंटि ! आप से उस ज्ञान में विशेष ज्ञान को पूँछती है। हे महादेव ! बाप प्रसन्त हों और उस (विशिष्ट ज्ञान) को मुझसे कहें।। ५।।

> स्वप्नभूतप्रपञ्चेस्मिन्नक्षरस्य परात्मनः । प्रियाः सस्यो भगवतो वासनावशतो गतः ॥ ६ ॥

परमात्मा अक्षर के स्वप्नभूत इस प्रपष्टच में भगवान् को प्रिय सिखयाँ भी वासना के वश (क्यों) हो गई।। ६।।

कियांस्तत्र गतः कालस्तासामागमनादनु । कियत्कालं च ताः सर्वा इह स्थास्यन्ति मोहिताः ॥ ७ ॥

उनके आगमन के अनन्तर कितना काल व्यतीत हुआ ? और वे ही मोह में प्राप्त होकर कितने काल तक रहेंगी ॥ ७ ॥

> कथ ता बोधमाप्स्यन्ति कस्तासां प्रतिबोधकृत्। यूगपद्वा गमिष्यन्ति पृथक वा परमेइवर॥ ७॥

वे कैसे प्रबद्धावस्था को प्राप्त होगी ? और कौन उन्हें प्रवृद्ध कराने वाला होगा ? हे परमेश्वर ! वे साथ-साथ ही जायेगी, अथवा अलग-अलग।। पा

> एतत्सर्वं महादेव कथयस्व प्रसादतः। संशयो मे महानद्य तमपानुद शङ्कर॥९॥

यह सब कुछ, हे महादेव ! आप प्रसन्न होकर मुझसे कहें । हे शङ्कर ! इसमें जो मुझे महान सन्देह हैं उसका आप निराकरण करें ॥ ९॥

शिव उवाच --

श्रृण पार्वति वक्ष्यामि तव प्रदनानशेषतः। त्वं मे प्राणाधिकैवासि तस्माद्वक्ष्ये यथातथम्।। १०॥

भगवान् शङ्कर ने कहा--

हे पार्वित ! सुनो । तुम्हारे सभी प्रश्नों का समाधान मैं कहूँगा । तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो । अत: मैं तुमसे जैसा है वैसा हो कहूँगा ॥ १० ॥

विरञ्चेर्न्नह्मणः पूर्वं अष्टवक्त्रोऽभवद्विधिः। शब्दन्नह्मोति य प्राहुर्वेदवेदान्तपारगाः॥ १९॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पहले (चार न होकर) आठ मुख थे। जिसे वेद और वेदान्त के पारगामी विद्वानों ने 'शब्द ब्रह्म' के रूप से कहा है।। ११।।

द्विपरार्द्धावस।नेस्य ब्राह्मः कल्पो महानभूतः। प्रलमोऽयं महेशानि प्रकृत्यविधरुच्यते ॥ १२ ॥

दो पराधों के बीत जाने पर इन ब्रह्मा का एक महान् 'ब्राह्म-कल्प' हुआ। है महेशानि ! यह प्रलय है जो प्रकृति की अविध कहा गया है।। १२।॥

'एका शिष्टा च प्रकृतिः पुरुषाधिष्ठिता हि सा। कियत्कालं ततो देवि शून्यमासीदिति श्रृतिः॥ १३॥

वस्तुतः एक प्रकृति है जो पुरुष में अधिष्ठित होकर रहती है। श्रुति के अनुसार उसके बाद, हे देवि ! कुछ काल तक शून्य हो था ॥ १३ ॥

> अविभूता ततो निन्द्रा अक्षरे परमात्मनि । महत्तत्वमतस्तस्माद् अहङ्कृतिरजायत ॥ १४ ॥

उस परमात्मा अक्षर में तब निद्रा आविभू त हुई। पहले महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ। तब उसके बाद अहङ्कार आया ॥ १४॥

स एव च त्रिधा जातो गुणभेदेन सुन्दरि। सात्विकाच्च मनो जज्ञे देवताश्च दशैव ताः॥ १५॥ हे सुन्दरि! गुणके भेद से वही तीन (गुणसत्त्व, रज, और तम) होकर उत्पन्न हुए। सात्विक गुणसे मन और दस देवता उत्पन्न हुए॥ १५॥

राजसादिन्द्रियाण्यासन् भूतानि तमसोऽभवन् । तेभ्यौऽण्डमभवेद्देवि तत्र नारायणः स्थितः ॥ १६॥

राजस् गुण से इन्द्रियों का जन्म हुआ और तमोगुण से (पञ्च) महाभूतों की उत्पत्ति हुई। उन पञ्च महाभूतों से एक अण्ड की उत्पत्ति हुई। हे देवि! वहीं भगवान नारायण स्थित रहते हैं।। १६।।

ैतस्य नाभेरभूत्पद्म यत्र ब्रह्माभवत्स्वयम्। द्विपरार्द्धमितं चास्य परमायुनिगद्यते । १७॥ उनके नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। जहाँ स्वयमेव ब्रह्मा का अविभाव हुआ। इन ब्रह्मा की आयु दो परार्घो [अर्थात् एक युग का चार भाग करने पर दो भागों] तक कही गयी है ॥ १७॥

> अस्मिन् ब्रह्माण्डगोले हि जम्बूद्वीपे महेश्वरि । वर्षे भारतसंज्ञे हि प्रियाणां वासनाः स्थिताः ॥ १८ ॥

हे महेश्वरि ! इस ब्रह्माण्ड रूप गोलक के जम्बू द्वीप में भारतवर्ष नामक देश में (कृष्ण की) प्रियाओं की वासना स्थित हुईं।। १८॥

> परार्द्धः प्रथमो जातो द्वितीयेस्मिन् महेश्वरि । निर्वन्धारस्वामिनीनां च लीलामाविश्वकार ह ॥ १९ ॥

१. 'एकावशेषा-प्रकृतिः' इत्यपि पाठः ।

२. 'तत्र' इत्यपि पाठः ।

हे महेश्वरि । द्वितीय (परार्ड्ड) में प्रथम परार्द्ध का जब आरम्भ हुआ तब बन्धन विहीन होने से उन स्वामिनियों की छीला आविष्कृत हुई ॥ १९॥

श्रीकृष्णः परमानन्दो नन्दगेहेभवत्तदा।

गोपकन्यामिषेणैव ह्याविर्भूतास्ततः प्रियाः ॥ २०॥ तब भगवान् परमानन्द श्रीकृष्ण नन्द के घर पर उत्पन्न हुए और उनकी प्रियाएँ तब वहीं ब्रज में गोप कन्याओं के रूप में उल्पन्न हुई ॥ २०॥

तत्कामपूर्त्तये साक्षात् श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमः।

रासलीलां प्रकुर्वाणो रमयामास ताः प्रियाः ॥ २९ ॥ भगवान् कृष्ण पुरुषोत्तम ने उनकी कामनाओं की पूर्ति के लिए साक्षात् रूप से

रास लीला करते हुए उन प्रियाओं से रमण किया ॥ २१ ॥

योगमायासमावेशान्सायाकार्यं विलुंपतः । ब्रह्मणोऽपि लये जाते यथापूर्वमभूदिदम् ॥ २२ ॥ पुनर्जातं ततः सर्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् । मनोरथस्य चापूर्त्या वासनाः कार्यमध्यगाः ॥ २३ ॥

योगमाया के समावेश के कारण माया का कार्य मोहग्रस्त था। ब्रह्म के भी विलीन हो जाने पर, जैसा यह ब्रह्म पहले था वैसा उस रास लीला में हुआ। उसकें बाद पुन ब्रह्म आदि स्थावर एवं जङ्गमात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई। तब मनोर्थ की पूर्ति के लिए कार्य के बीच में रहने वाली वासना की उत्पत्ति हुई।। २२-२३।।

विचरन्ति यथा काल यथादेशं यथारुचि। द्विपरार्द्धे त्वनिकान्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे॥ २४॥ विर्ञ्चो मुक्तिमापन्ने प्रबुद्धे हचक्षरे प्रिये। प्रबुद्धा वासनास्ता हि भविष्यन्ति स्वबिम्बगाः॥ २५॥

काल के अनुसार, देश के अनुसार और अपनी रुचि के अनुसार वह बासना विचरण करती रहती है, और द्वितीय पराद्ध के बीत जाने पर स्थावर एवं जङ्गमात्मक जगत् के नष्ट हो जाने पर तथा ब्रह्मा के मुक्ति पा जाने पर, हे प्रिये! बही प्रबुद्ध वासना अपने बिम्ब रूप से प्रबुद्ध अक्षर (ब्रह्म) में आ जाती है।। २४-२५।।

> आविभवाच्च लीलाया द्वापरान्ते कली युगे। 'असिह्हण्युः स्वप्रियाणां दु:खलीलान्दर्शनम्।। २६ ॥

१. क्विचित्पुस्तके २६-२७ क्लोकयोः 'आस कृष्ण। प्रियाणां च दु:खलीलानुदर्शने । तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया । प्रबोधियष्यित सा सर्वाः कथ-यित्वा विनिर्णयम्' । ईदृशः पाठभेदो भाति ।

द्वापर युग के अन्त में एवं किल युग के प्रारम्भ होने पर लीला का आविभाव होता है। अपनी प्रियाओं के असहिष्णु होने पर तथा दु।ख-लीला के दर्शन की इंच्छा के कारण ऐसा भगवान करते हैं।। २६।।

> तासामेकां च परमां सुभगां सुन्दरीं प्रियाम् । प्रबोधयिष्यतितरां कथयित्वा विनिर्णयम् ॥ २७ ॥

उन प्रियाओं में एक सुन्दर अङ्गों वाली उत्कृष्ट सुन्दरी प्रिया अपने (लीला दर्शन के) निर्णय को कहकर उन अक्षर ब्रह्म परमात्मा को प्रबुद्ध करोगी।। २७॥

ततस्तत्सम्प्रदायेन सर्वास्ता भगवित्रयाः।
स्वभर्तुं विरहाकान्ताः त्यक्त्वा देहान् प्रपञ्चगान् ॥ २८॥
भगवल्लोकवेकुण्ठे स्थितिमाप्स्यन्ति यूथशः।
पद्मया रममाणास्ताः कालभोगे यथाविधि॥ २९॥

इसके बाद वे सभी उस सम्प्रदाय वाली प्रियाएँ भगवान की प्रिय होने से अपने मर्ता श्रीकृष्ण के विरह से आक्रान्त होकर अपने पाञ्चभौतिक शरीर को स्याग कर भगवान के लोक वैकुण्ठ में एक-एक यूथ के रूप में स्थिति को प्राप्त करेंगी। पद्मा के साथ रमण करती हुई वे यथाविधि काल का उपभोग करेगी।। २८-२९।।

दिव्यदेहानपि त्यक्त्वा भविष्यन्ति स्विबम्बगा।
अक्षरोऽप्यनुभूर्येतत्स्वप्नवत् परमेश्वरि ॥ ३०॥
परमानन्दसम्मग्नो भविष्यति कृतार्थंधीः।
सर्वा लीला नित्यरूपा भविष्यन्ति तदा प्रिये॥ ३९॥

वहाँ बैंकुण्ठ में भी अपने दिन्य शारीर को भी वे त्याग कर अपने बिस्ब रूप से वे प्रतिष्ठित होंगी। हे परमेश्विर ! अक्षर (ब्रह्म) भी यह सब स्वप्त के समान अनुभव करके परम आनन्द में विभोर होकर अपने को कृतार्य बुद्धि वाला समझेंगे । है प्रिये ! तभी नित्य रूपा सभी लीला होंगो ॥ ३०-३१ ॥

भगवल्लोकमात्मानं दिव्यभावेऽपि सुन्दरि । अविद्यालेशसम्बन्धादक्षरस्य परात्मनः ॥ ३२ ॥ निद्रांशस्यापि शेषत्वात् कियत्कालमवस्थितिः । युगपद्देवि सर्वास्ता गमिष्यन्ति निजं गृहम् ॥ ३३ ॥

हे सुन्दरि ! दिव्य भाव होने पर भी भगवान के अपने लोक में परमात्मा अक्षर में अविद्या के लेश मात्र सम्बन्ध से तथा निद्रा के कुछ शेष रहने पर कुछ काल तक ही उनकी अवस्थिति रहती है। हे देवि ! वे सभो वासना रूपा बिम्ब को प्राप्त प्रियाएँ अपने गृह को चलो जाएँगी ॥ ३२-३३ ॥

> न कथञ्चन देवेशि गतिस्तासां पृथक् भवेत्। स्वन्तस्य विषये साम्यादैकात्म्याच्च तथा प्रिये॥ ३४॥

हें देवेशि ! किसी भी प्रकार से उनकी गति उन अक्षर ब्रह्म से अलग नहीं होती है । हें प्रिये ! क्योंकि यह लीला अक्षर ब्रह्म की निद्रा में स्वप्न का विषय होने से और बिम्ब रूप प्रिया का उनमें एकात्म होने से पृथक् नहीं है अतः ॥ ३४॥

> वैरस्याच्च विचित्रत्वे भर्तृ स्नेहाविशेषतः । न पृथक् गमनं तासां तस्माद्वेकुण्ठसंस्थितिः ॥ ३५ ॥

भर्ता श्रो कृष्ण के अतिशय प्रेम के कारण और विचित्र लीला के वैरस्य के कारण उन प्रियाओं का प्रथक गमन नहीं होता। इसीलिए उनको स्थिति बैकुण्ठः में होती है।। ३५॥

क्रमयोगेन देवेशि सर्वा यास्यन्त्यसंशयम् । तस्माद्देवि विशेषेण स्वपतिः पुरुषोत्तमः ॥ ३६॥

है देवेशि ! निःसन्देह वे सभी प्रियाएँ क्रमपूर्वक वहाँ बैकुण्ठ में जाएँगी । है देवि ! क्योंकि पुरुषोत्तम ही विशेष रूप से उनके पति हैं ॥ ३६ ॥

> भजनीयो हि सततं वेदशास्त्रानुरोधतः। देहेन्द्रियस्वभावानामन्तं कर्माणि पार्वति।। ३७॥

अतः हे पार्विति ! वेदशास्त्र के अनुरोध के अनुसाय साधक को देह एवं इन्द्रियों के स्वाभाविक कर्मों को करते हुए भी भगवान कृष्ण का भजन करना चाहिए ॥३७॥

> बात्मनोन्तं परब्रह्मध्यानश्रवणकीर्तनम् । स्वभावाज्जायते कर्म सदसच्चेति सर्वया । ३८॥

अपनी अन्तरात्मा में उन भगवान का ध्यान, उनकी कथा का अवण तथा उनका कीर्तन करते हुए ही रहना चाहिए। इनिद्रियों के सत्या (मलमूत्र त्याग आदि) असत् कर्म तो स्वभाव से सर्वथा होते ही रहते हैं।। ३८।।

> सत्त्यागादसदासङ्गन्नानायोनिभ्रमो भवेत्। आधिव्याधिदरिद्रोत्थपीडाविस्मारिततात्मनः ॥ ३९ ॥

जीव सत् कर्मों के त्याग से तथा असत् कर्मों के सर्वथा सङ्घ से नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। वह जीव परमात्मा से अलग होकर आधि, व्याधि औरः वारिव्रय से उत्पन्न पीष्ठा से अपने स्वरूप को भूल जाता है।। ३९॥

उद्रिक्ततमसो देवि न शुभं स्यात्कदाचन। तस्मात्कर्तव्यमेवेह देहपर्यवसायि यत्।।४०।।

हे देवि ! बिना अन्वकार के हटे कभी भा ग्रुभ कर्म नहीं हो सकता है । इसलिए जो देह में पर्यवसान करने बाले कर्म हैं, उन्हें छोड़कर मगवान का घ्यान (कथा), अवण एवं कीर्तन आदि ही परमार्थ रूप से इस लोक में कर्तव्य हैं ॥ ४० ॥

देहान्ते कर्मसम्बन्धो न भविष्यति कहिँ चित्। प्रत्यवायनिवृत्यर्थमनिष्टाचरणस्य च ॥ ४९॥ नित्यं नैमित्तिकं कार्यं काम्यं कर्म परित्यजेत्। एवं यो वर्त्तते देवि निष्प्रत्यूहं स सिष्ट्यति॥ ४२॥

देह के पच्चभूत में विलीन हो जाने पर उन कर्मों का उस भारीर से कोई भी सम्बन्ध नहीं होगा। अतः प्रत्यवाय (बाधा) की निवृत्ति के लिए तथा उससे अनिष्ट का आचरण होने से देह के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। साधक को नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिए किन्तु काम्य कर्म का सर्वथा परित्याग करना करना चाहिए। हे देवि ! इस प्रकार से जो साधक साधना करता है उसे नि:सन्देह सिद्धि प्राप्त हो जाती है।। ४१-४२।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामलोलुपः।
स सिद्धिमिह नाप्नोति परत्र न पराङ्गितिम्।। ४३।।
जो व्यक्ति काम लोलुप होकर शास्त्रों के अनुसार कर्म का परित्याग कर जीवन
यापन करता है, वह यहाँ सिद्धि तो नहीं ही प्राप्त करता है और उसकी उर्ध्व

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया प्रिये। समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४४॥ ॥ इति श्रोमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे द्वाविशं पटलम् ॥ २२॥

हे प्रिये ! इस प्रकार जो आपने पूँछा, वह सभी हमने आपको सक्षेप में ज्वतलाया है। हे महेशानि ! अब आपक्या सुनना चाहती हैं ? ॥ ४४ ॥ ॥ इस प्रकार श्रीनारदपाखरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के बाइसवें पटल को डॉ॰ सुधाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

पार्वत्युवाच---

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि तन्मे बृहि सदाशिव। भूतले भगबद्भार्या नानायोनिषु संस्थिताः॥१॥

पार्वती ने कहा-

हे सदाशिव पुनः मैं आपसे पूँछना चाहती हूँ, उसे आप हमसे कहें। इस भूतल पर भगवान की भार्या नाना योनियों में उत्पन्न है।। १।।

तत्र तत्र विचित्राणि कर्माण्यपि कृतानि च।
क्विचित्तीर्थं क्विचिद्दानं क्विचिद्धोमं क्विचिज्जपः ॥ २ ॥
क्विचित्मखादिचरणं स्वाध्यायाचरणानि च।
पितृदेवार्चनं क्वापि ब्राह्मणा योः सतास् ॥ ३ ॥

उन-उन मोनियों में वे विचित्र कर्मों को भी कर रही हैं। वे कहीं तीर्थ में, कहीं दान में, कहीं होम में तथा कहीं जप में रत हैं। वे कहीं यज्ञादि का आचरण या कहीं स्वाध्याय का आचरण करती हैं। वे कभी पितृदेव की अर्चना करने में, कभी बाह्मण तथा अतिथि के पूजन में संलग्न रहती हैं॥ २-३॥

क्विचिन्निन्दादिकरणं देवब्राह्मणातिथिपूजनम् । क्विचिद्दत्तविलोपश्च तथेन्द्रियविलोभनम् ॥ ४ ॥ असत्यभाषण चेव पैशुन्यं भूतिहसनम् । स्वर्णस्त्येयादिकं चैव सुरामांसनिषेवणम् ॥ ५ ॥

कभी किसी की निन्दा करती हैं और कभी देव अथवा ब्राह्मण एवं सज्जनों की पूजा करती हैं। कभी भिक्षा आदि भी न देकर इन्द्रिय की तृष्ठि में लुभायमान रहती हैं। कहीं वे असत्य का भाषण तथा निष्ठुर ब्यवहार और जीव हिंसा में लगी हैं। कहीं स्वर्ण के लाभ में तथा सुरा एवं मास का सेवन करती हैं।। ४-५।।

द्रोहमात्सर्यहिसादिपाकभेदादिकं तथा। स्वस्ववणिश्रमाचारोल्लङ्घनं कामवर्त्तनम्।। ६।।

कहीं वे किसी से द्रोइ, मात्सयँ, हिंसा आदि तथा पक्षपात पूर्ण व्यवहार में लगी

हैं। कहीं अपने-अपने वर्णाश्रम के आचार के उल्लङ्घन तथा कामनाओं की तृप्ति में प्रवृत्त रहती हैं।। ६॥

> स्वगुणाख्यानमीशान पङ्कितभेदो वृथा क्रिया। परेषां मर्मकथनं म्लेच्छान्नात्क्वाऽपिजीवनम्।। ७।।

हे ईशान ! वे कहीं अपने गुणों के कथन तथा पंक्तिभेद आदिक वृथा क्रियाओं में संलग्न हैं। कहीं दूसरे की रहस्यात्मक बात को कहने में और कहीं नीच जाति के म्हेल्डों के अन्न से जीवन यापन करती हैं।। ७।।

निषिद्धाचरणं देव विहिताचारलङ्घनम्। गोभूगजाश्वकन्यादेस्तथा विक्रयण प्रभो॥८॥

हे देव ! वे शास्त्रों से निषिद्ध आचरणों को करने में तथा शास्त्रविहित कर्म के उल्लंघन में भी प्रवृत्त रहती हैं। हे प्रभु ! वे गो, भू, गज, अध्व तथा कन्या आदि के विक्रय में संलग्न हैं।। द ।।

वेदविक्रयणं चैव भूतसन्त्रासनं तथा। बालस्यात्कर्मणस्त्यागस्तथैवाहङ्कृतेरपि ॥९॥

वे किलयुग के जन वेद विक्रय में तथा जीवों को सन्त्रस्त करने में संलग्न हैं। वे जन आलस्य के कारण अपने कर्म का त्याग करते हैं तथा वे अहङ्कार में पड़े पहिं हैं॥ ९॥

> कर्मण्येतानि देवेश सदसन्ति महान्त्यिप । प्रारब्धसञ्चितान्येव क्रियमाणानि यानि च ॥ १०॥ तेषामन्तं न पश्यामि कल्पकोटिशतैरिप । स्वरूपज्ञानमात्रेण सञ्चितक्रियमाणयोः ॥ १९॥

हे देवेश ! पूर्वोक्त कर्म में सत् हों या असत् या महान् भी हों तो वे प्रारब्ध कर्म या जो क्रियमाण कर्म सिक्चित होते हैं—उन सिचत कर्मी का अन्त सी करोड़ कल्पों तक भी मैं नहीं देख रही हूँ। अतः आत्मस्वरूप के ज्ञान मात्र से -सिचत और क्रियमाण कर्मों का नाम कैसे हो जाता हैं ? १०-११ ॥

श्रृतिसिद्धो भवेन्नाशः प्रारब्धस्य तु न क्वचित्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कर्मणां भोगतः क्षयः॥ १२॥ इत्येवं शास्त्रसिद्धान्तः सर्वथैव त्वयोदितः। प्रारब्धविद्यमानत्वात् स्वरूपस्मरणेऽपि च॥ १३॥ कथं बकुण्ठगमनं गोचरो ग्रस्तकर्मणः।

अभुक्तान्येव कर्माण विहाय यदि यान्ति ताः ॥ १४॥ प्रारब्ध कर्म का कभी बिना भोग किए, नाश असम्भव है—यह बात श्रुति से सिद्ध है। कर्म का क्षय बिना भोगे नहीं होता, क्योंकि 'भोग से ही कर्म का क्षय होता है '—यह शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है जो आप द्वारा कहा गया है। जब उन भगवान की प्रियाओं के प्रारब्ध कर्म विद्यमान थे तो मात्र स्वरूप के स्मरण मात्र से वे कैसे बैंकुण्ठ चली गई, जब कि उनका कर्म से ग्रस्त होना दृष्टिगोचर हो रहा है ? उन विद्यमान कर्मों के बिना भोगे कर्मों को छोड़कर यदि वे बैंकुण्ठ को जाती हैं तो कैसे ?॥ १२-१४॥

न विना कर्तुं सम्बन्धं क्षणं तिष्ठन्ति तान्यपि । इत्येनं संशयं देव छेत्तुमर्हसि मामकम् ॥ १५॥

फिर बिना कर्म किए जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता—यह कैसे ? हे देव ! ये मेरे कर्म से सम्बन्धित संशय हैं जिन्हें आप काठ देने में समर्थ हैं। अतः आप मेरे संशय को दूर करें।। १५॥

शिव उवाच-

साध् पृष्टं त्वया भद्रे रहस्यं परमाद्भुतम्। यस्य श्रवणमात्रेण कर्मबन्धाद्विमुच्यते॥१६॥

शिव ने कहा--

हे भद्रे! आपने परम आश्चर्यजनक तथा रहस्य की सुन्दर बात पूँछी है जिसके श्रवण मात्र से जीव कर्म के बन्घन से मुक्त हो जाता है।। १६॥

> सञ्चितं क्रियमाणं च तस्य नश्यति सर्वेथा। विरहाग्न्याहुतीभूतशरीरा या हि केवलम्।। १७।।

सिंदात या क्रियमाण कर्मों का सर्वथा नाश, भगवान के विरह की अगि में जो आहुति रूप से अपने शरीर को डाल दिया जाता है, उससे ही हो जाता है।। १७।।

निक्षिप्य भूते भतोत्थं तैजसं वपुरास्थिताः। प्रारब्धसंहिता एव ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ताः।। १४ ॥ जब जीव भगवान् के विरह की अग्नि में अपने शरीर को डालता है तभी

१. 'न्यस्तकर्मणः' इत्यपि पाठः।।

२. 'कर्मासम्बन्धं' इत्यपि पाठ:।

उस अग्नि से उसका तैजस शरीर प्रकट हो जाता है और वे अपने प्रारब्घ कर्मी के सहित बैंकुण्ठ को पहुँच जाती हैं ॥ १८॥

ब्रह्मलोकाद्यदा चोध्वं गच्छन्ति भगवित्त्रयाः।
बैकुण्ठनिकटे प्राप्ते बलीयान् पवनो ह्यवन्॥ १९॥
तेनाविष्टास्ततः सख्यः कम्पयन्ति वपुर्लताः।
वपुःकम्पेन देवेशि प्रारब्धानां च पङ्क्तयः॥ २०॥
वृक्षोभ्य इव पुष्पःणि क्षरन्ति क्रमशोऽपि च।
कर्मसम्बन्धरहिता यान्ति वैकुण्ठमुष्ठवलाः॥ २१॥

वे भगवान् की प्रियाएँ जब ब्रह्मलोक से ऊपर को जाती हैं तब वैकुण्ठ के निकट आने पर एक बलवान् पवन आती हैं! उस पवन से आविष्ट होकर उनके तेजस शरीर की लता को वह सखा रूप से कैंपाती हैं। हे देवेशि ! उस शरीर कम्पन से प्रारब्ध कमों की प्रदूखला उसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे क्रमशः वृक्ष से हवा चलने पर पुष्प नीचे गिर जाते हैं और इस प्रकार वे भगवान् की प्रियाएँ (अर्थाद् जोव) कमें के सम्बन्ध से रहित होकर तथा उज्ज्वल होकर वैकुण्ठ को चली जाती हैं॥ १९-२१॥

> सदसन्त्यिप कर्माणि क्षरितानि शरीरतः। यानाश्रयन्ति सततं वक्ष्ये तान् त्वं शृणु प्रिये ॥ २२ ॥

शरीर से सत्या असत् सभी कर्म छूट जाते हैं। हे प्रिये! जिनसे वे आश्रित होते हैं, अब मैं उनको कहूँगा उसे आप सुने ।। २२।।

> यैः सेवाप्रह्वणादीनि स्तोत्राणि रिचतान्यपि। उपकारः कृतो यैर्वा धनधान्याम्बरार्पणैः॥२३॥

जिनके द्वारा भगवान की सेवा, उनकी भक्ति आदि कर्म तथा उनके लिए रिचत स्तोत्र हाते हैं, वे उपकृत होते हैं, जो अपना घन-घान्य एवं वस्त्राभूषण उन भगवान, को अपित कर देते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते है ॥ २३ ॥

> तद्गुणश्रवणे हृष्टास्तन्निन्दायां च दुःखिताः। सहभोज्याः सहवासाः सहयानाः सहासनाः॥ २४॥

भगवान के गुणों के श्रवण से जो आनिन्दत होते हैं और उनकी निन्दा से दुःखित होते हैं वे ही साधक धन्य हैं। जो भगवान के साथ भोजन, उनके साथ में वास, उन्हीं के साथ में जाना और उन्हीं के सन्तिद्ध में बैठते हैं, वे साधक सिद्धि को प्राप्त करते हैं।। २४।।

तानाश्रयन्ते देवेशि सत्कर्माणि न संशयः।
यैस्तु दुःखं कृतं तासां निन्दापारुष्यपेशुनैः।। २५।।
तदर्थहरणं चैव तद्दोषस्यैव कीर्तनम्।
वृथापवादकथनं ताडन तर्जनं तथा।। २६।।
असत्कर्माणि सर्वाणि हचाश्रयन्ते खलान् हि तान्।
कर्मणां देहसम्बन्धो नात्मनस्तु कदाचन।। २७॥

है देवेशि ! नि:सन्देह सत्कर्म उन साधकों का आश्रयण करके रहते हैं, जिनके द्वारा निन्दा, कठोर वचन एवं पैशुन्य का दु:खद व्यवहार नहीं किया जाता है। उन्हीं के लिए हरण और उन्हीं के दोशों का कोर्तन तथा वृथा ही अपवाद (झठी बात) का कथन, साइना देना, झिड़कना, आदि सभी असत् कर्म उन दुष्ट जनों का ही आश्रय बना कर रहते हैं। अता कर्म का सम्बन्ध देह से होता है। आतमा से कभी-भी नहीं ॥ २५-२७॥

स्तुर्तिनिन्दापि देवेशि देहगा नात्मगोचरा। तस्माद्देहस्य संस्तुत्या निन्दया वापि पार्वति ॥ २८॥ प्राप्यते पुण्यपापानि तदीयानि न सशयः। पुण्यपापे निहत्यैवं वैकुण्ठे विहरन्ति ताः॥ २९॥

है देवेशि ! स्तुति एवं निन्दा भी देह से सम्बन्धित हैं। उनसे आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। निःसन्देह रूप से, इसलिए, हे पार्वित ! व्यक्ति देह की स्तुति या निन्दा से ही पाप या पुण्य आदि प्राप्त करते हैं। अतः वे सिखयाँ पुण्य या पाप का नाश करके ही वैकुण्ठ में विहार करती हैं।। २८-२९।।

वेष्णव द्याम यास्यन्ति सात्विक्यो भगवत्त्रियाः,। द्विपरार्द्धावसाने तु यास्यन्ति युगपद्धि ताः॥३०॥

वे भगवान की साल्विक प्रियाएँ वैष्णव-द्याम को प्राप्त करती हैं और ब्रह्मा के दूसरे पराद्धें के अवसान पर एक साथ (वैकुष्ठ को) जाती हैं।। ३०।।

राजस्यक्चापि वेरच्यं तामस्यो मन्तिकेतनम्। न प्रकारविभेदोऽस्ति कर्महानौ गिरीन्द्रजे ॥ ३१ ॥

हे गिरिराज हिमालय की पुत्र ! जो राजसी सिखया हैं वे ब्रह्मा को तथा जो त।मसी प्रेमिकाए है वे मेरे निकेतन (शिङ्कर के घाम) को जाती हैं। कर्म हानि होने पर भी उनमें किसो प्रकार का प्रकार-विभेद नहीं है।। ३१।।

१५ मा०

गुणानुरूपाञ्च गति सर्वे यान्ति न संशयः। प्रकार प्रृणु तत्रापि वैकुण्ठगमनं प्रति । ३२ ।।

उन सभी भगवित्त्रयाओं की गित, निसन्देह रूप से उनके गुणों के ही अनुरूप होती है। वे सभी भगवद्धामों को गुण के अनुसार प्राप्त करती हैं। उनके भी बैकुण्ठ जाने का प्रकार (क्रम) है, जिसे हे देवि ! आप सुनें।। ३२।।

> वासनालिङ्गमेतासां देहान्ते पृथिवीं विशेत्। कियत्कालं ततः स्थित्वा पार्थिवेन्द्रियसंयुता।। ३३॥

वासना से युक्त इनका शरीर मृत्यु के बाद पृथ्वी पर पुनः जन्म लेता है। कुछ काल तक पार्थिव इन्द्रिय से संयुक्त होकर वह वहाँ रहता है। ३३॥

> पाधिवं विषयं देवि सेव्यमाना जलं विशेत्। कियरकालं ततः स्थिरवा लब्धवा तत्रेन्द्रियं रसस् ॥ ३४॥

हे देवि ! पाधिव विषयों का सेवन कर वह लिङ्क शरीर फिर जल में प्रविष्ठ हो जाता है। वहाँ पर वह कुछ समय तक (इन्द्रियों का रस प्राप्त) करता है।। ३४॥

अतिदिव्यं सेव्यमाना तेजस्तत्त्वं समाविशेत्। क्रियत्कालं ततः स्थित्वा तेजसेन्द्रियसंयुता॥ ३५॥ अति दिव्य विषयों का सेवन करते हुए वह तत्त्व तेज में समाविष्ट हो जाता है। वहाँ पर कुछ समय तक रहकर वह तेजस इन्द्रियों से संयुक्त होकर रहता है॥ ३५॥

विषयं रूपमासाद्य वायुतत्त्वं ततः विशेत्। कियत्कालं ततः स्थित्वा त्विगिन्द्रियसमन्विता । ३६ ॥ वह लिङ्कांशरोर 'रूप' विषय का प्राप्तकर वायु तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है । वहाँ पर त्विगिन्द्रिय मे सयुक्त होकर वह रहता है ॥ ३६ ॥

दिन्यस्पर्शं च विषयं सेन्यमाना खमाविशेत्। कियत्काल ततः स्थित्वा लब्ध्वा च श्रोत्रमिन्द्रियम्।। ३७ ॥ वह लिङ्ग शरीर दिन्यस्पर्श विषय का सेवन करते हुए आकाश तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ पर वह कुछ काल तक श्रोत्र इन्द्रिय को प्राप्त कर स्थित रहता है।। ३७॥

> विषयं शब्दमासाद्य ततो भूतादिमाविशेत्। भूतादितामसं हित्वा राजसं याति सुन्दरि ॥ ३८ ॥

वह श्रोत्र अपने विषय 'शब्द' को प्राप्त कर मूतादिकों में प्रविष्ट हो जाता है। हे सुन्दरि! तामस मूतादि को छोड़कर वह राजस को प्राप्त करता है।। ३८॥

> ततः सत्वमयं प्राप्य वैकुण्ठे रमते चिरम्। अनेन क्रमयोगेन गमिष्यन्ति हरेः प्रियाः॥३९॥

उसके बाद वह लिङ्क भारीर [शब्द ब्रह्म] सत्त्व मय रूप प्राप्त कर वैकुण्ठ में चिरकाल तक रमण करता है। इसी क्रम से हिर की प्रियाए भगवद्धाम वैकुण्ठ को जाती हैं।। ३९॥

> एतत्तृभ्यं समाख्यातं वैकुण्ठगमनादिकम् । नाख्येयं यस्य कस्यापि तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥ ४०॥

हे देवि ! यह वैकुण्ठ गमन का क्रम आदि मैंने आपसे कहा। इसे जिस किसी से कभी भी नहीं कहना चाहिए। यह तो मैंने आपके स्नेह वश होकर कहा है।। ४०॥

> त्वयापि गोपनीयं हि सत्यं सत्यं न संशयः। अपात्रायापि पुत्राय दत्त्वा पापमवाप्नुयात्॥ ४९॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ४२॥ । इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासवादे त्रयोविशं पटलम्॥ २३॥

अतः, हे देवि ! आपको भी नि:सन्देह रूप से इस ब्रह्म विद्या का गोपन करना चाहिए। यह सत्य सत्य जानिए। अपात्र के [पात्र] पुत्र को भी यदि इसे दिया जाय तो पाप ही प्राप्त होता है। यह सब कुछ हमने आपसे कहा। अब आप पुन: क्या सुनना चाहती हैं॥ ४१-४२॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के तेइसवें पटल को डॉ॰ सुधाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशं पटलम्

<mark>पावेत्युवाच—</mark> देव देव महेशान धूर्जटे नीलस्रोहित। भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि नित्यलीलाविनिर्णयम्॥१॥

पार्वती ने कहा-

हे देवों के देव, महेशान, घूर्जंटे, हे नीललोहित पुनः मैं भगवान की नित्यलीला का विशेषतः निर्णय सुनना चाहती हूँ ॥ १ ॥

> निर्गुणे स्यात्कथं लीला लीला चेन्निर्गुण: कथम्। सगुणे वा कथं लीला नित्या गुणमयी यतः॥२॥

यदि भगवान निर्णुण हैं तो फिर कीका कैसी ? और यदि कीका हैं तो फिर वह ब्रह्म निर्णुण कैसे हैं ? यदि सगुण (शरीरघारी) ब्रह्म हैं तो नित्य गुणमयी कीका कैसे ? ॥ २ ॥

> यत्तु कालत्रयाबाध्यं तच्च नित्यं प्रचक्षते। कदाचिद्वा पुरा जाता लीलेयं वा भविष्यति॥३॥

काल त्रय से जो अवाधित है, वही 'नित्य कहा जाता है क्योंकि कभी लीला हुई थी अथवा कभी यह लीला होगी ॥ ३ ॥

> अथवा नैव जातेयं भविष्यति न वा पुनः। इदानीं लीला चेज्जाता जन्यकार्यं विनश्यति ॥ ४ ॥

अथवा यह न कभी हुई थी और न पुन: कभी होगी। यदि इस समय लीला हुई तो निश्चय ही जो लीला हो गई, वह पुन: कैसे होगी ?॥ ४॥

कथं नित्येति तां वक्तुं शक्यते विदुषा प्रभो। यद्यक्षरस्य हृदये लीला नित्यस्वमागता॥५॥

इस प्रकार, हे प्रभो ! उसे विद्वान कैसे 'नित्य' कह सकते हैं ? जो लीला अक्षर रूप परब्रह्म के हृदय में नित्यत्व को प्राप्त है ॥ ५ ॥

> पुरा ह्यविद्यामानत्वान्नित्यतायाः कथं स्थितिः। इति मे संशयं देव छेत्तुमर्हसि साम्प्रतम्।। ६।।

जब वह लीला पहले विद्यमान नहीं थी तो उसकी नित्यता की स्थिति कैसे ? हे देव ! अब इस संशय को आप दूर करें।। ६।।

नैव पश्यामि सन्देहविनिवर्त्तनम् । तवाविदितं किञ्चित्सर्वज्ञोऽसि यतः स्वयम्।। ७॥ इस सन्देह की विशेष प्रकार से निवृत्ति करने वाला मैं किसी और को नहीं देख रही हूँ। बस्तुत। आप से कोई वस्तु छिपी नहीं है। क्योंकि आप स्वयं ही सर्वज्ञ

शिव उवाच--

हैं।। ७॥

शुणु पार्वति वंध्यामि तव स्नेहादशेषतः। श्रवणमात्रेण भवेद्विज्ञानमुत्तमम् ॥ ७ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

हे पार्विति ! तुम्हारे अत्यन्त स्नेह के कारण मैं कहता हूँ, सुनो । जिसके श्रवण मात्र से ही उत्तम विज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

निर्गं णेप्यक्षरातीते लीलायाः कि विष्ध्यते। सगुणस्य तु या लीला सगुषा सा निगद्यते ॥ ९ ॥ निर्गुणे या भवेस्लीला सा छीला निर्गुणा भवेत्। निर्णयं तत्र वक्ष्यामि लीलाया ब्रह्मणस्तथा।। १०॥

अक्षरातीत निर्गुण ब्रह्म में भी लीला का क्या विरोध है ? वस्तुतः सगुण की जो लोला होती है उसे सगुण लीला कहते हैं और जो निर्गुण की लीला होती है षह लीला 'निर्णुण लोला' कही जाती है। ब्रह्म की लीला में क्यर निर्णय हैं? उसे मैं कहता है, सुनो ॥ ९-१० ॥

> रसरूपं भवेद ब्रह्म वेदविद्यासु संयोगवित्रलम्भात्मा रसः स्याद् द्विदलात्मकः ।। ११।।

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म का रस के रूप में गान किया गया गया है ('रसो वैसा' – बृह∙) और वह रस संयोग और विप्रलम्भ रूप से दो प्रकार का होता है ११ ॥

संयुक्तयोस्तु संयोगो विप्रलम्भो वियुक्तयो।। नानाभावात्मिका तत्र लीला भवति गाइवती ॥ १२॥ जब दो वस्तुएँ संयुक्त होती हैं तो संयोग होता है और जब वे वियुक्त होती

१. द्रष्टव्य — ११.२१-२२ पृ० १२२।

हैं तो विप्रलम्म होता है। इस प्रकार उन (दोनों) में नाना भावों वाली माश्वत लीलाएँ हुआ करती हैं॥ १२॥

> ब्रह्मणो निर्गुणस्वाच्च नित्यत्वाच्चेति सुन्दरि !। नित्या च निर्गुणा चैव छीलेय न विषध्यते ॥ १३॥

हे सुन्दिश ! ब्रह्म के निर्गुण होने से और उसके नित्य होने के कारण निष्य कौला और निर्गुण लीला है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।। १३।।

> केचिदाहुनिगुँगस्य नैव ैलीलोपयुज्यते । लीलाविशिष्टं सगुणं मायासम्बन्धभावतः ॥ १४ ॥

कुछ विद्वज्जन कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की कीला नहीं ही होती है और माया से सम्बन्धित होने से वह लीला विधिष्ट-सगुण-होती है ॥ १४ ॥

> निर्गुं णं तु परं सूक्ष्ममवाङ्मानसगोचरम्। वर्णयन्ति विभागेन मायामोहितचेतसः॥१५॥

निर्गुण ब्रह्म तो अरथन्त सूक्ष्म और मानस पटल पर गोचर होने (दिखाई देने) बाला नहीं है। फिर भी माया से मोहित चित्त वाले उसे विभाग करके विणित करते हैं॥ १५॥

> श्रुतेर्विरोधमाशङ्कच विनियोगः पृयक् कृतः। रसश्रुतिविरोध तु न ते पश्यन्ति मोहिताः॥ १६॥

श्रुति में विरोध न हो इस आशङ्का से विनियोग अलग-अलग किया गया है। किन्तु वे माया से मोहित जन रसश्रुति ('रसे वै सः') का विरोध नहीं जान पाते हैं॥ १६॥

> निषेधयन्ति चाकारं श्रृतयः प्राकृतं प्रिये। आनन्दमात्रमाकारं रसश्रुतिरुपासते॥ १७॥

हे प्रिये ! श्रुतिया ब्रह्म के प्राकृत आकार प्रकार का तो निषेध ही करती हैं। वस्तुतः रस श्रुति में आनन्द मात्र ही उसका आकार बताया गया है।। १७।।

> अन्यथाद्विदकः सोऽयं श्रुतिसिद्धः प्रियवदे। निराकारस्य देवेशि नोपयुक्तः कदाचन ॥ १४ ॥

हे प्रियवादिनि ! अन्यवा वही यह ब्रह्म दो प्रकार से श्रुतिसिद्ध हैं। हे देवेशि ! वह निराकार कमी भी उपयुक्त वहीं है ॥ १८ ॥

 ^{&#}x27;लीलाविष्टं च' इत्यपि पाठः ।

प्रलापाः शतशः सन्ति श्रुतियुक्तिमजानताम् । न तेषु रमते चित्तं रसज्ञस्य विवेकिनः॥ १९॥

श्रुति युक्तियों को न जानने वालों के सैंकड़ों तरह के प्रलाप हैं। किन्तु विवेकी रसज्ञ पुरुष का मन उन प्रलापों में नहीं रमता है।। १९।।

> रसस्ताद्गिवधो देविं लीलाभियौंनुभूयते। तस्माल्लीलारसमयी रसो लीलामयः स्मृतः॥२०॥

हे देवि ! रस उसी प्रकार का होता है जो उस (सगुण ब्रह्म) की लोलाओं से ही अनुभूत होता है। इसोलिये लीला रसमयी कही गई है और रस लीलामय कहा गया है।। २०।।

> तादात्म्यादेकरूपत्वाल्लीला ब्रह्ममयी भवेत्। लीलोपयोगिनो भावा विभावा व्यभिचारिणः ॥ २१ ॥ आलम्बनानुभावाश्च तेऽपि (ताद्गिवधाः प्रिये ! । चन्द्रालङ्कारभूषादिमालालेपसभीरणाः ॥ २२ ॥ दीघिकोपवनारामऋतुवक्षलतादयः । वस्त्रपानाशनं भृङ्गशुक्कोिकलक् जितम् ॥ २३ ॥ रसोत्पादनसामग्री रसरूपा हि सा स्मृता। लीलोपयोगिनस्तस्मात् पदार्था रसरूपिणः ॥ २४ ॥

वस्तुतः [ब्रह्म से] तादात्म्य होने से और दोनों की एकरूपता के कारण लीला ब्रह्ममयी होती है। लीला में उपयोग में आने वाले भाव, विभाव और व्यभिचारि-माव होते हैं। हे प्रिये! वे भाव भी उसी प्रकार के आलम्बन अनुभाव से युक्त होते हैं। चन्द्र, अलङ्कार और वेषभूषादि, माला एवं सुगन्धित द्रव्यों का लेप, दीधिका, उपवन, आराम, ऋतुओं के वृक्ष एवं लता आदि, वस्त्र एवं विविध प्रकार की पेय तथा खाद्य वस्तुए, भीरे, तोते, तथा कोयल का कूजना आदि रसात्पादक सामग्री हैं जो रसरूप ही कही गई है। ये सभी लीला की उपयोगी वस्तु है अतः ये सभी पदार्थ रस रूप ही हैं।। २१-२४।।

द्रवीभूतः घनीभूतो रसस्य द्विविद्या स्थितिः। द्रवीभूतः प्रियाघारो घनीभूतोक्षिगोचरः॥२५॥

रस की दो प्रकार की स्थिति होती है १. द्रवीभूत रस और २. घनीभूत रस। द्रवीभूत रस प्रिया पर आधारित है और घनीभूत रस ही हिन्दगोचर होता है।। २५।। तस्मात्त्रियाभीष्टभावान् स्वतः प्रकटयत्यसौ। द्रवीभूतः प्रियाधारः प्रियाभावात्मको रसः।। २६।।

इसलिए प्रिया अभीष्ट भावों से युक्त होती है और इसको स्वयं ही प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह रस को प्राप्त कर लेती है। द्रवीभूत रस प्रिया पर आधारित है अत। रस रूप प्रिया भावात्मक है।। २६॥

> प्राधान्यं तत्र चेच्छन्ति घनीभूतादपि प्रिये ! । रसो नैव प्रसिध्येत प्रियालम्बनवर्जितः ।। २७ ॥

हे प्रिये ! घनीमूत रस से भी अधिक उसमें इसका प्राधान्य होता है और इसी की वे इच्छा भी करती हैं। प्रिया रूप आलम्बन से रहित होकर रस कभी भी अस्तित्व को नहीं प्राप्त करता है।। २७।।

प्रियादशें रसः पश्येत् स्वात्मानं प्रतिबिम्बवत् । आदर्शापसरे यद्वनमुखस्यानुपलम्भनम् ॥ २८ ॥

्बङ्गहीनो रसस्तद्वत्स्वानुभूति न विन्दति । अानन्दो हि रसस्तस्मात्त्रियात्रियदलद्वयम् ॥ २९ ॥

अपने प्रतिबिम्ब की भाँति रस को प्रिया रूप शीशे में देखना चाहिए। जैसे शीशे को हटा देने पर मुख नही दिखाई पड़ता। उसी प्रकार [प्रियाविहीन] रस अङ्गहीन है और विना उसके रस की स्वानुभूति नहीं प्राप्ति होती है। इसीलिए आनन्द ही रस है। वह रस प्रिय और अप्रिय रूप से दो तरह का है।। २८-२९॥

आनन्दरूपा सामग्री सर्वभावात्मको रसः। न मायागुणसंसर्गः कदाचित्कुत्रचित्प्रिये॥३०॥

सर्वभावात्मक रस की सभी सामग्री आनन्दरूप है। हे प्रिये! उससे कभी भी माया रूप गुण का संसर्ग कहीं भी नहीं होता॥ ३०॥

रसरूपं निर्गुणं च नित्यलीलाविहारि यत्। अद्वैतं ब्रह्म परमं पुरुषोत्तमसंज्ञकम् ॥ ३९॥

रस और निर्मुण ब्रह्म क्योंकि नित्य लीला में विहार करता है इसलिए अद्वेत ब्रह्म ही परम पुरुषोत्तम संज्ञक है ॥ ३१॥

अतीतानागता चासौ वर्तमानापि सुन्दरि । नित्या एवेति विज्ञेया लीलेयमनपायिनी ॥ ३२ ॥ हे सुन्दरि ! भूत, भविष्य और वर्तमान भी उस ब्रह्म की अनपायिनो [सदैव ऐक सी रहने वाली] लीला नित्व ही है—ऐसा जानना चाहिऐ ॥ ३२ ॥ इत्येतत्कथितं देवि प्रश्नमन्यं निशामय । यस्य श्रवणमात्रेण सन्देहो विनिवर्त्तते ॥ ३३ ॥ ॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती संवादे चतुर्विशं पटलम् ॥ २४ ॥

है देवि ! इस प्रकार यह सब मैंने तुमसे कहा । अब तुम अन्य प्रश्न करो जिसके श्रवणमात्र से ही सन्देह की निवृत्ति हो जाती है ॥ ३३ ॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखब्द (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के चौबीसवें पटल की डाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २४ ॥

अथ पज्चविंशं पटलम्

शिव उवाच--

पुरा ह्यविद्यमानत्त्वान्निस्यतायाः कथं स्थितिः। इति यद्देवि ते प्रोक्तः तत्र मे निर्णयः श्रुणु ।। १ ।।

शिवजी ने कहा-

पहले जो प्रियाएँ विद्यमान नहीं थीं ! तो उनकी स्थिति नित्य कैसे हो गई ? यह प्रश्न को आपने, हे देवि ! मुझसे पूँछा है जस प्रश्न का समाधान सुनिए ॥ १ ॥

> अविद्यमानं यत्किञ्चिन्नैव प्रादुर्भविष्यति। सर्वेषा विद्यमानं हि वस्तु प्रादुर्भवेतिप्रये॥२॥

जो अविद्यमान है, वह कभी भी प्रादुमूँत नहीं होगा। हे प्रिये! सर्वथा विद्यमान वस्तु ही प्रादुमूँत होती है।। २।।

> तस्मात्सदंशतो देवि प्रपञ्च उपवर्ण्यते। घटो नास्तीत्युच्यमाने घटसत्ता तु लभ्यते॥३॥

इसलिए, हे देवि! सत् अंश से प्रपन्त उद्भूत माना जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'घट नहीं है' तो निश्चित हो यह ज्ञान होता है कि कभी घट की सत्ता प्राप्त थी।। ३।।

असच्छुत्या तथा देवि प्रपञ्चः सन्निरूप्यते। अपरोक्षपरोक्षत्व सदसच्छुतिनोदितम् ॥४॥ अतः; हे देवि ! असत् श्रुति से सत् प्रपञ्चका निरूपण होता है। इस प्रकार अपरोक्ष और परोक्षत्व रूप से 'सत् एवं असत्' श्रुति कही गई है ॥ ४॥

तथा प्रपञ्चलीलेय रसलीलापि तादृशी।
सर्वास्ता नित्यरूपा हि विज्ञेया वेदवादिभिः॥५॥
जिस प्रकार यह जगत् प्रपश्च को लीला है वैसे ही भगवान् की लीला भी है।
वेद के जाता विद्वानों द्वारा वे सभी लीलाएँ नित्य रूपा ही बताई गई हैं॥५॥

^{🐫 &#}x27;पूष्ठं इत्यपि पाठः।

२. 'निर्णये' इ० पा०।

यथा मृदि घटस्येव प्रागभावः प्रकल्प्यते । मृत्सकाशात्समुत्पत्तिः पश्चात्तस्योपचयंते ॥ ६॥

जिस प्रकार मिट्टी में घट का प्राग्भाव पहले से रहता है तभी मिट्टी से उसः घट की उत्पत्ति का बाद में उपचार समझा जाता है।। ६।।

न पुनस्तस्य देवेशि हचभावोऽत्यन्तसंज्ञितः। आम्रबीजस्थितो हचाम्त्रस्तस्माद् व्यक्तो यथा भवेत्।। ७ ॥

हे देवेशि ! अतः उस घट का पुनः अत्यन्ताभाव नहीं कहा गया है। जैसे आम के बीज में स्थित आम प्रकट हो जाता है [वैसे ही यह प्रपन्त भी उसी ब्रह्म में पहले था और बाद में प्रकट हुआ और पुनः उसी में विलीन भी वो जाता है] ॥ ७॥

अभूतमेव देवेशि यदि व्यक्ति प्रयाति हि। आम्रबीजात्' छ्द्छुदस्य कथं व्यक्तिर्भवेन्नहि॥ ७॥

हे देवेशि ! यदि विना पहले से रहे ही व्यक्त हो जाता है तो फिर आम के बीज से क्यों छुद्छुद् नहीं प्रकट हो जाता है ! ॥ ८ ।

व्यावहारिकी वास्तवी तथा च प्रातिभासिका। सत्ता तु त्रिविधा ज्ञेया देवि शास्त्रार्थकोविदेः।। ९ ॥

हे देवि ! शास्त्रार्थं के कोविदों द्वारा वस्तु की तीन प्रकार की सत्ता बतायी गई—१. व्यावहारिकी सना, २. वास्तविकी सत्ता, ३. प्रातिभासिकी सत्ता॥ ९॥

शुक्ती रजतमित्येषा सत्ता स्यात्प्रातिभासिकी।
गजाइवादिमहासम्पत् स्वाप्तिकी वापि तद्विद्या । १०॥

सीप में चौदो होने का भान होना—'प्रातिसासिकी सत्तां कही गई है। किंवा गज एवं अश्व आदि महान सम्पत्ति का स्वप्त में होना—स्वाप्तिकी प्रातिभासिकी सत्ता हैं। इस प्रकार से यह दो प्रकार की है।। १०।।

व्यवहारार्थिमित्येषा जागति व्यावहारिकी। ब्रह्मसता तु देवेशि वास्तवी परिकोत्तिता। १९॥ जगत् की सत्ता व्यवहार में देखी जाती है। अतः यह 'व्यावहारिकी सत्ता' है। हे देवेशि ! वास्तविकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता है। अतः विद्वानों द्वारा ब्रह्म सत्ताः को वास्तविकी सत्ता ही कहा गया है॥ ११॥

 ^{&#}x27;अाम्रबीजादुभ्रवस्य' इत्यपि पाठः ।

२. स्वप्नवत् इत्यर्थ ।

ब्रह्मसत्तावशाद् देवि लीलासस्यत्वमुच्यते । सत्यस्याभावमीशानि शक्तः कर्त्तुं न कश्चन ॥ १२ ॥

हे देवि ! ब्रह्मसत्ता के कारण ही यह लीला सत्य लीला कही जाती है। हे ईिंगानि ! किन्तु इस जागतिक लीला में सत्य का अभाव होने से व्यक्ति कुछ भी करने में असमर्थ है ॥ १२ ॥

तस्माद् देवि यथाकाल लीलाविभावमुच्यते।
द्वादशद्वादशतमे स्वामिन्या वत्सरे प्रिये।। १३।।
आविभवति लीलेयं पौनःपुन्येन सर्वदा।
एतावति गते काले हचक्षरे परमात्मिन। १४।।
रहस्यरमणालोके जायते सा सुमङ्गला।
ततः प्रियासु जायेत लीलाविस्तरणं नतः।। १५।।

है देवि ! इसलिए यथासमय भगवान की लीला का आविर्भाव कहा जाता है। हे प्रिये ! सदैव बारह-बारह वर्ष पर यह लीला बारम्बार होती है। इतना काल बीत जाने पर परमात्मा अक्षर में वह सुमञ्जला रहस्यरमणा नामक लोक में उत्पन्न होती है। तब लीला के विस्तर के लिए प्रियाओं के मध्य वह ब्रह्म आते हैं॥ १४-१५॥

> अक्षरात्मिन सा लीला तत्रश्चास्थिरतां व्रजेत्। स्मृतिमात्राहि सा देवि न तु साक्षात्कदाचन। १६॥

वह लीला अक्षरात्मा में तब अस्थिरता को प्राप्त करती है । हे देवि ! वह कीला-स्मृति मात्र होती है । वह साक्षात् लीला नहीं होती है ॥ १६॥

गते द्वादशमे वर्षे स्वामिन्याः परमेश्वरि । पुनस्तथावलोकाय कामांशेना'त्मयोगतः ॥ १७ ॥ इच्छा प्रवर्तते देवि कूटस्यस्य परात्मनः । ततश्च 'त्रिविद्या लीला काले प्रादुर्भवेत्प्रिये ॥ १८ ॥

स्वामिनीं के बारह वर्ष बीत जाने पर, हे परमेश्विर ! पुन: उस लीला को देखने की इच्छा से आत्मयोग रूप कामांश से कूटस्थ ब्रह्म में इच्छा जागृत होती है। हे देवि ! उससे तीन प्रकार की लीला समय पर प्रादुभू त हो जाती है।। १७-१८।।

१. 🗠 'नामयोगतः इत्यपि पाठः ।

२. एतल्लोलात्रैविष्यं सुन्दरीतन्त्रे आलमन्दारसंहिताया श्रीशिवेन श्रीपार्वत्यै सुस्पष्टं ंनिरूपितम् ।

ह्वेतद्वीपस्य तु च्छाया मथुरायां प्रतिष्ठिता। वैकुण्ठप्रतिबिम्बस्तु द्वारिकायां तथा प्रिये। १९॥

हे प्रिये ! श्वेत द्वीप की छाया से मथुरा नगरी प्रतिष्ठित हुई और द्वारिकाः नगरी में बैकुण्ठ का प्रतिबिम्ब पड़ा है ॥ १९॥

> त्रजस्तु साक्षाद्देवेशि गोलोकप्रतिबिम्बजः। गोलोकातीत'लीलाः च रसानन्दमयी शिवे॥२०॥

हे देवेशि ! त्रज तो साक्षात् रूप से गोलोकघाम का प्रतिबिम्ब ही है। हे शिवे ! वह लीला गोलोक लीला से भी अधिक रस वाली और आनन्दमयी है।। २०।।

> आविर्भवति देवेशि समये समये हि सा। समयं तं प्रवक्ष्यामि श्रृणुष्वैकाग्रमानसा ॥ २१ ॥

हे देवेशि ! वह लीला समय(समय पर आविभू त हो जाती है। अब मैं उस समयः (स्वामिनी के बारह वर्ष) का विवेचन करूँगा। आप एकाग्रमन से सुने ।। २१।।

> परमाणुद्धयमणुः त्रसरेणुः त्रिभिश्चतैः। त्रयरेणृत्रयेणैव कालः स्यात् त्रुटितसंज्ञितः॥२२॥

दो परमाणु का एक अणु और तीन अणुओं का एक त्रसरेणु होता है। तीन त्रसरेणु से काल की गणना आरम्भ होती है।। २२॥

तच्छतेन भवेद्वेधः त्रिभिर्वेधेर्लवः स्मृतः। निमिषस्त्रिलवैदेवि क्षणो ज्ञेयस्त्रिभिश्च तैः॥२३॥

उस त्रसरेणु का सी से वेष (- जितने देग में सी त्रसरेणुओं का मेल) होता है बीर तीन वेघ से एक 'लव' होता है। तीन लवों का एक 'निमिष' होता है। है देवि! तीन नि मेषों का एक क्षण होता है।। २३।।

१. तथेवोक्तं पुराणसंहितायां प्रथमेऽध्याये —

एवं ब्रह्मणि चिन्माते निर्गुणे भेदवर्जिते।
गोलाकसंज्ञके कृष्णो दिव्यतीति श्रुतं मम ॥ ५४ ॥
नातः परतरं किचिन्निगमागमयोरिष ।
तथापि निगमो विवत ह्यक्षरात् परतः परः ॥ ५५ ॥
गोलोकवासिभगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादिष परः कोऽसौ श्रुतिभिगीयते सदा ॥ ५६ ॥
पादा ऽिष गोलोकलीलातोऽस्या। ल्रेलायाः परत्वं पठ्यते ।

२. 'लोलेयं' इत्यपि पाठ।

क्षणैश्च पञ्चिभा काष्ठा पञ्चभिदंशभिस्तथा। काष्ठाभिर्लघु विज्ञेयं लघुभिर्दशपञ्चिभः॥२४॥ घटिकैका तु विज्ञेया मुहूर्तो घटिकाद्वयम्। प्रहरः सप्तघटिकारचतुभिस्तेरहः स्मृतः॥२५॥

पांच क्षणों का एक 'काष्ठा' होता है। पन्द्रह काष्ठों का एक 'लघु' होता है। पन्द्रह लघुओं की एक 'घटिका' कही गयी है। दो घटी का एक 'मुहूर्त' जानना चाहिए। सात घटी का एक 'प्रहर' और चार प्रहर का एक 'दिन' होता है।। २४-२५।।

पुनश्चतुभिः प्रहरैष्ड्यते तदहनिशम् ॥ २६ ॥ दशभिः पश्चभिः पक्षः पुनश्च दशपञ्चभिः । आद्यः शुक्लस्तया कृष्णः पितृणां तदहनिशम् ॥ २७ ॥

पुनः आठ प्रहर का 'दिन और रात' होता है। पन्द्रह दिन दिन-रात का एक 'पक्ष' होता है। पन्द्रह और पन्द्रह अर्थात् तीस पक्ष का आद्य 'शुक्ल पक्ष' होता है तथा दूसरा 'ऋष्ण पक्ष' होता है। ऋष्णपक्ष की दिन और रात पितरों की होती हैं॥ २६-२७॥

मासः पक्षद्वयेनोक्तः तावेव द्वौ ऋतुः स्मृतः। ऋतुत्रयेणाप्ययनं दक्षिणं परिकीर्तितम्।।२४।।

दो पक्षों का एक 'मास' होता है । दो मासों की एक 'ऋतु' कही गई है । तीन 'ऋतुओं (६ मास) का एक 'अयन' होता है । दूसरा अयन 'दक्षिण अयन' कहा गया है ॥ २८ ॥

त्रयेणैवोत्तरं प्राहुर्देवानां तदहर्निशम्। संवत्सरस्तु हचयनद्वयं देवि निगद्यते। तच्छतं मानवानां च परमायुनिरूपितम्॥ २९ः।

पहले तीन ऋतुओं (६ मास) का एक देवों का 'उत्तर अयन' होता है। हे देवि ! दो अयन का एक 'संवत्सर' कहा जाता है। इन सी संवत्सर की एक मानव की परमायु कही गई है ॥ २९॥

दिव्यैद्वदिशसाहस्रैर्वर्षाणां सुरवन्दिते । कृतं त्रेता द्वापरइच कलिइचेति चतुर्युगाः ॥ ३० ॥ हे सुरवन्दिते ! १२ हजार दिव्य वर्षो का कृत (सत्य), दोता, द्वापर और कलि नामक चार युग होता है ॥ ३० ॥ चतुर्यं गीसहस्रोण ब्रह्मणो दिनमुच्यते । तावत्येव भवेद्रात्रिस्त्रिलोकी यत्र लीयते । ३९॥ ब्रह्मणो दिवसे जाता मनवस्तु चतुर्दंश । प्रतिमन्वन्तरे देवि युगानामेकसप्ततिः ॥ ३२॥

एक हजार चतुर्यं भी का ब्रह्मा का एक युग कहा गया है। एक हजार ब्रह्मा के दिन की ३२ त्रिलोकी जब बीत जाती है तब ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। इस प्रकार एक-एक मन्वन्तर में ७१ युग होता है।। ३१-३२॥

प्रतिमन्वन्तरे देवि विष्णोरवतरणं भुवि। इन्द्राद्या देवताइचेव तथा सप्तषंयरच ये॥ ३३॥ मन्वन्तरिवभेदेन भिन्ना एव भवन्ति हि। स्वायम्भुव स्वारोचिषोत्तमतामसरेवताः॥ ३४॥ चाक्षुषरचेति मनवो व्यतिक्रान्ताः षडम्बिके। वैवस्वतो मनुनमि सप्तमोऽद्य प्रवर्तते॥ ३५॥

है देवि ! एक-एक मन्वन्तर में पृथ्वी पर विष्णु का अवतार होता है । प्रत्येक मन्वन्तर के इन्द्र आदि देवता तथा जो सप्तिषिगण होते हैं वे भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं । हे अम्बिके ! स्वायभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चासुष्—ये छः और वैवस्वत् मनु सातवें है जो इस समय में हैं ॥ ३३–३५ ॥

> चतुर्युगी व्यतिक्रान्ता तस्याष्टाविद्यति प्रिये। अष्टाविद्यतिके देवि कलौ लीलेयमागता।।३६॥ परार्द्धः प्रथमोऽतीतो द्वितीयस्तु प्रवर्तते। तत्रापि प्रथमाब्दस्य नवमो मास उच्यते।।३७॥

हे प्रिये ! २८ चतुर्युं भी बीत चुकी है जिसमें अटठाईसवें चतुर्युं ग के किलयुग में यह लीला हुई है वही इस समय चल रहा है। प्रथम परार्क्व बीत चुका है और दितीय परार्क्व इस समय किल का है। उसमें भी प्रथम वर्ष का यह नवम मास कहा गया है।। ३६-३७॥

> दिन तु षोडशं चैव यामस्तस्यद्वितीयकः। मुहूर्त्तं तृतीयं देवि वर्त्ततेऽद्य प्रियंवदे॥३८॥

नवें महीने का सोलहवां दिन और उस दिन का द्वितीय याम, हे प्रिय बोलने बाली देवि ! उस याम का आज तृतीय मुहूर्त है ॥ ३८ ॥ एवं विघेरहोरात्रंबंह्मणो हि दिनं स्मृतम् । पक्षमासविभेदेन यावत्संवत्सरः प्रिये ॥ ३९ ॥ एवं संवत्सरशत तदा स्याद् ब्रह्मणो लयः । विष्णोर्नेत्रनिमेषेण यात्यायुर्बह्मणोऽस्विलम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार से दिन और रात्रि की गणना से ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है। हे प्रिये ! पक्ष और मास के भेद से इस प्रकार से एक संबत्सर बीतें और इस प्रकार ब्रह्मा के जब सी वर्ष होते हैं तब एक ब्रह्मा का लय हो जाता है। भगवान विष्णु के एक निमेष (पलक झपकने) तक उपर्युक्त ब्रह्मा की सम्पूर्ण आयु बीत जाती है। ३९-४०॥

तावन्निमेषमारभ्य लवक्षणविभेदतः । यावद्वषंशत विष्णोर्मदीयः स्यान्निमेषकः ॥ ४९ ॥

विष्णु भगवात् का जब तक सी निमेष होता है तो मेरा (भगवान् शङ्कर का) एक निमेष होता है।। ४१।।

> मन्तिमेषक्रमेणापि यावद्वषंशतं भवेत्। निमेषमात्रमीशस्य तन्तिमेषक्रमेण च॥४२॥ शतवर्षं भवेद्यावत्ताविच्छवितमेषक। । तन्तिमेषक्रमेणैव यावद्वषंसहस्रकम् ॥४३॥ अपाङ्गस्फुरणं तावत्स्वामिन्याः कृष्णविभ्रमे। तन्तिमेषक्रमेणैव वर्षं द्वादशकं भवेत्॥४४॥

इसी क्रम से जब मेरे निमेष के सी वर्ष होते हैं ता एक निमेष ईश का होता हैं और उसी क्रम से जब ईश के निमेष के सी वर्ष होते हैं तो शिव का एक निमेष होता है। उसी क्रम से जब एक हजार निमेष बीत जाते हैं तब तक हे कृष्ण विश्रमे उनकी स्वामिनियों का अपाङ्ग (नेत्र के कोने) का स्फुरण होता है। उस निमेष के क्रम से बारह वर्ष का परिमाण होता है। ४२-४४।।

लीलावलोकनार्थाय भूयः कामो भवेत्तदा।
वर्षद्वादशकेऽतीते स्वामिन्याः सुरपूजिते।। ४५ ।।
पौनःपुन्येन लीलायाः नित्याविभवि उच्यते।
अक्षरस्यैव हृदये यः कामोशोऽप्यधिष्ठितः।। ४६ ।।
तत्संयोगाद्दिदृक्षास्य स्वस्वकाले भवेद्धि सा।
एव नित्येव सा लीला रसख्या प्रियवदे।। ४७ ।।

जब लीला के अवलोकन की पुन: कामना होती है तब, हे सुरपूजिते! उन स्वामिनी के बारह वर्ष बीत जाने पर पुन: पुन: लीला का अविभाव होता रहता है। इसीलिए यह कृष्ण को लीला नित्य लीला कही जाती है। अक्षर ब्रह्म के हृदय में जो कामना का अंग रहता है उसके संयोग से इस लीला की देखने की इच्छा समय समय से होती है। हे प्रियंवदे! इस प्रकार (ब्रह्म की) रस रूपा लीला नित्य होती रहती है। ४५-४७॥

संयोगिविप्रलम्भाख्यदलाम्यां यानुविणिता।

रसो यदाविप्रलम्भदलं समिधितिष्ठित ॥ ४८ ॥

तदेवाविभेवत्येषा लीला च सुरपूजिते।

यदा तु संयोगदलं समिधव्याप्य तिष्ठित ॥ ४९ ॥

निजधाम्नि तदा लीला साक्षात्कृष्णकृता भवेत्।

यदा संयोगिविश्लेषसिंध याति रसः प्रिये॥ ५० ॥

तदा प्रबोधसमयो निकटः कृष्णचेतसाम्।

संयोग तथा विप्रलम्भ नामक दो दलों में जो रस-लीला पहले विणित हुई है उनमें से जब विप्रलम्भ नामक दल में रस अधिष्ठित रहता है; हे सुरपूजिते! तभी यह रस-लीला आविभू त होती है और जब संयोग नामक दल में रस व्यापक रूप से अधिष्ठित रहता है तब निजधाम में साक्षात् कृष्ण की लीला होती है। हे प्रिये! जब संयोग और विप्रलम्भ के सन्धि काल में रस रहता है तब कृष्ण चित्त के प्रबोध का समय निकट होता है। ४८-५१।

गुरोः सत्सम्प्रदायेन शास्त्रार्थस्यानुरूपतः ॥ ५१ ॥ वित्ततन्यं ततो भद्रं साधनैरात्मलब्धये ।

इस प्रकार गुरु के सत्सम्प्रदाय से शास्त्रों के आशय के अनुरूप हिराधक को चाहिए कि वह आत्म साक्षात्कार के लिए, हे भद्रे ! उसी प्रकार साधना करे ॥ ५१-५२ ॥ इत्येवं ते मया ख्यातं यत्पृष्टोऽहं सुलोचने ।। ५२ ॥ समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ? ॥ ५३ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेदवरतन्त्रे शिवपार्वती-संवादे पञ्चिवंशं पटलम् ॥ २५ ॥

हे मुलोचने ! इस प्रकार जो आपने पूँछा, वह हमने आपसे संक्षेप में कहा है। हे महेशानि ! अब आप क्या सुनना चाहती है ? ५२-५३॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपा खरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्तृ' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के पच्चीसर्वे पटल की डॉ० सुधाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशं पटलम्

पार्वत्युवाच--

महेश श्रोतुमिच्छामि साधनानां विनिर्णयम्। यस्य श्रवणमात्रेण सर्वं हि सफलं भवेत्॥१॥

पार्वती ने कहा--

हे महेश ! मैं साधनों का विशेष निर्णय आपसे सुनना चाहती हूँ जिसके श्रवण-मात्र से ही सभी कार्य सफल हो जाते हैं ॥ १ ॥

श्रीशिव उवाच—

श्रुण् देवि प्रवक्ष्यामि सावनस्य विनिर्णयम् । गृह्याद्गुह्यतरं साक्षान्न वाच्यं यस्य कस्य कस्यचित् ॥ २ ॥

शिवजी ने कहा-

हे देवि ! सुनो, मैं साधनों का विशेष निर्णय एवं विधान, जो रहस्य से भी रहस्यतर दै और जिसे साक्षात् रूप से जिस किसी से कहना भी नहीं चाहिए, तुमसे कहुँगा।। २।।

> तन्त्रार्थोऽयं रहस्यार्थो यस्तु वेदेषु गोपितः। ईश्वरात्तु मया लब्धः प्राप्तस्तेन सदाशिवात्॥३॥

यह तन्त्र सम्बन्धी विधान है जिसका रहस्य अत्यन्त संगोपित और वेदों में छिपा हुआ है। मुझे भी यह जान ईश्वर से प्राप्त हुआ था। जिसे ईश्वर ने सदाशिव से प्राप्त किया था।। ३।।

मञ्चे फलकमापन्नो लक्षयोजनविस्तृते । सदाशिवोऽप्रृणोदेतत्कूटस्थोपरिसंस्थया ।। ४ ।। एक लाख योजन विस्तृत फलक पर बैठे हुए मन्त्र पर कृटस्थ एवं संस्थित चित्त होकर सदाशिव ने इसे सुनाया था ॥ ४ ॥

> इच्छाशक्त्या तु देविशि वर्ण्यमानं मया रहः। तच्च ते गदितं साध्वि शृण्वतः परमप्युत ॥ ५ ॥

है देवेशिं! मेरी इच्छा शक्ति से यह एकान्त में कहने योग्य है। फिर भी हे साब्वि! उसे मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥ एकदा मे वितकींऽभूद्विजने स्मरतः प्रिये। अहमोवेश्वरो लोके मदन्यो वापि कश्चन ॥ ६॥

एक बार एकान्त स्थान में चिन्तन करते हुए, हे िये ! मुझे मन में वितर्क हुआ कि मैं ही संसार का स्वामी हूँ या मुझसे अन्य भी कोई है।। ६।।

इति तर्कयता देवि समाधिहि मया धृतः।
तिस्मन् युगसहस्राणि व्यतीयुः पञ्च सुन्दरि। ७।
हेदेवि! ऐसा सोचते हुए मैं समाधिस्थ हो गया और हे सुन्दरि! उस समाधिस्य अवस्था में पाँच हजार युग बीत गए॥ ७॥

् 'समाधिस्थेन दैवेशि श्रुतमीश्वरभाषितम्। तच्छ्रुत्वा हृदयं देवि निर्विकल्पमभूनमम्॥ दः।। हे देवेशि ! उस समाधि में मैंने ईश्वर के वचन सुने और उसे सुनकर हे देवि मेरा हृदय निर्विकल्प हो गया ॥ ८॥

तदाप्रभृति देवेशि लीलामेनां रहःस्थितः।
ध्यायामि ध्यानयोगेन निविकल्पेन चेतसा।। ९ ।।
तभी से, हे देवेशि ! एकान्त में रहकर मैं इनकी लीला का ध्यान निविकल्प चित्त से किया करता हूँ॥ ९॥

> समाधावीश्वरेणोक्तमिदं तन्त्र यतो मम। तस्मान्माहेश्वर तन्त्रमित्येवंस्यातिमागतम्।। १०॥

समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर ने मुझे इस (माहेश्वर) तन्त्र को कहा था। अतः यह 'माहेश्वर तन्त्र' (अथात् माहेश्वर प्रोक्त तन्त्र) के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ।। १०।।

चतुःषष्टीनि तन्त्राणि मयैवोक्तानि पार्वति। मोहोच्चाटवशीकारमारणार्थानि तानि तु।। १९॥ हे पार्वति! मेरे द्वारा चौसठ तन्त्र कहे गए हैं, जिनमें मारण, मोहन एवं उच्चाटन तथा वशीकरण की प्रक्रिया वर्णित है ॥ ११॥

सद्यःप्रत्ययहेतूनि नानामन्त्रमयानि च। मोहनानि तुलोकस्य इन्द्रजालकलादिभिः ॥ १२ ॥ ये ६४ तन्त्र सद्यः विश्वास के योग्य तथा नाना मन्त्रों से युक्त हैं। इस प्रकार इन्द्रजाल आदि कलाओं से लोक को मोहित कर लेने वाली यह विद्या है ॥ १२ ॥

१. 'समाधिगीतं' इ० पा०।

तानि विस्तरतो देवि ! तदाग्रे कथितानि च । न तेषु विद्यते किन्धित्परमार्थं सुरेश्वरि ॥ १३ ॥

हे देवि ! उसी को मैं तुमसे विस्तार से पहले कह चुका हूँ ! किन्तु, हे सुरेश्विर उसमें कोई परमार्थ नहीं है ॥ १३ ॥

मायिक वर्णितं सर्वं 'मायाजीवोपयोगिकम् । इदं माहेदवरं तन्त्रं समाधौ यच्छुतं मया । १४॥ प्रबोधसाधनीभूतं प्रियाणामिति मे मतम् । अन्य थेदवरविज्ञानान्नान्यदेतत्त्रयोजनम् ॥ १५॥

माया में पड़े हुए जीवों के लिए उन तन्त्रों में मात्र मायावी-विद्या का ही वर्णन है। यह माहेश्वर तन्त्र, जिसे मैंने समाधि में सुना था, मेरा यही मत है कि यह ब्रह्मज्ञान के प्रिय जिज्ञासुओं के (तत्त्व ज्ञान) के प्रबोध का साधनीभूत है। इस माहेश्वर तन्त्र का ईश्वर के तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं है।। १४-१५॥

वैहणवान्यपि तन्त्राणि पञ्चरात्राभिद्यानि तु । विहणुप्रोक्तानि देवेशि पञ्चिविश्वतिसंख्यया ॥ १६ ॥ 'पश्चरात्र' नाम से विख्यात अन्य भी विष्णु प्रोक्त वैष्णव तन्त्र हैं, जो हे देवेशि ! संख्या में कुछ पच्चीस हैं ॥ १६ ॥

हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं संमोहनं तथा।
वैभवं पौष्करं तन्त्र प्रह्लादं गाग्येगालवम्।। १७ ।।
नारदीयं च श्रीप्रक्नं शाण्डिल्यं चेश्वरं तथा।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वाशिष्ठं ज्ञानसागरम्।। १८ ॥
स्वायम्भुवं कापिलं च ताक्ष्यं नारायणीयकम्।
आत्रेयं नारसिंहास्यं आनन्दं च तथारुणम्।। १९ ॥
वैहायसं तथा ज्ञानं विश्वोक्तं चेति सुन्दरि।
अत्यन्तस्खलितानाञ्च जनानां वेदमार्गतः। २० ॥

१. 'मया' इ० पा॰ ।

२. तन्महेश्वरविषयातं 'तन्मयेश्वरविख्यातं' तन्मेश्वरविख्या वेत्यपपि पाठः ।

३. 'नारसिहाक्षं' इति वा पाठः।

वैष्णवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादं गार्गमाणवम् । नारदीयं च श्री वत्सं ... इति वा पाठः ।

५. 'बादाक्षं' 'बाट्टाक्षं' इति का पाठा ।

उनमें प्रथम ह्यशीषंतन्त्र है, दूसरा संमोहन तन्त्र' है ३. वैभव, ४. पौष्कर-तन्त्र, ५. प्रह्लाद, ६. गार्ग्य, ७. गालव, ८. नारदीय, ९. श्रीप्रश्न, १०. शाण्डिल्य, ११. ऐश्वरतन्त्र, १२. सत्योक्त, १३. शौनक, १४. विस्ठितन्त्र, १५. ज्ञानसागर, १६. स्वायम्भुव, १७. कापिल, १८. तार्स्य, १९. नारायणीय, २०. आत्रेय, २१. नार-सिंह, २२. आनन्द, २३. आहण, २४. वैहायस, २५. विश्वोक्त ज्ञान (तन्त्र) है। इस प्रकार हे सुन्दरि ये पच्चीस वैष्णव-तन्त्र वेदमार्ग से अत्यन्त स्खलित मनुष्यों के लिए कहे गए हैं, क्योंकि— ॥ १६-२०॥

पञ्चरात्रादयो मार्गा। कालेनेवोपकारकाः। बौद्धतन्त्राणि देवेशि वर्त्तन्ते सुबहून्यपि ॥ २९ ॥ 'पाश्वरात्र' आदि के मार्गं समय पर्य ही उपकारक होते हैं। फिर हे देवेशि ! बहुत से बौद्धतन्त्र मी हैं॥ २१ ॥

तानि प्रोक्तानि सर्वाणि बौद्धरूपेण विष्णृना । न तत्र धर्मलेशोऽस्ति मोहनानि दुरात्मनाम् ॥ २२ ॥ वे सभी बुद्ध रूप में विष्णु-प्रोक्त ही हैं । किन्तु उसमें भी धर्म (=आचार) का लेश मात्र मी नहीं है । वह तो मात्र दुरात्माओं के संमोहन के लिए ही है ॥ २२ ॥

अन्ते तु नरकार्येव भविष्यन्ति न संशयः। पार्वत्युवाच--

किमर्थं देवदेवेन विष्णुना सत्वमूर्तिना ॥ २३ ॥ दयावतापि छोकस्य प्रतारणमहो कृतम् । निर्दोषे पुरुषे देव नानृतं स्यात्कदाचन ॥ २४ ॥

फिर इन मार्गों पर चलने वाले साघकों को अन्त में नरक ही प्राप्त होता है। इसमें कोई सम्देह नहीं है।

पार्वती ने कहा--

सत्त्वमूर्ति, देवों के देव भगवान विष्णु ने दयावान होकर भी क्यों यह लोक के प्रतारण का कार्य किया ? फिर हे देव ! निर्दोष पुरुष में कभी भी असस्य नहीं देखा जाता है ॥ २३-२४॥

केन प्रयुक्तस्तु हरिर्मोहशास्त्रमरीरचत्। एतन्मे ब्रूहि सर्वंज्ञ सन्देहिविनिवृत्तये।। २५।। मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए, हे सर्वंज्ञ! बस इतना बताइए कि हिए के द्वारा रिचत इस मोहशास्त्र (=तन्त्र) का किसने प्रयोग किया है ?॥ २५॥

तैलोक्यमोहन (अग्नि॰ पु॰)
 तेलोक्यमोहन (अग्नि॰ पु॰)

शिव उवाच---

शृण् देवि प्रवक्ष्यामि कारणं मोहकल्पने। एकदा विधिविष्णू च स्वाभिमानावृतान्तरौ॥ २६॥ भगवान् शंकर ने कहा—

हे देवि ! सुनो । इस मोह कल्पना का कारण मैं कहता हूँ। एक बार भगवान विष्णु और ब्रह्मा स्वाभिमान में अपने को बड़ा कहते हुए झगड़ पड़े ॥ २६॥

नित्यं धिवदमानौ तावन्योऽन्यं प्रतिचक्रतुः। अहं ब्रह्मोति न भवानित्येवं पूर्णमानिनौ।। २७॥ नित्य एक दूसरे से यह कहते हुए पूर्ण रूप से मानी हो विवाद करने लग गए कि 'मैं ब्रह्म हैं, आप नहीं' ॥ २७॥

क्रुद्धचित्तावृभौ देवि शेपतुस्तौ परस्परम् । ब्रह्मोवाच—

यस्मात्त्वं मामवज्ञाय स्वात्मानं बहु मन्यसे ॥ २८ ॥ अपूज्यस्त्वं तु लोकेषु भविष्यसि न संशयः । इत्येव दारुणं शापं निशम्य मधुसूदनः ॥ २९ ॥ क्रुद्धः शापं प्रतिददौ त्वमप्येवं भविष्यसि । अन्योऽन्यं शापमाश्राव्य भवित्वयेन मोहितौ ॥ ३० ॥ हे देवि ! वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर क्रोधाभिभूत होकर शाप देने लगे ।

ब्रह्मा ने कहा—
वयों कि आप हमारी अवज्ञा करके अपने को बहुत मानते हैं, इसिलए आप लोकों में निसन्देह रूप से पूजनीय नहीं होंगे। इस प्रकार के दारुण भाप को सुनकर ममुसूदन ने भी क्रुद्ध होकर शाप दिया कि आप भी लोकों में पूज्य न होंगे। होनी के कारण एक दूसरे को शाप देकर दोनों ही मोह ग्रस्त हो गए।। २--३०॥

मामेव शरणं याती परिम्लानमुखावुभौ।

व्यवस्था तुकृता देवि मया शापस्य वै तयोः ॥ ३९ ॥

तब दोनों ही म्लान मुख होकर मेरे शरण में आए। तब हे देवि ! उन दोनों

के शाप की मैंने व्यवस्था दो ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणो यन्मया प्रोक्त तत्ते वक्ष्यामि संश्रुणु । ब्रह्मन्तो वैष्णवं वाक्यमन्यया भवति क्वचित् ॥ ३२ ॥ तस्मादपूज्यो लोकेषु भविष्यति भवान् किल । पञ्चायतनपूजायां न शापस्ते भविष्यति ॥ ३३ ॥ ब्रह्मा से जो मैंने कहा, उसे मैं कहता हूँ, सुनो । हे ब्रह्मन् ! विष्णु का वाक्य कभी भी अन्यया नहीं होता । इसलिए आप लोकों में पञ्चायतन की पूजा में निश्चित ही अपूज्य होंगे ।। ३२-३३ ।।

> केवलं भवतः पूजाबाधकं शाप एव हि। त्वमेकं वपुराधतस्य शापस्य विषयं हरे।। ३४॥

मात्र आप विष्णु की पूजा में यह शाप बाधक है। इसलिए आप, हे हरि, शाप के लिए एक अलग रूप का विग्रह धारण करिए।। ३४।।

तत्रीवास्तु च ते शापः सत्त्वमूत्तौ न सर्वथा। एवमुक्ते मया चोभौ ययतुः स्वस्य केतनम्॥ ३५॥

उसी एक में आपका शाप होगा। सभी सत्त्वमूर्ति में शाप नहीं होगा। इस प्रकार मेरे कहने पर दोनों अपने-अपने निवास पर चले गए।। ३५॥

एतस्मिन्नन्तरे देवि देवासुरमहारण: । वभूव तत्र समरे जिता देवैः सुरेतरा:॥३६॥

हे देवि ! इसी अन्तराल में देवों और असुरों में महान् संग्राम हुआ। उस संग्राम में देवों ने अन्य असुरो[°] को जीत लिया।। ३६।।

> जयोपाय प्रकुर्वाणास्तपस्तेषुर्महत्तरम् । तपोविष्टनाय तान् देवो बौद्धरूप स्वयं गतः ॥ ३७ ॥

जय के उपाय को खोजते हुए उन्हों ने महान् तप किया। उनके तप में विष्न डालने के लिए विष्णु ने तब स्वयं बौद्ध-विग्रह धारण किया।। ३७।।

बौद्धतन्त्राणि निर्माय दैत्येश्यः समदर्शयत्। देहादन्यो न चात्मास्ति न मुक्तिर्मरणात् परा ॥ ३८॥

उसी बीढ़ रूप में बीढ़ तन्त्रों का निर्माण करके उन्हों ने दैत्यों को दिखाया। (उन्हों ने वेदिवपरोत उपदेश दैत्यों को देते हुए कहा कि) शरीर से अन्य और कहीं भी आत्मा नहीं रहता। अत: मरण के बाद मुक्ति का प्रश्न ही क्या है ? ॥ ३८ ॥

> न देवाः पितरः सन्ति मुधा वेदेन दर्शिताः। स्ववृत्तये तु निगमः कल्पितो ब्राह्मणैरिह ॥ ३९ ॥

न तो [स्वर्ग लाक में] देंबता हैं, न [िपतृलोक में] पितर ही है। यह सब तो वेद की झूठी कल्पना है। वेद तो यहाँ ब्राह्मण लोगों के द्वारा अपनी वृत्ति (अआजीविका) चलाने के लिए कल्पना-प्रसूत हैं।। ३९।। सर्वया न प्रमाणत्वे धार्यः स्यादसुरेश्वराः। एवं तन्त्रेषु नैरात्म्यवादमुख्येष् मोहिताः।। ४०।।

अतः बिना प्रमाण के इस [वेद] को असुरों को नहीं घारण करना चाहिए। इस प्रकार के नैरात्म्यवाद [= आत्मा की सत्ता न मानने वाले] प्रघान तन्त्रों में दैत्यों की बुद्धि को विष्णु ने मोह में डाल दिया।। ४०।।

> असुराः समसज्जन्त बौद्धमायाहृताशयाः। तदा प्रभृति तद्रप अपूज्यत्वं हरेयंयौ ॥ ४९ ॥

इस प्रकार भगवान् बद्ध की माया से आहृत बृद्धि वाले असुर मोहग्रस्त हो गए। तभी से हरि का वह बृद्ध रूप [वेद मार्ग के साधक के लिए] अपूज्य हो गया। ४१।।

> 'बौद्धोपदेशस्य ग्रहो जातश्च परमेश्वरि । तस्मात्तदुक्ततन्त्राणि नास्तिवादपराणि न ॥ ४२ ॥

हे परमेश्वरि ! इसोलिए बढ़ के उपदेश [वैदिकों के लिए] अग्राह्य हैं। इसी<mark>लिए</mark> उक्त बौद्ध तन्त्र नास्तिक हैं।। ४२।।

> न ग्राह्याणि बुधैदेंवि धर्माधर्मविचारणे। इद माहेश्वरं तन्त्रं सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम्।। ४३॥

हे देवि ! घर्म या अधर्म का विचार करने वाले विद्वान को चाहिए कि वह (प्राह्म का ही ग्रहण करे) अग्राह्म तन्त्रों का ग्रहण न करे। यह माहेश्वर तन्त्र सभी तन्त्रों में [तत्त्वज्ञान को बतलाने वाला] उत्तम तन्त्र ग्रन्थ है।। ४३।।

> सामरस्येच्छ्या शक्त्या यथामूनार्थमीरितम्। अक्षरस्यासनीभृतस्तन्निशम्य सदाशिवः॥४४॥

शक्ति की सामरस्य की इच्छा से जैसा था वैसा ही मैंने कहा है। सदाणिव के 'अक्षर' [ब्रह्म] होने के उस रहस्य को अब सुनो ॥ ४४ ॥

प्रोक्तवानीश्वरायैतत् यथाश्रतमनिन्दिते । समाद्यावीश्वरः प्राह मह्यं देवि यथाश्रृतम् ॥ ४५ ॥

हे अनिन्दित ! जैसा मैंने सुना था वैसा ही इसे ईश्वर के लिए कहा गया है। हे देवि ! मैंने जैसा सुना है कि 'मैं ही शङ्कर समाधी की अवस्था में 'ईश्वर' कहा जाता हैं'।। ४५।।

१. 'शुद्धोदनस्य च गृहे जातस्य' इत्यपि पाठः ।

मयापि च तव स्नेहादुच्यते नान्यथा प्रिये। त्वया तु गोपनीयं हि न वाच्यं यस्य कस्यचित्।। ४६॥

हैं प्रिये! मेरे द्वारा भो यह रहस्य तुमसे तुम्हारे स्नेह के कारण ही कहा जा रहा है। नहीं तो यह किसी को कहने योग्य नहीं है। तुम्हें भी इसका गोपनः करना चाहिए और जिस किसी से नहीं कहना चाहिए।। ४६।।

एतत्तन्त्रार्थविज्ञाने न सर्वे हघधिकारिणः। पार्वत्युवाच—

अधिकारविहीनोऽपि यदि चात्र प्रवर्ताते ॥ ४७ ॥ इस तन्त्र के तत्त्व को जानने के लिए सभी अधिकारी भी नहीं है । पार्वती ने कहा —

अच्छा ! यदि अधिकारविहीन भी इसमें प्रवर्तित हो जाय तो क्या हार्नि है ? ॥ ४७ ॥

> निःशङ्को निर्भयो भूत्वा प्रेमासक्तिसमन्वितः। नित्यानन्दं च पृष्ठष विभाव्य स्वपति हृदि॥ ४८॥ तदीयविरहज्वालाग्लिपतां तनुमुत्सृजेत्। कांगित याति देवेश तन्मे साधु निरूपय॥ ४९॥

नि:शङ्क, निर्भय होकर प्रमासक्ति से युक्त होकर अपने हृदय में अपने पिति नित्य आनन्द रूप पुरुष का ज्यान करके उसी की विरहज्वाला में निगीण शरीर की उत्सर्जन कर दे तो हे देवेश! उसकी क्या गित होगा? उसे आप ठीक ठीक वताइए ॥ ४८-४९॥

शिव उवाच-

ब्रह्माभासमयः कश्चिद्यदि जीवः परिश्रमन्। अनेकजन्मसंसिद्धपुण्यराशिभिरूज्जितः ॥ ५०॥ साधुसङ्गेन देवेशि यदिदं ज्ञानमाप्नुयात्। जितन्द्रियो निविषयः प्रेमासक्तिसमन्वितः॥ ५१॥ त्यजन् देहमवाप्नोति कुमार्यः प्रापुरेव यत्। न जले जलवत्तस्य लयो भवति चाक्षरे॥ ५२॥

शिव ने कहा -

यदि कोई जीव अपने में ब्रह्म का आभास करता हुआ-सा परिश्रमण करते हुए अनेक जन्म से प्राप्त किए हुंए पुण्यराशि के प्रताप से तथा साधुजनों की संगति से यदि इस ज्ञान को, हे देवेशि! प्राप्त कर लेता है तो वह जितेन्द्रिय, विषयों में निलिस्न,

भगवद् प्रेम को असक्ति से युक्त देह का त्याग करते हुए दिव्य देह प्राप्त करता है जैसे कि कुमारियों ने प्राप्त किया। उसका जल में जल के समान लय नहीं होता। किन्तु 'अक्षर' में ही उसका विलय हो जाता है।। ५२।।

> यदय विरही जातो नित्यलीलाविहारिणि। न पश्यति तथा चापि नित्यलीलाविहारिणम्।। ५३।।

यदि यह साधक विरहो होता है तो नित्यलीला में विहार करने वाले [भगवान कृष्ण] में उसका लय होता है। फिर भी वह नित्यलीलाविहारी को देख नहीं पाता है।। ५३।।

> अक्षराभासमात्रत्वात् स्वस्येव परमेश्वरि । तस्माद् वृन्दावने देवि क्टस्यहृदयङ्गमे ॥ ५४ ॥ लीलामनुभवन् तिष्ठेत् पुनरागविवर्ष्णितः । इति ते निर्णयः प्रोक्तोऽनधिकारिणि सुन्दरि ॥ ५५ ॥

है परमेश्वरि ! अक्षर ब्रह्म के आभास मात्रे से ही उस वृन्दावन रूप अपने हृदया में ही वह हे देवि ! कूटस्थ ब्रह्म को हृदयङ्गम करके रहता है और फिर सांसारिक राग से रहित होकर उन्हीं वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण की छीछाओं का अनुभव करते हुए आनन्दमग्न रहता है। यही [ब्रह्म के आभास और उसमें विछीन हो जाने का] निर्णय, हे सुन्दरि ! मैंने तुमसे कहा है।। ५४-५५।।

अतः परं च भजने निर्णयं विचम संश्रुणु ॥ ५६॥

। इति श्रोमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे षड्विश पटलम् ॥ २६ ॥

इसके बाद मैं भगवान श्रीकृष्ण के भजन में किसका अधिकार है ? उसे मैं कहता हूँ। [सावधान होकर] सुनो ॥ ५६॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के छब्बीसवें पटल की खाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २६ ॥

१. 'अक्षरे हृदयङ्गमे' इत्यपि पाठः ।

अथ सप्तविंशं पटलम्

ेशिव उवाच —

नित्यानन्दिवहाराणां प्रियाणां परमेशितुः। स्वभर्त्तुर्भजनं देवि कर्त्तव्य सर्वथैव हि ॥ १ ॥

शिव ने कंहा-

नित्य भगवान् की लीला के आनन्द में बिहार करने वाले परमेश्वर के प्रिय भक्त को, हे देवि! सभी प्रकार से अपने स्वामी श्रोकृष्ण का भजन करना ही चाहिए ॥ १ ॥

> भजराङ्गं सदाचारः कर्ताव्यः कर्मशुद्धये। न सिद्धाः सिद्धिमवाप्स्यन्ति सदाचारविवर्जिताः॥ २॥

कर्म की बुद्धि के लिए सदाचार का पालन भजन के अङ्ग रूप में करना चाहिए।
वयों कि कोई भी साधक विना सदाचार के सिद्धि नहीं प्राप्त करते।। २।।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा आचारहीनं न तपः पुनाति । आचारहीनं न पुनन्ति तीर्थान्याचारहीनस्य न चेव सिद्धिः ॥ ३॥

वेद आचारहीन साधक को पवित्र नहीं करते हैं। तप आचारहीन साधक को पवित्र नहीं करता है। तीर्थ आचारहीन पुरुष को पवित्र नहीं करते हैं। फिर तो आचारहीन व्यक्ति को सिद्धि भी नहीं मिलती है। ३।

आचारः प्रथमो धर्म आचारो हन्त्यलक्षणम्। आचाराल्लभते शुद्धि तस्मात्तं सततं चरेत्।।४।।

'आचार' ही प्रथम धर्म है जो साधक की बुराइयों को नष्ट कर देता है। 'फिर आचार से बुद्धि प्राप्त होती है। इसलिए निरन्तर आचारवान होना चाहिए। ४।।

> अनाचारेण मालिन्यं बुद्धिः समधिगच्छति। लीलावधारणं नास्ति मलिने बुद्धिदर्पणे॥५॥

आनाचार से 'बृद्धि' मालिन्य को प्राप्त करती है। फिर मलिनबृद्धि रूपी दर्पण में कभी भगवान की लीला की अवधारणा नहीं होती॥ ५॥ जाचारः कथितः सद्भिः सर्वधर्मेषु सर्वदा। आचाररहितो धर्मो हचधमंत्वेन कल्प्यते।।६॥

इसिलए सभी धर्मों में सर्वदा सज्जनों द्वारा बाचार [के व्रत का पालन करने के लिए] कहा गया है। वस्तुतः आचारिवहीन धर्म तो अधर्म के ही समान माना जाता है।। ६।।

> आचाररक्षणं तस्मात्कर्ताच्य सर्वधा प्रिये। आचारो द्विविधः प्रोक्तो बाह्याभ्यन्तर एव च ॥ ७ ॥

अतः प्रिये! सभी प्रकार से आचार की रक्षा ही करनी चाहिए। आचार दो प्रकार का कहा गया है १. बाह्य और २. आम्यन्तर ॥ ७ ॥

भावसंजुद्धिमेवैकामाचारं हचान्तरं विदुः। तिसद्धये देहसाध्यो बाहचः शौचादिरुच्यते ॥ ८ ॥

भाव को शुद्धि ही मात्र एक आचार आम्यन्तर कहा गया है। उसी भाव की शुद्धि के लिए शरीर से किये जाने वाले शौच आदि [प्रयत्नों] को बाह्य शुद्धि कहते हैं ॥ ८ ।

साध्यो भावः साधनं तु देहशुध्यादिकं प्रिये। तमाचारं प्रवक्ष्यामि येन संशुध्यते मनः।। ९।। हे प्रिये! शरीर की शुद्धि आदि से ही भाव की शुद्धि का साधन हो पाता है। अतः जिससे 'मन' की शुद्धि होती है मैं उस आचार को तुमसे अब कहूँगा।। ९॥

> नाभाषेन्नावलोकेत शृण्यान्न कथञ्चन। न स्पृशेन्नोपजिद्योत नाश्नीयाद्विमतं च यत्।। १०॥

[कृष्ण के गुण के अतिरिक्त] न कुछ भाषण करे, न कुछ देखे। कुछ भी न सुने। [कृष्ण के लीलाविग्रह प्रतिमा को छोड़कर | किसी भी अन्य वस्तु का स्पर्श न करे, न सूँचे और [सात्त्विक अन्न का ही भक्षण करे] जो गहित हो उसे नहीं खाना चाहिए।। १०॥

यदेश्वरगुणान्वक्तुमीहते वाक् विजृम्भिता।
तदीनां विष्ठयते पाप्मा विद्धा विमतभाषिणी।। १९॥
जो वाणी ईश्वर के गुण के बखान के लिए ही कल्पित है उस वाणी को विमत
= लौकिक वाग् जाल] भाषणह्य पाप विद्ध कर देता है।। ११॥

यदेश्वरं मृत्तिमन्तमालोकयितुमिच्छति । चक्षुस्तदा पाष्मविद्धं विमत पश्यति प्रिये ॥ ५२ ॥ जो सावक मूर्तिमान् ईश्वर को नहीं देखना चाहता है उसके चक्षु तभी, हे प्रिये पाप बुद्धि से आच्छन्त हो जाते हैं ॥ १२ ॥

यदेश्वरगुणान् श्रोतुमीहते श्रोत्रमिन्द्रियम् । तदेव पाष्मना विद्धं जानीयाद्विमते च तत् ॥ १३ ॥

जो श्रोत्र इन्द्रिय ईश्वर के गुणों को सुनने की कामना नहीं करती है उसे तभी समझ लेना चाहिए कि वह पाप से आविद्ध मन है ॥ १३॥

> यदा निवेदितान्नेन नियमं रसनेहते। तर्दैव पाप्मना विद्धा विमतं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब ईश्वर को निवेदित अन्त के द्वारा रसना इन्द्रिय का नियमन किया जाता है तभी पाप से विमत प्रतिपादित होता है ॥ १४॥

> पापरूपं विजानीयाद्विमताचरणं च तत्। विमताचरणं पापमिन्द्रियमुपगच्छति ॥ १५॥

विमत (ईश्वर से अतिरिक्त अन्य) का आचरण जो भी है उसे पाप रूप ही समझना चाहिए। वस्तुत। विमत (अन्य का चिन्तन या मनन) पाप बुद्धि को ही जन्म देता है।। १५।।

निरावरणमेवैतद्ध्यानाभ्यासः प्रपद्यते। नियम्य चेन्द्रियाण्यादौ अभ्यासेन दृढीयसा ॥ १६॥

बिना [पापबुद्धि रूप]'आवरण के ही घ्यान [या तप का अभ्यास होता है। अतः सबसे पहले [लौकिक चिन्तन से] इन्द्रियों को रोक कर उसे [अपने मन को] अभ्यास के द्वारा दृढ करना चाहिए ॥ १६॥

यदा सर्वेन्द्रियाणां च नियमं कर्तुमक्षमः। रसनेन्द्रियमेवैकं जेयं सर्वजिगीषया।। १७ ॥

जब साघक यह समझे कि सभी इन्द्रियों का नियमन नहीं हो सकता तो सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने को इच्छा से उसे मात्र रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करनी चाहिए ॥ १७ ॥

जिते रसे जितः कामः जिते कामे जितेन्द्रियः। जितजिह्वोपस्थरतेरसाध्यं कि तु विद्यते । १४।। रसना के एकमात्र नियमन से वह 'काम' को जीव लेता है। फिर जब 'काम'

रै. 'जिततृष्णे' इति पाठः।

[.]२. नु।

को जीत लिया तो जितेन्द्रिय हो जाता है, क्योंकि जिह्ना और उपस्थ में रत च्यक्ति के लिए सभी कुछ असाघ्य हो जाता है।। १८।।

> सिसृक्षोर्बह्मणः पूर्वं स्तनाद्धमी विनिर्गतः। वृषरूपश्चतुर्वेदचतुःपादः शुभाकृतिः ॥ १९॥

मृष्टि की इच्छा वाले ब्रह्मा से पहले उनके स्तन से घर्म की ही उत्पत्ति हुई। -यह धर्म वृषभ रूप गुभ आकृति वाला है जिसके चार पैर चार वेद हैं॥ १९॥

> ज्ञानं वैराग्यमत्युग्र यस्य श्रुङ्गद्वयं प्रिये। सत्यं तपः कर्णयुग दमो दानं तु चक्षुषी।। २०॥

है प्रिये ! इस घम किपी वृषभ के दो उग्र सींग ज्ञान और वैराग्य ही हैं। सत्य और तप दानों कान हैं और दम (इन्द्रिय नियमन) और दान इसके दो नेत्र हैं।। २०॥

> लांगूलमस्य चैश्वयं रोमाविलः पुण्यसन्तितः। तेन स्पृष्टाः प्रजाः सर्वी। शुद्धसत्वा बभूविरे ॥ २१ ॥

इसकी पूँछ ऐश्वर्य (समृद्धि) है और पुण्य राशि इस धर्म रूप वृषभ की रोमाविल है। इस धर्म रूप वृषभ का स्पर्श करके ही सभी प्रजा शुद्ध मन वाली हुई।। २१॥

ज्ञानवैराग्यसम्पन्ना मोक्षमार्गपरायणाः । तं दष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा पश्चात्वापमथासृजत् ॥ २२ ॥

ज्ञान (एवं वैराग्य से सम्पन्न मोक्षमार्ग में परायण उन प्रजा जनों को देखकर फिर भगवान ब्रह्मा ने 'पाप' का मुजन किया ॥ २२ ॥

स पाप्मा महिषाकारस्तमोभूतः शरीरिषु।
अज्ञानं चाप्यनैश्वयंमवैराग्यमधर्मकम् ॥ २३ ॥
चत्वारस्तस्य वै पादा छलद्रोही शृङ्गद्वयम् ।
क्रोधमोही कर्णयुगं कामलोभी हि चक्षुषी॥ २४ ॥

वह पाप तमोभूत शरीरों में महिष (= भैस) के आकार में उत्पन्त हुआ। उस पापरूप महिष के अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म रूप चार पैर हैं। छल श्रीर द्रोह उसके दो सींग हैं। फ्रोध और मोह उसके दो कान हैं, काम और लोभ उसके दो नेत्र हैं।। २३-२४।।

१. ' 'श्रुतिद्वयम्'।

मात्सर्यमुग्रलांगूलं ब्रह्महत्या शिरोऽस्य च। सुरापानं च हृदय कटिः स्यादुपपातकम्।। २५।।

उसकी उग्र पूँछ मात्सर्य (⇔ईऽयि-द्वेष) हैं और इस पाप रूप महिष का सिर ब्रह्महत्या है। इसके हृदय सुरा पान है और अन्य अनेक उपपातक उसके किंट प्रदेश हैं।। २५।।

> ् तेन स्पृष्टाः प्रजाः सर्वा नष्टसत्त्वा मलीमसा । ज्ञानवैराग्यरहिताः काम्यकर्मकृतश्रमाः ॥ २६ ॥

उस [पाप रूप तमोगुणी महिष] का स्पर्श करके सभी प्रजा तब मिलन मन बाली [तमोगुणी] हो गई । यह प्रजा ज्ञान एवं वैराग्य से रहित और कास्य कर्मी में ही श्रम करने वाली हुई ।। २६ ।।

> आमुरेष्वेव भावेषु व्यसज्जन्त विमोहिताः। तस्मालं तु परिज्ञाय देहेन्द्रियचरं प्रिये । २७ ॥ स्वाचारमाचरेत्प्राज्ञो यथा स्यादुज्ज्वलात्मधीः। उज्ज्वलत्व तदा बुद्धेः समं पश्यति वै यया ॥ २८ ॥

वे सभी आसुरी प्रवृत्तियों में आसक्त होकर मोहग्रस्त हो गए। अतः, हे प्रिये! उनको देह और इन्द्रियों में ही आसक्त जानकर प्रज्ञावान साधक को अपने [धर्म के अनुरूप] आचार का आचरण करना चाहिए, जैसे कि ज्ञान से उज्ज्वल आत्मा वाले बुद्धिमान व्यक्ति करते हैं। बुद्धि का निर्मल होना तभी जानना चाहिए जब सभी [स्थावर जङ्गम] को वह समभाव से देखता है।। २७-२८॥

सुखेषु विद्यमानेषु दुःखशोकभयादिकम्।
परयन् विरमते तेषु शुद्धत्वं च तदा धियः ।। २९।।
बृद्धिकी शुद्धता तभी दृष्टिगोचर होती है जब सुख और दुःख के आने पर दुःख, शोक एवं मय आदि से रहित संसार को [उसमें आसक्त न होते हुए } देखे ॥ २९॥

न व्यथेन्निदया चित्तं हर्षते न च सस्तुर्वः।
उदासीनोरिमित्रेषु साम्य बृद्धिस्तदोज्वला ॥ ३०॥
निन्दा से चित्त दुःखी न हो और स्तुति से मन हर्षित भी न हो, शत्रुओं में
उदासीन-भाव रक्षे। अन्ततः [सुख-दुःख में] बुद्धि की साम्यावस्था जब हो तभी
बृद्धि को निर्मल समझना चाहिए॥ ३०॥

१. मलीमसः इति पाठः।

अलोलुपत्वमास्तिक्यं मुमुक्षुत्वं गभीरता । प्रसादः स्वात्मना सौख्यं लोकसङ्गिनवर्त्तनम् ॥ ३९॥ एकान्तसेवाभिष्ठचिर् दम्भमानविवर्जनमः । एतानि यत्र जायन्ते तस्य बुद्धिः समुज्ज्वला ॥ ३२॥

[एक सफल साधक के गुण हैं उसका विषयों के प्रति} लोलुप न होना, आस्तिक बुद्धि, मोक्ष को इच्छा, गम्भीरता, प्रसन्नता, अपने में ही सुख का अनुभव करना भीर लीकिक सङ्गिति का परित्याग, दम्म एव मान से रहित होकर एकान्त में [भगवान की] सेवा में अभिष्ठिच होना—यदि ये समी तत्त्व साधक में आ जाय तो समझना चाहिए कि उसकी बुद्धि उज्ज्वल हो गई है ॥ ३१-३२ ॥

> आचारसेवनस्येह बुद्धिशुद्धिः परं फलस्। शुद्धायां ततो बुद्धौ लीलाध्यानेऽहंतां व्रजेत्।।३३॥

आचार के सेदन का सबसे श्रेष्ठ फल है बृद्धि का शुद्ध हो जाना। उसके बाद बृद्धि के शुद्ध हो जाने पर भगवान के लीला [विग्रह] का व्यान करने के लिए बृद्धि योग्य हो जाती है।। ३३॥

> शास्त्रदुष्ट भावदुष्टं लोकदुष्टमथापि वा । वर्जयेन्मतिमान् देवि सत्वशुद्धिविधित्सया ॥३४॥

[विषयों के प्रति आसक्त करने वाले] दुष्ट अर्थात् दुर्बुद्धि देने वाले शास्त्रों का, दुर्बुद्धि वाले भावों का और दुर्बुद्धिदायक लोक [व्यवहार] का बुद्धिमान् साधक को सारितक बुद्धि की इच्छा से, हे देवि ! सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥ ३४ ॥

गुहचशीचं पादशीचं हस्तशीचं महेश्वरि। मुखशीचं चतुर्थं च कुर्यात्सर्वत्र सर्वदा।। ३५॥

हे महेश्वरि ! गुह्याङ्ग की गुद्धि, पैर की गुद्धि, हाथों की गुद्धि और चीथी मुख-गुद्धि सदैव एवं सर्वत्र करना चाहिए ॥ ३५ ॥

उच्छिष्टो न स्पृशेत् क्वापि सेवाद्रव्याणि शाम्भवि । प्रणम्य प्रविशेतस्थानं निर्गच्छेच्च प्रणम्य च ।। ३६ ॥

कहीं भी, हे शम्भु की पत्नि ! उन सेवा द्रव्यों को जूठे हाथ से नहीं छूना चाहिए। भगवान् के सेवा स्थान में प्रणाम करके प्रवेश करे तथा प्रणाम करके ही छीटना चाहिए।। ३६।।

निष्ठीवनं प्रलापं च अधोवायुविसर्जनम् । बौदासीन्यं भयं क्रोधं न कुर्यात्तत्र संस्थितः ॥ ३७ ॥ [पूजा स्थान में | थूकना, बातचीत करना और अघोवायु का त्याग करना, [पूजा में] उदासीनता तथा भय एवं क्रोध भी वहाँ रहकर न करे।। ३७॥

यथावर्णं यथाज्ञानं यथाज्येष्ठकनिष्ठकम् । तथैवोपविशेत्तत्र रागद्वेषविवर्णितः ॥ ३८ ॥

वहाँ [पूजा स्थान में] वर्ण के अनुसार [पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तब शूद्र] ज्ञान के अनुसार [पहले ज्ञानी लोग और बाद में अज्ञानीजन] और छोटे-बड़े के भेदानुसार उसी प्रकार से राग एवं द्वेष से रहित हो बैठना भी चाहिए।। ३८।।

> न निन्देन्मनसा वाचा कुमारीं ब्राह्मणं गुरुम्। दया भूतेषु कर्त्तव्या न हिस्यात्कमपि प्रिये।। ३९ ा

मन एवं वाणी से कुमारी, ब्राह्मण तथा गुरु की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। हे प्रिये! प्राणिमात्र पर दया करनी चाहिए। उनकी हिंसा तो कभी भी नकरे।। ३९॥

सर्वं सहेत पर्वं देहानित्यत्वभावनात्। देहगेहकलत्राप्तिमत्रद्रविणसम्पदः ॥ ४०॥ स्वप्नविद्युत्तिभाः पश्येन्नात्मानं तत्र सज्जयेत्। असदासक्तिवशत। संसारो न निवर्तते॥ ४९॥

देह के अनित्यता को जानकर सभी कठोर वाक्यों को सह लेना चाहिए। शारीर, गृह, स्त्री, विश्वासपात्र-मित्र, चन एवं सम्पत्ति को स्वप्न तथा बिजली की कींच के समान क्षणिक समझना चाहिए। उनमें अपनी बुद्धि को कभी आसकत नहीं करना चाहिए। क्योंकि असत्य में आसकित के कारण साधक संसार (के मोह जाल) से स्वय नहीं पाता।। ४०-४१।।

दानं दमो दया चेति न त्याज्यं सर्वथा त्रमम्। असत्यं न वदेद्वाक्यं वाचोऽपि मरणं हि तत्।। ४२।।

दान, दम (=जितेन्द्रियत्व) और दया-इन तीन का सर्वथा त्याग नहीं करना चाहिए। कभो भो असत्य वाणी न बोले, न्योंकि उसमें वाणी मृत हो जातो है ॥ ४२ ॥

मृता वाक् निह योग्या स्याद् गुणाकापे परेशितुः । न परस्त्रीमुखे क्वापि दृष्टि भोगेच्छया छिपेत् ॥ ४३ ॥ मृत-वाणी परम पिता परमेश्वर की भाराधना के लिए तथा उनके गुणों के कीर्तन में योग्य नहीं होती है। कभी भी भोग की इच्छा से परास्त्री में दृष्टिपात भी न करे॥ ४३॥

> स्वस्मिन् स्त्रीभावनानस्येत्तस्मात्पातकमेव तत्। निर्विकाराणीन्द्रियाणि जातमात्रशिशोर्यथा।। ४४।।

फिर, अपने मन के स्त्री-भाष को [अर्थात् 'यह स्त्री है' या यह पुरुष है'-इस प्रकार के भेद को] नष्ठ ही कर देना चाहिए क्योंकि उससे वही पातक होता है। उसे तो निविकार रूप से इन्द्रियों को पैदा हुए शिश्रु के समान [भेदरहित] हो देखना चाहिए ॥ ४४ ॥

> ललनावृन्दमध्यस्यस्यापि चेतो द्विष्ठा नहि । स्रकोभावः स्थिरस्तस्य विशुद्धश्च प्रियंवदे ।। ४५ ॥

हे प्रियवादिनि ! उस [शुद्ध] साघक का चित्त स्त्रियों के बीच में रहकर भी दिया [स्त्री-पुरुष] बुद्धि नहीं प्राप्त होता है भीर वह उनके बीच सखोभाव से स्थिर चित्त होकर विशुद्ध रहता है ॥ ४५ ॥

विशुद्धस्त्रीस्वभावा ये दृश्यन्ते पुरुषा अपि। निश्चयादनगन्तव्या प्रिया भगवतो हि ते॥ ४६॥

जो विशुद्ध स्त्री स्वभाव वाले पुरुष होते हैं तो निश्चय रूप से यह जान लेना चाहिए कि वे भगवान के प्रिय ही होते हैं ॥ ४६ ॥

स्त्रीदुष्टात् समयभ्रष्टात् भावनाविमुखात् शठात् । नास्तिकात् दुर्नयान्दुष्टात् परस्त्रीगमनोत्सुकात् ॥ ४७ ॥ विरोधिनः क्रूरचित्तात् श्रद्धाप्रेमविवर्णितात् । असदालापकात् देवि न पंक्त्यामुपवेशयेत् ॥ ४४ ॥ न पिबेत्तत्र पानीयमेकपात्रेण कर्हिचित् । पादुकावसनं शय्याशयनासनसंस्थितिम् ॥ ४९ ॥

न कुर्यादेव तैं। साक दोषावेशोन्यया भवेत्।
उस साधक को, स्त्रियों में पाप रखने वाले, भ्रष्ट प्रतिज्ञा वाले, भिद रहित]
भावना से विमुख, शठों, नास्तिकों, दुर्बुंद्धि रखने वाले दुष्टों, परस्त्री संगम के लिए
उत्सुक, दूसरों से विरोध रखने वाले, क्रुद्ध चित्त तथा श्रद्धा एवं प्रेम से रहित और
असत्य बोलने वाले लोगों के बीच, हे देवि ! कभी भी नहीं बैठना चाहिए। [यदि
किसी प्रकार रहना भी पड़े तो] वहाँ एक ही पात्र में पानी तो नहीं ही

्षीना चाहिए । उनका पहना हुआ जूता, उनके चस्त्र या शस्या तथा बिछीने हिका प्रयोग भी नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से उनके साथ वह भी उनके दोष का भागीदार बन जाता है ।। ४७-५० ।।

> अदृष्टपुरुषैर्देवि देशान्तरिनवासिभिः ॥ ५०॥ इन्द्रियार्थरतैर्दम्भच्छलेनापि,समागतेः । न स्थितिः सह कर्त्तव्या परानन्दोत्सवे प्रिये ॥ ५९॥ अस्नातोऽधौतपादो वा हचनाचारो भयाकुलः।

हे देवि ! अनजाने पुरुषों के साथ, अन्य देश के निवासी व्यक्तियों के साथ मात्र इन्द्रिय की तृष्ठि में रत लोगों के साथ, दम्भ और छल से आए व्यक्तियों के साथ तथा उनके आनन्दोत्सव में भी, हे प्रिये नहीं रहना चाहिए ॥ ५१-५२ ॥ है

अधौतवसनो वापि नोत्सवं प्रविशेत्ववित्।। ५२ ॥

स्नानिवहीन, पादप्रक्षालन से रहित, अनाचारी अथवा भय से व्याकुल, या वस्त्र न घोने वाले के भी साथ कभी भी उत्सव में प्रवेश न करे।। ५२।।

> उत्सवे गुणगानादि कुर्यात्कृष्णकथा। शुभाः। व लोंकिकों कथां कुर्याद्विवदेन्न परस्परम्।। ५३।।

यदि उत्सव में जाए भी तो भगवान के गुण-गान आदि को करे, अथवा कृष्ण को कल्याणकारी कथाओं को ही कहे। लौकिक कथा-वार्ता तो कदापि न करे और परस्पर विवाद भी न करे।। ५३।।

> न मर्माणि वदेद्देवि न चोपद्रवमाचरेत्। परस्परं तु देवेशि स्वात्म्येक्यं भावयेद्धिया।। ५४॥

कभी [कथा वार्ता के अतिरिक्त] अन्य लौकिक मर्म की गोपनीय बातें भी न करें। हे देवि ! [कभी भी किसो प्रकार के क्रोध में आकर] उपद्रव भी नहीं करना चाहिए। हे देवेशि ! ज्ञान से परस्पर एक दूसरे को अपना ही स्वजन समझना चाहिए । ५४ ।

रसावेशस्तदाभूयान्निविकारा यदा स्थिति। तस्मात्तस्त्रवणं चेतः प्रकुर्वीत महोत्सवे॥ ५५॥

जब निर्विकार की स्थिति हो बब रस का आवेश होता है। इसलिए [कृष्ण] महोत्सव में उस परब्रह्म परमात्मा में व्यान लगाकर चित्त को कृष्ण में लीन करना चाहिए।। ५५ ॥

ह्यायन्ति केचन निमील्रितपक्ष्मभारा गर्जन्ति हेतिपरिलब्धगुरुप्रमाणाः । नृत्यन्ति तद्रसविलीनमनोरयार्था भक्त्या द्रवन्त इव द्क्कमलेगैलद्भिः॥५६॥

[कृष्ण का च्यान इस प्रकार है —]

कुछ भक्त जन [कृष्ण का आनन्द में विभोग होकर] अर्घनिमीलित नेत्रों से च्यान करते हैं कुछ में गर्जन करते हैं, कुछ उन्हीं कृष्ण के आनन्द रस में विलीन मनोरथ वाले होकर नृक्ष्य करते हैं—इस प्रकार [भक्ति रस के उद्रोंक से] नेत्र-कमलों से गिरे हुए मानों रस का पान करते हैं ॥ ५६ ॥

> तद्धचानदृष्टपदहृष्टधियः प्रसन्नाः स्वानन्दसागरसमुच्छलदच्छभावाः । रोमाञ्चकञ्चृकविचित्रतनुप्रदेशा जानन्ति नेदमखिलं च विभिन्नलिङ्गाः॥५७॥

उन कृष्ण के ध्यान से हिंपत हृदय वाले भक्त प्रसन्न होकर मानो स्वानन्द के निर्मल भाव-सागर में हिर्लोरे लेते हैं। भिक्त रस के कारण रोमाश्वित होकर विचित्र शरीर वाले वे [आत्मिवभोर होने से] इस विभिन्न शरीर घारी अखिल जगत् को नहीं जानते हैं अर्थात् भूल जाते हैं।। ५७।।

यज्जातमुत्सेवे किन्धित् वृत्तान्तं साध्वसाधु वा । हृदयाद्विस्मृतमिव बहिनेव प्रकाशयेत् ॥ ५७ ॥

उस कृष्ण-महोत्सव में जो कुछ भी अच्छा या खराब वृत्तान्त अनुभूत हो उसे हृदय में ही विस्मृत के समान रखकर कदापि बाहर न प्रकाशित करे।। ५८॥

> यथावर्णविभेदेन स्वीकुर्याच्च निवेदितम्। पृथगासनपात्राणि कारयेत् सुरवन्दिते ॥ ५९ ॥

वर्ण-विभेद के अनुसार निवेदित प्रसाद को स्वीकार करना चाहिए। है सुरवन्दिते ! उनके आसनों एवं पात्रों को अलग रखना चाहिए॥ ५९॥

परस्परं प्रणमेदेवं कुर्यान्महोत्सवोत्सवम् । स्वपुत्रस्त्रीजन्मदिने गुरोर्जन्मविपर्यये ॥ ६० ॥

परस्पर एक दूसरे को प्रणाम करना चाहिए इस प्रकार अपने पुत्र या स्त्री के जन्म दिन पर या अपने से बड़ों के जन्म दिन पर कृष्ण का महोत्सव रूप उत्सव मनाना चाहिए।। ६०।।

मङ्गले सम्पदाधिक्ये लाभे भक्तसमागमे। व्यतीपाते तथाष्टम्यामेकादश्यां च संक्रमे ॥ ६९॥

फिर कब उत्सव करें-इसका विधान करते हैं-

मञ्जल में, घनाट्यता में अथवा घन के लोभ में, भक्तों के आगमन पर, व्यतीपात [महान् संकट] तथा अष्टमी और एकादशी के संक्रमण काल में महोत्सव करना चाहिए॥ ६१॥

> पुष्यार्के चैव हस्तार्के ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः। कृष्णजन्माह्नि देवेशि राधाजन्मदिने तथा।।६२।।

पुष्य नक्षत्र में जब सूर्य हो या हस्त नक्षत्र में सूर्य के होने पर और चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहण के अवसर पर महोत्सव करे। हे देवेशि ! कृष्ण-जन्म और राघा के जन्म दिन पर महोत्सव करना चाहिए ॥ ६२ ॥

अवतारिदनेष्वेवं विष्णोरिमततेजसः।
चैत्रे शुक्छस्य पञ्चम्यां भगवान्मीनरूपधृक्।। ६३ ॥
च्येष्ठे शुक्छे द्वादश्यां ततः कूमंस्वरूपधृक्।। ६४ ॥
चैत्रे कृष्णनवम्यां तु हरिवर्गिहरूपधृक्।। ६४ ॥
वैशाखे शुक्छपक्षे तु चतुर्दश्यां दिनक्षये।
प्रादुवंभूव नृहरिभंक्तरक्षाथमुद्यतः॥ ६५ ॥

अत्यन्त तेज युक्त विष्णु के विभिन्न अवताय के दिनों में भी महोत्सव करना चाहिए। उन अवतायों में मत्स्यावतार का दिन चैत्र शुक्ल पञ्चमी है। उसके बाद क्रमीवताय का दिन ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी है। चेत्र कृष्ण नवमी को विष्णु ते भगवान बाराह का अवतार घारण किया था। वैशास शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के दिन मक्त [प्रह्लाद] की रक्षा के लिए उद्यत हो [स्तम्भ में से] भगवान नृसिंह प्रगट हुए थे।। ६३-६५।।

वैशासे गुक्लपक्षे तु तृतीयायां गिरीन्द्रजे। जमदग्निसुतो रामो रेणुकायामजीजनत् ॥ ६६ ॥ हे हिमालय की पुत्रि ! वैशास मास के गुक्लपक्ष की तृतीया को जन्मदग्निसुठ परशुराम को माता रेणुका ने जन्म दिया ॥ ६६ ॥

मासि भाद्रपदे देवि शुक्ले चैकादशी तिथिः। अदित्यां कद्यपाज्जाती वामनः सुरकार्यकृत्।। ६७।। हे देवि ! भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की एकादशी तिथि को भगवान वामन को देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए कश्यप् से अदिति ने जन्म दिया या॥ ६७॥

चैत्रे शुक्छनवम्यां तु रामो दशरथात्मजः।
रावणस्य वधार्थाय कौशल्यायां परः पुमान्।। ६८।।
दशरथ के पुत्र भगवान् राम ने चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को
कौशल्या में प्रगट होकर रावण के वध के लिए श्रेष्ठ पुमान रूप अवतार ग्रहण
किया।। ६८।।

श्रावणे बहुले पक्षे अष्टम्यां च महानिशि। कृष्णः प्रादुरभूद् देवि सुरकार्यचिकीर्षया॥६९॥ भाद्रपद मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी विथि को मध्य रात्रि में देव कार्य की इच्छा से, हे देवि ! भगवान् कृष्ण प्रादुर्भूत हुए॥६९॥

नभसे तु द्वितीयायां बलभद्रोऽभवद्धरिः। पौषशुक्ले तु सप्तम्यां बौद्धः प्रादुर्भविष्यति ॥ ७० ॥ श्रावण मास [शुक्ल] द्वितीया को बलभद्र के रूप में हरि हुए। पौष शुक्ल सप्तमी को बौद्धावतार होगा^९॥ ७० ॥

माघशुक्लतृतीयायां कल्की प्रादुर्भविष्यति।

एतेष्वन्येषु पुण्येषु दिवसेषु विशेषतः॥ ७९॥

प्रकुर्यादुत्सवं देवि वित्तशाठचिवविज्ञतः।

नोत्सवो मध्यभोष्याद्येनं पुष्परचनादिभिः॥ ७२॥

रसावेशो भवेद्यत्र तमाहु। परभोत्सवम्।

निर्विकारं भवेच्चित्तं भगवज्ञानगोचरम्॥ ७३॥

माघ युक्ल तृतीया को कल्की अवतार होगा। इस प्रकार इन अवसरों पर कीर अन्य भी पुण्य दिनों में विशेष रूप से हे देवि ! वित्त की शठता से रिष्ट्रत होकर (निःसंकोच खर्च कर) उत्सव मनाना चाहिए। भक्ष्य और भोज्य वस्तुओं से या माला फूल की सजावट से उत्सव नहीं हाता है अपितु जहाँ आनन्द रस का आवेश हो (भिक्त हो) उसी को श्रेष्ठ उत्सव कहा जाता है। भगवान के ज्ञान के अनुभव से भक्त का चित्त निविकार हो जाता है। ७१-७३।।

'प्रेमेकरसिकं शृद्धं तत्रावेशो भवेद्धृवम् । उत्सवे देवदेवेशि त्रिविधैव जनसङ्गमः ।। ७४ ।।

रै. इससे प्रतीत होता है कि यह तन्त्र ई॰पू॰ ७ शताब्दी के पहले लिखा गया होगा।
रे॰ 'प्रेमैक्य राधिकं' इत्यपि पाठः।

प्रियाणां वासनाश्चैको देवसर्गों द्वितीयकः। तृतीयो गौतमैः शप्ता ये च वैडालिनः स्मृताः॥ ७५॥

जिस उत्सव में शुद्ध रूप से मात्र प्रेम रस के रसिक जन होते हैं वहाँ निश्चित रूप से रस का आवेश (आधिक्य) होता है। हे देव-देवेशि ! इस प्रकार के उत्सव में तीन प्रकार का जनसङ्क्षम होता है—पहला प्रिय लोगों की वासना वाला, दूसरा देवसगं, तीसरे गौतम ऋषि से अभिशप्त वनावटी हैं जिन्हें वैद्यालन् कहा जाता है।। ७४-७५।।

वासनासु रसावेशः शुद्धो नैवात्र संशयः। विवेषु देवतावेशो भगवत्त्रेमवत्स्विप्।। ७६॥

[प्रेम] वासना वाले जन समुदाय में निश्चित ही शुद्ध रस का आवेश होता है। भगवत् प्रेम से युक्त देवों के जन समुदाय में देवता का आवेश होता है।। ७६।।

> प्रेमहीना दुराचाराः परस्त्रीधनलम्पटाः। पिशुनाः वञ्चकाः क्रूराः कुटिलाः पाणचारिणः।। ७७ ।। साचाररहिता दृष्टा निर्लक्जाः कस्रहोत्सुकाः।

> आसुरं भावमापन्ना वेदशास्त्रार्थितन्दकाः ॥ ७८ ॥ ते वै वैडालिनो देवि ह्यधिकारविवर्जिताः । असुरावेशिणस्ते तु मयोक्तमवधायंताम् ॥ ७९ ॥

कुछ लोग जो प्रोम से रहित, दुराचारो, परस्त्री के लिए लोलुप, चुगलखोर, वर्ल्यक (घोखेवाज), क्रूर, टैढीबुद्धि के, पाप में रत, आचार से रहित, दुःट, लज्जार रहित, कलह के लिए उत्सुक एवं आसुरी प्रवृत्ति वाले वेदशास्त्र के निन्दक होते हैं वे वैडालिन कहे जाते हैं। हे देवि ! उत्सव के लिए वे अनिधकारी हैं। वे तो असुर प्रवृति से आवेशित होते हैं। यह मेरा कहना तुम मानों।। ७७-७९।।

जानीयात्तत्त्वावेशं तत्तच्चेष्टानुरूपतः।
इत्येतान् त्रिविधान् ज्ञात्वा महोत्सवगतान् शिवे ॥ ४० ॥
व्यवहायं यथायोग्यं सङ्करो न भवेद्यथा।
यथायोग्यं यथाकालं यथाद्रव्यं यथोचितम्॥ ८९ ॥
तथा कुर्यान्महेशानि हचन्यथा पतितो भवेत्।
इति तेऽभिहितं देवि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

तदहं ते प्रवक्ष्यामि सुगुह्यमि विस्तरात् ॥ ४३ ॥ ॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे सप्तविशं पटलम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार उन-उन के अच्छे बूरे भावावेश को जानकर उनकी चेष्टा के अनुरूप व्यवहार करें। हे शिवे ! महोत्सव में आए हुए इन तीन प्रकार के जन समुदाय को जानकर जैसा हो वैसा व्यवहार करें। इससे सभी अच्छे-बूरे का संकट नहीं होता है। यथायाग्य व्यक्ति के देशकाल के अनुसार, उचित द्रव्य के अनुसार ही व्यवहार करें। हे महेशानि ! इससे वह पतित नहीं होता है। हे देवि ! यह तो मैंने तुम्हें बतलाया है अब और क्या सुनना चाहती हो ? यदि वह गोपनीय भी हुआ तो मैं तुमसे उसे विस्तारपूर्वंक ही कहूँगा।। ६०८३।।

श इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और अगवान शङ्कर के सवाद के सत्ताईसवें पटल की डाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशं पटलम्

पार्वत्युवाच --

पुनर्ज्यू हि महादेव यथा स्याद्भजनोदयः। कं वा गुरुमुपासीत कथं ज्ञानोदयो भवेत्।। १।।

पार्वती ने कहा -

हे महादेव ! जिस प्रकार भक्त में भजन का उदय होवे, उसे पुनः कहें, और किस गुरु की उपासना करनी चाहिए और किस प्रकार ज्ञान का उदय होवे ? उसे मुझसे कहें ॥ १ ॥

शिव उवाच-

साधु पृष्टं त्वया भद्रे प्रवक्ष्यामि यथातथम्। गोपनीयं प्रयत्नेन दर्शयेन्नेव कस्यचित्॥२॥

शिव ने कहा-

है कल्याणि ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। जैसा ही मैं कहूँगा। इसका प्रयत्नपूर्वक गोपन करना चाहिए। [यदि कुछ ज्ञान भी हो तो कभी भी] उसका दिग्दर्शन जिस किसी से नहीं करना चाहिए॥ २॥

मायाग्रस्तिमद विश्वं नानादुःखभयातुरम्।
अनित्यभवसन्तापपरितप्त समन्ततः।।३।।
कालदण्डभुजङ्गेन ग्रस्तमानमहिनंशम्।
दृष्ट्वा विरक्तः सततं स्वात्मनः शिवहेतवे।।४।।
सद्गुरोः शरणं यायात् शुद्धभावेन भामिनि।
गुरवो बहवः सन्ति दीपवच्च गृहे गृहे।।५।।
दुर्लभा गुरवो देवि! सूर्यंवत्सवंदीपकाः।
गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।।६।।
विरला गुरवो देवि! शिष्यहत्तापहारकाः।

यह सम्पूर्ण विश्व [भगवान की मृष्ट] माया से ग्रस्त है। नाना प्रकार के दु:खों एवं भय से प्राणिमात्र आतुर है। इस अनित्य संसार के संतापों से चारो ओर छोग संतप्त हैं। काल रूपी सर्प द्वारा दिन-रात यह संसार ग्रसित है। यही देखकर सायक को इस माया से विरक्त होकर अपने हित की कामना से सदैव, हे भामिनि ! उसे गुढ़ भाव से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। यद्यपि, जसे घर-घर में दीप हैं, उसी प्रकार बहुत से गुरु संसार में हैं, किन्तु हे देवि ! सभी दीपकों को प्रकाश देने वाले सूर्य के समान गुरु दुर्लभ हैं। फिर शिष्यों के घन के लोलुप गुरुओं की तो कमी नहीं है। किन्तु शिष्य के चित्त के संताप का हरण करने वाले गुरु तो है देवि ! विरले ही होते हैं ॥ ३-७ ॥

शुद्धान्वयः शुद्धचेत्ताः शद्धवेशः शुभाकृतिः॥७॥ सद्गुरू के लक्षण

सद्गुर शुद्ध जाति का ही वक्ता होता है। उसका चित्त [मोह, लोम आदिः दोषों से रहित] शुद्ध होता है, उसका वेश [चटक-मटक वाला न होकर] सादाः होता है उसकी बाकृति देखने में शुभ होती है।। ७।।

> शुभवादी शुभाचारः शृद्धभावः शुचिः स्वयम्। वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो लोकसङ्गविविज्जितः॥ ৫॥

वह शुभ वचनों का ही बक्ता होता है [अपशब्दों का प्रयोग वह कभी भी नहीं करता है]। वह शुभ आचारबान, शुद्ध भावों वाला और स्वयं भी किय, मोह, लोभ आदि से रहित] शुद्ध होता है। वह वेद के एवं शास्त्रों के अर्थ के तत्व का जाता तथा लोकिक सङ्गतियों से रहित होता है।। ८।।

अलोलूपः सुशीलश्च दयादाक्षिण्यसंयुतः। त्यागी विरागी गुणवान् गृणज्ञः शिष्यवत्सलः।। ९ ॥

सद्गुरु लोलुपता से रहित, सुशील, दया एवं दाक्षिण्य' [उदार] आदि गुणों से युक्त होता है। वह त्यागी, विरामी तथा गुणवान और [अन्य लोगों के] गुणों का ज्ञाता तथा शिष्यों से स्नेह करने वाला होता है।। ९॥

येन केनापि सन्तुष्टः शरण्यः क्रोधवर्ज्जितः। स्वसिद्धान्तार्थतत्त्वज्ञो मितवाक् लोकवल्लभः ॥ ९०॥

सद्गुरु जिस किसी से भी सन्तुष्ट हो जाने वाला, शरण देने वाला तथा क्रोध से रहित, अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अर्थ के मर्म का जाता, मितभाषी शीरा सम्पूर्ण लोक का प्रिय होता है ॥ १० ॥

> पवित्रः संशयच्छेत्ता कृष्णप्रेमपरिष्लृतः। एवं विधं गुरुं ज्ञात्वा कृपापीयूषविषंणस्।। ११।।।

उदार व्यक्ति कुछ भी दान करने में हिचकिचाता नहीं है।

फलपुष्पादिहस्तश्च गच्छेदिभमुखं गुरोग। गुरोर्मन्दिरमासाद्य नत्वा तद्देहलीं प्रिये ॥ १२ ॥ आज्ञया सद्गुरोदंवि दक्षपाद पुरःसरम्। प्रविश्य तद्गृहं साज्ञाद्दण्डवत्प्रणमेच्च'तम्॥ १३ ॥

वह पवित्रात्मा, सन्देहों का निवारण करने वाला, तथा कृष्ण के प्रेम में मग्न रहने वाला होता है। इन प्रकार के कृपा रूपो अमृत की वर्षा करने वाले गुरु की जानकर उस गुरु के समीप [रिक्तहस्त न जाकर] फल एवं पुष्प आदि [माङ्गिलिक द्रव्यों] से परिपूर्ण होकर जाए। हे प्रिये! गुरु के घर पर पहुँचकर प्रथमत। उसके घर की देहली पर नमन करके सद्गुरु को आज्ञा से, हे देवि! पहले दाहिना पैर आगे रखते हुए उस गृह में प्रवेश कर उनको साक्षान् दण्डवन् प्रणाम करे॥ ११-१३॥

> भो नाथकदणासिन्छो संसारार्णवतारक । भ्रान्तं संसारगहने नानातापसमाकुले । १४ ॥ अत्यन्तदीनहृदयं सर्वसाधनवजितम् । अज्ञानपङ्किनर्मग्नं मामुद्धर दयानिश्चे ॥ १५ ॥

है.स्वामी ! करुणा के सिन्धु ! हे संसार रूपी समुद्र से पार उतारने वाले ! इस संसार रूपी गहन वन में हम [विषयों में] भटके हुए हैं। यह संसार नाना प्रकार के दु:ख रूप संताप से व्याकुल है। अतः, हे दया के निधान ! मुझ अत्यन्त दीन हृदय तथा सभी साधनों से रहित एवं अज्ञान रूपी कीचड़ में डूबे हुए मेरा इससे उद्धार करिए। इस प्रकार गुरु से प्रार्थना करना चाहिए॥ १४-१५॥

> अहं त्वां ज्ञरणं प्राप्तः ज्ञरण्यस्त्वं दयानिधिः । अविलम्बेन संसारविच्छेदं कुरु मे प्रभो ।। ९६ ।

मैं अब आपकी शरण में आ गया है और अब जाप दया के निधान मेरे शरण दाता हैं। हे प्रभो ! आप, अविलम्ब मेरे सौसारिक दु:खों का विच्छेद करिए ॥ १६॥

एवं सम्प्रार्थितः सोऽघ गुरुनाथः कृपानिधिः।
पूर्वं परीक्षितं विप्रं वर्षेणैकेन सुन्दरिः। १७ ।।
इस प्रकार से प्रार्थना करने वाले ब्राह्मण साबक की, हे सुन्दरिः! पहले एक
वर्षे तक वे कृपा के निघान गुरु परीक्षा करें।। १७ ॥

^{🐍 &#}x27;तत्' इत्यपि पाठः ।

वर्षाभ्यां क्षत्रियं देवि वैश्यं संवत्सरैस्त्रिभा। चतुर्भिवंत्सरैः शूद्र बोधयेद्विरहातुरम् ॥ १४ ॥

यदि प्रार्थना करने वाला सामक क्षत्रिय हो तो दो वर्ष तक और हे देवि ! यदि वैश्य हो तो तीन वर्ष तक और यदि शूद्र हो तो चार वर्षों तक उस विरह से आतुर सामक को उद्बोधित करें।। १८ ।।

> यदिचेद्वासनाजीवस्तदा बोध्यश्च सर्वथा। स्वाप्निकश्चेत्तदा त्याज्यः अधिकारविपर्ययात् ॥ १९॥

यदि साधक अधिक वासना युक्त हो तो ज्ञान द्वारा उसका सर्वथा उद्बोधन करना चाहिए। यदि वह स्विष्तिक [दिन में स्वप्त देखने वाला] जीव हावे तो अधिकारी न होने से उसका त्याग कर देना चाहिए॥ १९॥

> परीक्षा लक्षणैदेवि पुरा प्रोक्ता मयानघे। अपरीक्षितजीवाय ।वितरेद्यदि बोधनम्।। २०॥ न गुरु तं विजानीयात् वासनापि न सा भवेत्। शिष्येभ्यो धनमादाय सुखीस्यामिति यस्य धीः॥ २९॥

हे अन्मे (निष्पाप) देवि ! मेरे द्वारा पहले परीक्षा के लक्षणों का विवेचन कर दिया गया है। बिना परीक्षा किए हुए साम्रक को यदि गुरु उद्बोधित करने लगे तो उसे कभी भी गुरु नहीं समझना चाहिए। उस गुरु की मनोकामना भी ठीक नहीं होती है। केवल शिष्यों से धन लेकर 'मैं सुखो हो जाऊँ'-ऐसी ही उसकी बुद्धि होती है। २०-२१॥

न गुरुं तं विजानीयात् केवलं धूर्त एव सः। धनाहारार्जने युक्ता दास्भिका वेषधारिणः॥२२॥

ऐसे [घन लोभी] को कभी भी गुरु नहीं बनना चाहिए वह तो केवल घृर्त ही होता है। ऐसे व्यक्ति घन के अपहरण करने में आसक्त और [मात्र गुरु का] वेषः घारण करने वाले दम्भी पुरुष होते हैं॥ २२॥

भ्रामयन्ति जनान् सर्वान् ज्ञानिवित्प्रयदर्शनाः। शिष्येणापि गुरुर्देवि परीक्ष्यः सर्वथैव हि ॥ २३ ॥

ज्ञानी के समान प्रिय दिखलाई देने वाले वे सभी लोगों की. भ्रमित करते रहते हैं। अतः हे देवि ! शिष्य के द्वारा भी सम्यक् रूप से गुरु की परीक्षा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

यद्यज्ञानवशात् शिष्यो गुरु लक्षणवर्जितम् । जानीयात्तत्क्षणं त्यक्त्वा गुरुमन्यं समाश्रयेत् ॥ २४ ॥

यदि अज्ञान के कारण शिष्य गुरु को अपेक्षित लक्षणों से रहित जान ले तो -तस्काल ही उसका त्याग करके अन्य गुरु की गरण में जाना चाहिए।। २४।।

गन्धल्ब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्। ज्ञानल्ब्धस्तथा शिष्यो गुरोग् वन्तरं व्रजेत्। २५॥

सुगन्ध का लोभी अमर जैसे एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता रहता है उसी अकार ज्ञान के लोभी शिष्य को एक गुष्ठ को छोड़कर दूसरे गुष्ठ के पास निःसंको स्व चले जाना चाहिए ॥ २५ ॥

त्यजेन्मित्रमममंज्ञं नारीं च व्यभिचारिणीम्।
अहन्तादुष्टसम्बन्धं ज्ञानहीनं गुर्छं त्यजेत् ॥ २६ ॥
ममं को न समझने वाले मित्र को तथा व्यभिचारिणी नारी को छोड़ देना
चाहिए। अहंकारी दुष्ट से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानहीन गुरु का तत्क्षण त्याग कर

नदत्सु पञ्चवाद्येषु ब्राह्मणेषु पठत्सु च। गायन्तीषु तथा स्त्रीषु शिष्यं सम्बोधयेद् गुरुः ॥ २७ ॥

दीक्षा की विधि-

पाँच प्रकार के बाद्य के बजते रहने पर, ब्राह्मणों के [वेद] पाठ करते रहने पर तथा स्त्रियों के गायन में संस्थान रहने पर गुरु को चाहिए कि शिष्य को सम्बोधित करे [इससे शिष्य के मन की एकाग्रता की परीक्षा होती है] ॥ २७ ॥

> आदी शिष्यस्य देहं तु शोधयेन्निपुणो गुरुः। असंस्कृतशरीरस्तु न योग्यः स्यात्कथंचन॥२८॥

इस प्रकार निपुण गुरु पहले शिष्य के शरीर का शोधन करे। क्योंकि अधुट एवं असंस्कृत (= संस्कार रहित) शरीर कभी भी तस्वज्ञान के योग्य नहीं होता ।। २८ ॥

> कृतस्नानं समाहूय मुखाग्ने स्थापयेच्च तम् । शुभासनक्ष्वेतवस्त्रवसानं मलवर्जितम् ॥ २९ ॥

स्नान किए हुए भक्त साधक को बुलाकर उसको सम्मुख स्थापित करे। शुभ आसन और निर्मल खेत वस्त्र उसे पहने रहना चाहिए।। २९॥ बोधयेत्तद्धृदाम्भोजे प्रदीपकांश्वकाकृतिः। आत्मचैतन्यमीशानि तच्च स्वात्मिन योजयेत्॥ ३०॥

उसके हृत्कमल में खिली हुई कलिका की आकृति वाले आत्म चैतन्य को उद्बोधित करना चाहिए और हे ईशानि ! उसे अपने (हृत्कमल के) संयुक्त भो करे ॥ ३० ॥

> ततोऽस्यपदयुगले भृवनानि चतुर्दश । लिङ्कप्रदेशेऽस्य भृतानि चिन्तयेत्परमेश्वरि ॥ ३९ ॥

इसके बाद इसके दोनों चरणों में चीदहों मुबनों का और लिंग प्रदेश में सभी भूतों का, हे परमेश्वरि ! उसे चिन्तन करना चाहिय ।। ३१ ।।

> अवशिष्टानि तत्त्वानि चिन्तयेद्धृदयाम्बुजे । कण्ठदेशे नादविन्दुगुणांश्च परिचिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

अविशाष्ट तस्त्रों का चिन्तन उसके हृत्कमल में उसे करना चाहिए और कण्ठ प्रदेश में [ॐ के] नाद एवं बिन्दु तथा गुणों का चिन्तन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे पर ब्रह्म पुरुषं प्रकृतीक्वरम् । एवं संचिन्त्य देवेका जुहुयात्तान्यनुक्रमात् ॥ ३३ ॥

प्रकृति के ईश्वर पुरुष का और परब्रह्म का चिन्तन उसे ब्रह्मरन्ध्र में करना चाहिए। इस प्रकार से, हे देवेशि ! उन-उन तत्त्वों का चिन्तन करके क्रमानुसार यजन करे ॥ ३३ ॥

जुहुयाल्ळिञ्जदेशेस्य भुवनानि चतुर्देश ।
लिञ्जदेशस्थभूतानि हृदितत्वेषु होमयेत् ॥ ३४ ॥
चतुर्देश भुवनों का इसके लिञ्ज देश में यजन करे । किन्तु लिञ्जदेशस्य भूतौँ
का हवन हृदय के तस्वों में करना चाहिए ॥ ३४ ॥

'हृदयस्थानि तत्वानि बिन्दुनादे च ह्यपंयेत्। . ब्रह्मरन्ध्रे चिते देवि परब्रह्मणि निष्कले ॥ ३५॥ हृदयस्थ तत्त्वों को बिन्दु और नाद (ॐ) में अपंण करे। हे देवि ! निष्फल परब्रह्म को ब्रह्मरन्ध्र तथा चित्त में अपित करे॥ ३५॥

> नादिबन्दुगुणान् हुत्वा प्रपञ्चिवलयं स्मरेत्। निष्प्रपञ्चं तदा शिष्य बोधयेत्परमेश्वरि । ३६ ॥

रै. 'हुदये यानि' इति वा पाठः ।

इस प्रकार नाद, बिन्दु एवं गुणों का हवन करके सभी प्रपन्न का अब [इसी शरीर में] विलय हो गया है यह भावना करे। तब, हे परमेश्वरि! उस निष्प्रपन्न शिष्य को [शुद्ध करके] उदबोधित करे।। ३६॥

न वर्णेषु तदा किवत् ब्राह्मणक्षत्रियादिषु।
न देवोऽसि न गन्धर्वो नासुरः पन्नगोऽपि वा।। ३७॥
न त्वं देहो न त्वद्दहो नेन्द्रियाणि तथा मनः।
न च प्राणो न बुद्धिस्त्व नाहङ्कारो भवान्मतः।। ३८॥
क्षरः सर्वप्रपञ्चोऽयमक्षरे प्रतिबिम्बतः।
क्षक्षरस्य दिदृक्षाभूद् ब्रह्मलीलावलोकने।। ३९॥
तित्रयायाऽभवत्कामोऽक्षरलीलानिरीक्षणे ।
तत इच्छा समुद्भूता ब्रह्मण्यज्ञानमसृजत्।। ४०॥

उद्बोघन प्रक्रिया-

वह [निष्प्रपञ्च शिष्य] ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि वर्णों में से कोई भी नहीं है।
[उसकी आत्मा तो परमात्मा से एकीकृत है। अतः गुरु उससे कहे कि। न तो तुम देव हो, न गन्धवं, न असुर अथवा सर्प भी तुम नहीं हो। न तुम शरीर हो और न तो तुमसे शरीर है और इन्द्रियाँ या मन भी तुमसे [उद्भूत] नहीं हैं। न तो तुम प्राण हो, न तुम बृद्धि हो और न अहङ्कार ही हो। यह सम्पूर्ण [इन्द्रिय, मन आदि] प्रपञ्च क्षर [विनाशी] है जो अक्षर [अविनाशी रूपो में प्रतिबिन्धित होता है [अर्थात् सत्य रूप से प्रतिभासित होता है किन्तु है वह असत्य]। वह जो अक्षर (अविनाशी आत्मा) है उसकी यह इच्छा होती है कि मैं ब्रह्म की लीला (रूप असत्य ससार) का अवलोकन कर्य । उस अक्षर (ब्रह्म) की लीला के निरीक्षण में उस (आत्मा) का प्रिय काम उत्पन्न होता है। उस (काम) से इच्छा उत्पन्न होती है जो ब्रह्म (रूप शरोर) में अज्ञान का मुजन करती है।। ३७-४०।।

मोहाण्डं प्रविशन् साक्षी ददर्श स्वप्नगं जगत्।
तत्र बृन्दावने रासलीलायां रमिता प्रिया।। ४९ ।।
अन्तिहिते प्रिये कृष्णे दुःखाद्दुःखतरं गता।
कालमायान्धकारोऽस्मिन् भ्रान्तासि बहुधा मुधा।। ४२ ।।
श्रीकृष्णस्य प्रिया चासि पूर्णस्य परमात्मनः।
उद्बुष्टय स्वप्नतश्चित्ते प्रियाभावं निजंश्रय।। ४३ ॥
'तिरोभूय च शनकैमोयादेहमनीप्सितम्।
सरं चैवाक्षरं हित्ता स्वप्ति पुनरेष्यसि।। ४४ ।।

तिरोभवित्री शनकैमियादेहिमित्यपि पाठ। ।

वह (ब्रह्म रूप आत्मा) मोह के (शरीर रूप) अण्ड में प्रविष्ट होकर साक्षी रूप से इस स्विष्तल संसार को देखती रहती है। वहाँ वृत्वावन में रास-लीला में रमी हुई प्रिया प्रिय कृष्ण के छिप जाने (अन्तिहित हो जाने) से वह (आत्मा) दुःख से भी दुःखतर संसार में पड़ जाती है। वह इस काल रूप माया के अन्वकार (रूप जगत्) में बारम्बार असत्य रूप से भ्रमित होती रहती है। (अतः गुरु कहते हैं कि) तुम पूर्ण आत्मा पूर्ण परमात्मा श्री कृष्ण की प्रिया हो। अतः तुम स्वप्त से जग कर उठो और अपने प्रिया भाव को पुनः प्राप्त करो। इस (असत्य संसार) को धीरे-धीरे भूलकर तुम बेकार में इस माया रूप देह में पड़े हो। अतः अक्षर (ब्रह्म रूप आत्मा) कर (शरीर) को छोड़कर पुनः अपने स्वामी परमात्मा को प्राप्त करेगा। ४१-४४।

'बह्मानन्दरसज्ञानां ब्रह्मज्ञानवतां सताम् । पद्धति ब्रह्मसृष्टीनां वक्ष्यामि श्रृणु सुन्दरि ॥ ४५ ॥

अब साधक के लिए पुरुषोत्तम-पद्धति को कहते हैं। शिष्य अब मन में निम्न प्रकार से सद्गुरु में ही ब्रह्म की भावना करें]

ब्रह्मानन्द रस के ज्ञाताओं के लिए और सज्जन ब्रह्मज्ञानियों के लिए ब्रह्म से मुख्ट पद्धति को कहता हूँ, हे सुन्दिश ! सुनो ॥ ४५ ॥

> गोत्रमुक्तं चिदानन्दं ब्रह्मानन्दो हि सद्गुरुः। शिखा ज्ञानमयो प्रोक्ता सूत्रमक्षररूपकम्।।४६॥

चिदानन्द की पहचान हमने बताई है। वस्तुतः सद्गुरु ही ब्रह्मानन्द स्वरूप है। उनको शिखा (=ॐचाई) ज्ञानमय कही गई है। उनका सूत्र अक्षर रूप [परब्रह्म] है ॥ ४६॥

> किशोरी परमेष्टा च सेवनं पौरुषोत्तमम् । पातिव्रत्यमनन्यत्वं साघनं समुदाहृतम् ॥ ४७ ॥

किशोरी [राघाजी]. परम ईन्ट का सेवन और पुरुषोत्तमत्व भाव पातिव्रत्य [ब्रह्मचर्य] और अनन्यत्व दूसरे में आसिक्त न होना ही [ज्ञानमार्ग का] साधन कहा गया है ॥ ४७ ॥

वृन्दावनं नित्यमुक्तं विलाससुखसञ्ज्ञकम् । जाप्यं च युगलं नाम तारतम्यो (मो) मनुः स्मृतः ॥ ४४ ॥

क्वचित्पुस्तके ४४-५५ श्लोकयोर्मंच्ये एते ४५-५४ श्लोका नोपलभ्यन्ते ।
 १८ मा०

विलास-सुख नामक वृन्दावन नित्य कहा गया है। [राधा-कृष्ण का] युगल नाम तारतम्य पूर्वक जप करना हो मन्त्र कहा गया है।। ४८॥

> ब्रह्मविद्या परा देवी देवो ब्रह्म सनातनम्। शाला गोलाक इत्युक्तो द्वारमूर्ध्वमुदाहृतम्॥ ४९॥

हे देवि ! ब्रह्मविद्या ही परा [विद्या] है और ब्रह्म ही सनातन [= शास्वत] है। गोलोक ही इस [परब्रह्म का] गृह [= शाला] कहा गया है। ब्रह्म के घर] का द्वार ऊर्घ्व बतलाया गया है।। ४९॥

'स्वसंवेद: समादिष्टः फलं नित्यविहारकम्। दिव्यब्रह्मपुरं धाम परात्परमुदाहृतम्॥ ५०॥

कात्मसाक्षात्कार और नित्य [लीला] में विहार ही इस ब्रह्मविद्या का फल कहा है। दिव्य एवं परात्पर ब्रह्मपुर को ही इस [विद्या] का धाम कहा गया है।। ५०॥

> सदगुरोश्चरणं क्षेत्रं सर्वशृद्धिकरं परम्। यमुनासञ्ज्ञकं तीर्थं मननं प्रेमलक्षणस्।।५९॥

सद्गुरुका चरण ही इस ज्ञान का क्षेत्र है जो सभी [इन्द्रियों] को शुद्ध करने वाला एवं श्रेष्ठ है। इस ज्ञान का तीर्थ [घाट] यमुना नामक है। प्रेम रूप भावना ही मनन है।। ५१।।

> श्रीमद्भागवतं प्रोक्तं श्रवणं सारमद्भतम्। ऋषिः प्रोक्तो महाविष्णुर्ज्ञानं जाग्रत्स्वरूपकम्।। ५२।।

यह ज्ञान श्रीमद्भागवत प्रोक्त है। इसके सार का श्रवण अद्भुत है। यहीं ऋषिप्रोक्त महाविष्णु का ज्ञान जाग्रत् स्वरूप है जिसे शिष्य को ग्रहण करना चाहिए।। ५२।।

आनन्दारूयं कुलं प्राप्तं नित्ये धाम्नि प्रकीतितम् । सम्प्रदायश्चिदानन्दो निजानन्दैः प्रकाशितः ॥ ५३ ॥

वह शिष्य आनन्दाख्य शरीर को प्राप्त करता है और यह नित्य धाम में रहता है। अपने हो [आत्मसाक्षात्कार से] आनन्द के द्वारा यह चिदानन्द सम्प्रदाय को प्रकाशित करता है।। ५३॥

> एवं पद्धतिराख्याता पुरुषोत्तमसञ्ज्ञिका। वर्तितव्यं ततो भद्रे साधनैरात्मलब्धये॥ ५४॥

सुसंवेदा, सूक्ष्मो वेदः, इत्यपि पाठा । स्वसंवेद्या' इत्यपि कश्चित् ।

इस प्रकार यह [ज्ञान प्राप्त करने की] पुरुषोत्तम नामक पद्धति विद्वानों द्वारा कही गई है। इसलिए हे कल्याणि ! आत्मसाक्षात्कार [जहाँ से आत्मा आई है उस परम धाम का ज्ञान] इन साधनों से साधक को ज्ञान लेना चाहिए ॥ ५४॥

> ^९प्रबोध्यैवं गुरुस्तस्मिन् चैतन्यं परमेश्वरि । दिव्यदृष्टचावलोकेन स्थापयेत्पुनरेव तत् ॥ ५५ ॥

हे परमेश्वरि ! इस प्रकार से गुरु उस शिष्य में [आत्मा के | के चैतन्य को जगाता है। इस दिन्य इष्टि के अवलोकन द्वारा वह पुनः उस [आत्मा] का [अपने सत्यरूप में जागृत कर] स्थापित करे।। ५५॥

ब्रह्मरन्ध्रपथा तस्मिन् चावतीणं इति स्मरन्। कण्ठदेशे नादबिन्दू स्थापयेच्च ततः परम्।।५६।।

यह स्मरण करे कि वह ब्रह्मज्ञान उसके ब्रह्मरन्द्र [= ब्रिंग में शिखा स्थान पर एक रन्द्र] से उसमें अवतीर्ण हो गया है। तब उसके बाद कण्ठ प्रदेश में नाद एवं बिन्दु [= 35] को साधक [हृत्कमल में] स्थापित करे॥ ५६॥

तत्वानि हृदयाम्भोजे लिङ्गे भूतानि पश्व च। ततः पादप्रदेशे तु स्थापयेद्भवनावलिम् ॥ ५७ ॥

[अपने] हत्कमल में सभी तत्त्वों को और पञ्चभूतों को लिङ्ग में स्थापित करे। उसके बाद [अपने] पाद प्रदेश में [चौदहों] भुवनों की श्रृङ्खला को स्थापित करे॥ ५७॥

एवं विराजं संस्कृत्य ततो मन्त्रं समादिशेत्। मन्त्रोपदेशतः पूर्वं गुरुं सम्पूजयेतिप्रये।। ५७ ॥

इस प्रकार शरीर [के आध्यात्मिक सीन्दर्य] को संस्कृत [सजा] कर तब मन्त्र का उपदेश करे। हे प्रिये! मन्त्रोपदेश से पहले गुरु की पूजा करनी चाहिए ॥ ५८ ॥

सर्वस्वदक्षिणां दत्वा कृतकृत्यो भवेष्द्व सः। तदर्द्धं वा तदर्धं वा तदर्द्धार्द्धमथापि वा। ५९॥

वह साधक इस गुरु पूजा में अपना सर्वस्व देकर कृतकृत्य होवे। या अपने धन का आधा अथवा उस [आधे] का भी आधा, किंवा उस आधे का भी आधा गुरु को समर्पित करे।। ५९॥

सन्तोषयेद् गुरुं भक्त्या धनधान्याम्बरादिभिः। अन्येभ्योऽपि यथाशक्ति भूषावस्त्रादिक ददेत् । ६०॥ मित पूर्वक गुरुको घन, घान्य एवं वस्त्र आदि से सन्तुष्ट करे। यथाशक्ति सन्य द्रव्य आमूषण एवं वस्त्र आदि भी उसे समर्पित करे।। ६०॥

> साष्टाङ्गं च ततो देवि ! दण्डवत्पतितो भुवि । प्रणमेद् गुरुमातमीयं गुरुषत्थापयेच्च तम् ॥ ६९ ॥

है देनि ! इसके बाद पृथ्वी पर गिरकर अपने गुरु को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे और गुरु उसे उठावे ॥ ६१ ॥

> उपवेश्य पुनः पाश्वें लीलाभेदान् समादिशेत्। लीलाभेदा गुरुमुखाद्बोद्धव्या एव सुन्दरि॥ ६२॥

पुन। अपने पास बैठाकर कृष्ण के लीला-भेदों का उसे उपदेश करे। हे सुन्दरि ! भगवान् कृष्ण की [रक्षा लीला, प्रेमलीला आदि] लीला भेदों को गुरुमुख से ही जानना घाहिए ॥ ६२ ॥

> ततो रहो रहश्चैव संस्थितो भावयेच्च तान्। प्रियाभावो यदा बुद्धेः कृतकृत्यो भवेत्तदा। ६३।।

इसके बाद एकान्त में शान्त होकर संस्थित चित्त से उन लीलाओं की मन में भावना [==चिन्तन] करे। जब प्रिमलीला का चिन्तन करते-करते] बुद्धि में प्रिया का भाव जाग्रत हो जाय, तब अपने को कृत-कृत्य समझे ॥ ६३॥

> इति तेऽभिहितं देवि गोप्याद्गोप्यतरं च यत्। समासेन महादेवि ! भूयः कि श्रोतुमिच्छसि ॥ ६४ ॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती॰
 संवादे अष्टाविंशतितमं पटलम् ॥ २४ ॥

है देवि ! इस गुप्त से भी गुप्त ज्ञान को संक्षेप में मैने तुमसे कहा है । है महादेवि ! तुम फिर क्या सुनना चाहती हो ? ॥ ६४ ॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाखरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्रु' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शब्द्धर के संवाद के अट्ठाईसर्वे पटल की डॉ० सुधाकर मालवीयकृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २८ ॥

अथ एकोनित्रशं पटलम्

पार्वत्युवाच--

ब्रूहि तं च महेशान् मन्त्रराजं महेश्वर। यस्य श्रवणमात्रेण सर्वमन्त्रफलं भवेत्।। १।।

पार्वती ने कहा-

हे महेशान, हे महेश्वर उस मन्त्रराज को आप हमसे कहें जिनके अवणमात्र से ही सभी मन्त्रों का फल प्राप्त हो जाय ॥ १ ॥

श्रीमहादेव उवाच-

देवेशि मन्त्रराजोऽयं भाति गोप्यतरो महान्। पातकानि प्रलीयन्ते सकृद्यस्य जपादपि॥२॥

श्री महादेव ने कहा-

हे देवेशि, यह मन्त्रराज अत्यन्त गोपनीय और महान् है। जिसका एक बार भी जप कर लेने से अनेक पाप नष्ट हो जाते हैं।। २।।

> सप्तकोटिमहामन्त्रास्तवाग्रे **कथिता मया।** तेषु श्रीकृष्णमन्त्राश्च बहवः कीत्तितास्तव ॥ ३ ॥

मेरे द्वारा सात कोठि महामन्त्र तुम्हारे सामने कहे गए। उनमें से श्रीकृष्ण के मन्त्रों का तुमने वहुत प्रकार से यश कीर्तित किया है।। ३।।

रासलीलाप्रविष्टस्य पुरा गोपालक्ष्पिण। । प्रोक्ता मन्त्रा महेशानि तत्रायं गोपितो मया ॥ ४ ॥ रहस्यत्त्वान्मया नोक्तः पुनस्तं परिपृच्छिति । स्वयापि गोपितव्योऽयं न देयः स्यात्कथवन ॥ ५ ॥

गोपाल रूप में पहले रासलीला में प्रविष्ठ गोपाल के मन्त्रों को, है महेशानि ! हमने कहा जो मेरे द्वारा वहाँ छिपाया गया था। मैंने गोपनीय होने से उसे नहीं कहा था। उसे पुन: तुम पूँछ यही हो। अतः तुम्हें भी उसका गोपन करना चाहिए। किसी भी प्रकार से इसे किसी को नहीं देना चाहिए।। ४-५॥

१. 'मया' इ० पा०।

लेखयित्त्वा ददेन्मन्त्रं न वाचोपदिशेरिप्रये। ब्रह्महत्यासहस्राणां दत्त्वा पापमवाप्नुयात्।। ६।।

[यदि किसी को देना भी हो तो] लिखकर ही मन्त्र को दे दे। किन्तु है प्रिये! वाणी से उसका उपदेश न करे। देने से वह सहस्र ब्रह्महत्या के पाप की प्राप्त करता है ॥ ६॥

> निर्घारत्वे वासनाया यदि प्रेमोद्गमो भवेत्। तदैवोपदिशेद्देवि ह्यन्यथा कृष्णघातकः।। ७।।

उत्कट वासना का बिद प्रेमोद्गम होवे तो हे देवि ! तभी [वाणी से] उपदेश करें। नहीं तो उपदेश करने वाला कृष्णवातक ही होता है।। ७।।

> विधिः सर्वोऽपि कर्त्तंव्यो मन्त्रदानं विना प्रिये । ततः परीक्षिते काले योग्यत्वे मन्त्रमादिशेत् ॥ ८ ॥

मन्त्रदान की सम्पूर्ण विधि भी करे। हे प्रिये ! फिर समय की परीक्षा करके योग्य व्यक्ति को ही मन्त्र का उपदेश करे।। ८।।

श्रुणु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि सावधानेन चेतसा।
स्वरं आद्यश्चतुर्थंश्च आकाशस्तदनन्तरम्।। ९।।
वायुबीजं ततः पश्चात् अग्निबीजमतः परम्।
ततो वरुणबीजन्त्र भूबीजं स्यात्ततः परम्।। १०।।

सावधान चित्त से सुनो, अब मैं मन्त्र कहता हूँ—पहला स्वर (आ) और चतुर्थं स्वर (ई) अक्षर स्वर है। इसके बाद आकाश है। इस प्रकार 'आकाशोऽहम्' यह (क्योमवीज) है। उसके बाद वायुबीज है, उसके बाद अग्निबीज है। उसके बाद वरुणबीज है। उसके बाद मू बीज है। ९-१०॥

श्रीकृष्ण परमानन्द ते प्रियास्मीति वै वदेत्। मामङ्गीकुर्विति चोक्त्वा दर्शयेति द्वयं वदेत्।। ११।।

'है श्रीकृष्ण ! परम आनन्द को देने वाले ! मैं आपको प्रिया हूँ' इस प्रकार कहे । 'मुझे अङ्गीकार करो' इस प्रकार कहकर दर्शय दर्शय' दिखाओ दिखाओं ऐसा दो बार कहे ॥ ११ ॥

१. 'परिणते' इ० पा०।

२. आखा स्वरोऽकारः, चतुर्थंश्च दीघँ इकारोऽधँमात्रविन्दुयोगेन, आकाशोऽहमिति व्योमबीजम् ।

प्रबोधयेति द्वितीयं मोहेति च ततो वदेत्। मपाकुरुद्वयं चोक्त्वा ममोन्तोऽयं महामनुः॥ १२॥

इसके द्वितीय शब्द प्रबोधय 'जगाओ' और इसके बाद 'मेरे मोह को हटाओ' इस प्रकार कहकर 'आपको नमस्कार है' — ऐसा अन्त में कहे।। १२।।

एकोनैकोनपञ्चाशद्वर्णैः सङ्घटितः प्रिये। आद्यबीज महेशानि परमात्माक्षरः प्रमुः॥ १३॥

हे प्रिये ! हे महेशानि ! परमात्मा अक्षर प्रभु के आद्य बीज की ४९-४९ वर्णी से संघटित करके कहे ॥ १३ ॥ ११ कि १५ वर्णी

तस्मात्सृष्टिवंर्णमयी हकारान्ताविज्ञिश्वता । प्रतिलोगलय तस्याः स एव परिशिष्यते ॥ १४ ॥

इसोलिए यह सृष्टि अन्त में हकार से विजृम्भित वर्णमय कही गई है। उस सृष्टि के प्रतिलोम ज्य के बाद वही शेष रहता है।। १४।।

अनन्तत्वादात्मतत्वाद् व्यापकत्वान्महेरवरि । न तस्यास्ति लयः क्वापि वर्णानामात्मनः प्रिये ॥ १५॥

हे महेश्वरि ! अन्तम तस्त्व के व्यापक और अनन्त होने से उस वर्णात्मक आत्मा का लय कभो भी, हे प्रिये ! नहीं होता है ॥ १५ ॥

स्वरञ्चतृर्थस्तन्माया हच्पर्यङ्कुरतां गता। ततो ज्ञानहरादेवि जाता सा विश्वमोहिनी॥ १६।

जो चतुर्थस्वर (ई) है वह माया है क्योंकि ऊपर में वही अङ्कुरत्व को प्राप्त होती है। वह माया, फिर, हे देवि! ज्ञान को हर लेने वाली होती हैं और वही विश्व को मोह लेती है।। १६॥

मध्यबिन्दुसमायोगाच्छून्यरूपा हि साभवत्। ज्ञून्यत्त्वेधस्तना रेखा जगदङकुररूपिणी।। १७ ।।

किन्तु वह मध्य बिन्दु के समायोग से शून्य रूप हो जाती है। जगत्-अङ्कुर रूप से यही शून्यत्व अधस्तना रेखा है।। १७॥

अर्द्धविन्दुसमायोगाद्योगमायात्मिका हि सा। एवं त्रितययोगेन ज्ञेयं तस्या गृणत्रयम्।। १७।।

वही माया अर्घीबन्दु के समायोग से योगमायात्मिका-माया हो जाती है। इस प्रकार तीनों के योग से उसे गुणत्रय वाली जानना चाहिए ॥ १८ ॥ प्रतिबिम्बवदाभासं निर्मले परमात्मिन । यदा समरसाकारा विश्वयोनिस्तदा हि सा ॥ १९॥

निर्मंल परमात्मा में वह प्रतिबिम्ब के समान आभासित होती है। जब षह 'सम-रस' आकार वाली होती है, तब वह विश्व को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १९ ॥

> कोणत्रयसमायोगा ब्रह्मादित्रितयात्मिका । लोकत्रयात्मिका चैव तथा वेदत्रयात्मिका । २०॥

कोणत्रय के समायोग से वह ब्रह्मादि रूप से त्रयात्मिका, लोक त्रयात्मिका तथा वेदत्रयात्मिका है।। २०॥

> इच्छाजानक्रियात्मा च कालत्रितयरूपिणी। अग्निसोमार्करूपा च सर्वत्रितयरूपिणी।। २१॥

इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक रूप से वह कालत्रयरूपिणी है। वही अग्नि, चन्द्र और सूर्यं रूप होने से सम्पूर्ण रूप से तयात्मिका है।। २१।।

अधोमुखा हि सा ज्ञेयावतरन्ती परात्मनः। यदा चोध्वेमुखी भूयाद्वह्मिज्वालेव सा लये।। २२।

परम आत्मा से जब वह अवतरित होती है तो उसे अघोमुख जानना चाहिए और जब वह ऊर्घ्वमुखी होए तो प्रलय की अग्नि की ज्वाला के समान होती है ॥ २२॥

शून्यत्वेऽबस्तना रेखा जगदङ्कुररूपिणी।
यदेव च महत्तत्त्वमित्याहुस्तन्त्रवादिनः। २३।।
अहङ्कारस्तु रेखान्तस्तद्गुणोपाधिसङ्गतः।
अतिधः स तु विज्ञेयस्तस्माद्भूतानि जज्ञिरे।। २४॥

शून्य में वह जगदङ्कुर रूप से अधस्तन रेखा होती है। तन्त्र के ज्ञाता विद्वान् उसी को 'महत्-तत्त्व' कहते हैं और उसकी गुणोपाधि से सङ्कत होकर रेखा के अन्तस्तल में विद्यमान होने से उसे 'अहङ्कार कहते हैं। इस प्रकार वह त्रिक्धि रूप से जानो जाती है। जिससे समस्त प्राणिजात की उत्पत्ति होती है।। २३-२४॥

तद्वाचकान्यक्षराणि हकारादोनि पञ्च च। पुरतस्तानि दृश्यन्ते मन्त्रराजे महेश्वरि॥ २५॥

१. 'भात' इ० पा०।

२. 'अग्निष्टामार्क' इ० पा०।

उसके वाचक हकार आदि (ह य व र ल) पाँच अक्षर होते हैं। उस मन्त्रयाज के सामने, हे महैश्वरि वे रहते हैं॥ २५॥

आकाशस्तु हकारस्यो देवता तु सदाशिव।।
गुणः शब्दस्तथा श्रोत्रं श्रोतव्या दिक् च सुन्दरि ॥ २६ ॥
आकाश हकारस्य हैं और देवता सदाशिव हैं उसका गुण शब्द है और हे
सुन्दरि! उसे कानों से और दिशाओं में सुना जाता है ॥ २६ ॥

यकारे देवदेवेशि वायुरीश्वर एव च।
स्पर्शस्त्विगिन्द्रियं देवि स्पृष्टव्यं च महीरुहम्।। २७॥
हे देवदेवेशि ! यकार वायु है जो ईश्वर ही है। हे देवि ! स्पर्शं त्वक् इन्द्रिय है जो वृक्षों के हिलने डुलने रूप स्पर्शं से जाना जाता है।। २७॥

रकारेऽग्निरह देवि रूपं चक्षू रविस्तथा। दृष्टव्यं चेति विज्ञेयं मञ्जूषामणिवत्तथा॥ २८॥ और, मैं रकार रूप अग्नि हैं। हे देवि रूप को जानने के लिए चक्षु इन्द्रिय सूर्य हैं। मञ्जूषामणि के समान इस इन्द्रिय से जानना चाहिए और देखना बाहिए॥ २८॥

वकारे सिललं विष्ण रसश्च रसनेन्द्रियम्।
रिसत्वयं च वरुणो देवता चेति सिस्थिता । २९॥
वकार जलरूप है और विष्णु भगवान रस रूप है जिन्हें रसनेन्द्रिय से जानना
चाहिए और उसके देवता वरुण हैं॥ २९॥

लकारे पृथिवीतत्वं ब्रह्मा गन्धक्व नासिका। झातव्यमिक्विनो देवि देवता चेति सस्थिता॥ ३०॥ लकार में पृथ्वी तत्त्व ब्रह्मा रूप से विद्यमान है और नासिका में वह गन्ध से स्^ष्यकर जाना जाता है। हे देवि! अश्विन द्वय उनके देवता हैं॥ ३०॥ इत्येवं पञ्चभूतानां बीजकार्यं नदीक्विरिं।

सद्शं कथित ते च यदाहुः क्षरमञ्ज्ञया । ३९।। इस प्रकार बीजरूप पश्चभूतों के वही कार्य होते हैं । हे ईश्वरि ! उन्हीं को तुमसे हमने कहा है। जिसे विद्वरजन 'अक्षर' नाम से सहग अभिहित करते हैं ॥ ३१॥ अकार: परमं ब्रह्म क्टस्थ व्यापकं ध्रुवस्।

अकार: परम ब्रह्म कूटस्थ व्यापक ध्रवस् । अनृत्तरं निविशेष चिदंशस्तेन कथ्यते ॥ ३२ ॥

 ^{&#}x27;बीजोऽयं कार्यमीश्विदि' इ० पा०।

२. 'कथितस्तेन यमाहुःक्षरसंज्ञया' इ० पा०।

बक्षरातीतरूपोऽसौ शेषवर्णेर्मनुः स्मृतः। तस्मादहो सच्चिदानन्दरूपोऽय मन्त्रनायकः।। ३३॥

अकार ही परब्रह्म है जो कूटस्थ (अविचल), व्यापक और घ्रव है। इसीलिए उसे उत्तररहित, निविशेष और चित् अंश रूप कहा गया है। अक्षर से परे यह मन्त्र रूप ही शेष वर्णों के द्वारा कहा है। इसलिए यह नायक मन्त्र, हे देवि! सत् चित् और आनन्द स्वरूप है।। ३२-३३॥

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारसङ्कटात्। यतः करोति संसिद्धो मन्त्र इत्युच्यते प्रिये ॥ ३४॥ संसार रूप संकट से बचने के लिए इसका मनन करना ही विश्व का विज्ञान है। इसीलिए, हे प्रिये ! मन्त्र की संसिद्धि को कहा गया है ॥ ३४॥

मन्त्रचूडामणि ज्ञात्वा मुच्यते सर्वसंशयात्। विज्ञाते मन्त्रराजन्ये ज्ञातस्य नावशिष्यते॥३५॥

इस प्रकार इस मन्त्रराज को जानकर वह सभी संदेहों से मुक्त हो जाता है। इस मन्त्रराज के जान लेने पर अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है।। ३५॥

शाब्दं वपुः परानन्दवपुषः परमेश्वरि । मन्त्रचृडामणिरयं मया ते परिकीर्तितः । ३६ ॥ है परमेश्वरि ! शब्द-शरीर वाले श्रेष्ठ आनन्दकारी शरीर रूप इस मन्त्र<mark>राज</mark> को तुमसे मैंने कहा है ॥ ३६ ॥

> अकथ्यः पारमाथ्येंन तथापि कथितस्तव। गोपनीयः प्रयत्नेन जननी जारगभवत्।।३७॥

परमार्थं तत्त्व कहने योग्य नहीं है। किर भी तुमसे हमने कहा है। इसिछ्ट प्रयत्नपूर्वंक इसका गोपन उसी प्रकार करना चाहिए जैसे माता व्यभिचरित गर्भं को छिपाती है।। ३७॥

पदयन्ति ये शठिधयो वर्णबुध्या महामनुम्। ते यान्ति नरकान् सर्वे यावदाभूतसप्लवम्।। ३८।। जो शठबुद्धि वाले लोग इस महा मन्त्र को 'वर्ण' बुद्धि से समझते हैं, वे सभी जब तक भूतों का लय न हो जाय, तब तक नरकों को प्राप्त होते हैं।। ३८॥

> पुरुषं मन्त्रजप्तारं ये पश्यन्ति नराद्यमाः। तेषां पापानि नश्यन्ति ब्रह्महत्यादिकान्यपि । ३९॥

जो नराधम भी मन्त्र जपते हुए पुरुषों को यदि देखते हैं तो उनके ब्रह्म हत्या आदि पापों का विनाश हो जाता है।। ३९।। कोटिकल्पेषु पापिष्ठा नित्यं पापपरायणाः।
तेऽपि शुध्यन्ति सम्पर्कान्मन्त्रजण्तुने सशयः॥ ४०॥
कोटि कल्पों में भी जो अत्यन्त पापो रही हैं और जो नित्य पाप में ही दत्तित्तर रहे हों ने सभी इस मन्त्रु के जप करने वाले के सम्पर्क में आने से हो शुद्ध हो जाते हैं। इसमें संशय नहीं है॥ ४०॥

लब्धे चिन्तामणौ देवि किमन्यैर्धनसञ्चयैः।
तथा लब्धे मन्त्रराजे किमन्यैः साधनैर्भवेत् ॥ ४९॥
एतन्मन्त्रार्थविज्ञानं मन्त्रसिद्धान्तसूचकम्।
यो नित्यं भावयेचिचत्ते वासना तस्य शुध्यति ॥ ४२॥

है देवि, चिन्तामणि के प्राप्त हो जाने पर अन्य घन सम्पत्ति के सन्ध्य का क्या लाभ है ? और जब मन्द्र राज की प्राप्ति हो गई तो अन्य साधनों को लेकर क्या होगा ? मन्त्रों के सिद्धान्त का सूचक गही मन्त्र का 'अर्थ-विज्ञान' है। इसलिए जो नित्य प्रति इस मन्त्र की भावना अपने चित्त में करता है तो उसकी सभी वासनाएँ गुद्ध हो जाती हैं। ४१-४२॥

विहाय मायामालिन्यं देहन्द्रियनिबन्धनम्।
वासना सम्मुखीभूयाद्विवेकं प्रनिबिम्बवत्।। ४३।।
शरीर और उनकी इन्द्रियों के बन्धनों को तोड़कर माया रूप मालिन्य को
छोड़कर उसकी वासना सम्मुख उपस्थित हो जाती है (अर्थात् वह जो इच्छा करता है
वही होता है) और उसे प्रतिबिम्ब के समान विवेक प्राप्त हो जाता है ॥ ४३॥

मन्त्रमाहात्म्यमेतत्तु मया ते परिकीर्तितम्। किमन्यत् श्रोतुमिच्छा ते तदिदानीं वद' प्रिये ।। ४४ ।। । इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे एकोनत्रिशतितमं पटलम् ॥ २९ ।।

इस प्रकार इस मन्त्र के माहात्म्य को हमने तुम्हें बतलाया है। हे प्रिये ! अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ? उसे कहो ॥ ४४ ॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के उन्तीसवें पटल की डाँ० सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो व्याख्या पूर्ण हुई।। २९।।

१. 'वदाम्यहुम्' इ० पा०।

अथ त्रिशं पटलम्

पार्वत्युवाच-

भगवन्देवदेवेश श्रोतुमिच्छाम्यहं पुनः। मन्त्रस्य साधनं साक्षात् यत्कृत्वा साङ्गता भवेत् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा-

हे भगवन् ! देव, देवों के ईश ! मै पुनः मन्त्र के उस साक्षात् साधन को सुनना वाहती हूँ जिसे करके साङ्गता [सिद्धि] प्राप्त होवे ॥ १ ॥

शिव उवाच-

भ्युण् त्वं देवदेवैशि मन्त्रराजस्य साधनम्। ऋषिरस्य स्मृतो देवि परात्मा पुरुषोत्तमः॥२॥

भगवान् शङ्कर ने कहा-

हे देवदेवेशि ! तुम मन्त्रराज के साघन को सुनों। विद्वानों के द्वारा इस [मन्त्र-राज] के ऋषि, हे देवि ! परमात्मा 'पुरुषोत्तम' कहे गए हैं ॥ २ ॥

> छन्दोनुष्ट्प्समारुयातं श्रीकृष्णो देवतास्य च। अहं बीजं नमः शक्तिविनियोगः प्रसादने ॥ ३ ॥

इसका छन्द अनुष्टुप् बताया गया है और इसके देवता भगवान् श्रीकृष्ण है।

मैं बीज हूँ 'नम।' शक्ति है। इस प्रकार ('ॐ नमः शिवाय' मन्त्र राज से) प्रसन्न
करने के लिए विनियोग करे।। ३॥

ऋिषः शिरसि विन्यस्य छन्दस्तु मुखमण्डले । देवता हृदये न्यस्य बीजं पादयुगे न्यसेत् ॥ ४ ॥

ऋषि का न्यास सिर में, छन्द का मुखमण्डल में और देवता का हृदय में न्यास करके बीज का दोनों पैरों में न्यास करे।। ४।।

कटिदेशे न्यसेच्छिक्ति नियोगः करसम्पुटे । एवं ऋष्यादिकं न्यस्य वर्णन्यासं ततश्चरेत् ॥ ५ ॥ अथ बीजं न्यसेन्मूहिर्नन्यसेन्माया ललाटके । व्योमबीजं न्यसेत्कणंयुगलेऽथ समीरणम् ॥ ६ ॥ न्यसेत्त्वचि ततो नेत्रे बह्तिबीजं न्यसेत्प्रिये। जिह्वायां वारुणं बीजं पृथ्वीबीजं च नासयोः। ७॥

शक्ति का न्यास किट प्रदेश में और कर सम्पुट (हथेली) में नियोग करे। इस प्रकार ऋषि आदि का न्यास करके फिर वर्णी का न्यास करे। अब बीज का न्यास मूर्घी में करे। माया का ललाट में न्यास करे। आकाश बीज का कर्ण युगल में न्यास करे और वायुबीज का त्विगिन्द्रिय में न्यास करे। फिर हे प्रिये! अग्नि बीज का न्यास दोनों नेत्रों में करे। जल बीज का जिह्वा में और पृथ्वी बीज का दोनों नासिकाओं में न्यास करे। ५-७॥

श्रीकारं कण्ठदेशे तु कृकारं हृदये न्यसेत्। हणं पं न्यसेत्कुचद्वन्द्वे वामादि परमेश्वरि ॥ द्र ॥

कण्ठ में 'श्री:' का और हृदय में 'क़' का न्यास करे। 'ष्ण' और 'प' का वक्षस्थल में, हे परमेश्वरि! वाम आदि क्रम से न्यास करे॥ ८॥

रकारं चैव माकार कुक्षियुग्मे च वामतः।
नकारं च दकारं च न्यसेत्कटघोस्तथैव हि।। ९।।
रकार और 'मा' का वाम क्रम से कुक्षियुग्म में और इसी प्रकार नकार और
दकार का कमर के दोनों भागों में न्यास करे॥ ९॥

तेकारं विन्यसेह्लिगे प्रिया वर्णावुरुद्वये । स्मिमार्णद्वयं देवि जानुयुग्मे तथा न्यसेत् ।। १० ।।

'त' और एका लिङ्ग में विन्यास करे और 'प्रिया' वर्णी का दोनों उरुओं में न्यास करे और इसी प्रकार, हे देवि ! 'स्मिमा' इन दोनों वर्णी का जानुयुग्म में न्यास करे ॥ १० ॥

> मं गी वणौं च देवेशि जङ्घायुग्मे प्रविन्यसेत्। कुर्वित्यक्षरयोर्द्वन्द्वं पार्षिणद्वन्द्वे नियोजयेत्।। ११॥

हे देवेशि ! 'मं' और 'गो' इन दोनों वर्णों का दोनों जङ्घाओं में वित्यास करे। 'कुर' इन दो अक्षरों को पार्षिण अर्थात् पिण्डलियों में नियोजन करे।। ११।।

दकारं च शकारं च प्रपदद्वन्दके न्यसेत्। प्रकारं चैव बोकारं न्यसेत्पादतलद्वये।। १२।।

दकार और शकार दोनों का पैरों में विन्यास करे। 'प्र' और 'ब ं अक्षरों का पादतल में न्यास करे।। १२।।

धं न्यसेदङ्गुलीष्वेव अङ्गृल्यन्तेषु यं न्यसेत्। तलादिजानुपयन्तं 'प्रबो'वर्णद्वय पुनः ॥ १३ ॥ जान्वादिनाभिपर्यन्तं 'धय'वर्णद्वयं न्यसेत्। मोकारं विन्यसेन्नाभौ हकारमुदरे न्यसेत्॥ १४ ॥

'घ' का अङ्गुलियों में न्यास करे। 'य' का विन्यास अङ्गुलियों के अन्तिम भाग में करे। पुनः [पाद] तल से जानु पर्यन्त प्र और बो इन दो वर्णों का विन्यास करे। फिर जानु आदि से नाभिपर्यन्त 'घय' इन दो वर्णों का न्यास करे। स्रोकार का विन्यास नाभि में और हकार का उदर में न्यास करे।। १३-१४॥

मपावणी स्कन्धयुगे कुरु कक्षा युगेन्यसेत् । कुरुवर्णद्वयं दोष्णोर्गल्लयोश्च प्रविन्यसेत् ॥ १५॥

'म' और 'पा' वर्णों का दोनों कन्धों में और 'कुरु' का न्यास दोनों कुक्षियों में करे। 'कुरु' इन दो वर्णों को दोष्ण और गले में न्यस्त करे। १५॥

नमः शिखायां विन्यस्य समग्रं व्यापकं न्यसेत् । 'एवं न्यासाच्छरीरेऽसौ जायते मन्त्ररूपधृक् ॥ १६ ॥

'नमः' शब्द का शिखा में न्यास कर समग्र रूप से व्यापक न्यास करे। इस प्रकार का न्यास करने से सम्पूर्ण शरीर मन्त्र का रूप घारण कर लेता है।। १६॥

अलौकिकं वपुः कृत्वा मच्छेद् ध्वानेन नत्पदम् । तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि सुगुप्तमपि सुन्दरि ॥ १७ ॥

इस प्रकार अपना अलीकिक शारीर करके व्यान के द्वारा उन ब्रह्म के पद में जाना चाहिए। हे सुन्दरि! यद्यपि यह गुष्ठ है फिर भी मैं उसके प्रकार को कहता हूँ—॥ १७॥

> वर्णरूपं वपुष्ट्यायेत् पञ्चभूतमयान् हि तान्। तत्तत्कारणभूतेषु तत्तत्कार्यं विलोपयेत् । १४॥

वर्ण रूप शरीर का ध्यान करना चाहिए। जो वर्ण पश्चभूतात्मक हैं उन-उन पश्चमहाभूतों के कारणों में उनके कार्य का लोप कर देना चाहिए॥ १८॥

पादादिजानुपर्यन्तं पृथ्वीतत्वं विचिन्तयेत्। पृथ्वीतत्त्वमयान् वर्णान् प्रवक्ष्यामि समासतः ॥ १९॥ पैर से जानु पर्यन्त पृथ्वी तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए अब मैं संक्षेप से पृथ्वीतत्त्वमय वर्णों को कहुँगा – ॥ १९॥

१. 'एवं न्यस्तशरीरोऽसी' इ० पा०।

पञ्चमश्चेव षष्ठश्च त्रयोदश एव च।
स्वराणां त्रितयं चैतत् आकाशादग्रिमाक्षरम्।। २०॥
स्पर्शेषु चाष्टमश्चेव तथा चैव त्रयोदश।
दवलाश्चेति वैवर्णाः पायिवाः परिकीत्तिताः।। २१॥

पाचर्वां, छठवां और तेरहवां तथा इन तीनों के स्वर आकाशादि पश्चमूतों के अग्रिम अक्षर हैं। स्पर्शों में आठवां और तेरहवां तथा द, व एवं ल वर्ण पार्थिव-वर्ण कहे गए हैं।। २०-२१।।

ऋ ऋ औ घ झ ढ ध भ वर्णास्ते वाहणाः स्मृताः । जान्वादिक्टिपर्यन्तं जलतत्वगतान् स्मरेत् ॥ २२ ॥

ऋ ऋु औ घझ ढ घतथा भ—ये वारुण वर्ण कहे गए हैं। जानु आदि से किट पर्यन्त जल-तत्त्व गत इन वर्णों का ज्यान करना चाहिए।। २२।।

> इ ई ए ख छ ठ थ फ र क्षास्ते विह्नरूपिणः। कटचादिकण्ठपर्यन्तं तेजस्तत्वगतान् स्मरेत्॥२३॥

ई ई ए ख छ ठ थ फ र और क्ष—ये वर्ण विह्नि रूप कहे गए हैं। साधक किट आदि से कण्ठ पर्यन्त तेजस्तत्त्वगत वर्णी का स्मरण करे।। २३।।

अ ऐ कचटतपसषाः मार्गताः कथिताः प्रिये। कण्ठादिभूप्रदेशान्तं वायुतत्वमयान्स्मरेत्।। २४।। अ ऐक च टतप स और ष — येवर्णं, हे प्रिये! मास्त वर्णं कहे गए हैं। सामक कण्ठ आदि से भ्राप्रदेश पर्यन्त वायुतत्वमय इन वर्णों का ध्यान करे।। २४॥

> ल ल अङ्गणनमशबहानाभसाः स्मृताः। भ्रमध्यादिब्रह्मरन्ध्रस्थिताकाशमयान् स्मरेत्॥२५॥

लुलु अं इन्जण नंम शव और ह—ये वर्ण नभ से सम्बन्धित हैं। अतः साधक को भ्रमध्य से लेकर ब्रह्मरन्त्र पर्यन्त स्थित आकाशमय वर्णी का स्मरण करना चाहिए ॥ २५ ॥

तत्तद्वर्णविलोपन्तु कारयेत्कारणाक्षरे । हित्वा स्थौरुयं भूतमयं सूक्ष्मं शब्दमयं ततः' ॥ २६ ॥ साधक को चाहिए कि वह इस प्रकार उन-उन वर्णी का विलोपन उन-उन अक्षर के कारणों में करे । वस्तुतः स्थूल पञ्चमहासूत का सूक्ष्मरूप शब्द मय ही है ॥ २६ ॥

१. 'गतः' इ० पा०।

शब्दब्रह्मशरीरोऽसौ सर्वकारणकारणम् । सहस्रदलपद्मस्य कणिकायां व्यवस्थितम् ॥ २७ ॥

यह शब्द ब्रह्ममय शरीर सभी कारणों का कारण है। यह शब्द ब्रह्म सहस्र दल वाले पद्म की कणिका में व्यवस्थित रहता है।। २७।।

अकार केवलं ध्यायेदुदरे निष्कलं प्रिये।
'अकार चोदराकाशे दहरास्ते महेश्वरि ॥ २८॥
पूर्वानुभूता रासलीला व्रजलीलाश्च सस्मरेत्।
अहं प्रिया भगवतः कामस्य कामरूपिणी । २९॥
कृष्णस्येति दृढाभ्यासवशगेनैव चेतसा।
संस्मरेत्परमेशानि नान्यत् किञ्चन चिन्तयेत्॥ ३०॥

है प्रिये! अतः साधक को चाहिए कि वह निष्कल रूप से अकार का ध्यान उदर में करे। हे महेश्वरि! अकार रूप उदराकाण में दहर है। वहाँ पर पूर्वानुभूत रासलीला तथा अजलीला का स्मरण करना चाहिए। साधक का यह सोंचना चाहिए कि 'मैं भगवान कृष्ण के काम की कामरूपिणी प्रिया हूँ।' ऐसा करते हुए हढ अभ्यास के द्वारा साधक को अपना चित्त अपने वश में कर स्मरण करना चाहिए। अष्ठ ईशानि! इसके अलावा किसो और का चिन्तन न करे।। २८-३०।।

अथ तेनैव मार्गेण शाब्दं चापि वपुस्त्यजेत्। शब्दातीतं परं धाम रसानन्दमहाणंवम्।। ३१॥

इस प्रकार उसी मार्ग से शब्द-गरीर का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह शब्दातीत परम घाम रस का आनन्द महा समुद्र है।। ३१।।

> नानाकेलिकलापूण् नानापक्षिनिनादितम् । भ्रमद्भ्रमरझङ्कारमुखरीकृतदिङ्मुखम् ॥ ३२ ॥

वह रस रूप आनन्द-समुद्र नाना प्रकार की केलियों एवं कलाओं से पूर्ण हैं। इसका किनारा नाना प्रकार के पक्षियों से शब्दायमान है। यहाँ पर चारो ओर श्रङ्कार करते हुए भ्रमर दिशाओं को मुखर कर रहे हैं। ३२।।

> स्वप्रकाशं समभ्येत्य स्वरूपं चिन्तयेत्तदा । नवयौवनसम्पन्नमनोहररतिप्रियम् ॥३३॥

१. 'अकारोदरमाकाशे' इ० पा०।

२. 'कामरूपिण।' इ∙ पा०।

वत्रणन्तूपुरसंशोभिपादाम्भोजविराजितम् । लाक्षारसाक्तचरणं क्वणत्किङ्किणिमेखलम् ॥ ३४॥

उस समय वहाँ पहुँच कर साचक को प्रकाश स्थान स्वरूप भगवान का चिन्तन करना चाहिए।

हियान — वे कृष्ण भगवान नवयौजन से सम्पन्न तथा मनोहर एवं रित के प्रिय हैं। उनके चरणकमल बजते हुए त्रपुरों से सुशोभित हैं। उनके चरणों में लाक्षारस (महावर) लगो हुई है। उनकी मेखला की धुविर बजती रहती है।। ३३~३४।।

नवीनयौवनोत्तुङ्गकुचभारमहालसम् । कराङ्गुलीयनिवहोल्लसदङ्गुलिपल्लवम् ॥ ३५ ॥

नवान यौजन के कारण जिनका बक्षस्थल उभरा हुआ है। जिनके हुास_् को अङ्गुलियों में अङ्गुलिपल्लव शोभा पा रहा है।। ३५ ॥

नानालङ्कारसुभगं कीसम्भाम्बरशोभितम् । मुक्ताहारोल्लसद्वक्षः स्फुरमाणमणित्रभम् ॥ ३६॥

नाना प्रकार के अलङ्करणों से सुन्दर कान्ति वाले तथा पीताम्बर से सुमोसित, मुक्ता के हार से मोभित वक्षःस्थल वाले खीर मणियों की प्रभा से स्फुरित कान्ति वाले भगवान कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ।। ३६ ।।

> कामकोदण्डकुटिलभृकुटीविशिखेक्षणम् । मुक्तादामलसद्भालं काश्मीरतिलकोज्वलम् ॥ ३७ ॥ दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गं दिव्यपुष्पस्रगाकुलम् । भालप्रदेशविलसत्सुरत्नतिलकोज्वलम् ॥ ३८ ॥

काम के घनुष के समान टेढ़ी भौंहों वाले, विशिष्ठ के समान दृष्टि वाले, सुक्ता की कान्ति से शोभित एवं काश्मीर के उज्ज्वल तिलक से युक्त ललाट वाले, दिन्य जन्दन का शरीर में लेप किए हुए, दिन्य पुष्पों की माला से आच्छादित तथा माल प्रदेश में सुरत्न के उज्ज्वल तिलक से विराजमान भगवान कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

ह्यात्वैवं स्ववपुदिन्य सलीयूथगतं स्मरेत्। यूथमध्यगतं कृष्ण ध्यात्वानन्येन चेतसा ॥ ३९ ॥ प्रार्थयेत्तं पति तत्र सस्मिताननसुन्दरम्। प्राणनाथ त्वदीयाहं त्राहि दुःश्विष्वनैकधा ॥ ४०॥ त्वामहं विस्मृता नाथ परमानन्दपेशल। अनुभूता स्वप्नलीला नानादुःखोघसङ्कुला।। ४९॥ कालो महान् व्यतीतोऽयं त्वां विना पृष्षोत्तम। स्वप्ने मया बहुभ्रान्तं देहगेहातिसक्तया।। ४२॥

इस प्रकार ज्यान करते हुए अपने दिन्य शरीर को सिखयों के समूह में स्मरण करे। साधक को चाहिए कि वह अनन्य चित्त से यूथ के मध्य विराजमान कृष्ण का ज्यान करके उन सुन्दर मुस्कुराहट से युक्त पालक (पति) कृष्ण से प्रार्थना करें कि हे प्राणनाथ! मैं आपका हूँ। अतः अनेक प्रकार से आप मेरी रक्षा करें। हे परमानन्द पेशल! हे नाथ! आपको मैंने विस्मृत कर दिया। स्वय्नवत् लीला का मैंने अनुभव किया है। यह ऐहिक लीला नाना दु!कों से ज्यास है। हे पुरुषोत्तम! आपके विना बहुत काल ज्यतीत हो गया। इस स्वय्नवत् संसाय में मैं देह और गृह में अत्यन्त आसक्त होकर बहुत प्रकार से अभित होता रहा॥ ३९-४३॥

क्विन्मनुष्यरूपेण देवरूपेण वा क्विचित्।
'गन्धर्वोरगरूपेण पशुरूपेण वा क्विचित्।। ४३॥
चेष्टापितो मया ह्यात्मा स्वप्ने मायाविनिधिते।
इदानीं कृतकृत्यास्मि नष्टस्वप्नमयाकृतिः॥ ४४॥

इस संसार में कभी मनुष्य रूप में और कभी देवरूप में घूमता रहा। है कभी
मैं (= जीव) गन्धर्व या पिक्ष रूप से अथवा कभी पशु रूप से नाना योनियों में
भटकता रहा। माया निर्मित स्वष्त में मेरी आत्मा अत्यन्त सचेष्ट थी। किन्तु अब
स्वष्तवत् संसार के नष्ट हो जाने पर ('सल्यं' ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के ज्ञान से) मैं
कृतकृत्य हो गया है। ४४-४५।।

विलोकय कृपादृष्टचा दृष्टं देव विना स्वया। इति सम्प्रार्थं भत्तीरं प्रणमेत्पादपङ्कजम् ॥ ४५ ॥

हे स्वामी ! आप मेरी आग कृपा दृष्टि से देखें। हे देव ! विना आपकी कृपा के मैं दुखसागर में निमग्न हूँ। (इससे आप मुझे उवारिए)। इस प्रकार से प्रार्थना करके भत्ती प्रमुके चरणकमल को प्रणाम करे।। ४६॥

ब्रह्मसृष्टीनामीदृशी दशा कदापि न भवति । किन्तु प्रार्थनामात्रमिदं अथवा तु
प्रार्थनेयं जीवाना कृते बुधैरिति बोध्यम् ।

प्रोत्थापिता पुनस्तेनाछिङ्गिता च मुहुर्मुहु। । दत्ताधरसुधाचापि ससीयूथस्य पश्यतः ॥ ४६ ॥

उनके द्वारा पुनः उठा लिए जाने पर भी य बारम्बार आलिङ्गित किए जाने पर तथा सखी समूह के समक्ष ही अधरामृत के दिए जाने पर जो आनत्द होता है उसका अनुभव साधक करे ॥ ४६ ॥ अस्ता स्वार्ध के क्षेत्र

> परस्पर वीक्ष्यमाणा सखिभिः 'क्रुतकोतुकम् । नित्यानन्दविहारेषु भूमिकासु दशस्वपि ।। ४७ ।।

सिखयों के द्वारा परस्पर एक दूसरे को कौतूहल से देखने पर निश्य आनन्द-विहार की दस भूमिकाओं में अपने को साधक अनुभव करे ॥ ४७ ॥

> पुष्परागमयभ्राजत्पर्वतापत्यकासु च । नीलमाणिक्यशैलोह्शिखरेषु विशेषतः ॥ ४८॥

साधक पुष्प एवं परागमय पर्वत एवं उपत्यकाओं में विराजमान तथा विशेष रूप से नोले माणिक्य के पर्वत तथा उनकी विशाल चोडियों के मध्य भगवान को देखे ॥ ४८ ॥

यमुनासप्ततीर्थेषु नानावृक्षोदयेषु च।
मणिमण्डपविभ्राजत्कुट्टिमेर्मण्डतेषु च॥४९॥
नानाविहारसङ्केते नीयमाना प्रियेण। हि।
तत्र तत्र महालीलारसानन्दपरिष्लुता॥५०॥

यमुना के सातों तीर्यों पर तथा नाना वृक्षों के मध्य, मिण से बने आजमान मण्डप में जिसकी कर्य मिण निर्मित थी, प्रिय के द्वारा नाना विहार स्थलों पर ले जाते हुए उन भगवान कृष्ण की रसानन्द से परिष्लुत महा लीला का ध्यान करे।। ४९-५०॥

> षोडशस्यम्मविश्राजन्मणिकुट्टिममागता । सखीसमाजमध्यस्थं कृष्णं दृष्ट्वा पुरः स्थिता ॥ ५१ ॥

सोलह स्तम्भों में चमकते हुए मणि निर्मित फर्श पर सखी समाज के मध्य साधक कृष्णुंको देखकर ऐसा अनुभव करे कि ये स्वयं समक्ष विराजमान हैं ॥ ५१ ॥

लालिता प्राणनाथेन वचनामृतवर्षिणा। एवं घारणया देवि मनो यावितस्थरं भवेत्।। ५२ ॥

 ^{&#}x27;वीक्ष्यमाणः संखोभिः कृतकौतुकः' ६० पा० ।

ताबद्रेशास्यसेल्लीलामेवमारमा विशुध्यति ।

इस प्रकार प्राणनाय कृष्ण द्वारा लालित होकर तथा उनके वचनामृत की वर्षा करते हुए मुखारिक्ट में जब तक घारणा द्वारा, हे देवि ! साधक का मन स्थिर ने ही जाय, तब तक छोलां का अम्यास करना चाहिए। इस प्रकार करते-करते साधक की आत्मा शुद्ध हो जाती है।। ५२-५३॥

एतत्ते कथितं देवि मन्त्रध्यानादिकं मया।। ५३।। समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि। तदहं ते प्रवस्थामि श्वपथस्तव सुत्रते॥ ५४॥

।। इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेरवरतन्त्रे शिवपार्वती-संवादे विशा पटलम् ॥ ३० ॥

हे देवि ! इस प्रकार से मन्त्र एवं ज्यान को मैंने आप से संक्षेप में कहा है। हे महेशानि ! अब आप और क्या सुनना चाहती है ? आपकी शपथ है कि है शोभन दत करने वाली ! उसे मैं आपसे अवश्य कहूँगा (अर्थात् कुछ भी रहस्य नहीं रक्तू गा) । ५३-५४ ॥

।। इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के तीसवें पट्ट की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी क्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिशं पटलम्

पावंत्युवाध-

ब्रूहि सेवाप्रकारं मे येन तुष्येत् स्वयं प्रभुः। कथं पूजा प्रकतं व्या व्यवहारक्च कीद्वः॥ १॥

भगवती पार्वती ने कहीं 🗝 🐃 🗀 🗁 🗗 💆 🕬 🕬

हे भगवन् ! आप मुझे सेवा का प्रकार बतावें, जिससे प्रमु स्वयमेव सन्तुष्ट हो जावें। हमें कैसे पूजा करनी चाहिए ? और किस प्रकार का व्यवहार (आचरण) करना चाहिए ॥ १ ॥

शिवं उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि व्यवहाराचंनादिकेम । तुर्ये यामे समुत्यायं शय्यायामेव सुव्रते ॥ २ ॥ ब्रह्मरन्ध्रे गुरु ध्यायेत् कर्पूरधवलप्रभम्। द्विनेत्रं द्विभंजं चैव स्वेतंवस्त्रानुलेपनम् ॥ ३॥

भगवान् शङ्करः ने कहा-

हे देवि ! सुनों, मैं अब व्यवहार और भगवान की अर्चना आदि को कहूँगा। है सुवते ! चौथे प्रहर में शय्या से उठकर ही ब्रह्मरन्ध्र (=शिर में शिखा के पास) में गुरु का घ्यान करना चाहिए। उनका स्वरूप कपूरि की प्रभा के समान घंयल वर्ण का दो नेत्र, दो भुजा, खेत वस्त्र एवं खेत अनुलेप से युक्त है ॥ २-३ ॥

पञ्चिभिरुपचारकैः। पञ्चभूतास्मकैरेव पूजयेद् देव देवेशि आत्मानं तद्गतं स्मरेत्।। ४।।

पञ्चमूतात्मकों से ही और पाँच प्रकार (बूपदोप-नैवेद्य) के उपचारों से पूंजन करे। हे देवों के देव, हे ईशानि ! आत्मा में ही तद्गत रूप से उन गुरु का स्मरण करना चाहिए ॥ ४ ॥

स्वमूर्द्धनि।। तच्चरणोदकधारानिपतितं क्षालितं निर्मलं शुद्धमात्मानं परिचिन्तयेत् ॥ ९ ॥

उनके चरणोदक की घारा को अपने शिर में गिरते हुए अपने मूर्डी में पूले हुए, निर्मेल और शुद्ध आस्मा का चिन्तन करना चाहिए 🗸 ५ ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै इष्टदेवस्वरूपिणे। यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसञ्ज्ञकम्।। ६ ॥ उन इष्टदेवस्वरूप गुरु के लिए नमस्कार होवे जिनके अमृतरूपी वाक् संसार नामक विष का नाश करते हैं॥ ६॥

गुरुर्ज ह्या गुरुविंष्णुगुं रुर्देवः सदाशिवः। गुरुरेव पर्य तत्त्वं तस्मैं श्रीगुरवे नमः॥ ७॥ गुरु ही बह्या हैं। गुरु ही विष्णु हैं और गुरु ही भगवान् सदाशिव स्वरूप है, बन्ततः गुरु ही श्रेष्ठ 'तत्त्व' हैं। अतः उन गुरु के लिए नमस्कार होवे॥ ७॥

प्रणम्य मन्त्रयुग्मेन हृदि लीनं विभावयेत्। ततो लीलाविहारस्य ध्यायेत्कृष्णं हृदाम्बुजे ॥ ८ ॥ मन्त्र युग्म से हृदय में जीन उन्हें प्रणाम करके उनकी विशेष रूप से मावना करें। इसके बाद लीला करते हुए हृदय रूपी कमल में विहास करने वाले श्रीकृष्ण का थ्यान करे ॥ ८ ॥

पूजयेत्पूर्वंवद्देवि ह्युपचारैंदच पञ्चिभः। ततस्तं प्रार्थयेदीशं बद्धहस्ता प्रियंवदे ॥ ९ ॥ हे देवि ! पहले ही की तरह पौच प्रकार के उपचारों से उनका पूजन करे । ईसके बाद, हे प्रिय बोलने वाली ! उन ईश्वर से हाय जोड़कर प्रार्थना करे ॥ ९ ॥

अहं नाय त्वदीयास्मि पितस्तवं मेऽसि भी प्रभो।
भामितास्मि त्वया नाथ मायागहनवत्र्मेनि ॥ १०॥
है नाय, मैं बापको हैं और हे प्रमु! बाप ही मेरे पित [=पालक] हैं। बापकी
पहन माया से अमित मार्ग में मैं अभित हुआ है ॥ १०॥

त्वत्पार्श्वं नय मां नाथ विरहो मां प्रबाधते। अनन्यगतिका चाहुं तस्मात्कुरु यथोचितम् ॥ १९॥ हे नाय, आप मुग्ने अपने पास छे छें, मुझे आपका विरह अत्यन्त कष्ट दे रहा है। आपको छोष्ट्रकर हमारो कोई दूबरो नित नहीं है! इसलिए खो उचित हो बहु की जिए ॥ ११॥

> एवं सम्प्रार्थ्यं भत्तीरं ताप्रभापटलावणम्। स्वदेहं भावयेद्देवि नमस्कुर्यात्ततः प्रिये। ततो भूमि च सम्प्रार्थ्यं दलवादं निधापयेत्। १२।

रे. 'बहा' इं॰वा॰ ।

इस प्रकार से पालन करने वाले उन प्रभु से सम्यक् रूप से प्रार्थना करके उनकी प्रभा की किरण से लाल वर्ण के हुए अपने देह को साधक मन में सोचे। (तब) हैं देवि, हे प्रिय! उनको नमस्कार करे। इसके बाद भूमि को निम्न मन्त्र से प्रणाम करके दाहिने पैर का स्थापन करे। ॥ १२॥

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।। १३।।
ततो ग्रामाद् बहिर्गच्छेन्मलोत्सर्गाय सुन्दरि। १४।।
विक्रम्य शरक्षेपमात्रा भ्रवमतन्द्रतः।
आच्छाद्य च तृणेभूंमि शिरः प्रावत्य वाससा।। १५।।
मृत्तिकां जलपात्रं च हस्तमात्रे नियोजयेत्।
स्यं चैव दिशः प्रान्तान् गावं नैवावलोकयेत्।। १६।।

समुद्ररूप करधनी से परिवेष्टित और पर्वत रूप स्तनों के मण्डल वाली हे पृथ्वी देवी, हे विष्णु की पत्नी, [वराह अवतार के समय उद्धार की गई पृथ्वी उनकी देवी, हे विष्णु की पत्नी, [वराह अवतार के समय उद्धार की गई पृथ्वी उनकी पत्नी हैं] आपको नमस्कार है। मैं आपके ऊपर जो चल फिर रहा हूँ उस पैर पत्नी हैं] आपको नमस्कार है। मैं आपके ऊपर जो चल फिर रहा हूँ उस पैर के स्पर्श को समा करें। इसके वाद ग्राम से बाहर मल आद के उत्सर्ग के लिए हे सुन्दिर ! उसे जाना चाहिए। शरक्षेपमात्र भूमि का अवन्दित होकर अतिक्रमण करके तृण से भूमि को उक्कर और उपर शिर को कपड़े से उक्कर मिट्टी और जल करके तृण से भूमि को उक्कर और उपर शिर को कपड़े से उक्कर मिट्टी और जल को हाथ में लेकर मल साफ करे। सूर्य का और दिशाओं के प्रान्तभाग का एवं गाय का अवलोकन इस समय न करे॥ १३-१६॥

लिङ्गशौचं च तिसृभिः मृत्तिकाभिः समावरेत्। पञ्चापाने प्रदेयाश्च मृत्तिकाः सुरसुन्दरि ॥ १७॥

तीन बार मिट्टी लगाकर लिङ्ग को घोना चाहिए और हे सुरसुन्दिर, गुदा को पांच बार मिट्टी लगाकर घोना चाहिए ॥ १७ ॥

गन्धलेपक्षयकरमेवं शौचं समाचरेत्। तत्रैव वामहस्ते तु प्रदेया सप्त मृत्तिका ।। १८ ।। इसो प्रकार शौच (शुद्धि) करना चाहिए क्योंकि गन्धादिक (साब्न) का लेप करना क्षयकारो ही होता है। सात बार बाएँ हाथ की मिट्टी लगाकर घोना चाहिए ॥ १८ ॥

मीनी स्वगृहमागत्य हस्तपादादि घोधयेत्। वामहस्ते मृदः सप्त प्रदेयाः सुरवन्दिते।। १९।। फिर मीन होकर अपने गृह में आकर हाथ-पैर आदि घोना चाहिए। हे देवताओं से बन्दनीय देवी, बाए हाय को पुना साथ बार मृश्विका से घोना बाहिए। १९॥

> उभयोश्च तथा सप्त हस्तशौचिमदं स्मृतम्। पञ्च पञ्च तथा पादे प्रदेया मृत्तिकाः शुभाः॥ २०॥

फिर दोनों हाथों को मिलाकर सात बार पुनः घोना चाहिए। पाँच-पाँच बार दोनों पैर में मिट्टी लगाकर पैर भी घोना चाहिए॥ २०॥

ततो द्वादशगण्डूषेमुंख प्रक्षालयेत्प्रये। तत आचमनं कृत्वा दन्तकाष्ठ समाचरेत्।।२१॥ उसके बाद हे प्रिये, बारह बार कुल्ला करके मुख का प्रक्षालन करना चाहिए। इसके बाद आचमन करके दतुअन करना चाहिए॥२१॥

> जम्बूदुम्बरजं काष्ठं तथा च बदरीभवम् । अपामार्गोद्भवं वापि दन्तांस्तेन विशोधयेत् ॥ २२॥

दंतुं अन जामुन, गूलर या बैर की होना चाहिए। अपामार्ग (लहचिचड़ा) की मीं दंतुअन हीती है। अतः उससे दार्तों को साफ करना चाहिए॥ २२॥

अज्ञातै: कीटविद्धैश्च वनेषु दाहितैरपि। निषिद्धैश्च तथा काष्ठैदेन्तान्नैव स्पृशेत्प्रिये।। २३।।

है प्रिये, अनजाने वृक्ष की अथवा कोटों से आविद्ध वृक्ष की या वन में जले हुए वृक्ष की दतुआन से कभी भी दातों को साफ नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

आयुर्देहि प्रजां देहि धनं विद्यां सुखानि च । वाक्सिद्धि देहि मे नित्यं प्राधितोऽसि वनस्पत ॥ २४॥ है वनस्पते ! आयु दो, सन्तान दो, घन एवं विद्या और सुख प्रदान करो, मुझे नित्य वाक्सिद्धि प्रदान करो — इस प्रकार प्रार्थना करते हुए दतुअन तोड़नां चाहिए ॥ २४॥

द्वादशावृत्तिसञ्जन्तं मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्। प्रक्षात्य भक्षयेत्काष्ठं यावन्तो सूर्यदर्शनम्।। २५॥ जबतक सूर्यं का दर्शन न हो अर्थात् सूर्योदय के पहले ही बारह अंगुल की दतुआन मन्त्र जानने वाले को चाहिए कि मूल मन्त्र को पढ़कर ही ताड़े और उसे धोकर ही दतुआन करे॥ २५॥

> दन्तानां शोधनं कुर्यादुदीची दिशमाश्रितः। न सूर्योभिमुखीसूय निष्ठीवादि क्षिपेत्प्रिये।। २६।।

उत्तरविका की कीर ही मुँह करने बन्त पांचन करे। हे त्रिये ! सूर्व के व्यक्तिमुख होकर केमी न वृके ॥ २६ ॥

> जिह्वामक्रमपाकृत्यं काष्ठं प्रक्षालयं मन्त्रवित्। एकान्ते शुचिदेशे तु क्षिपेत्काष्ठं ततः प्रिये।। २७॥

मन्त्र के उसं जानकार को चाहिए कि जिह्ना के मूल की काठ की उस दतुअन की जिम्मी से जिम्मी करने के बाद उसे घोए। फिर काष्ठ किसी एकान्त एवं शुद्ध स्वक पर ही फेंके।। २७॥

मन्त्रजन्यजलेर्देवि मृखं प्रक्षालयेत्ततः।
त्यजेद् द्वादशगण्डूषान् मूलमन्त्रमविस्मरन्।। २८॥
मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से हे देवि ! फिर मृख का प्रकालक करे। उसे चाहिए
कि मूल मन्त्र का विस्मरण न करते हुए बारह बार कुल्ला करे॥ २५॥

तत आचमनं कृत्वा 'नमस्कृत्य रवि प्रिये। ध्यायन् गच्छेत्ततस्तीथंमसक्तस्तु गृहे चरेत्॥ २९॥

इसके बाद आचमन करके हे प्रिये, भगवान भास्कर को प्रणाम करके तीर्थ स्थान में उन्हीं सूर्य भगवान का घ्यान करते हुए (कि जैसा तेज आप में है वैसा ही मुझमें हो) जाए। फिर घर में आकर बिना आसक्ति के कर्म करे।। २९॥

> गालितं शोधितं तोयं श्चिपात्रगतं च यत्। सर्यमण्डलतस्तिसम् तीर्थान्यावाह्य शक्तितः॥३०॥

जो शुद्ध पात्र में रक्खा हुआ जल है उसमें भक्तिपूर्वक तीर्थों के जल का आवाहत करे और यह सोंचे कि यह जल सूर्यमण्डल से (वर्षा के माध्यम से') शुद्ध जल गिरा है ॥ ३०॥

तिस्मन्नष्टदले ध्यात्वा किणकायां सुरेश्वरि ।

प्रियायणगतं कृष्णमावाद्य दृढमानसः ॥ ३९ ॥

उपचारेर्जलमयैर्मानसेर्वापि पूजयेत् ।

तदीयचरणद्वन्द्वगलत्पीयूषमिश्रितम् ॥ ३२ ॥

ज्ञात्वा तत्तु जलं देवि साक्षाच्चैतन्यरूपकम् ।

ज्ञानानन्दस्वरूपं तत् त्रिधा मूष्टिन क्षिपेत्ततः ॥ ३३ ॥

उसमें हे सुरेश्वरि ! आठदल कणिकां में प्रियांओं के समूह में भगवान् कृष्ण का इस मन से आवाहन करके मन से ही उन आवाहित प्रियायूयगत कृष्ण का जल

नमस्तुतंबा इति मूलपाठा ।

सादि से पोडशोपचार पूजन करे और उन्हों के चरण-कमलों से गिरे हुए अमृत मिश्रित जल को जानकर उस जल को हे देवि ! साक्षात् रूप से चैतन्य, रूप और ज्ञान सम्पन्न आनन्द का स्वरूप मानकर अपने ऊपर (शिर पर) तीन बार छिड़के ॥ ३१-३३॥

> अन्येनैवाम्भसा कुर्यान्मौशलं स्नानमूर्द्धनि । ततः स्नायाद्वरारोहे पूर्वसंस्कृतवारिणा ॥ ३४॥

फिर दूसरे जल से सिर से मौशल (घार रूप से) स्नान करे। हे वरारोहे, उसके बाद पूर्वसंस्कृत जल से स्नान करे॥ ३४॥

> श्रीकृष्णं हृदंये लीनमिति ध्यात्वाचमेत्ततः। गात्रं सम्मार्ज्यं देवेशि मन्त्रवारिविशोधिते॥ ३५॥

उसके बाद 'भगवान् श्रोकृष्ण हृदय में लीन हो गये हैं' — ऐसा व्यान करते हुए बाचमन करे। हे देवेशि, अपने शरीर का उस मन्त्र से विशेष रूप से शुद्ध किए गए जल से मार्जन करे।। ३५॥

> वासांसि परिधार्यंव ततो मन्दिरमाविशेत्। पूजागृहे बहिः स्थित्वा तिलकं गोपिकामृदा । ३६ ।।

उसके बाद वस्त्र आदि पहन कर तब मन्दिर में प्रवेश करे । पूजागृह से बाहर ही रह कर गोपी-चन्दन (वृन्दावन की मिट्टी) से तिलक करे ।। ३६ ।।

> चक्रादिधारणं कुर्यात् विभृयात्त् लसीसृजम् । विना च तुल्लसीमालां विना चक्रादिधारणम् । । ३७ ।। न जपध्यानपूजासु योग्यो भवति कहिंचित् । देवान् पितृ इच सन्तर्प्यं दिक्पालान् प्रणमेत्ततः ।। ३८ ।।

फिर चक्र आदि घारण करे और फिर तुलसी की माला पहने । बस्तुत: बिना तुलसी की माला घारण किए और बिना चक्रांकि घारण के वह जप, व्यान अथवा भगवान के पूजा के योग्य नहीं ही होता है। देवों और पितरों का सम्यक् रूप से तर्पण करके तब दिक्पालों को प्रणाम करे।। ३७-३८।।

सर्वं कृष्णमयं ध्यायेद्भेदभावं विवर्जयेत्। भेदभावात्मको देवि संसारः कथितो यतः॥३९॥

भैदभाव को छोड़कर सभी चराचर जगत् को कृष्णमय सा समझकर व्यान करे, क्योंकि हे देवि ! यह संसार भेदभावारमक ही कहा गया है ॥ ३९ ॥ देहलीं च नमस्कृत्य दक्षपादपुरःसरम्। प्रविशेत्पूजनागारं विमल्याद्यपसारयेत्॥ ४०॥

दक्षिणपाद के पहले और फिर देहली (डयोड़ी) को नमस्कार करके पूजा-गृह में प्रवेश करे। निर्माल्य (पहले दिन का सूखा हुआ माला फूल) आदि उठाए ॥ ४० ॥

> प्रोत्थापयेत् प्रभृं सुष्तं सुगीतमिङ्गलस्वनैः। श्रेष्ठा मनोमयीमूर्तिरथाश्माः गण्डकीभवः॥४९॥ सौवर्णी राजतीं शैलीं काष्ठीं वा मृण्मयीमपि। चैत्रीं वा पूजयेन्मूर्त्तिमुपचारैः शुभैः प्रिये॥४२॥

फिर सोते हुए प्रभु को सुन्दर गीतों एवं मङ्गल व्वित्यों बादि से उठाए। मनौ मयी (मन में व्यान में लाइ गई) मूर्ति श्रेष्ठ है। मूर्ति पत्थर अर्थात् गण्डकी में प्राप्त शालिग्राम की सुवर्ण से बनी, चाँदो से बनी अथवा शेल या काठ से बनी होनी चाहिए। मिट्टी की ही मूर्ति हो अथवा चित्रात्मक मूर्ति ही क्यों न हो, है प्रिये, गुभ उपचारों द्वारा पूजन करना चाहिए।। ४१-४२।।

अर्घं च पाद्याचमने मधुपर्कमपःस्पृतः।
स्नानं वस्त्रमथाप्रोह्य वासांस्याभरणानि च ॥ ४३॥

वर्ष, पाद्य एवं आचमन, मधुपर्क, जलस्पर्क, स्नान, वस्त्र आदि उपचारों द्वारा वस्त्रों एवं आमूवणों से सजाकर ॥ ४३॥

दपंणालोकनं चैव गन्धपुष्पे ततः परम्।
धूपोगरुसमुद्भूतो दीपो नैवेद्यमेव च।। ४४।।
पानीयं तोयमाचामं हस्तवासस्ततः परम्।
ताम्बूलमनुलेपं च ततो नीराजनादिकम्।। ४५॥

दर्पण दिखाकर, गन्ध एवं पुष्पों को माला आदि से सजाकर, धूप एवं अगर से समुद्भूत दीप एवं नैवेद्य और शुद्ध जल से आज्ञमन कराके फिर हाथ धुलाकर, पान, और गन्ध एवं नीराजन[= शारती] आदि करना चाहिए ॥ ४४-४५ ॥

> गीतं वाद्य तथा नृत्यं स्तुतिः चैव प्रदक्षिणम् । पृष्पाञ्जलिनंगस्कारः साष्टाङ्गप्रणतिस्तथा ॥ ४६॥

अथारमो गल्लकी इति मूल पाठः ।

२. 'स्नानं **बद्धमवानाम**' इ०पा • ।

इत्येतीरुपचारैरचे पूजयेत्प्राणवल्लभम् । अनिमल्यि सनिमल्यि पूजनं द्विविधे मतम् ॥ ४७ ॥

गाना बजाना एवं नृत्य करना चाहिए तथा स्तुति और प्रवक्षिण करके पुष्पाञ्चलल लेकर नमस्कार करे। फिर साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार के उपचारों से प्राणवल्लभा की पूजा करे। पूजा दो प्रकार की होती है—(१) विना निर्माल्य के पूजन और (२) निर्माल्य के सहित पूजन ॥ ४६-४७॥

दिव्यैमेनोभवैः पुष्पैर्गन्धद्रव्यैमेनोहरैः। भक्तैयंत्क्रियते सम्यगनिर्मात्यं तदर्चनम्।। ४८ ॥

निर्माल्य सहित पूजन वह होता है जिसमें दिव्य [==स्वर्गीय] मन के भावों से, पुष्पों से, मन का हरण करने वाले गन्ध-द्रव्यों से मक्तिपूर्वक अर्चन किया जाता है वह सम्यक् निर्माल्य है ॥ ४८॥

जातमात्राणि पुष्पाणि झातान्येव निसर्गतः।
पञ्चभिष्य महाभूतैभीनुना शशिनापि च।। ४९।।
प्राणिभिष्य द्विरेफाद्यः पौष्पेरेव न संशयः।
यदर्चनं सनिमल्यिं दिव्यभोगापवर्गदम्।। ५०॥

नवीन खिले हुए प्राकृतिक रूप से जो सुगन्धित हों, पञ्चमहाभूतों से, सूर्य और चन्द्रमा से भी, प्राणियों और भीरों से तथा नि:सन्देह रूप से पुष्पित फूलों से अर्चन-पूजन होता है, वह दिव्य भोगापवर्ग का देने वाला सनिर्माल्य पूजन है।। ५०।।

> ग्रामारण्यादिसंभृतैः प्जाद्रव्यैर्मनोहरैः। घ्रातपुष्पात्फलं सिध्येदन्पं नो मानसात्तथा।। ५१।। तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चाप्युपायतः। 'बुद्धिशुध्यै ततो देवि बाह्यद्रव्यैः प्रपूजयेत्।। ५२।।

गौव और अरण्य आदि में उत्पन्त मनोहर पूजाद्रव्यों द्वारा सुनन्धित पुष्प के थोडे से भी फल को मन से सिद्ध करे। फिर उस अपरिहाय और अन्य उपाय से, शुद्ध बुद्धि से तब, हे देवि । बाह्य द्रव्यों से प्रकृष्ट रूप से पूजन करे।। ५१-५२।।

पुनस्त्रेष्ठा कृष्णपजा चोत्तमाधममध्यमा। यथोपकरणैः कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमोत्तमा।। ५३।।

बढिशुद्ध स्तत इति पाठः ।

२. यज्ञोपकरणैरिति पाटः।

पुना उत्तम क्रिप से द्वीन प्रकार की कृष्ण पूजा कही गई है। जैसा कहा गया है वैसा ही सभी उपकरणों को जुटाकर की गई पूजा उत्तम से उत्तम पूजा कही। गई है।। ५३।।

ययालब्धेविनिष्पाद्या द्रव्यैः पूजा तु मध्यमा। पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसज्ञिका॥ ५४॥

जो शास हो जाय उन द्रव्यों से संपादित की गई पूजा दूसरी 'मध्यम' पूजा है। पज, पुष्प और जल से की गई पूजा 'अधम' संज्ञक तीसरी पूजा है।। ५४।।

> आदौ तु मानसीं कृत्वा ततो बाह्यां प्रवतंयेत्। नीराजनान्तमासाद्य जपं कुर्याच्जितेन्द्रियः॥ ५५॥

पहले मानसो पूजा करके फिर बाह्य उपकरणों से पूजा करे। फिर नीराजनः [आरबी] तक आकर जितेन्द्रिय व्यक्ति को चाहिए कि वह जप करे।। ५५॥

तृलसीकाष्ठसम्भूतैर्मणिभिः कृतमालया। जपेच्छतं सहस्रं वा त्रिसन्ध्यास्विप तं जपेत् ॥ ५६॥

तुलसी की लकड़ी से बनाई गई मणियों की माला बनाकर शत जप करे, अथवा हजार जप करे। उसे चाहिये कि तीनों सन्ध्या समय वह उसको जपे ॥ ५६॥

जपपूजासन कुर्याच्चित्रकम्बलनिर्मितम् । कौशोय वाथ चैलं वा चर्म तूलमथापि वा । ५७ ॥

जप और पूजा का आसन उसे रंगीन चित्रित कम्बल से बना प्रयोग में लाना चाहिए। कीशेय आसन हो अथवा वस्त्र, [मृग] चर्म या रूई का आसन भी प्रयोग किया जा सकता है।। ५७।।

> वैत्रजं तालपत्रं वा दार्भमासनमेव च। बंशाहमदारुधरणीतृणपत्लवनिर्मितम् ॥ ५७॥ वर्षयेदासनं मन्त्री दारिद्रघट्याधिदुःखदम्। एवं सम्पूजयेत्कृष्णं प्रत्यह परमद्वरि ॥ ५९॥

बीस की बनी चटाई आदि का आसन, ताड़ के पेड़ के पत्ते का या कुशासन का प्रयोग करना चाहिए। बांस से निर्मित, पत्थर या लकड़ी का पीढ़ा पृथ्वी पर या तृण से निर्मित आसन का प्रयोग मन्त्र जाप करने वाले को नहीं करना चाहिए। वस्तुता से आसन दारिद्रघ, ज्याधि और नाना प्रकार के दुः को को देने वाले होते: हैं। इस प्रकार, हे परमेश्वरि ! कुष्ण का पूजन-अर्चन नित्य प्रति करै ॥ ५९॥ न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम्। प्राप्नोति चन्द्रवदने जपपूजादिभिविना।। ६०॥

हे चन्द्रमुखी ! जप-पूजा आदि के विना गृहस्य इस लोक और परलोक दोनों में मात्र ज्ञान ही प्राप्त कर लेने से मङ्गल नहीं प्राप्त करता ॥ ६० ॥

अहिंसा सत्यमस्त्येयं ब्रह्मचर्यजपार्जवम्। क्षमा धैर्यं मिताहारं आस्तिवयं दानमेव च ॥ ६१॥

जसे अपने जीवन में १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. दबा-जप, ६. आर्जव [सरलता], ७. क्षमा, ८. घैर्य, ९ मित आहार, १०. अस्तिकता और ११. दान, ॥ ६१ ॥

वैराग्यं च विवेकश्च शमः श्रद्धा दमस्तथा। मुमुक्षुता विवेकश्च समाधानं तथात्मनः॥ ६२ ॥

१२. वेराग्य, १३. विवेक, १४. शम, १५. श्रद्धा तथा १६. दम—इस प्रकाच अपुमुक्षुता और विवेक से आत्माः का शोधन करना चाहिए ॥ ६२ ॥

एतत्साधनसम्पत्ति कुर्वतां परमेश्वरि । मानं दारिद्रघशमनं भविष्यति न संशयः ॥ ६३ ॥

हे परमेश्वरि ! इस प्रकार के साधनरूप सम्पत्ति को करने से निःसन्देह रूप से उसे ज्ञान प्राप्त होगा और उसके दारिद्रघ का श्रमन होगा ।। ६३ ।। सर्वेषामेव जन्तूनामक्लेशजननं प्रिये । वाङ्मनः कर्माभिनुनमहिंसेत्यभिधीयते ।। ६४ ।।

१. हे प्रिये ! सभी प्राणियों का विना क्लेश के जनन [उत्पन्न होना] है। निश्चय ही मनसा, वाचा तथा कर्मणा लोगों के द्वारा अहिसा कहो गई है।। ६४॥

> यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः। सत्यमित्युच्यते सद्भिस्तद्बह्मप्राप्तिसाधनम्।। ६५ ।।

२. सत्य--जिसा देखा है अथवा जैसा सुना है। पुन: वैसा ही स्वरूप का कथन करना सज्जनों द्वारा 'सत्य' कहा जाता है जोकि ब्रह्मप्राप्ति का साधन है।। ६५ ॥

> तृणादेरप्यनादानं परस्य च प्रियंवदे। अस्तेयमेतदप्यंङ्गं ब्रह्मप्राप्तेः सनातनम्॥६६॥

३. अस्तेय—हे प्रियंवदे दूसरे का तृण भी न छेना 'अस्तेय' है। यह भी ब्रह्म-श्राप्ति का एक सनातन अङ्ग है।। ६६।। अवस्थास्विप सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा। स्त्रीसङ्गतिपरित्यागी ब्रह्मचर्यः प्रचक्षते ॥ ६७॥

४. ब्रह्मचर्य — (जीवन की यौवन, प्रौढ़ और बढ़ापा आदि) सभी अवस्थाओं में कमें से, मन से और बाणी से भी स्त्री की संगति का परित्याग 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है।। ६७।।

परेषां दुःखमाकोनय स्वस्येवालोच्य तस्य तु। उत्सादनानुसन्धानं दयेति प्रोच्यते शिवे।। ६८।।

५. दथा—हे कल्याणि ! दूसरे का दुःख देखकर उसके दुःख को अपना ही दुःख समझना और उससे छुटकारा प्राप्ति के उपाय का अनुसन्धान करना 'दया' कहा यया है ॥ ६८ ॥

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः। सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यं चार्जवं स्मृतम्।। ६९ ॥

६. आर्जव—मन, वाणी, शरीर और कभी के द्वारा सभी प्रकार के व्यवहारों में कुटिलता के राहित्य को स्मृतिकारों ने बार्जव [सरलता] कहा है।। ६९।।

> सर्वात्मना सर्गदापि सर्वेषामुपकारिता । बन्धुष्विव समाचारः क्षमा स्यात्परमेश्वरि ॥ ७० ॥

७. क्षमा-सदैव सभी का सर्वात्मना उपकार करना और बन्धुओं के समान अच्छे आचार व्यवहार को, हे परमेश्वरि । 'क्षमा' कहा गया है ॥ ७० ॥

> इच्छाप्रलापराहित्यं जातेषु विषयेषु च। दुःखेषु च घृतिर्घेयं प्रवदन्ति वराङ्गने।। ७१।।

द. धैयँ – हे वराष्ट्रने ! उत्पन्न विषयों में इच्छा और प्रलाप का राहित्य और इसी प्रकार प्रकट हुए दुःखों में भी रोना चिल्लाना आदि प्रलाप के न होने को विद्वान लोग 'धैयँ' कहा करते हैं ॥ ७१ ॥

भोज्यस्यैव चतुर्थाशो भोजनं स्वस्थचेतसः। अत्युग्रकट्तिकाम्ललवणादिविवर्जितम् ॥ ७२॥ हितं मेध्यं सुखं चेति मिताहारःस उच्यते।

^{🐫 &#}x27;सर्वदास्योपकारिषु' इ० पा० ।

२. 'लामस्तु घृतिचँग्रं' इ० पा०।

९. मिताहार—भोजन के चतुर्यांश का भोजन करना व्यक्ति को स्वस्थिति वनाता है। अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त कडुआ, अतिरिक्त, अत्यन्त खट्टा और अत्यन्त नमकोन पदार्थ को न खाना स्वास्थ्य के लिए हितकारो, मेध्य [सुपाच्य] और सुख को उत्पन्त करने वाला आहार ही 'मिताहार' कहा गया है।। ७२-७३।।

श्रुत्याद्यक्तेषु विश्वास आस्तिक्यं सम्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

१०. बास्तिकता—श्रुति बादि की उक्तियों में विश्वास करना 'आस्तिकता' कही जाती है ॥ ७३ ॥

> ध्यात्वान्तर्यामिनं चित्ते तदर्पणधियाऽन्वहम् । सत्पात्रे दीयते दानं तद्दानमभिधीयते ॥ ७४ । ।

११. दान - अन्तर्यामि प्रभु का चित्त में घ्यान करके उन्हीं को सदैवं अर्पिक करने की बुद्धि से सत्पात्र में दिए गए दान की, ही उचित 'दान' कहा गया है। १४।।

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषयेषु बहुष्वि। 'वान्ताशनजुगुप्सा च वैराग्यं प्राप्तिसाधनम्। ७५ ।।

१२. वैराग्य १३. (विवेक) ब्रह्मा आदि देवों से लेकर स्थावर पर्यन्त सृष्टि के सभी विषयों में और बहुतों में भी उल्टी करके पुन: खाने के समान जुगुप्सा रखना 'वैराग्य' है जो वस्तुतः 'ब्रह्मा' की प्राप्ति का साधन है ॥ ७५ ॥

नित्यं वे वासनात्यागः 'परदारगृहादिषु। परानन्दपरा भक्तिः 'शम इत्युच्यते हि सः॥ ७६॥

१४ परायी स्त्री और पराए गृहादिक धन को इच्छा का नित्य प्रति त्याग करके श्रेष्ठ 'भक्ति' ही 'शम' नाम से कही गई है ॥ ७६ ॥

निगमागमवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति कीर्त्तता। विषयानन्दचरतामिन्द्रियाणां विानग्रहः ॥ ७७ ॥ दम इच्युते देवि ब्रह्मप्राप्तेहि कारणम् । ससारं भयदं मत्वा विरहः स्यादशेषकः ॥ ७८ ॥ मुक्तिकामस्य देवेशि कथिता सा मुमुक्षृता।

१ वान्त्य शनवज्जुगुप्सा च इति पाठा।

२ 'पुरद्वार' इ० पा०।

३ 'सक्ति' इ० पा०।

^{😭 &#}x27;विरहस्य' दशोशकं इं० पा०।

कोऽहं कथिमदं जातं को वं कत्तास्य विद्यते । उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ।। ७९ ॥ उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन । तस्मात्सर्वे प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवाविद्यया ततम् ॥ ८० ॥

१४. निगम (वेद) आगम (पुराण) आदि के वाक्यों में भक्ति करना ही 'श्रखा' नाम से प्रसिद्ध है। विषयों के आनन्द में एत इन्द्रियों के विशेष प्रकार से निग्रह [रोकने] को हे देवि ! 'दम' कहते हैं।

१५. [विषयानन्द में लिप्त होने से इन्द्रियों को इसिलए रोकना चाहिए] क्योंकि यह बहा प्राप्ति का कारण है। [मृत्यु के कारण] 'यह संसार भय को ही देने वाला है'—ऐसा मानकर और अन्ततः इससे विरह ही प्राप्त होगा यह सोंचते हुए इस विरह रूप दुःख से मुक्ति [छुटकारा] पाने की कामना ही हे देवेशि! 'मुमुक्षता' कही गई है। 'हम कौन हैं? यह कैसे उत्पन्न हुआ? इसका कर्ता कौन है? इसका उपादान कारण क्या है? इस प्रकार के विचार का उत्पन्न होना और इस [चराचर जगत् रूप] सर्व प्रपन्न का उपादान कारण ब्रह्म को छोड़कर और कोई अन्य नहीं है और इस लिए यह ब्रह्म ही सभी प्रपन्न है जिसका विस्तार अविद्या के कारण ही है।।।। ७७-४०।।

ब्रह्मे व सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च । कर्माण्यपि समग्राणि विभर्तीति श्रुतिजंगी ॥ ८९ ॥

'सभी नामों को और विविध प्रकार के रूपों को तथा समग्र कमों को भी बहुता ही धारण करते हैं'—इस प्रकार श्रुति कहती हैं।। पर ।।

यथैव व्योम्नि नीलं च यथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मिना दर्गाः

जैसे आकाश में नीलिमा है और जैसे मरुस्थल में जल है तथा स्थाणु [ठूठे वृक्ष] में जैसे पुरुषत्व है वैसे ही चिदात्मा में विश्व की स्थिति है ॥ ८२ ॥

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फ्रस्यलम् । पात्ररूपेण वेताम्रं ब्रह्माण्डो वैतथाक्षरः ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार तरङ्ग बीर कलोल जल में ही उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ताम्बे के पात्र रूप में स्थित है तथा अक्षर उसमें व्याप्त है।। ८३।। तस्मात्त्रपञ्चविभ्रान्तां नियम्य मतिमात्मनि । उत्तसाधनसम्पन्नः सखीभावं निजंगतः ॥ ८४॥

इसिक्ट प्रपञ्च में विविध प्रकार से अमित होने वाली अपनी बृद्धि को नियमित करके ऊपर कहे हुए साधन से सम्पन्न होकर अपने को सखीभाव को प्राप्त करना चाहिए ॥ ८४॥

> नित्यं लीलारसानन्दं स्वपति पुरुषोत्तमम्। भजत्यनन्यया बुध्या पुनः संयोगमाब्नुयात्।। ४५ ॥

नित्य ही लीला रूप-रस से आनन्दित करने वाले अपने पति [पालक] पुरुषोत्तम को जो अनन्य बुद्धि से भजता है वह पुनः संयोग को प्राप्त करता है ॥ ८५ ॥

> इति ते कथितं देवि तदाराधनलक्षणम्। समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४६॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती-संवादे एकत्रिंशे पटलम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार हे देखि ! उन प्रभुकी आराघन का लक्षण क्रम हमने तुमसे संक्षिष्ठ रूप में कहा है। अब तुम पुनः और क्या सुनना चाहती हो ॥ ८६ ॥

श इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान सङ्कर के संवाद के एकतीसवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिशं पटलम

पार्वत्युवाच

देवेश भगवन् शम्भो भक्तवत्सल धूर्जंटे। श्रुतोऽयं में महामन्त्रश्चृडामणिरनुत्तमः॥९॥

पार्वती ने कहा-

है देवेश, भगवन, शम्भो, भक्त-वत्सल, धूर्जंटे! मैंने यह उत्तम चूडामणि अप महामन्त्र को सुन लिया है।। १।

> यस्य विज्ञानमात्रेण स्वयं शुध्यति वासना । अन्येऽपि शुद्धिमायान्ति स्वयं तत्सिङ्गिसङ्गतः ॥ २ ॥

यह मन्त्र इस प्रकार का है कि जिसके जान लेने मात्र से ही स्वयमेव वासना की शुद्धि हो जाती है और वे अन्य जन भी [मन की] शुद्धता की प्राप्त कर लेते हैं जो स्वयं से इसके सङ्ग में सङ्गत होते हैं॥ २॥

> मन्त्रराजिममं देव प्राप्तुयात्कः पुमान्यदि । भिन्नभिन्नफलैः कर्मपाज्ञजालैनियन्त्रितः ॥ ३ ॥

हे देव! यदि इस मन्त्रराज को कोई पुरुष प्राप्त कर ले तो वह भिन्न-भिन्न फलों से और कर्म रूपी पाश के जालों से नियन्त्रित हो जाता है।। ३।।

> न स्त्री न पु**रु**षः कदिचिद्वदिते नामरूपतः। स्त्रीप्राप्यमेव तद्ब्रह्म कृष्ण आनन्दविग्रहः॥ ४॥

उसकी प्राप्ति के बाद स्त्री या पुरुष कोई भी नाम और रूप से नहीं विद्यामान रहते। अपितु आनन्द के साक्षात् विग्रह रूप कृष्ण-ब्रह्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। । ४।।

> भोक्तृभोग्यस्वरूपेण रसइचेति श्रृतेर्मतम् । नात्यन्तं च तयोर्भेदो भेदः स्वामाविकः प्रभो ।। ५ ॥

खुति का भी यही मत है कि भोनत और भोग्य स्वरूप के द्वारा यह शहानन्द ही उस है। हे प्रभो ! उस ब्रह्मानन्द की अवस्था में दोनों ही भोनता और भोग्य में कोई भेद नहीं होता जो स्वाभाविक ही है। प्रा

आलम्बनादि विधुरो रस एव न सिद्धचिति। यदिना यन्न संसिद्धचेत्तत्तदेव न चान्यथा॥६॥

क्योंकि आलम्बन आदि को छोड़कर रस की सिद्धि ही नहीं होती है। जिसके बिना जिसकी सिद्धि नहीं उसकी स्थिति उसके बिना सभाव्य ही नहीं है।। ६।।

तथापि भोक्तुभोग्याभ्यां भागाभ्यां क्रीडतेऽनिशम् । भोग्यभागस्तु तापात्मा भोक्तुभागोऽमृतात्मकः ॥ ७ ॥

उसी प्रकार भोक्ता और भोग्य दोनों ही अहिनश क्रीडा करते रहते हैं। उन दोनों में भोग्य वस्तु तापात्मक है और भोक्ता तो अमृतात्मक ही है।। ७॥

> अविनाभावसम्बन्धस्तापस्य च सुखस्य च । भोक्तृभोग्यांशयोविप्रलंभस्तापस्य सिद्धये ॥ ८ ॥

इस प्रकार ताप और सुख दोनों का अविनाभाव [चियुक्त न होने योग्य] सम्बन्ध है। अतः ताप की सिद्धि के लिए भोक्तु और भोग्यांश दोनों का ही विप्रलम्भ स्वरूप है।। ८।।

> कुष्णस्त्रीणां विप्रयोगे यदि तापोदयो भवेत्। कृतार्थता तदा जाता न निषधविधिस्थितौ ॥ ९ ॥

कृष्ण और | मुझ भनत-स्वरूप] स्त्री के वियोग से यदि [ब्रह्मानन्द रूप] ताप का उदय होता है तो तप में कृतार्थता होती है और उस समय निषेध रूप विधि (नेति, नेति) की स्थिति नहीं होती है ॥ ९ ॥

विप्रयोगे तु विज्ञाते हृदि तापोदयो न चेत्। तदा चूडामणिजपात् शीघ्र सिद्धचित नान्यथा।। १०।।

यदि कृष्ण और स्त्री [= भनत] का विशेष योग हुदय में विज्ञात होने फिर भी ताप का उदय न हो तो इसमें सन्देह नहीं कि इन मन्त्रों में चूड़ामणि रूप मन्त्र-राज के जप से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है !! १० ॥

> तस्माच्चूडामणेमन्त्रराजस्य च पुरिस्क्रयाम् । वद शम्भो विशेषण यथाय जीवितो भवेत् ॥ ११ ॥

इसलिए इस चूड़ामणि रूप मन्त्रराज का पुरश्चरण, हे शम्भो, आप मुझसे कहिए, जिससे यह मन्त्र जीवित हो जाता है ॥ ११ ॥

> त्वद्वागमृतपानेन न तृष्तिर्जायते मम्। धन्यं मत्कर्णयुगलं बह्मलीलामृत्रल्तुतम्।। १२॥

आपके अमृत रूपी वाणी के पान से मुझे तृष्ठि नहीं हो रही है। मेरे दोनों ही कान धन्य है जो ब्रह्म के लीला रूपी अमृत के पान से आप्लुत [भर] गए हैं। १२॥

अद्य मे पितरौ धन्यौ ययोरासमहं सुता।
प्रसादपात्रं भवतो वदतो व्रह्मणो रहः ॥ १३॥
आज मेरे माता और पिता (मेना और हिमालय) भी धन्य हुए हैं जिनकी मैं
लड़की हूँ। मैं आपके प्रसाद की पात्र हूँ जो आप गोपनीय ब्रह्म का प्रतिपादन कर

धिनकुलं धिग्धनं तस्य धिग्विद्यां धिग्यशोऽमलम् । न यस्य ब्रह्माचिन्तासु लीनवृत्ति भनो भवेत् ॥ १४॥ उस कुल को धिक्कार है, उस धन को धिक्कार है, उस विद्या को भी धिक्कार है और उस निर्मल यश को भी धिक्कार है जिसने अपने मन को और अपनी

वृत्तियों को ब्रह्म के चिन्तन में लीन नहीं किया है।। १४।। आयुर्वेषेशतं लोके तदर्हं निद्रया हतम्।

वाल्यवार्द्धकभावाभ्यां तथा रोगादिषीडनैः॥ १५॥

मनुष्य की आग्रु सौ वर्ष की है। उसका आधा भाग निद्रा [देवी] के द्वारा छीन लिया जाता है। बाल्यकाल और वृद्धावस्था तथा रोग आदि यातनाओं के द्वारा शेष जीवन का समय बीत जाता है।। १५।।

म्यर्थयन्ति महामूढा विमुखा ब्रह्मकीत्तंने। तस्मात्कथय देवेश कथां पापप्रणाशिनीम् ॥१६॥

इस प्रकार महोन् भूर्ख पुरुष ब्रह्मकीतँन से विमुख होकर व्यवस्थित होते ही रह जाते हैं। इसलिए हे देवेश ! पाप-ताप का नाश करने बाली कथा को कहिए ।। १६ ।।

पुरिस्क्रिया विधोपेतां मन्त्रराजस्य शङ्कर । यस्य श्रवणमात्रेण मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥ १७ ॥ हे शङ्कर । उस मन्त्रराज की विधि से युक्त पुरश्वरण को कहिए जिसके श्रवणमात्र से मन्त्र की सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

शिव उवाच

धन्यासि देवि गिरिन्द्रजे साधु पृष्टिमदं रहः। यस्य कस्यापि नो वाच्यं वाच्यं सर्वस्वदायिने ॥ १८॥

१. "लीनवति" इ० पा० ।

शिवजी ने कहा-

है गिरिराज कुमारी ! हे देवि, तुम धन्य हो जो तुमने इस गोपनीय [मन्त्रराज] को पूँछा है। जिस किसी को भी इसको नहीं बतलाना चाहिए जो सर्वस्य दान भी करने वाला हो उस भी नहीं ॥ १७॥

> लब्धवा मन्त्रं गुरोः सम्यक् सेवया च प्रसादतः। जयतर्पणहोमाद्यवीधयेन्मन्त्रमुत्तमम् ॥ १९॥

गुरु से अच्छी प्रकार से उसकी सेवा से और प्रसन्तता से इस मन्त्र को लेकर जप, तर्पण, होम बादि से इस उत्तम मन्त्र का उद्बोधन करे।। १८-१९।।

> शून्यागारे गिरौ रम्ये तीर्थे चोपाधिवणिते। उद्याने सिद्धपीठे वा प्रयोगे पुष्करेऽथवा।। २०।।

इस मन्त्रराज का एकान्त घर में या एकान्त पर्वत पर, या रस्य उपाधिवर्जित तीर्थ पर, उद्यान में अथवा किसी सिद्धपीठ पर या प्रयाग में अथवा पुष्कर क्षेत्र में ॥ २०॥

> नर्मदायास्तटे वापि विन्ध्याद्री वा गुभस्यले । जपतो मन्त्रराजानं सिद्धिः शीघ्रं प्रजायते ॥ २१ ॥

नमंदा के तट पर, विन्ध्य पर्वंत पर या किसी गुभ स्थल में जप करने से शोध सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २१ ॥

> जितेन्द्रियो जितकोधो जितचित्तो दृढवतः। दृढवैराग्यसम्पन्नो देहाहङ्कारवर्जितः॥ २२॥

वहाँ उसे जितेन्द्रिय रहकर, क्रोध को जीतकर, चित्त की वृत्तियों का निरोध करके, हेढवत धारी होकर, हढ वैराग्य धारण करके और देह के अहङ्कार से रहित होकर ॥ २२ ॥

> दयासुः सर्वभूतेषु भूतबाधापराङ्मुखः। शङ्कातङ्कादिरहितो रागद्वेषविवर्जितः।। २३ ॥

सभी प्राणियों पर दयालु होकर, भूतबाधा से पराङ् मुख होकर सङ्का-सन्देह से पहित और राग एवं देव से रहित होकर ॥ २३ ॥

> देहगेहादिका विन्तां परित्यज्य प्रशान्तधी।। मन्त्रध्यानपरो निस्त्रं लीलाध्यानरतः सदा॥ २४॥

जपने चरीय और गृह छादि की चिन्ता को छोड़कर उस मान्त मिस्त झाले जन को

नित्य ही मन्त्र का व्यान करना चाहिए और सदैव [कृष्ण की | लीला के व्यान में रत रहना चाहिए !! २४ !!

> त्रिधास्त्रीसंङ्गतित्यागात् ध्यानमुद्राधरोऽनिशम् । मौनी त्रिषवणास्नायी शुचिदेहः सिताम्बरः ॥ २५ ॥

तीन प्रकार से [मनसा, वाचा, कर्मणा] स्त्री की सङ्गित त्याग कर उसे अहर्निश ध्यान की मुद्रा में रहना चाहिए। उसे सदैव मौन घारण करना चाहिए। उसे तीन काल में स्नान करना और शुद्ध देह एवं सफेद वस्त्र से युक्त रहना चाहिए।। २५।।

वर्णाश्रमक्रियायुक्तो विश्वासी ह्यनसूयकः। देववाह्मणगोनिन्दारहितो स्रोभवर्जितः ॥२६॥

उसे वर्णाश्रम घर्म की क्रिया से युक्त, विश्वासी और असूया न करने वाला, देवता, ब्राह्मण एवं गायों की निन्दा न करने वाला एवं लोभ से वीजत रहने वाला होना चाहिए ॥ २६ ॥

> एवंविधगुणेयुंकः कुर्यान्मन्त्रपुरस्क्रियाम् । मनसा कल्पयेत्क्षेत्रं गमनागमनाय च ॥ २७ ॥

इस प्रकार के गुणों से युक्त होकर मन्त्र की पुरस्क्रिया का आरम्भ करे। अपने मन से उसे गमन योग्य और न गमन करने योग्य क्षेत्र की कल्पना करनी चोहिए।। २७।।

> विकिरेत्सर्षपान् दिक्षु शतधा मन्त्रशोधितान् । ज्वलदग्निनिभान् दृष्ट्वा पलायन्ते विनायकाः ॥ २८ ॥

उसे मन्त्र से शोधित सरसों को सौ बार दिशाओं में छींटना चाहिए। जलती हुई अग्नि के सहश इन्हें देखकर विनायक [गण] भाग जाते हैं।। २८॥

ततः खादिरकीलांश्च दशिदक्षु खनेत्प्रिये। नायान्ति कीलिता विघ्ना दृष्ट्वा क्षेत्रं च कीलित्म्।। २९॥

इसके बाद, हे प्रिये ! दसों दिशाओं में खदिय [= खैर] की लकड़ी की कील खनकर गाड़ देनी घाहिए। इस कीलित क्षेत्र को देखकर विध्न वाघाएँ वहाँ नहीं आती हैं।। २९॥

> न बहिर्गमनं कुर्यात् क्षेत्रमुल्लङ्घ्य मोहतः। तमोमात्रात्मकाः केचित् श्रेयसा परिपन्थिनः॥ ३० ॥

अता किसी भी प्रकार से मोह या लोभवंग इस की लित क्षेत्र के बाहर लाँधकर नहीं ही जाना चाहिए। क्योंकि कल्याण चाहने का दिखावा करने वाले तमो मात्रात्मक जन भी होते हैं॥ ३०॥

> औदासिन्यं भयं क्रोधं निद्रातन्द्राविवर्जयेत् । दुग्वपानं फलाहारं भिक्षान्नं चापि सेवयेत् ॥ ३१ ॥

इस समय उसे उदासीनता, भय एवं क्रोध, निद्रा तथा आलस्य से रहित होना चाहिए। उसे सदैव दुग्ध का पान और फल का आहार करके भिक्षा से प्राप्त अर्घ का सेवन करना चाहिए॥ ३१॥

> कन्दमूलफलैः पत्रैस्तथैवायाचितेन च। कल्ययेद्दैहिकीं वृत्ति यथा नेन्द्रियविक्रिया।। ३२॥

कन्द-मूल, बादि फलों एवं तोड़े हुए पत्तों से अपनी देह की [भूस आदि] शृचियों का प्रतिपादन करना चाहिए, जिससे कि इन्द्रिय की विकलता न हो जाय ।। ३२ ।।

इन्द्रियाणां विकारे तु मन्त्री शीघ्रं विनव्यति । सर्वेषु धर्ममार्गेषु चरतां सिद्धिकाम्यया ॥ ३३ ॥

क्योंकि इन्द्रियों के विकार से तो उस मन्त्र जप करने वाले का शोघ्र ही विनाश हो जाता है। अतः सभी घर्मों के मार्गों में सिद्धि की कामना से आचरण करना चाहिए॥ ३३॥

> परिपन्थी न चान्योऽस्ति यथेन्द्रियविकारिता । तस्मादिन्द्रियरक्षाथं सावधानतया चरेत् ॥ ३४॥

उतना ही नियम एवं संयम करे जिसमें इन्द्रिय की विकलता न हो। इसलिए इन्द्रियों की रक्षा के लिए सावधानी से आचरण [नियम-संयम] करे।। ३४॥

> इन्द्रियाणि मनो देवि नोपेक्ष्याणीति मे मति:। उपेक्षया हता लोका विश्वमन्ते विचित्रधा ॥ ३५॥ । मेरे विचार से इन्द्रियों और मन की कभी भी जोक्षर नहीं।

हे देवि ! मेरे विचार से इन्द्रियों और मन की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । वस्तुतः उपेक्षा करने से वे नष्टप्राय होकर विचित्र प्रकार से लोकों में विभ्रमित होते हैं ॥ ३५ ॥

विषयेभ्यो निवृत्तोऽपि जितकाममदोऽपि सन्।

न करोमीन्द्रियोपेक्षां मायासृ व्टिविमोहिनी।। ३६।।
विषयों से निवृत्त होने पर भी और कामरूपी मद के जीत लेने पर भी मैं

(= शिव) इन्द्रियों की उपेक्षा नहीं करता हूँ क्योंकि यह माया से उद्भूत सृष्टि विमोहित करने वाली है ॥ ३६॥

> के के वा न हता देवि बलिष्ठेरिन्द्रियारिभिः। अहल्यायां कृतो जार इन्द्रस्त्रीलोक्यरक्षकः॥ ३७॥

है देवि ! इन इन्द्रिय रूपी बलवान शत्रुओं से कीन ऐसे है जो नहीं मार गिराए गए हैं। सती अहल्या में भी बैलोक्य के रक्षक इन्द्र ने जार कर्म किया ।। ३७ ॥

> चन्द्रमा गुरुभार्यायां तारायां विनियोजितः। बन्धुक्षेत्रे गुरुश्चापि वेदवेदान्तवित्कविः॥३८॥

चन्द्रमा ने भी गुरु [वृहस्पति की भी] पत्नी तारा में नियोग कर्म किया और वेद एवं वेदान्त के ज्ञाता क्रान्तदर्शी गुरु ने भी बन्धु उचध्य [की स्त्री ममता] के क्षेत्र में सम्भोग किया ॥ ३ ॥

विमर्श — बृहस्पति (गुरु) आङ्किरस कुल में उत्पन्न एक ऋषि हैं। जिनके संवतं तथा उचध्य नामक दो भाई थे। एक बार इन्होंने उचध्य की गर्भवती पत्नी ममता के साथ सम्भोग किया। सम्भोग करते समय ममता के उदर में स्थित बालक ने वृहस्पति से बार-बार उक्त किया करने पर प्रतिबन्ध लगाया। इस पर क्रोधित होकर इन्होंने उस बालक को शाप दिया कि वह जन्मान्ध पैदा हो। यही वालक बाद में अन्वे दीर्घतमस ऋषि हए।

सीतायां रामभायायां मद्भक्तोपि दशाननः। एतेऽन्येपीन्द्रियहतास्तस्मात्तानि न विश्वसेत्॥३९॥

राम की भार्या सीता में मेरे भक्त दशानन ने भी कुदृष्टि रखी थी। इसके अतिरिक्त भी और भी कई जन 'इन्द्रिय से हत हुए हैं। इसलिए इन इन्द्रियों पर विश्वास नहीं ही करना चाहिए।। ३९।।

तस्मादाहारमाकु नय जेत्रव्यानीति मे मतिः। धारयेन्नखकेशांश्च वासः प्रक्षालितं वसेत्।। ४०॥

इसलिए मेरे विचार से आहार का संकोच करके इन्हें जीतना चाहिए। उस मन्त्र जापक को नख और केश रेख लेना चाहिए और बुले हुए साफ सुथरे घर में रहना चाहिए॥ ४०॥

शयीत भूमौ शय्यायां कुशमय्यां निशासु च । वासः प्रक्षालयेद देवि कटिमुक्तं यदा भवेत् ॥ ४९॥ उसे भूमि पर शयन करना चाहिए और रात्रि में कुश के बिछीने पर हैं। सोना चाहिए। हे देवि! जब कटि मुक्त होए तब अर्थात् सोकर उठने के बाद उस वस्त्र घो देना चाहिए।। ४१।।

> पतितैः कर्मचाण्डालैः जातिचाण्डालकैरपि। म्लेच्छान्त्यजसङ्करैश्च न भाषेत जपे स्थितः। ४२॥

जप में स्थित रहकर उसे, पितत जनों, कम से चाण्डाल कर्म करने वालों से और जाति से भी चाण्डालों से और स्लेच्छ, अन्त्यज एवं वर्णसङ्कर बनों से बातचीत नहीं करनी चाहिए।। ४२।।

सन्ध्याकाले व्यतिक्रान्ते देहवृत्ति तु कल्पयेत् । न्यनाधिक न कुर्वीत जपं देवि दिने दिने ॥ ४३ ॥

सन्त्या समय के बीत जाने पर ही शरीर सम्बन्धी वृत्तियाँ [मल-मूत्र त्याग या मोजनादि] करना चाहिए। हे देवि ! उसके बाद प्रत्येक दिन नियत संख्या में ही जप करना चाहिए। मन्त्र जापक को कभी कम या कभी अधिक मन्त्र-जप नहीं करना चाहिए॥ ४३॥

> नीचसम्भाषणे देवि म्लेच्छसम्भाषणे तथा। प्रायश्चित्तं प्रकृवीतं सहस्रजपसंख्यया॥ ४४॥

हे देवि ! यदि नोच िचाण्डाल आदि } से सम्भाषण कर ले अथवा म्लेच्छ से वार्तालाप कर ले तो एक हजार मन्त्र का जप करके प्रायश्चित्त करना चाहिए । ४४ ॥

> यामार्खेनावशिष्टायां निशि शय्यां परित्यजेत् । उदिते च सहस्रांशो यः शेते निद्वितोऽलसः ॥ ४५ ॥

रात में जब अर्घ याम [- प्रहर] के अविशाष्ट रहने पर ही माय्या का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जो सहस्त्रांशु [- सूर्य] के उदित हो जाने पर निद्रा में या आकस्य में शब्या पर पड़ा रहता है।। ४५।।

> जपः छिद्रमवाप्नोति सिद्धिर्भवति दूरगा। सावधानतया भाव्यं तस्माद्देवि दिने दिने ॥ ४६॥

उसे सिद्धि-प्राप्त होना तो दूर की बात है। उसके जप [रूपी वस्त्र] में छिद्र हो जाता है। ईसलिए हे देवि! प्रतिदिन उसे साववानो से समय से उठकर जप करना चाहिए॥ ४६ ।।

१. न नीचो यवनात्परः i

ह्यायेल्लीलां जपश्चान्तो ह्यानश्चान्तः पुनर्जपेत् । जपह्यानसमायुक्तः शीझं सिध्यति मन्त्रवित् ॥ ४७ ॥

यदि जप करते-करते थक जाय तो भगवान कृष्ण की लीलाओं का घ्यान करना चाहिए और जब घ्यान करते-करते थक जाय तो पुनः जप करना शुरु कर देना चाहिए। क्योंकि मन्त वेत्ता इस प्रक्रिया से जप और घ्यान को समुचित करके शीघ्र सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।। ४७।।

नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवस्त्राकुलोऽपि वा। तैलताम्बूलपुगादिसर्वभोगान् विवर्जयेत्। ४८॥

मात्र एक ही वस्त्र पहनकर मन्त्र का जप नहीं करना चाहिए; अथवा बहुत से वस्त्रों को भी पहनकर जप नहीं करना चाहिए। साधन के समय साधक को तैल, ताम्बूल, सुपाड़ो आदि सभी भोग की सामग्रियों का त्याग कर देना चाहिए।। ४८॥

वाङ्मनः कायकौटिल्यं सर्वथेव परित्यजेत्। न वाचोद्वेजयेत्किञ्चिन्नाशुभं कस्य वा स्मरेत्।। ४९।।

उसे चाहिए कि मन वाणी शरीर की कुटिलता को सभी प्रकार से त्याग दे। कभी भी बाणी से किसी को भी उद्देलित न करे और मन से भी किसी का अगुम न चाहे।। ४९॥

न चक्षुषा निरीक्षेत पशुक्रीडां कदाचन।
न चेक्षेत स्त्रियं नग्नां न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ॥ ५०॥
कभी भी पशुकी क्रीडा को आँख से न देखे। न तो नग्ना स्त्री को देखे और
न ही अभाङ्गलिक द्रव्यों का स्पर्शं करे॥ ५०॥

मध्यन्दिनावधि जपेन्मन्त्रराजमनन्यधीः । ततः परं तु मनसा ध्यायेल्लीलां समाहितः॥ ५९ ॥

अनन्य बुद्धि से [विना किसी और का व्यान किए हुए] इस मन्त्रराज का जप मध्याह्म तक करना चाहिए! उसके बाद समाहित चित्त होकर सगवान कृष्ण की कीला का व्यान सन से करना चाहिए।। ५१।

जपस्यैवं दशांशेन होमं कुर्याद् दिने दिने। अथवा लक्षपर्यन्तं जप्त्वा होमं समाचरेत्॥ ५२॥

अथवा लक्षपयन्त जप्त्वा हाम त्या प्रिट्ट दश माला जप प्रतिदिन उसे जप की संख्या के दशांश [अर्थात् ।यदि दश माला जप प्रतिदिन उसे जप की संख्या के दशांश [अर्थात् ।यदि दश माला किया है तो के र माला] से हवन करना चाहिए अथवा उसे चाहिए कि नित्य प्रति होम न करके एक लाख अप करने के बाद उसके दशांश से हवन बाद में करे ॥ ५२ ॥

समाप्ती वापि जुहुयात् यथासम्भवमम्बिकेः। प्रत्यक्षरं जपेल्लक्षं श्रद्धावान्नातिचञ्चलः।। ५३।।

हे अस्बिक ! जप की समाप्ति पर उसे जितना हो सके उतनी आहुति देनी चाहिए। श्रद्धावान् सम्बक्त को चाहिए कि एक एक अक्षर का एक लाख जप विना किसी चन्द्रलता के करे।। ५३।।

> बारब्धे तु जपेद्देवि मन उद्विजतेतराम्। चिन्ताशोकभयोद्देगदुःस्वप्नादि प्रजायते॥ ५४॥

हे देवि ! जब जप का आरम्भ किया जाता है तो मन में उद्वेग होता है । उसमें तरह-तरह की चिंता, शोक, भय, उद्वेग और दुःस्वय्न आदि आने लगते हैं। किन्तु प्रारम्भ करने के बाद उसे जप करना ही चाहिए ॥ ५४॥

तदा धैर्यं समालम्ब्यं स्थिरीकुर्यान्मनो धिया। एवं लक्षत्रये जप्ते लीलाध्यानैकचेतसः॥ ५५॥

तब धैर्यं धारण करके मन को और बुद्धि को स्थिए करना चाहिए। इस प्रकार से तीनी लाख जप करने पर साधक भगवान कृष्ण की लीला के ध्यान में मण्न होता है।। ५५॥

> विध्नाः सर्वे पलायन्ते पातकानि ज्वलन्ति च । निर्विध्नस्य विपापस्य मनः सम्यक् प्रसीदति । मनःप्रसन्ने देवेशि स्वप्ने देवादिदर्शनम् ॥ ५६ ॥

तब सभी विध्न वाघाएँ दूर हो जाती हैं और सभी पाप जल जाते हैं। तब उस निर्विद्य और पाप से रहित साघक का मन सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है। है देवेशि ! मन के प्रसन्न होने पर स्वप्न में देव आदि का दर्शन होता है। ५६॥

वरार्थं प्रार्थ्यमानोऽपि नैव लुभ्यान्मनः प्रिये।
पञ्चलक्षजपेद्देवि देवदानवरक्षसाम्।। ५७॥
अवधुष्यो भवेत्साक्षाज्ज्वलन्निव हुताशनः।
दशलक्षजपे सिद्धे प्रार्थयन्त्यमराङ्गनाः॥ ५७॥

है प्रिये ! वर के लिए उन देवी देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर भी अपने को उसमें नहीं ही लुभाना चाहिए । हे देवि ! उसे पाँच लाख जप करना चाहिए । तब देव, दानव और राक्षस भी रास्ते से हट जाते हैं। जैसे साक्षात् प्रज्वलित होती हुई अग्नि धाँवत नहीं होती वैसे ही सावक का तेज हो जाता है। जब दस लाख तक जप हो जाता है तब अमराङ्गना [देवताओं की स्त्रियाँ] प्रार्थना करती है।। ५९।।

्रत्वं स्वामी च वयं दास्योऽनुग्रहाण दयापरः। यावद्यास्यसि धाम स्वं भित्वा ब्रह्माण्डमण्डलम्।। ५९ ॥

तुम स्वामी हो और हम सब तुम्हारी दासो हैं। हम लोगों को आप दया करके अनुगृहीत करें। जब तक तुम ब्रह्माण्ड मण्डल का भेदन करके अपने घाम को नहीं चले जाते तब तक तुम हम लोगों से सेवित होते हुए स्वर्ग में रहो। वहाँ पर सभी ऋतुओं के गुणों से युक्त नन्दनवन हैं।। ६०।।

> तावंत्त्वं स्वर्गमातिष्ठ ह्यस्माभिः कृतसेवनः। तत्रास्ति नन्दनवनं सर्वर्तुगुणमण्डितम्।। ६०।। स्वधुंनी स्वर्णसोपाना रत्नमण्डपमण्डिता। हंसकारण्डवाकीणां स्वर्णपद्मालिसङ्कुला।। ६१॥

वहाँ सदैव गीतों के स्वर सुनाई पड़ते रहते हैं। वहाँ की सी दियाँ स्वर्ण की बनी है और वहाँ के मण्डप सभी ऋतुओं के गुण के अनुसार रत्नजिटत हैं। वहाँ का नन्दनवन हंस एवं कारण्डव [== बत्तख] आदि पक्षियों से संकुलित है। वहाँ के सरोवर स्वर्ण के कमल और भौरों आदि से व्याप्त हैं।। ६०-६१।।

आहारो यत्र पीयूषं रक्षिता यत्र देवराट्। प्रार्थयन्ति देवलोकं क्रतुभिः कर्मकोविदाः॥६२॥

जहाँ पर आहार रूप से मात्र अमृत ही पान किया जाता है [मृत्युलोक में अमृत गाय का दुग्ध है। अता जो लोग गाय की सेवा करके उससे प्राप्त दुग्ध का सेवन करते हैं वह सभी रोगों के निवारण करने वाले एवं पीष्टिक आहार के रूप में अमृत का ही पान करते हैं] जहाँ के रक्षक देवराज इन्द्र हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड के प्रवर्तक विद्वज्जनों द्वारा यज्ञों से देवलोक की ही प्रार्थना की जाती है।। ६२।

तस्मादरुङ्कुर स्वयं स्वगं त्रिदशमण्डितस्।
एवं विलोभयमानोऽपि मन्त्री निर्वलमानसः॥ ६३॥
'इसलिए देवताओं से सुशोभित स्वगं को आप स्वयं अलङ्कृत करें'-इस प्रकार
उन देवाञ्चनाओं के द्वारा प्रलोभन देने पर भी मन्त्र जप करने वाले को निश्चल
मन वाला ही रहना चाहिए॥ ६३॥

ं श्रावयेदुत्तरं तासामक्षुब्धो निःकुत्हरूः। विकास मिल्ला निःकुत्हरूः। विकास मिल्ला निःकुत्हरूः। स्वप्ने यथा तथा भाति रोचते न मनाङ् मम । तस्माद्ययं मया प्रोक्ताः प्रयान्तु त्रिदशालयम्।। ६५ ॥

इतना ही नहीं, अपितु विना किसी भी कुतूहल के और सुब्धता से रहित होकर उन्हें उत्तर देना चाहिए कि-स्वर्ग, नरक, मोक्ष और बन्धन मुझे रुचिकर नहीं है। यह तो मुझे स्वप्त के समान प्रतीत होता है। अतः आप सभी मुझसे अनुजा लेकर स्वर्ग की ही चलीं जाँग ॥ ६५॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्य निराशाः यान्ति ताः स्त्रियः ।
दशपञ्च च लक्षाणि यदा जप्तो महामनुः ॥ ६६ ॥
तदा सिद्धाः समायान्ति सिद्धिभिः सह सुन्दरि ।
पातालेषु प्रवेशं च दूरश्रवणदशंनम् ॥ ६७ ॥
परकायाप्रवेशं च मनः पवनवद्गतिम् ।
पादुकाञ्जनसिद्धि च रसधातुक्रियां तथा ।
इत्यादिविविधां सिद्धि दशंयन्ति न संशयः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार के उस मन्त्र जप करने वालें के वचन सुनकर वे स्त्रियों निराश हो जाती हैं। इस प्रकार जब पन्द्रह लाख जप उस महान् चिन्तामणि मन्त्र के द्वारा कर लिया जाता हैं तब है सुन्दरि! सिद्धियों के साथ सिद्ध लोग आते है। तब वे सिद्ध जन पाताल में प्रवेश, दूर की बात भी सुन लेना, दूसरे की काया में प्रवेश करना, मन और पवन की गति के समान तेज चलना, पादुका सिद्धि और अञ्चलन लगा लेने पर अप्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष होना और रस एवं चातु क्रिया [स्वर्ण या चौदी बना देना] आदि विविध प्रकार की सिद्धियाँ दिखलाई पड़ती हैं—इसमें सन्वेह नहीं है। ६६—६८।

पूर्बोक्तवचने चोक्ते यान्ति ते नातिपूर्वं कम् । यदा विश्वति लक्षाणि जप्ते चिन्तामणिमनौ ॥ ६९ ॥ स्फुरन्ति सकला विद्याः शास्त्राणि विविधानि च ॥ पञ्चविश्वति लक्षाणि जप्ते चिन्तामणौ प्रिये ॥ ७० ॥ साक्षात्पद्यतिः देवेशिः ब्रह्माण्डमक्षरात्मकम् ॥ ब्रह्माण्डान्तः प्रविष्टं च विराजं पश्यति प्रिये ॥ ७९ ॥

पहले के वचन के अनुसार सिद्धियाँ उसी प्रकार नहीं आती हैं। जब बीस लाख जप चिन्तामणि मन्त्र का पूर्ण हो जाता है तब सभी विचाएँ और विविध त्रकार के शास्त्र स्फुरित हो जाते हैं। इस प्रकार हे प्रिये! चिन्तामणि मन्त्र का पचीस लाख जप कर लेने पर वह मन्त्र जापक साक्षात् रूप से, हे देवेणि, अक्षरात्मक ब्रह्माण्ड को देखता है और हे प्रिये, वह उस ब्रह्मण्ड के अन्तर में प्रविष्ट होकर विराजता है।। ६९-७१॥

त्रिशलक्षकापे सिद्धे नारायणमनामयम्। ध्याने पश्यति देवेशि व्यापकं सर्वतोमुखम्॥ ७२॥

तीसं लाख जप कर लेने पर हे, देवेशि ! वह घ्यान में व्यापक और सर्वतोमुख अनासय (निर्मल) भगवान नारायण को घ्यान में देखता है । ७२ ॥

> सर्वेतः पाणिपादान्तं सर्वतः श्रवणाक्षिमत् । अनेकमूर्द्धमूक्टमनेकाभरणाक्लम् ॥ ७३॥

वे नारायण सर्वंतः हाय-पैर और कान-अस्ति से युक्त एवं अनेक मुकुटों सीर अनेक आभूषणों से भूषित होते हैं। ७३॥

> पञ्चित्रिशतु लक्षाणि मन्त्रावर्त्तनगौरवात्। हयानं विनापि चक्षुभ्यां पश्येन्नारायणं विभुम् ॥ ७४ ॥

पैतिस लाख मन्त्र की आवृत्ति के गौरव से उसे घ्यान के विना भी विष्णु भगवान् नारायण का दर्शन होता है ॥ ७४ ॥

> चत्वारिशत्तु लक्षाणि मन्त्रावर्त्तयेद्यदा। पश्येन्मञ्चे ब्रह्ममये शयानं पुरुष तदा।। ७५।।

जब चालीस लाख जप हो जाता है तब वह ब्रह्ममय मञ्च पर परमात्मा पुरुष को शयन किए हुए देखता है ॥ ७५ ॥

> चत्त्वारिशत्तया चाष्टी लक्षाणि जपगौरवात्। मोहनिद्रावशेषोऽपि पश्येत् ब्रह्मपुरश्चियम्।। ७६॥

अड़तालिस लाख जप के प्रभाव से वह मोहनिद्रा में शेष रूप बहापुर स्थित 'श्री' को देखता है ।। ७६ ॥

मोटियोजनविस्तीर्णे सुधासिन्धौ सुरेश्वरि । रत्नद्वीपे ब्रह्मपुरे नित्यवृन्दावनस्थितिम् ॥ ७७ ॥

हे सुरेश्वरि ! कोटियोजन विस्तार वाले अमृत के समुद्र में रत्नद्वोप है । वहाँ ब्रह्मपुर है । जहाँ नित्य वृन्दावन जैसी स्थिति रहती है ॥ ७७ ॥

१. 'स्थिते' इति पाठः ।

मणिमन्दिरमध्यस्थरत्नसिंहासनस्थितम् । स्वामिन्यादिलब्टवामाङ्गं सखीमण्डलवेष्टितम् ॥ ७८ ॥ उत्तमं पुरुषं पश्येत् ध्याने साक्षादिव स्वयम् ॥ ततस्तापो भवेत्तीव्रविरहेण फलारनकः ॥ ७९ ॥

माणिक्य जटित मन्दिर के मध्य में रत्न के सिहासन पर स्थित अपनी स्वामिनी (राधाजी) से वाम अङ्ग में आश्विष्ट और सिख्यों के मण्डल में घिरे हुए पुरुषोत्तम को ध्यान में साक्षात् रूप से स्वयं ही वह देखता है तब। फल रूप से उसे तीव विरह के द्वारा सन्ताप होता है।। ७९।।

तदा च नियमाः सर्वे कृता वाष्यकृता अपि। समाप्यन्ते महेशानि स्वास्थ्याभावस्वभावतः॥ ४० ।।

तब सभी किए गए या न किए गए भी नियम समाप्त हो जाते हैं और है महेशानि ! वह स्वभावतः अस्वस्थ्य सा हो जाता है।। ८०॥

> इत्येवं कथित देवि यथा तापोदयो भवेत्।। समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि।। ८९।। ।। इति श्रोमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासवादे द्वात्रिश पटलम् ॥ ३२।।

इस प्रकार, हे देवि ! जिस प्रकार सन्ताप का उदय होता है उसे मैने तुम्हें संक्षेप से कहा है। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ?

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्रृ' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के वत्तीसवें पटल को डाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिशं पटलम्

देव्युवाच--

साध्कं मन्त्रराजस्य पुरश्चरणमद्भुतम्। वतः परं वदैशान तापावस्था सुदुर्लभा ॥ १ ॥

देवी ने कहा-

हे ईशान ! आपने मन्त्रराज का अद्भुत पुरम्चरण साघु रूप से बताया है। अब आप इसके बाद ताप की सुदुर्लभ अवस्थाओं का वर्णन करिए ॥ 🕻 ॥

ययानुभूतया सम्यक् रसः पूर्णोनुऽभूयते। तस्मादहं श्रोतुकामा भवामि भक्तवत्सल ॥ २॥

जिसको अनुभूति से सम्यक् रूपेण पूर्णरसानुभूति होती है। अतः हे मक्त-वत्सल ! मैं उसे सुनने की इच्छुक हूँ ॥ २ ।

शिव उवाच-

श्रृणु देवि पर गुहच त्वया पृष्टं वदामि ते। रसात्मक रसभोक्तृ ब्रह्मति श्रुतयो जगुः॥ ३॥

शिव ने कहा —

है देवि ! उस श्रेष्ठ एवं गोपनीय ज्ञान को सुनो, जिसे तुमने पूछा है, उसो को मैं कहता हूँ। श्रतियों ने उस ब्रह्म को रसात्मक, एवं रस का भोक्ता कहा है ॥ ३ ॥

रसः शृङ्गार एवादी प्रोक्तस्ते गिरिनन्दिनि । संयोगवित्रलम्भात्मा द्विविधः स च कीतितः ॥ ४ ॥ हे गिरिनन्दिन ! पहला श्रृङ्गार रस कहा गया है। वह श्रृङ्गार दो प्रकार का है - (१) संयोग और (२) वित्रलम्म ॥ ४ ॥

अधुनाविप्रलम्भात्मा वर्त्तते केवलं रसः। कत्त व्योनुभवस्तस्य स एव परमं फलम्।। ५॥ अब इस समय सामक में केवल विप्रलम्मात्मक रस ही होता है। उसका अनुमव करना ही उसका श्रेष्ठ फल है।। ५।।

^{&#}x27;रसो वै सः' वृह० उ०। २१ मा०

यावत्तापोदको न स्याद्विप्रलम्भो न सिध्यति । अनुभूतिः कथं तस्य जायते वद गुत्रच । ६ ५

जब तक वियोग में ताप [निस्तिन का व्ययता का उदय नहीं हो जाता है, तब तक विप्रतम शृङ्गार सिद्ध नहीं होता है। हे सुव्रते ! उसकी अनुभूति कैसे होती है ? वह सुनो ॥ ६॥

सयोगरसमध्यस्था विप्रयुक्ता तुया त्रिये। तस्या एव भवेतापो नान्यस्य तुकदाचरां । ७ ११

हे प्रिये ! संयोगरस मध्यस्य जो वियोग है उसी से ताप ह'ता है दूसरे अन्य कारणों से कसी भी ताप नहीं होता है ॥ ७ ॥

> दशावस्था भवन्त्येताः तापे विरहसम्भवे। तास्ते.वक्ष्यामि देवेशि शृणब्बैकाग्रमानसा ॥ ८ ॥

उसे ताप की विरहजन्य दस अवस्थाएँ होती है। हे देवेशि ! उन्हें मैं कहता हैं। तुम सावधान होकर सुनो ॥ हु॥

> अभिलाषस्तथा चिन्ता स्मरणं च ततः प्रिये। उद्देगाधिप्रलापश्च जडतोन्माद एव च । ९।। गुणानां कीर्तनं चैव सज्वरं मण्णं स्मृतस्। अत्युग्रविष्हे देवि अवस्था दशसी भवेत्।। १० ।

ये दस अवस्थाएँ हैं — १. अभिलाष, २. चिन्ता, ३. स्मरण, ४. उद्वेग ५. अधिप्रकाप, ६. जडना, ७. उन्माद, ८. गुणकीर्तन, ९. संज्वर और अति उग्र विरह में हे देवि ! दसवीं अवस्था १०. मरण होती है ॥ ९-१०॥

> राजपुत्रो यथा दैवाहनं वनचरैर्वसन्। आत्मानं वेत्ति विवशं परं वनचरं प्रिये ॥ १९॥ प्रभुत्वशौर्यद्यौद्याः धर्माः सर्वे तिरोहिताः। दीनः कृपणधीर्मन्दः पशुमांसोपजीवनः॥ १२॥

जैसे राजा का पुत्र दैव योग से बन में बनवासियों के बीच रहते हुए अपने को बिबशता के कारण श्रेष्ठ बनवासी ही जानता है। हे प्रिये ! वह प्रभुत्व, शौर्य, धैर्य आदि सभी राजीचित धर्मों को भूल जाता है और दीन, कृपण, मन्दबुद्धि एवं पशु के मांस का भोजन करके जीवनयापन करने वाला हो जाता है ॥ ११-१२॥

ब्रात्मापह्न वार्ष्या कृष्टिचत्प्रबोधयेत् । न वनेचरपुत्रोऽसि राजपुत्रोऽसि सवंथा ॥ १३ ॥ किमर्थं हिसि भो जीवान् दीनः क्रपणधीः स्वयम् । वव गुणाः जीर्यधीर्याद्याः अभुता वव गता तव ॥ १४॥

अपने को भुलाकर पड़े हुए वहाँ देखकर कोई यदि उसे यह कहकर प्रबुद्ध करे कि तुम बनवासी के पुत्र नहीं हो, तुम तो सर्वथा राजा के पुत्र हो। अतः है राजपुत्र ! तुम जीवों की हिंसा क्यों करते हो ? क्यों तुम स्वयं दीन, कृपण, एवं मन्द बुद्धि हो गए हो ? तुम्हारे शीर्य, धैर्य आदि गुण कहाँ हैं ? तुम्हारी प्रभुता कहाँ चली गई ? ॥ १३-१४॥

> त्यज प्रकृतिदीर्बेल्यं श्रय भावं निजंपुनः। इत्याप्तवचनं श्रुत्वा जालपाशादिकं त्यजन् ॥ १५॥ राज्यप्राप्तिं च मनमा सङ्कल्प्याकुलचेतनः। उच्छून' हृदयो भूयादिमलाषाकुलान्तरः॥ १६॥

यह [विषयों में आसंक्ति रूप] प्रकृति को दुर्बलता छोड़ो। अपने स्वयं के भाव में पुनः प्रकृतिस्थ हो जाओ। इस प्रकार के आप्त (सत्यः वचन को सुनकर जाल एवं पाश (फरसा) आदि का त्याग करते हुए राज्य की प्राप्ति के मन से संकल्प करके ज्याकुल वित्त होकर उच्छिन्त हृदय हो जाए और इस प्रकार पुनः वह राज्य को प्राप्ति की अभिलाषा से व्याकुल अन्तरात्मा हो जाए [तो यही ताप की प्रथम अवस्था होतीं है] ॥ १५-१६॥

तथा कष्णप्रिया देवि प्रपञ्चे मोहकत्पिते। वासनादेहमासाद्य तद्देह्यमताकुला ॥ ९७ ॥ तिरोहितानन्दधर्मा दीना कृपणमन्दधीः। जीववत् वर्त्तभाना सा भूतद्रोहेण जीवति ॥ ९८ ॥

हे देवि ! इस मोहकत्पित शरीर में कृष्णिपया (= आत्मा) सदैव वासना (विषया-सिक्त) के देह को प्राप्त करके, उस शरीर में ममता से आकुल रहा करती है। (ब्रह्मा-नन्द रूप सत्य] आनन्द को भूलकर वह (इस संसार में आकर) दीन, कृपण और मन्द बुद्धि होकर अन्य जीवों के समान रहकर भूत-द्रोह से जीवित रहती है।। १७-१८॥

> पुरुषोत्तमानुग्रहतः सद्गुरुस्तां प्रबोधयेत्। न त्वं स्त्री लौकिकी चासि न पुमानिस सर्वया ॥ १९ ॥ न च विप्रादिको वर्ण। स्वात्मानं चेष्टसे मुधा। देहगेहममताहङ्कारमायां परित्यज्ञ ॥ २० ॥

 ^{&#}x27;उच्छिन्न' इति मूलपाठः ।

पुष्तोत्तम (सगवान विष्णु रूप श्रीकृष्ण) के अनुग्रह है उस (शास्त्रा) को घर्णु प्रवोषित करे। (यदि स्त्री हो तो उससे कहे कि) तुम इस खंसार की छोकिक स्त्री नहीं हो और (यदि पुरुष हो तो कहे कि) तुम सर्वथा जीकिक पुरुष नहीं हो। तुम ब्राह्मण आदि वर्ण में भी नहीं हो। तुम तो असत्य रूप से अपनी चेष्टाओं (क्रिया) को कर रहे हो। अता शरीर, घर, ममता एवं अहसूतर रूप माना को त्याग दो।। १९-२०।।

प्रपञ्चबीजभूतायाः प्रकृतेः परतः प्रभो। । अक्षारादप्यतीतस्य पूर्णस्य परमारमनः ॥ २९॥ प्रियासि त्वं परानन्दा पराबन्दपदस्थिता । देहानुसन्धानपरां मायां जहि वराङ्कने ॥ २२॥

हे प्रभी ! इस (सांसारिक) प्रपश्च की बीजभूत प्रकृति से परे खात्मा 'अक्षर' है। अतीत, पूर्ण तथा परमात्मा की वह प्रिया है। (हे आत्मा) तुम परानन्द हो और परानन्द के पद पर प्रतिष्ठित हो। अतः हे वराक्षे ! तु देह (के असली रूप का ज्ञान न होने से उस) में आसक्त-प्रवण न होकर माया का त्याग करो।। २१-२२॥

सुधासिन्धौ मणिद्वीपमध्यखण्डे सुशोभने।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसुशीतलम्॥२३॥
वेष्टितं मणिमुक्तादि प्राकारः परमाद्भृतम्।
सखीमन्दिरसाहस्रः परिवीत् समन्ततः॥२४॥
मणिमन्दिरमत्युच्चः पष्टचयोजनमानतः।
आस्ते ब्रह्माण्डतो बाह्ये तत्र ते रमणं शुभम्॥२५॥

इस संसार में तुम्हारा रमण करना ठीक नहीं है। तुम्हें तो उस अमृत के समुद्र में स्थित मणिद्वीप के मध्य एक खण्ड पर सुशोभित, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, करोड़ों चन्द्रमण्डल के समान सुशोतल, मणि, मुक्ता आदि की चहार-दीवारी से घिरे हुए, अत्यन्त ऊँचे, पांच योजन विस्तार वाले मणि के मन्दिर में, जो इस ब्रह्माण्ड से बाहर है, तुम्हारा रमण करना शुभ है। २३-२५।।

यमुनासप्ततीर्थेषु भर्ताक्रीडां निजां स्मर। प्रफुल्लशतपत्रालि झङ्कारमुखरान्तरे॥ २६॥

१. प्रकारीः इ० पा०।

२. 'स्वस्वरूपानुसन्धानपरा मायां जहीहि हि' इ॰ पा॰ ।

मणिमुक्तान्वितानावमारुह्य सिखभिवृता। महासरिस विद्योतन्मणिसोपानमण्डिते॥ २७॥

यमुना के सप्ततीर्थं पर अपने स्वामी (कृष्ण के) द्वारा की गई क्रीड़ाओं क स्मरण करो। खिले हुए शतपत्र कमरु पर झब्द्वार करते हुए भीरों से मुखरित अन्तरात्मा वाले, मणि एवं मुक्ता से युक्त नाव पर चढ़कर सखियों से आवृत, मणि की सीढ़ियों से मण्डित महा सर में सुशोभित (कृष्ण का स्मरण करों)॥ २६-२७॥

> यथा क्रीडन्तमात्मानं कथं विस्मरसे भ्रमात्। सहस्राद्वयुजं रम्यं शतचक्रस्फुरत्प्रभम्॥ २८॥ सर्वतः किंकिणीजार्लमंणिमुक्ताव्य्वतान्तरैः। कुर्वद्भिः मुखरान् सर्वदिगन्तान् कूजिनैनिजैः॥ २९॥

(हे कृष्ण प्रिया आत्मा) तुम कैसे अपने को फ्रीडा करते हुए भ्रम से मूल गए हो ? वहाँ सहस्त्र अक्षों से युक्त, रम्य एवं सी पहिए बाले रथ से निकलती हुई प्रभा का स्मरण करो। हे आत्मा! वह रथ सर्वतः किंकिणी के जाल एवं मणि तथा मुक्ता से खिचत गद्दी वाला है। तुम ऐसे उस रथ का स्मरण करो जो सभी दिशाओं के अन्तरालों को भी मुखर करते हुए अपने कूजन से वातावरण को रमणीय बना रहा है।। २८-२९।।

दाहिमीपूष्पमङ्काशं वरूथोपरि करूपते।
सुवर्णकरुशे रम्यदीप्यमानमनेकशः।। ३०॥
नृत्यद्भिः स्त्रीगणैः सम्यक् गायद्भिः स्वकुत्हर्लैः।
हासयद्भिः द्विद्धरुव समन्तात्परिशोभितम्॥ ३९॥

अनार के पुष्प के समान (हल्के लाल) आसन के ऊपर बैठे हुए भगवान की कल्पना करे। रम्य एवं दोसिमान अनेक सुवर्ण कल्प चारो ओर वहाँ हैं। कुत्हल पूर्वक नृत्य करती हुई तथा गान करती हुई स्त्रियों के समूह की साधक कल्पना करे। वे स्त्रियों हैंसती हुई तथा हैंसाती हुई चारो ओर कोमित होती हैं।। ३०-३१।।

मुक्तावितानको मुद्या समुद्भासित दिङ्मुखम् । प्रियेण रथमारुह्य वनक्रीडां स्मर स्वकाम् ॥ ३२॥ मुक्तामणि की विस्तृत चौदनी से समुद्भासित दिशाओं के मध्य में अपने प्रिय कृष्ण के साथ रथ में चढ़कर वन में क्रीडा करते हुए अपने को स्मरण करे ॥ ३२॥

कदाचित्पृष्परागाद्रावृद्याने सुमनोहरे । नानापक्षिगणाकीणें स्थलपङ्कजमालिनि ॥ ३३ ॥ अनेककुट्टिमोत्तुङ्गमण्डपैः परितो वृते।
दिव्यपुष्पभरामोदसुवासितदिगन्तरे ॥३४॥
चन्द्रप्रभह्नदे रम्ये रम्यराजीवसङ्कुले।
मुक्ताजटितसौवणीयुतसोपानपिङ्क्तिभः ॥३५॥
ववचित् ववचिच्छोभिताभिमंण्डपैः कुट्टिमोपरि।
चतुस्तमभौमंहारत्नैमंण्डितास्तोरणोज्ज्वलैः ॥३६॥
पतत्पतित्रपक्षोत्यवायुप्रचलपादपे ।
पतन्नेत्राञ्जनैदिव्यैः सखोयूयस्य दिव्यतः॥३७॥
चन्दनैरङ्गगलितैः कुङ्कुमैः कुचिवच्युतैः।
परागैः पद्मगलितैः कुस्नुमौर्यायुनाहृतैः॥३८॥
विचित्रदिव्यसलिले मणिमौक्तिकबालुके।
जलक्रीडारसानन्दः कथं विस्मारितोऽधुना ॥३९॥

(हे बाल्मा ! बाज मोह जाल में अपने को मुलाकर कैसे स्वयं (साक्षात् आत्म स्वस्प) को विस्मृत कर बैठे हो ? (इस प्रकार ३९ वे ब्लोक में कुलक समाप्त होगा)। किसी समय पुष्पराग के सुमनोहर उद्यान में, नाना प्रकार के पिक्षसमूहों से व्याप्त, स्थलकमल से भरे हुए, अनेक प्रकार के फशों वाले ऊँचे उँचे मण्डपों से घिरे हुए, दिव्य पुष्पों की सुगन्ध से सुवासित दिशाओं वाले, रम्य राजीव से व्याप्त रमणीय चन्द्रप्रभ सरोवर में मोतियों से जटित सुवर्ण को सीहियों को पिड त्यों से मुक्त, कहीं-कहीं शोभित मण्डपों के फशों के ऊपर, महारत्नों से जड़े हुए चार सम्मों के मण्डप के तोरण से उज्जवल, पिक्षयों के उड़ने से उनके पंखों से उठो वायु से कम्पित वृक्षों वाले, दिव्य सिखयों के समूह के नेत्रों से गिरने वाले अञ्जनों से युक्त, सिखयों के अङ्गों से गिरने वाले कुड़कुमों से व्याप्त, कमलों से झड़े हुए परागों से युक्त, वायु द्वारा लाए गए कुसुमों से बाकीणं, विचित्र प्रकार के दिव्य जल में, मिण एवं मोती के वालू से युक्त आनन्द हिद्य जल में, मिण एवं मोती के वालू से युक्त आनन्द हिद्य जल में, मिण एवं मोती के वालू से युक्त आनन्द हिद्य जल में, मिण एवं मोती के वालू से युक्त आनन्द हिद्य जल में, मिण एवं मोती के वालू से युक्त आनन्द हिद्य के केसे मुल गए हो ? ॥ ३३-३९ ॥

महापद्मवने दिव्ये समन्ताल्लक्षयोजने । गन्धमाधुर्यनिपतत्षड्ङ्घ्रपटलाकुले । ४०॥ योजनोत्सेधविस्ताररत्नमण्डपमध्यगे । वायुहृतपरागोवैवितानित नभोऽन्तरे । अनेकपक्षिसङ्घातकोलाहलसुलास्पदे ॥ ४९॥ स्वित्रियेण कृता या याः क्रीडाः सर्वरिसाश्रयाः । कथं विस्मृत्य सहसा जीववत्परितप्यसे । कथं मायामुखे लग्ना मिष्याभूते भ्रमात्मके ॥ ४२ ॥

दिव्य महापद्म के वन में जो चारों ओर एक लाख योजन तक फैला हुआ है, सुगन्न के मानुर्य रस पर चुम्बन करने वाले भीरों के झुण्डों से व्याप्त, एक योजन तक विस्तृत रत्न मण्डप के मह्य में, वायु द्वारा लाए गए पराग के ओव से फैले हुए नभमण्डल वाले, अनेक प्रकार के पक्षियों के समूहों के कोलाहल से आनन्द देने वाले वन में, अपने प्रिय के साथ सर्वरस का आश्रयण करने वाली जिन जिन किशिडाओं का तुमने आनन्द लिया, सहसा उन्हें विस्मृत करके क्यों जीव के समान संतृप्त हो रहे हो ? तुम क्यों माया के उस सुख में संलग्न हो, जो सुख अनित्य होने से मिथ्या है और (सुख का) भ्रम कराने वाला है (क्योंकि क्षणिक सुख तो परमार्थ नहीं है) ॥ ४०-४२॥

पङ्के कस्तूरिकाबुद्धिर्लंबणे शशिविश्रमम् । काचखण्डे माणभ्रान्तिर्जलबुद्धियंथा मरौ॥ ४३॥ तथैव शर्कराबुद्धिः कर्कराश्मादिषु भ्रमात्। कुर्वते मन्दमतयस्तथैव हि तवेद्शीः। ४४॥

की चड़ में कस्तूरी होने की बुद्धि और लवण समुद्र में चड़िमा के होने का श्रम, शोशों के टुकड़े को मिण समझ लेने से तथा मह भूमि में जल को आन्ति होना जिस प्रकार असत्य है उसी प्रकार कर्करा आदि लाल पत्थर के टुकड़े में शर्करा होने की बुद्धि रखना श्रम है। जैसे मन्द बुद्धि के लोग ऐसे श्रमित होते हैं वैसे तुम भी श्रमित हो। ४३-४४॥

शुक्तिकारजतेनैव ्त किस्चिद्धिमवं गतः। न स्वप्नलब्धराज्यन राजा^र किस्चित्सुतिः। ४५॥ सीपी में चौदो के श्रम हो। जाने पर कोई घनवात् नहीं होता। स्वप्न में प्राप्त राज्य से काई राजा हा। गया हो ऐसा भी नहीं सुना गया।। ४५॥

मरीचिकाजल पीत्वा न कश्चित्तविमागतः। यदीच्छिसि सुखं नित्यं जहि सर्वमिमं श्रमण ॥ ४६॥

मृगमरोचिका के (भ्रमात्मक) जल को पीकर किसी ने कभी भी तृप्ति नहीं पाई। अतः हे आत्मा! यदि तुम्हें नित्य मुख की बाङछा हो तो इस भ्रम पूर्ण संसाय को छोड़ दो।। ४६॥

 ^{&#}x27;विवृक्षता' इ० पांक माला है है कर कर के दें

विना भ्रमनिरासेन विना च स्वात्मधारणाम् । विना विषयवैतृष्ण्यं विना सन्तोषमार्जवम् ॥ ४७ ॥

भ्रम के बिना हटे, विना अपने को अपनी आत्मा में घारण किए हुए, विषयों के प्रति आसक्त हुए विना तथा बिना सन्तोष के सरल (सच्चा) सुख नहीं मिल सकता॥ ४७॥

> विना वैराग्यमस्युग्न विना सद्गुरुसेवनम् । विना विनयमास्तिक्यं शास्त्रिक्षां विनापि च ॥ ४८ ॥

साधक को अति उग्र वैराग्य के बिना, सद्गुरु की सेवा के बिना, विनय के विना, ईश्वर में अस्तिकता के बिना और विना शास्त्र की शिक्षा के सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता है।। ४८॥

देहाध्यासो मोहकृतो न निवर्त्तेत सर्वथा। देहाध्यासो निवर्त्तेत निवृत्ते मोहविश्रमे ॥ ४९ ॥

वस्तुतः देह का अध्यास मोह जन्य होता है, जिसका सर्वथा निरास नहीं हो पाता । अतः मोह का अप जब मिटता है तभी देहाध्यास का निरास हो सकता है।। ४९॥

> बिम्बभूतस्वरूपस्य विस्मृतिर्मोह उच्यते। मोहस्था वासना तस्य जीववच्च प्रतीयते॥ ५०॥

आत्मस्वरूप, जो बिम्बभूत है, की विस्मृति ही मोह कहीं जाती है। उसकी मोहस्य वासना जीव के समान प्रतीत होती है।। ५०॥

> न जीवो वास्तवः कश्चित् वर्त्तते जलचन्द्रवत् । जलचन्द्रस्वरूप च गगनेन्दुर्यथा भवेत् ॥ ५१ ॥

वास्तविक रूप से जैसे जल में चन्द्रमा नहीं रहता है, वैसे ही कोई जीव वास्तविक रूप से सत्य नहीं है। जल का चन्द्र जैसे वस्तुतः गगन में ही होता है वैसे ही आत्मा तो परमात्मा में ही रहती है।। ५१।।

तथैव वासनारूप निजे धाम्नि स्थिताः प्रियाः।
गुणः कम्पादिको यद्वत् प्रतिबिम्बे प्रतीयते ॥ ५२ ॥

इसी प्रकार वासना रूप प्रिया आत्मा निज धाम परमात्मा में हो रहती है। जैसे जल में कम्पन से प्रतिबिम्ब में भी कम्पन होता है उसी प्रकार गुण (सत्त्व, रज, तम, आदि) भी प्रतिबिम्ब (कम्पन) रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

सुखदुः खादिमोहोत्थ वासनायां निरूपितम्। न ते सुस च दुःख च मोहमात्रं विज्मिनते ॥ ५३॥ वासना में सुख:दुख आदि मोह जन्म होते हैं। वेन तो सुख होते हैं न दु।ख ही होते हैं। वह तो मोह का मात्र विज्म्भण है॥ ५३॥

> तस्मात्स्वरूपं विज्ञाय सम्यक् शास्त्राद्गुरोरपि । भ्रमां त्यक्त्वा निजानन्दमाप्नुहि प्रेममीलिता ।। ५४ ।।

इसिलिए साधक को चाहिए कि सम्यक् रूप से शास्त्र और गुरु से आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अस का त्याग करते हुए प्रेम सम्मिलित निज आनन्द को प्राप्त करे॥ ५४॥

एवं सद्गुरुणा वाक्यामृतैरासेचिता यदा।
निर्वाप्य मोहभूजगविषज्वालां व्यथाकरीम् ॥ ५५ ॥
अभिलाषवती भूयात्परानन्दर्गत प्रति।
अभिलाषो मया प्रोक्तः शृण्ववस्या नवापराः ॥ ५६ ॥

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्बादे त्रयस्त्रिंशं पटलम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार सद्गुरु के वाक्यामृत से सिचित सावक जब व्यथा उत्पन्त करने वाली मोह रूप सर्प के विष की ज्वाला को शान्त कर देता है, तब परमानन्द की प्राप्ति के प्रति सावक के मन में अभिलाषा जागृत हो जाती है। अतः 'अभिलाष' से आगे को नौ अन्य अवस्थाओं को अब मैं कहता हूँ, जिसे आप सुनें ॥ ५५ ५६॥

श्वान क्ष्मिनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के तैंतीसवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।। ३३।।

अथ चतुस्त्रिंशं पटलम्

शिव उवाच-

अभिलाषे समुत्पन्ने तत्तिचन्ता प्रवर्तते । प्रियो मे परमानन्दः परात्मा पुरुषोक्तमः ॥ १ ॥

प्रिय स्वामी श्रीकृष्ण के प्रति अभिलाष की उत्पत्ति जब मन में होती है तो वह मन उनकी प्राप्ति के लिए उत्सुक हो उठता है। मन में प्रिय की प्राप्ति के प्रति चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। यही चिन्ता रहती है कि परमानन्द स्वरूप परमात्मा पुरुषोत्तम ही मेरे प्रिय हैं॥ १॥

अहं तु तिरित्रया साक्षाद्वासना मोहवेष्टिता । बाललीलावलोकार्यं सम्प्रार्थ्यं पृक्षोत्तमम् ॥ २ ॥

मैं उस परमात्मा की त्रिया साक्षात् 'वासना' हूँ जो मोहग्रस्त हूँ। श्रीकृष्ण की बाल लीला के अवलोकन के लिए पुरुषोत्तम से प्रायंना करनी चाहिए ॥ २ ॥

विभग्ता मोहजलघौ दुस्तरे तमसावृते। निरस्त सकल ज्ञानं जाता में स्वादयविस्मृतिः॥ ३॥

हे पुरुषोत्तम ! अहङ्कार रूप तमस से आवृत दुस्तर मोह समुद्र में मैं डूबा हुआ हूँ। इस अज्ञानान्धकार के कारण हमारे सम्पूर्ण ज्ञान निरस्त हो चुके हैं और हमारी आत्मा अपने स्वरूप की स्मृति खो बंठी है।।३॥

> विभ्रमामि भ्रमाविष्टा देहाच्यासादितस्तनः। इय मे जननी चायं निता भ्राता सहोदरः॥४॥

जगत् के अस में पड़कर देह के अध्यास के कारण में इतस्ततः एक योनि से अन्य योनि में घूम रहा हैं। यह मेरों मौ है। यह (देह) मेरे पिता हैं। ये मेरे भाई हैं और ये मेरे सहादर हैं—इस प्रकार अस में पड़ा हूँ॥ ४॥

पुत्राः पौत्राश्च सुहदो ज्ञातयो गोत्रिणस्तथा । ममत्वानमे वृथा मौढचात् परिगृह्य विमोहितम् ॥ ५ ।

१. ब्रभ्रामामि इति पाठः।

२. 'वृथीत्सुक्यात्' इ० पा०।

३. 'विमोहिता' इ० पा०।

आत्मा अपने पुत्रों, पौत्रों, सुहुद् जन, सगे-सम्बन्धी, सगोत्रों सौर बन्धु-बान्धव के ममत्व के कारण (देहाध्यास की) मूढ़ता के कारण उनके मीह में वृथा ही पड़ी हुई है।। ५।।

> स्वप्नदृष्टेषु लोकेषु न च द्वेष्यः प्रियोऽपि वा । परकीयः स्वकीया वा मोह एव हि कारणम् ॥ ६ ॥

स्वप्त के समान दिखाई देने वाले इन लोकों में न तो कोई द्वेष के योग्य है और न कोई प्रिय ही है। अपना और पराया समझने में मोह ही कारण है।। ६॥

अतः परं न मे कार्यं त्रियैर्वा चात्रियैरिप।
एक एव त्रियः स्वासी स तु विस्मारितो मया। । ७ ।।

अतः आज के बाद से प्रिय या अप्रिय का भाव हमें नहीं रखना चाहिए।
प्योंकि (परमार्थतः) एक ही मेरे प्रिय्स्वामी हैं, जिन्हें हमने विस्मृत कर
दिया है ॥ ७ ॥

तदा किमपरैः कायं स्वाप्तिके दु खहेतुभिः। तस्मार्दिक साधनं कुर्या येताहं प्रीतिमाष्तुयाम् ॥ ८॥

तब स्वप्नवत् हश्यमान और दृख के हेतुमूत जगत् के मोह ह्रप भ्रम का मिटाने के लिए मुझे क्या साधन कार्य करना चाहिए। इसलिए मुझे क्या साधन करना चाहिए। इसलिए मुझे क्या साधन करना चाहिए ? जिससे श्रीकृष्ण में प्रीति प्राप्त हो।। ८।।

तन्त पश्यामि लाकेस्मिन् वेदवेदान्तयोरांप । यस्कृत्वा सुलभो भूयात्मितः प्रियतमो मम ॥ ९॥

इसलिए इस लोक में वेद अथवा वेदान्त में वह कुछ भी मै नहीं देख पा रहा हैं, जिसे करके प्रियतम स्वामी श्रोकृष्ण मुझे मुलभ हो जांयेँ।। ९।।

नः वेदैरपदिष्टेन कर्मणा प्राप्यते पतिः। कर्मणां फलमुद्दिष्टः स्वगमात्र विनश्वरम् ॥ १०॥

वेद के उपदिष्ट कर्मों द्वारा स्वामों की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कर्मों से मात्र विनष्ट होने वाले स्वर्ग रूप फल की ही प्राप्ति कही गई है।। १०।।

न दानैर्वा तपस्तीयँ कायक्लेशैः महत्तरैः। उपवासैर्वतैर्जाप्यैश्चित्तशुद्धिविद्यायिभिः । १९॥

दान, तप या तीर्थां के सेवन से अथवा शरीर को महान् क्लेश देने वाले तप, उपवासों, वृतों एवं चित्त शुद्धि के विधायक जपों से भी स्वामी श्रीकृष्ण की. त्राप्ति सम्मव नहीं है ॥ ११ ॥

कथं तैः केवलानन्दः पतिमं वद्यतामियात्। न ज्ञानेन भवेद्वस्यः केवलं मुक्तिकृद्धि तत्।। १२ ॥

निर्मर-अनन्द की मूर्ति श्रीकृष्ण रूप स्वामी को वश में मला उन उपायों से कैसे किया जा सकता है। वह (तस्त्र) ज्ञान से वश में आने बाले नहीं है क्योंकि ज्ञान से तो मात्र मुक्ति प्राप्त होती है।। १२।।

वमं तु पृश्वंषस्येह वैराग्यं ज्ञानगुष्तये।
यदि ज्ञानोदयो न स्याद्धैराग्य यदि केवलम् ॥ १३॥
तथापि प्रकृतौ साक्षाल्लीयते च तथापि किम ।
योगस्यापि पराकाष्ठा स्वात्मनो दशनाविध ॥ १४॥

ज्ञान को छिपाने के लिए उस पुरुष के पास मात्र वैशाय ही एक कवच है।
यदि मात्र वैराग्य ही रहे और ज्ञानोदय न हो तो भी प्रकृति में वह साक्षात् लय
को प्राप्त होता है और उसमें भी क्या योग की पराकाष्टा भी मात्र स्वात्म के साक्षात्कार तक ही सोमित है ? ।। १३-१४ ।।

> पुराणेष्वितिहासेषु भक्तिरुद्धोषिता मृशम् । सापि ज्ञानाङ्गमृद्दिष्टा तया प्राप्यः कथं पतिः ॥ १५ ॥

पुराणों एवं (रामायण महाभारत आदि) इतिहास ग्रन्थों में बारम्बार मक्ति का उद्योष किया गया है। वह भी ज्ञान के अङ्ग के रूप कही गई है। अतः उसकी श्राप्ति से पति परमेश्वर श्रोकृष्ण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?।। १५ ।।

> प्रियप्राप्ते रुपायस्य कोऽपि वक्ता न विद्यते। किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे प्रवदाम्यहम् ॥ १६॥

इस प्रकार प्रिय की प्राप्ति के लिए कोई भी शास्त्र कुछ भी नहीं कहते। (ज्ञान वैराग्य और भक्ति से पति (पालक) की प्राप्ति नहीं हो सकतो)। तब फिर मैं क्या कर ? किस (शास्त्र) के पास ज्याऊ ? किसके समक्ष में (अपनी अभिलाषा) कहूँ॥ १६॥

> वनभ्रान्तो यथा कश्चित् पिशाचपरिमोहितः। क्षुतुङ्म्यां मदितो नक्तं दिवमस्तमिताशयः॥ १७॥

जिस प्रकार वन में भटक कर कोई व्यक्ति पिशाच आदिकों के बीच मय का अनुभव करता है, उसी प्रकार मैं भूख प्यास से पीड़ित रात-दिन को भयग्रस्त हो विता रहा हूँ ॥ १७ ॥

दन्दशूकं मृ गैव्याघ्र वीराहे भीषितो भृशम्। तथा देशैश्च मशकः व्यथितः स्वापदादिभिः॥ १८॥

बटमल, मृग. व्याद्म (चीते) तथा जङ्गली सूकरों से अत्यन्त भयान्वित मैं क्या करू ? डक मारने वाले जन्तु, मच्छरों तथा भ्यापदों आदि से पीड़ित कहाँ जाऊँ ॥ १८॥

> काङ्क्षत्यप्याश्रमं गन्तु मार्गभृष्टः करोमि किम् । को मे प्रापयति स्थानं भ्रान्तस्यारण्यवीथिषु ॥ १९ ॥

सन्यास आदि आश्रम में मैं जाना चाहता हूँ। किन्तु मार्गभ्रष्ट होकर फिर क्यार करुँगा। आन्त वन की पगडण्डियों पर भला मुझे कौन पथ दिखाएगा ? ॥ १९॥

कि करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे च वदाम्यहम् । बहुद्रुमलताकीणै काननं जनवजितम् ॥ २०॥

इत्यादिविविद्यां चेष्टां कुर्वाणो व्याकुलान्तरः । अवतिष्ठते तथा चिन्ता जायते वाक्षनास्वपि ॥ २१ ॥

अता मैं क्या कर ? कहाँ जाऊँ और किसके समक्ष अपनी व्यथा कहूँ ? बहुत से वृक्षों एवं लताओं से घिरे हुए व्यक्तिविहीन वन में व्याकुल होकर विविध चेष्टाओं को करते हुए रह कर तथा वासनाओं में भी चिन्ता होती है।। २०-२१।।

चिन्तामग्नो यथा सर्वं पश्यन्नपि न पश्यति । प्रियचिन्तारसे मग्ना सखीनां वासना तथा ॥ २२ ॥

जिस प्रकार से किसी की चिन्ता में मग्न कोई व्यक्ति जैसे सभी को देखकर मी नहीं देखता है उसी प्रकार सिखयों की वासना प्रिय की चिन्ता रूप रस में विमग्न रहती है।। २२।।

चिन्तैवोद्वेगभावेन ततः परिणता भवेत्। उद्विग्नमनसः किञ्चित् नैव हर्षाय जायते ॥ २३ ॥

चिन्ता तथा उद्वेग के भाव के द्वारा वह उसी में ऐसे परिणत हो जाती हैं जैसे इद्विग्नमन वाले को कोई भी वस्तु हिंबत नहीं कर पाती है।। २३।।

प्राणादप्यधिवल्लभस्य विरहे किनाम रम्य भवेत्, येनात्मा क्षणमप्युपैति विरति स्वास्थ्यं समालम्बते । स्फुरन्मीतान्वारिष्विव करणवृत्तीः समुदिताः, स समाज्ञाय क्षिप्य प्रियविरहिष्टिता विजयते ॥ २४ ॥

प्राण से भी अविक प्यारे प्रियतम के विरह में भला कीन सो वस्तु रस्य हो सकती है? जिससे आत्मा क्षण भर के लिए भी विरित और स्वास्थ्य लाभ कर सके? अन्तः करण की वृत्तियां उसी प्रकार उठती और विलीन होती रहती हैं जिस प्रकार पानी में मछली फुदकती रहती है। इस प्रकार की प्रिय की विरह जन्य चिन्ता की जय हो जिसे भवत जन प्राप्त कर विक्षिप्त से हो जाते है। २४॥

उद्विष्तभावाकुलितान्तराया न रोचते भूषणमम्बरं वा। शब्यासनं वाप्यशनं श्रृतं वा स्नानादिकं वाभुवनं वनं वा। २५॥

उद्दिग्नता के कारण व्याकुछ अन्तः करण को न तो आभूषण अच्छे छगते हैं और न तो वस्त्र ही। शय्या आसन, भूख, या कुछ भी सुनना या स्नान आदि नित्य क्रिया अथवा लोकाचार, किंवा वन इत्यादि भवत को कुछ भी नहीं रुचता है।। २५।।

इतः क्षणं वा च ततः क्षणं वा गृहे क्षणं वा शयने क्षणं वा। बहिस्तथान्तः क्षणमात्रमेत्य हचुद्धिग्नभावा न लमेत शर्मं॥२६॥

कुछ क्षण यहाँ पर, कुछ क्षण बहाँ पर, गृह में कुछ क्षण अथवा कुछ ही क्षण शयन पर रहकर, उठकर उद्धिग्नमना भक्त बाहर जाकर, फिर शीघ्र ही अन्दर आकर रहता हुआ कहीं भो (प्रिय मिछन की व्याकुलता के कारण) शान्ति को नहीं प्राप्त करता है।। २६।।

यथा विरक्तो न विधिष्वधिकृतः कृताकृते कर्मणि नैव दोषभाक्।

उद्विग्नताया अपि विम्नलम्भे न नित्यनैमित्तिककमयोगः ॥ २७॥

जिस प्रकार किसी बिरनेत पुरुष को कोई सामाजिक नियम कानून से कोई मतलब नहो रहता चाहें वह सांसारिक कर्म करे अथवा न करे उसे कोई दोष भी नहीं होता, उसी प्रकार विप्रलम्भ (प्रियजन्य विरह) की उद्धिग्नता के कारण भी नित्य या नैमित्तिक कर्मों को करने का कोई बन्धन नहीं रह जाता है।। २७॥

यदुद्वेगो देवि त्रियविरहजन्मा समुदितस-तढाकृष्णस्त्रीणां किमपि नहि कार्यं निगमतः। सपस्तीर्थं योगो व्रानियमक्मिणिः सकलं, समाप्तं यनासां न हि मित्रभूद्देहविषया।। २८।।

है देवि ! इस प्रकार गोपीजन वल्लभ श्रीकृष्ण की स्त्रियों में जो प्रिय के विरह से उठा हुआ उद्देग है वह निश्चय ही किसी भी कार्य को करने में मन नहीं लगने देता। वस्तुत: तप, तीर्थ, योग, त्रत एवं नियम आदि कर्म सभी जिनमें समाप्त (सम्यक् रूप से आप्त हो जाते) हैं उनमें फिर देह विषयिका बुद्धि नहीं रहाती है। २८॥

> श्रीकृष्णविरहे देवि य उद्वंगः प्रियांसु च। अस्माकमीश्वराणान्च दुरुंभः कि बुननृणाम्।। २९।।

इति श्रीमाहेश्वतन्त्रे शिवोमासम्बादे
 चतुस्त्रिंशं पटलम् ॥ ३४ ॥

है देवि ! श्रीकृष्ण के विरह में जो उद्वेग उनकी प्रियाओं में हैं, वह हम ईश्वर (प्रमुद्ध) बाले लोगों में भी दुर्लभ है। फिर सामान्य जनों की तो बात ही क्या है॥ २९॥

श्वान क्ष्रीनारदपाश्वरात्र कागमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के चौतीसवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ३४ ॥

अथ पग्चित्रशं पटलम्

देव्युवाच-

वैराग्यस्योदये देव ज्ञाने स्यात्साघनाविधः। साधनाविधस्तत्रापि य उद्वेगस्त्वयोदितः॥ १॥

देवी ने कहा-

वैराग्य के उदय होने पर, हे देव ! साधन की अवधि (परिणित) ज्ञान में होनी चाहिए। साधन की अवधि होती है। किन्तु उसमें भी 'उद्धेग' अभी कहा गया है वह होता है।। १॥

> यथा विरक्तो देवेश न कर्मस्विधकारवान् । उद्विग्नोऽपि तथा देव न कर्माधिकृतो भवेत् ॥ २ ॥

हे देवेशा! जिस प्रकार विरक्त का (सांसारिक) कमों में अधिकार नहीं होता, वैस ही उद्विग्न का भी, हे देव! कमों में कोई भी अधिकार नहीं होता है। २।।

> मितनं देहविषया तत्र हेतुस्त्वयोदितः। अत्र मे खिद्यते चेतो न सम्यगवधारणम् ॥ ३॥ भौतिको विषमो देहो वासना ब्रह्मकेवल्रम्। कस्य युज्येत संसारः कोऽत्र कर्माधिकारवान्॥ ४॥

साधक की मित देहविषयक नहीं है। उस (देह विषयक विरित) का कारण आपके द्वारा पहले कहा गया है। इस विषय में मेरा चित्त सम्यक् रूप से निश्चय करने में असमर्थ है कि भौतिक देह विषम है और वासना मात्र 'ब्रह्म' की है। तब संसार किससे युक्त है? फिर इस संसार के कमी में अधिकार रखने वाला मला कीन है?।। ३-४।।

कर्मणि क्रियमाणे हि कोऽत्र भोक्ता फलस्य तु । अनित्यस्य जडस्यापि कथं देहस्य तद्भवेत् ॥ ५ ॥ कर्मणामिह भोक्त्री चेद्वासना यदि शङ्कर । कृतनाशः प्रसच्येत ह्यकृताक्यागमस्तथा ॥ ६ ॥ अन्येन क्रियमाणे हि कथमन्येन भज्यते। वासनायाश्च देहादेस्तारतम्यं वद प्रभो ॥ ७ ॥

फिर क्रियमाण कर्मों में फल का भोक्ता कीन हैं ? अतित्य इस जड़ रूप देह का भी वह (फल) कैसे होता है ? हे शङ्कर ! यदि कर्मों की भोक्त्री धासना होती है तो कृत कर्म का नाश कैसे होता है ? तथा अकृत कर्म का अभ्यागम कैसे होता है ? यदि दूसरे से क्रियमाण होने वाला है तो कैसे अन्य के द्वारा मोगा जाता है ? अतः हे प्रभा ! मुझे वासना का देह के साथ तारतम्य बताइए ॥ ६-७ ॥

शिव उवाच-

श्रुण वक्ष्यामि देवेशि तव प्रश्नमनूत्रमम्। देहात्मधीर्विनश्यते यस्य श्रवणमात्रतः ॥ ४ ॥

शिव ने कहा --

हे देवेशि ! आपके उत्तम प्रश्न का उत्तर मैं कहता हूँ। आप सुनिए, जिसके श्रवणमात्र से ही देहात्मक बुद्धि का विनाश हो जाता है।। ८॥

> ज्ञानमार्गे तु देवेशि वैराग्यं साधनावधिः। नानाजन्मान्तराभ्यासरागरञ्जितचेतसाम् ॥ ९ ॥ जीवानां विषयेष्वेव बहिर्धावित व मनः। मुखं स्यादिष्टविषये हचनिष्टे दुःखवद्भवेत् ॥ १०॥

हे देवेशि ! ज्ञानमार्ग में तो साधन की चिर परिणति (अवधि) तो वैराग्य ही है क्योंकि इस जीव की बुद्धि नाना जन्मों एवं जन्मान्तरों के अध्यास से साग (आसिक्त) में रंगी होती है। जीवों का मन बाह्य विषयों के प्रति हो दौड़ता है। जीव का मन इष्ट सिद्धि होने पर सुखो तथा अनिष्ट होने पर दु:खी ही होता रहता है ॥ ९-१० ॥

सुखदुःखादिकं सर्वमहङ्कारोभिमन्यते। अहङ्कारगतं सर्वं चिदाभ्यासे प्रतीयते ॥ ११॥ वस्तुतः सुख और दुःख आदि सभी (अनित्यं विषय) अहङ्कार द्वारा माने जाते

हैं। अहङ्कार गत सभी जीव चिदाभ्यास में प्रतीत हाते हैं।। ११।।

जलचन्द्रे यथा तस्य कम्पादिर्दृश्यते गुणः। प्रतीतिमात्रमेवतत् तथापि न निवर्तते ॥ १२ ॥

जिस प्रकार जल के चन्द्र में उसका कम्प आदि गुण दृष्टिगोचर होता है जीए २२ मा०

यह इसकी प्रतीति मात्र ही है। फिर भी वह हटती नहीं है (जल में चन्द्र का विस्व तो रहता ही है। किन्तु चन्द्र है नहीं। मात्र उस चन्द्र की वहाँ प्रतीति ही हमें होती है)॥ १२॥

तत्प्रतीति निराकर्तुं प्रकारं विचयं ते शिवे। अनेकजन्मसंसिद्धसाधनानां बलेन च॥ १३॥ शुद्धचित्तस्य देवेशि वैराग्यमुपसपंति। रागाद्यभावाद्विषयेष्वहङ्कारो निवन्ति। १४॥

है शिवे! उस प्रतोति के निराकरण के उपाय का प्रकार मैं आपसे कहता हूँ— अनेक जन्मों में किए गए योग-साधनों से और उसी के बल से, हे देवेशि! शुद्ध चित्त में वैराग्य का संचार होता है और अन्ततः विषयों में राग आदि आसिक के अभाव के कारण ही अहङ्कार का निराकरण हो जाता है।। १३-१४।।

न मनो धावन कुर्याद्विषयेषु इतस्ततः। न गृह्णाति सुख दुःख रागद्वेषाद्यभावतः॥ १५॥

इधर-उघर मन का विषयों के प्रति वीड़ना नहीं होना चाहिए। वस्तुत: राग अथवा द्वेष के अभाव के कारण साधक को सुख या दुःख की प्रतीति हो नहीं होती।। १५॥

कत्तृत्वं चैव भोक्तृत्वमहङ्कारे हि दृश्यते । स्थलं वपुरधिष्ठानमहं लिङ्गस्य सुन्दरि ॥ १६॥

वस्तुत: ('मैं यह करता हूँ' 'मैं भोग करता हूँ' आदि रूप से) कर्त्तृत्व और भाक्तृत्व तो अहङ्कार के रहने से ही दृष्टिगोचर होते हैं। हे सुन्दरिं! 'अहम्' की मावना तो स्थूल शरीर में रहती है (सुक्ष्म शरीर का 'अहम्' से कोई मतलब नहीं है)।। १६।।

अहङ्कारगृहीतेन स्थूलदेहेन पार्वति । योऽन्यकर्माणि कुस्ते निबब्धेतापि तैरयम् ।। १७ ।।

हे पार्वति ! अहङ्कारगृहीत स्थ्ल गरीर के द्वारा जिन कार्यों को पुरुष करता है उन्हीं कार्यों के द्वारा वह (स्थूल देह) आबद्ध भी होता है ।। १७ ।।

भोगायतनमात्रं हि स्थूलो देहः प्रकीत्तितः। अहङ्कारे सचाध्यस्ते हचहङ्कारश्चिदात्मनि ॥ १८ ॥

वस्तुतः स्यूल देह तो भोग करने का मात्र साघन कहा गया है। अहङ्कार में अध्यस्त स्यूल देह चिदात्मा में भी भासित होता है (किन्तु अहङ्कार आत्मा में होता ही नहीं है)।। १८॥

स्फाटिके हि यथाऽघ्यस्तो जपारागः प्रकाशते । चिदाभासे तथा शुद्धेध्यस्ताहन्ता तथा प्रिये ॥ १९॥

जपा (ओड़हुल) पुष्प का लाल रंग जिस प्रकार स्फटिक में प्रतिबिम्बित होता है किन्तु उस स्फटिक में रहता नहीं है उसी प्रकार शुढ़ चिदाभास में, हे प्रिये ! वह अहन्ता (अहङ्कारता) प्रकाशित सी जान पड़ती है ॥ १९॥

> स चावृत्य चिदाभासं स्वयमेव प्रकाशते । घटाकाशमिवावृत्य जलाकाशः प्रकाशते ॥ २०॥

वह (अहङ्कार) चिदाभास को आवृत करके स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है। जिस प्रकार घटाकाश को आवृत करके जलाकाश (मेघ) प्रकाशित होता है।। २०।।

मुखं दःखं भयं क्रोधो मोहो मात्मर्यमेव च । धमोधर्मौ पुण्यपापे ज्ञानमज्ञानमेव च ॥ २९ ॥ अहङ्कारगतं सर्वं चिदाभासस्य न क्वचित् । तथाप्येक्याध्यासवशादात्मन्येव प्रतीयते ॥ २२ ॥

सुख, दु:ख, भय, क्रोध, मोह, मात्सर्य, (= ई ध्या-हेष), धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, ज्ञान एवं अज्ञान सभी अहङ्कारगत हैं। ये कभी भी चिदामास के (धर्म) नहीं हैं। तथापि दोनों के ऐक्य-अध्यास के कारण ही ये आत्मा में प्रतीत होते हैं।। २१-२२॥

विशुद्धे निर्मले देवि शोणिमेव मणौ यथा।
तस्मादनात्मधर्माच्च जडा नित्यमशेषतः॥२३॥
विज्ञायाप्नोति वैराग्यमाविरञ्चिपदाद्पि।
रागाद्यभावान्न मनो विषयानुग्धावित ॥२४॥

है देवि ! विशुद्ध एवं निर्मल (स्फटिक) मिण में पुष्प लालिमा की जैसे प्रतीति होती है वैसे ही अहङ्कार का आत्मा से ऐक्य प्रतीत होता है। इसलिए अनात्मधर्म जड़ एवं अभेषता अनित्य है। ऐसा जानकर वह वैराग्य को प्राप्त करता है और ब्रह्म पद को इच्छा से भी विरक्त हो जाता है। अतः राग (आसिक) आदि के अभाव से मन विषयों के पीछे नहीं दौड़ता है।। २३-२४।।

विषयानुरागरहिते निर्मले मनिस विये। स्वात्मा प्रकाशते ध्यानाद्दर्पणे स्वमुखं यथा ॥ २५॥

अता हे प्रिये ! विषयों के प्रति अनुराग रहित निर्मंल मन में ज्यान से अपनी

भात्मा उसो प्रकाश प्रकाशित होती है जैसे दर्पण में अपना मुख दिखाई पड़ता है ॥ २५ ॥

> मनस्यपि लयं याते विकारशतवेश्मनि । समाधिस्थो भवेद्योगी यत्र शोको न विद्यते ॥ २६॥

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे पञ्चित्रशं पटलम् ॥ ३५ ॥

सैंकड़ों विकारों के अधिष्ठान मन के भी अन्तत: [कृष्ण में] विलीन हो जाने पेर समाधिस्थ योगी को किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं होती है।। २६॥ ॥ इस प्रकार श्री नारदपश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के पैतीसवें पटल की डाँ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो ज्याख्या पूर्ण हुई॥ ३५॥

अथ षट्त्रिशं पटलम

शिव उवाच-

स्वस्वमोहेन सख्यस्ता नीताः स्वप्नं परात्मनः । तस्मात्' स्थूलशरीराणि भौतिकानि महेदवरि ॥ ९ ॥

शिव जी ने कहा-

हे महेश्वरि ! अपने अपने मोह के द्वारा उन सिखयों ने परमात्मा के स्वप्त को प्राप्त किया । इसलिए उनके स्थूल शरीय तो भौतिक थे ।। १ ॥

> सामान्यतो विदुस्तासां सूक्ष्मदेहस्तथाविधाः। कारणात्मा भवेन्मोहो वासनासु पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

सामान्य रूप से उनके वे सूक्ष्म शरीर ही थे। इस प्रकार प्रथक् पृथक् वासनाओं का कारणरूप आत्मा मोह ग्रस्त होता है।। २।।

> वासना तदवच्छन्ना जीवभाविमवागता। इच्छाशक्तिप्रयुक्तत्त्वात्स मोहोऽपि रसात्मकः ॥ ३ ॥

वासना से आच्छादित [आत्मा] जीवभाव के रूप में आ जाता है। अत। इच्छाशक्ति के प्रयुक्त होने से वह मोह भी रसात्मक होता है।। ३।।

न वासनायाः ससारो न मोहस्य तथात्मनः। अहं लिङ्गस्य देवेशि संसारं उपयुज्यते॥ ४॥

न तो वासना का संसार होता है और न मोह तथा आत्मा का। हे देवेशि ! लिङ्गणरीर का 'अहम' ही संसार के लिए प्रयुक्त होता है।। ४।।

> यतो नारायणोद्भृतो मायिकः परिकीर्तितः । इच्छानन्दांशसम्भूतः सखीमोहस्तु केवलम् ॥ ५ ॥

क्योंकि यह जीव नारायण से उद्भूत होता है अतः संसार मायिक कहलाता है। इच्छा के आनन्दांश से उद्भूत होने से वही मात्र सखीरूप जीव का मोह होता है। ५।।

तस्मादहङ्कृतेरेष। संसारोऽन्यस्य न क्वचित् । कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वमहङ्कारस्य विद्यते ॥ ६ ॥

रे. 'तासा' इ० पा०।

इसलिए जीव का अहङ्कार ही यह संसार है। दूसरे किसी तत्त्व का संसार नहीं है। वस्तुतः कर्तृत्व एवं भोत्कृत्व दोनों ही अहङ्कार का होता है।। ६।।

> प्रतीयते वासनायां भोहस्तत्र प्रयोजकः। स्यूलदेहाभिभानेन अहङ्कारो विजृम्भते॥ ७॥

वासना में मोह की प्रतीति वहाँ प्रयोजक है। स्थूल शरीर के अभिमान के कारण ही अहङ्कार का विजृम्भण [अस्तित्व] है।। ७।।

सर्वेन्द्रियचरो भूत्वा सर्वकर्मप्रसाधकः। बध्यते तत्फलेश्चेवं प्रति जन्म विचित्रधा ॥ ४ ॥

वह अहङ्कार सभी इन्द्रियों में विचरण करता हुआ सभी कमी का प्रसाधन करता रहता है। इस प्रकार उसी के कर्म के फल से प्रत्येक जन्मों में विचित्र रूप से आत्मा बैंघता है।। इ.।।

> स अध्यस्तौ वासनासु वासना तद्गता भवेत् । तादारम्यभावमापन्ते वासनाहङ्कृतिस्तणा ॥ ९ ॥

जब वासना और अहङ्कृति दोनों में तादात्म्य भाव आ जाता है, तब वह (अहङ्कार) वासनाओं में अध्यस्त हो जाता है ॥ ९ ॥

> श्रृङ्गाररसरूपाणां सलीनां वासनास्तु याः। तासामानन्दरूपं च अहङ्कारेण मिश्रितस्।। १०।।

प्रुङ्गार रस रूप सखियों की जो वासना है उनका आनन्द रूप अंश उस आहङ्कार से मिल जाता है।। १०॥

> प्राप्य नारायणं द्वारमक्षरे प्रतिबिम्बिते। अन्तरङ्गा बहिरङ्गा स्वप्ने वृत्तिद्वयं भवेत्।। ११॥

यह अहङ्कार से मिश्रित आनन्द रूप वासना नारायण के द्वार पर आकर अक्षर में जब प्रतिबिम्बित होती है तब दो प्रकार की स्वप्न की वृत्तियाँ होतो है — प्रथम अन्तरङ्का और दूसरी बहिरङ्का ॥ ११ ॥

> प्रत्यक्वृत्तिरन्तरङ्गा बहिरङ्गा बहिर्गता। प्रत्यक्तृत्या तु देवेशि अहङ्काराश्रितं सुखम् ॥ १२ ॥

भीतर की वृत्ति अन्तरङ्गा है और बहिरङ्गा वृत्ति तो बहिर्गता ही है। हे देवेशि ! प्रत्येक वृत्ति का अहङ्कार से आश्रित सुख होता है ॥ १२ ॥

नारायणमुखेनैव कूटस्थे व्यक्तिमागतम् । यया सहस्रकुल्याभिः पूर्यमाणं महासरः ॥ १३॥

कूटस्थ आत्मा में नारायण के मुख से ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। जैसे सहस्रों छोटो-छोटी वाराओं से एक महासर बन जाता है।। १३।।

रोचते इचिराकृति। प्रोत्फुल्लकमलामोदं सहस्रेश्च ह्यहङ्कारविमिश्रिते। वासनानां पूर्णानन्दो भवेद्देवि गणितानन्द इत्यपि । १४॥

है देवि ! रुचिए एवं मनोहर फूले हुए कमल की सुगन्धि जैसे रुचिकर होती है। वैसे ही सहस्रों वासनाओं एवं अहङ्कार से मिश्रित अगणितानन्द भी पूर्णानन्द होता है ॥ १४ ॥

बहिरङ्गा तु या वृत्तिरहङ्कारस्य सुन्दरि। बहिनंत्परयात निर्वं तयेदन्तात्मकं शिवे । १५॥ है सुन्दिश ! अहङ्कार की जो बहिरङ्ग वृत्ति है, हे शिवे ! इस इदन्तात्मक

विश्व को बहि: के समान देखती है।। १५।।

अहङ्कारो विश्वबोजं वासनासु च बिम्बितः। दर्शयत्यखिलं विश्वं सखीभ्यो मुकुरो यथा।। १६ ।। एव रहस्य क्टस्थो बाललीलाः सखीगणः। अनुभूतवन्तावन्योऽन्यं सुदुघंटमिद प्रिये ॥ १७॥

विश्वबीज अहङ्कार जीव की वासनाओं में प्रतिबिम्बित होकर समस्त विश्व को वैसे ही दिखलाती है जैसे सिखयों के लिए मुकुर (दर्पण) हो हे प्रिये ! इस प्रकार कुटस्थ ब्रह्म की रहस्यात्मक बाललीला का अनुभव सखियाँ करती है। इस प्रकार मुदुर्घंट लीला का अनुभव दोनों ही करते हैं।। १६-१७ ।।

यथा कल्लोलजालेषु चन्द्रज्योत्स्ना प्रसर्वति। अहङ्कारविभेदेषु प्रियाणां वासना तथा ॥ १८॥ जैसे कल्लोल करते हुए जल में चन्द्र की ज्योत्स्ना फैली रहती है अह्दूार के भेदों मे वैसे ही त्रियाओं को वासना फैली रहती है ॥ १८॥

यथा कल्लोलजालेषु प्रशान्तेषु महेश्वरि। लक्ष्यते कौमुदी तस्मिन प्रशान्ते वासना तथा ॥ १९ सी

जैसे प्रशान्त कल्लोल जालों में चौदनी दिखाई देती है, हे महेश्वरि ! वैसे ही असान्त (अहङ्कार) में वासना रहतो है ॥ १९॥

रे. व्यक्तिमागत' इंव पांव ।

सद्गुरोः शरणं यायात्तदर्थमिह सुन्दरि।
त्वं प्रियासीति कृष्णस्य पूणस्य परमात्मनः ॥ २०॥
बाललीलाविलोकार्थमिह प्राप्ता न संशयः।
प्रपञ्चसागरे मग्ना कथं तिष्ठसि निर्भया॥ २१॥
पुत्राः पौत्रा धनं धान्यं देहगेहाम्बरादिकम्।
स्वप्नलब्धमिदं सवं हित्वा बिम्बं निजं श्रयः॥ २२॥

हे सुन्दिरि! इस ब्रह्मानन्द के लिए साधक की सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। हे बात्मा! तुम परमात्मा पूर्ण श्रीकृष्ण की प्रिया हो। नि:सन्देह यहाँ तुम कृष्ण की बाल लीला का दर्शन करने के लिए ही उत्पन्न हुए हो। तुम कैसे इस माया प्रपन्त से भरे सागर रूप संसार में मग्न होकर भी निर्भय हो? अत्र पुत्र पौत्र, धन, धान्य, देह, गेह तथा वस्त्रादिक स्वप्न के समान सभी को छोड़कर अपने बिम्ब का बाश्यम ग्रहण करो।। २०-२२।

कथं खेदयसे बिम्बं मोहमग्ना निरन्तरम्। प्रियाणां वासनासि त्वं न प्रियाभ्यः पृथङ्मता ॥ २३ ॥

मोह जाल में निमम्न होकर निरन्तर क्यों इस ब्रह्मानन्द की अवहेलना कर रहे हो ? हे आत्मा ! तुम श्रोकृष्ण की प्रियाओं को वासना हो । उन प्रियाओं से तुम अपने को अलग करके न समझो ॥ २३ ॥

> अहङ्काराश्रितायास्ते खेदो बिम्बाश्रितो भवेत् । तस्मात्त्रबुध्य झटिति निज बिम्बं प्रबोधय ॥ २४॥

यह जो दु:ख है, वह तो अहङ्काराधित (वासनासे) विम्बाश्रित है। इसलिए जल्दी से तुम जग जाओ और अपने विम्ब को भी जगादो॥ २४॥

> अहमध्यस्त एवायं देहस्ते पाञ्चभौतिकः। अहं स्त्री पुरुषः कृष्णो गौरस्तेनाभिमन्यसे । २५॥

यह तुम्हारा पाश्वभौतिक देह है जिसमें 'मैं' ही अध्यस्त हो गया हूँ। वस्तुत। 'मैं' स्त्री हूँ और पुरुष श्रीकृष्ण हैं। इसलिए उस अपने को तुम उस (वर्ण का) जान रहे हो।। २५॥

इदन्ताहिवरादाय अहन्ता सृष्टिकिल्पता। स्वस्वरूपमये वह्नौ हृत्वानन्दमवाप्नुहि॥२६॥

अहन्ता (मैं पना) सृष्टि से किल्पत है। अतः इदन्ता (सांसारिकता) रूप हिंबि को लेकर साधक स्वस्वरूपमंत्र अग्नि में हवन करके आनन्द को प्राप्त करे। भरव यह है कि क्योंकि अहङ्कार से सृष्टिकिल्पत है अतः यह परमार्थ नहीं है। परमात्मा कृष्ण ही परमार्थ हैं। अतः अपने असली रूप परब्रह्म रूप अग्नि में अपने इस अहङ्काराश्रित देह का हवन कर आनन्द प्राप्त करो ॥ २६ ॥

इदन्तावैरिमत्युग्रं मूलाहन्तारणाङ्गणे । स्मृतिखड्गेन तीत्रेण घातियत्वा सुखी भव ॥ २७ ॥

यह सांसारिकता अ। दिभाव अत्यन्त उग्र है। इस 'इदन्ता' के भाव को में (कृष्ण) स्मृति रूप तलवार से रणाञ्चण में मारकर हे आत्मा! तुम सुखो हो जाओ।। २७॥

> एवं प्रबोधिता सम्यक् वासना गुरुणा यदा । क्रमेणोद्वेगमासाद्य वेराग्यमिव योगतः ॥ २८ ॥

इस प्रकार से जब सम्यक् वासना अत्यन्त प्रबुद्ध हो जाती है तब कृष्ण मिलन के उद्देग में क्रमशा वह वासना वैराग्य से मानों युक्त हो जाती है ॥ २८॥

त्यजत्यहङ्कृति सद्यो गेहे देहेन्द्रियेष्वि । देहाभिमाने गलिते विज्ञाते स्वात्मनि ध्रुवम् ॥ २९ ॥

शोघ्र ही अहङ्कार को छोड़कर वह देह-गेह एवं इन्द्रियों की आसिक्त को त्याग देता है। इस प्रकार देहाभिमान (देह में आसिक्त) के गलिस हो जाने पर अपनी आत्मा में ही उसे अटल विज्ञान पैदा हो जाता ॥ २९॥

आसाद्य विरहावस्थामुद्वेगाख्यां रसात्मिकास् । वित्रलम्भरसानन्दानुभवो जायते ततः ॥ ३०॥ ॥ इति माहेश्वतन्त्रे शिवोभासम्वादे षट्त्रिशं पटलम् ॥ ३६॥

इस प्रकार कृष्ण के विरह में रस की 'उद्दोग' रूप अवस्था के आ जाने पर विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस का साघक को अनुभव होता है।। ३०॥ ॥ इस प्रकार श्रीनारदपा चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्डा) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के छत्तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३६॥

अथ सप्तित्रंशं पटलम्

शिव उवाच-

योगिनो हि विरक्तस्य मनो घ्यानरतं भवेत्। सम्यक् प्रजातया स्मृत्या मनो लीलारतं तथा।। १।। तदैवमानसी सेवा प्रसिध्यति न चान्यथा। तस्मादन्तर्वहिः कार्या सेवा यावत्स्मृतिभवेत्।। २।।

शिव ने कहा-

विरक्त योगी का मन ध्यान मण्न होता है। अतः साधक कृष्ण की सम्यक् स्मृति से अपने मन को कृष्ण छीला में लगा दे। इसी से साधक द्वारा को गई कृष्ण की मानसी सेवा सिद्ध होती है और कोई अन्य उपाय सिद्ध नहीं है। अतः साधक को चाहिए कि जब तक कृष्ण की स्मृति बनी रहे, तब तक अन्तः करण में और बाह्य रूप जगत् में भी वह मानसी सेवा करता रहे।। १-२।।

> स्मृतिं विना तु देवेशि बहिः सेवा परित्यजेत्'। प्रत्यवायमवाप्नोति मार्गभ्रष्टो भवेदपि । ३ ॥

हे देवेशि ! कृष्ण की स्मृति के विना साबक को बाह्य सेवा का त्याग कर देना चाहिए ! यदि साधक कृष्ण स्मृति के विना बाह्य (षोडशोपचार आदि) करता है तो उसके मार्ग में अनेक विष्त आते हैं और वह मार्गश्रष्ट हो जाता है ॥ ३॥

> स्मृत्यवस्थेव देवेशि मानसीमूलमुच्यते। मानस्यां जायमानायां बाह्यसेवा निवत्तेते।। ४॥

हे देवेशि ! मानसी सेवा का मूल तो (कृष्ण) स्मृति की अवस्था ही है। क्योंकि मन में उत्पन्न हुए भावों से ही बाह्य सेवा होती है।। ४॥

> प्रियसेवा प्रियाधर्मो यावत्सर्वेन्द्रियक्रिया। सर्वेन्द्रियक्रियाभावान्मानसी सा प्रवर्त्तते॥५॥

वस्तुता जब तक सभी इन्द्रियां समयं हैं, तब तक प्रिया का घमें है कि वह प्रिय की सेवा करे। जब सभी इन्द्रियां कार्य में असमर्थ हों तो भगवान की मानसी सेवा करनी चाहिए।। ५।।

१. 'परित्यजन्' इ० पा० ।

प्रेमपीयूषपायोघी यदा लग्नं मनो भवेत् 1 बाह्चेन्द्रियाणां वृत्यभावाद्बाह्यसेवा न जायते ॥ ६ ॥ प्रवर्तते मानसी सा स्मृत्यवस्थोदये सति। तस्मात्स्मृति प्रवक्ष्यामि शृणुष्वेकाग्रमानसा ॥ ७ ॥

प्रेमामृत सरोवर में जब मन संलग्न हो जाता है, तब बाह्य इन्द्रियों की [वृत्ति के सभाव में बाह्य सेवा नहीं होतो है। वस्तुतः श्रोकृष्ण की स्मृति से 'स्मृति-व्यवस्था' के उदित होने पर मानसी सेवा होती है। इसलिए, हे देवि! मैं पहले 'स्मृति-अवस्था' का वर्णन आपसे कहूँगा। उसे आप एकाग्र मन से सुने ॥ ६-७ ॥

स्मृत्यां वै जायमानायामनुसन्धानवजितम्। मनो लीलावगाहेत घमंतप्तो यथा गजः॥ ८॥

अनुसन्धानरहित होकर जब साधक का मन (कृष्ण) स्मृति में आ जाता है तो वह उसी प्रकार श्रीकृष्ण की छीला में अवगाहन करता है जिस प्रकार घूप से तप्त हुए हाथी सरोवर में अवगाहन करते हैं।। 🖘।।

अवगाहे च मनसि ब्रह्मलीलामहानदीम्। लीयन्ते वृत्तयः सर्वा गेहात्मविषया अपि ॥ ९॥

ब्रह्म की लीला रूप महा नदी में मन के अवगाहन कर लेने पर घर-बार तथा आहम विषयक वृत्तियों का भी विलय हो जाता है ॥ ९ ॥

विगाडमाने मनसि प्रविष्टे लीलामहानन्दसुधासमुद्रम्

नेदं न चादो न सुखं न दुःखं जानाति तत्रैव विलग्नचिता॥ १०॥

श्रीकृष्ण की लीला के महान् आनन्द के उस अमृत सिन्धु में डुबकी लगाकर मन के प्रविष्ट होने पर न यह कर्म होता है, न वह कर्म होता है। उस लीला में संलग्नित्त न तो सुख जानता है और न तो दुःख ही जानता है।। १०॥

स्मरेत् तदानन्दसुघासमुद्रमनगंलाप्रोच्छ्वलदूर्मिमालम्।

समन्ततोन्तःस्फुरमाणरत्नप्रभाङ्कुरोद्भासितवीचिरम्यम् ॥ ५१॥ इस समय साधक आनन्दरूपी अमृत के समुद्र में विना हकावट के उद्दाम तरङ्गी की मालाओं का स्मरण करे। वहाँ चारों ओर अन्तः (समुद्र) में स्फुरित होने वाले रत्नों की प्रभा के अङ्कुर से उद्भासित रम्य लहरीं का स्मरण करना चाहिए ॥ ११ ॥

हिरण्मयोद्भित्रपतत्पतत्रिनकादिचकोश्पतनाभिरामम् । इतस्ततो धावदनेकपोतकुलाकुलं योजनकोटिमानम् ॥ १२ ॥ उस क्षानन्द सुघा समुद्र में सुनहले पक्षि उत्प्लवन कर रहे हैं। वह समुद्र तरह-तरह के मगर आदि जल जन्तुओं के ऊपर क्षाने और चक्र के समान घूमने पर बहुत सुन्दर लगता है। वह समुद्र कोटि योजन तक इघर-उघर दौड़ने वाले अनेक जहाजों के समूह से व्याप्त है। १२।।

> जले शयानेकसुवर्णंरत्नगिरिप्रभास्त्रङ्कृतकुक्षिभागम् । वैदूर्यतालीवनशोभिकूलं कूजद्विहङ्कस्वनितै रसास्रम् ॥ १३ ॥

जल में पड़े हुए सुवर्ण एवं रत्न के पर्वत की प्रभा से अलङ्कृत कुक्षि भाग वाले समुद्र के तट वैदूर्यमणि एवं ताली (ताड़) के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से सुशोभित है। वहाँ पर आम्र के वृक्ष पर विहगों का झुण्ड चहचहा रहा है।। १३।।

तद्भिन्ततालीवनजान्धकारमुन्मूलयन्तं मणिमिस्तटस्थैः। स्फुरद्भिष्द्योतितदिग्विभागैदिवाकरेन्द्रुद्युतितस्करैरिव ॥ १४॥

चमकती हुई तथा प्रकाशमान दिग्विभागों वाली और सूर्य तथा चन्द्र की कान्ति की मानों चुराने वाली तथा ताली वन के घोर अन्धकार को दूर करने वाली समुद्र तट की मणियों से युक्त आनन्द समुद्र का उसे ज्यान करना चाहिए। १४॥

> अलङ्कलङ्कोज्जितपूर्णंचन्द्र-विडम्बिनीभिस्नटगाभिस्चन्दैः । अनेकचन्द्राकृलितस्य शोभां विलज्जयन्तं नभसोऽपि शुक्तिभिः।। १५ ॥

सम्पूर्णं कलाङ्क से रहित पूर्णंचन्द्र का अनुकरण करने वाली तथा तट पर स्थित ऊँची ऊँची सीपियों के द्वारा अनेक चन्द्रों से भरे हुए आकाश की शोभा को भी छिजित करने वाले आनन्द समुद्र का ध्यान करना चाहिए ।। १५ ।।

विमर्श - आकाश में एक चन्द्र होता है तथा अनेक सीपियां हैं जो अनेक चन्द्रों की शोभा को घारण कर रही हैं।। १५।।

> द्वीपं मणीनां च तदन्तरुद्यन्मयूख-किञ्जल्कितमादधानम् । अनेककोटीन्दुदिवाकरप्रधं 'स्मरे-च्चिदानन्दघनं महश्वरि ।। १६ ।।

हे महेश्वरि ! मणियों के द्वीप और उनमें से निकलने वाली किरणों के कण-कण को भी घारण करने वाले (अर्थात् अत्यन्त प्रकाशमान) तथा करोड़ों चन्द्रमा एवं

१. 'वा' ई० पार-।

सूर्य को प्रक्रष्ट रूप से घारण करने वाले आनन्द (समुद्र) रूप चिदानन्द घन (ऋष्ण). का उसे घ्यान करना चाहिए।। १६॥

> उपेतं नवखण्डैश्च नवरत्नमयैः शुभैः। नवभूम्यात्मकेश्चित्रवैद्यानपरिमण्डितम् ॥१७॥

भगवान् कृष्ण शुभ नी खण्डों से युक्त, नी रत्नों वाले, और नी भूमियों वाले विचित्र उद्यान से युक्त मन्दिर से परिमण्डित हैं ॥ १७ ॥

> कोटचर्धयोजनायामविस्तार सुमनोहरम्। तिर्यगृष्टवीयिता रेखाश्चतस्रो नवकोष्ठवत्।। १८ ॥

उस उद्यान का विस्तार कोटि योजन और चौड़ाई आधा योजन है। यहः सुन्दर एवं मनोहर है। इसमें तिरछो और ऊर्घ्व की ओर नौ कोव्ठों से युक्त ुचार रेखाएँ विद्यमान है।। १८।।

> मध्यः खण्डः पद्मरागमयश्चानन्दभूमिकः। पुष्परागमयस्तस्य पूर्वभागे प्रतिष्ठितः॥१९॥

इस उद्यान का मध्य खण्ड पद्मरागमय है और यह आनन्दभूमि वाला है। इसका पूर्वभाग पुब्परागमय है।। १९।।

> चिदानन्दमयीं भूमिं तत्र सञ्चिन्तयेद्धिया। आग्नेयां वज्रघटितास्तत्र वैराग्यभूमिका॥२०॥

सावक को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि में चिदानन्दमयी भूमि वाले उद्यान का चिन्तन करे। इस उद्यान का आग्नेयकाण वज्जनिर्मित है और वह वैराग्यभूमि वाला है।। २०॥

महामारकतं दक्षे चिन्तयेत्खण्डमुत्तमम् । राजते यत्र देवेशि महासन्तोषभूामका ॥ २९ ॥

साधक इस उद्यान के दक्षिण कोण में महामरकत मणि के उत्तमखण्ड का घ्यान करे। हे देवेशि ! जहाँ पर महान् संतोष की भूमि शोभा पा रही है (उस उद्यान का चिन्तन करे) । २१।।

नैऋँते चिन्तयेत्खण्ड यत्रास्ते प्रेमभूमिका। प्रवालमणिसन्नद्धं प्रकाशपरमोज्ज्वलम् ॥ २२ ॥

इस उद्यान के ऐसे नैऋ तकोण का स्मरण करे जहाँ पर प्रेमभूमिका रहती है। वहाँ प्रवाल एवं मणि से सन्तद्ध उज्ज्वल एवं श्रेष्ठ प्रकाश का ज्यान करे।। २२॥

प्रतीच्यां नीलमणिभिर्मण्डतं भृक्तिभूमिकं । इन्द्रनीलमयं देवि प्रभालिप्तनभोन्तरम् ॥ २३ ॥ पूर्वदिशा में नीलमणि से मण्डित मुक्तिमूमिका वाले उस उद्यान का स्मरण करे जिसके नभ के अन्तराल इन्द्रनीलमय तथा उसकी (नीली) प्रभा से युक्त हैं ॥ २३ ॥

वायव्ये संस्मरेत्खण्डं ज्ञानभूमिसमाश्रयम् । उत्तरे चिन्तयेत्खण्डं गोमेदरचितान्तरम् ।। २४ ॥

इस उद्यान की वायवीय दिशा के भाग को ज्ञानभूमि से युक्त चिन्तन करे। उत्तर दिशा में गोमेद से रचित खण्ड का स्मरण करे।। २४॥

> प्रकालभूमिका यत्र राजते सुमनोहरा। महामौक्तिकखण्डरच य ईलान्येगतः प्रिये। तं स्मरेत्सततं यत्र राजते रतिभूमिका॥ २५॥

हे त्रिये ! जहाँ सुन्दर एवं मनोहर प्रकाश श्रीमका शोभित है और जिसके ईशानकोण महामौक्तिकखण्ड से युक्त हैं, इस प्रकार के उस उद्यान का साधक सतत स्मरण करे, जहाँ रितिभूमिका सदैव दीधिमान रहती है।। २५।।

भूमयः सप्तदेवेशि योजनानां चतुर्दशः लक्षाणि ते मया प्रोक्ताः निवोध गिरिनन्दिनि ॥ २६॥

ह देवेशि ! चौदह योजन तक इन भूमियों का विस्तार है, जिन्हें हमने आपसे कहा है । हे गिरिनन्दिनि ! आप उनके लक्षों को समझिए ॥ २६ ॥

> चिदानन्दमयी भूमिस्तावत्येव प्रकीर्तिता । हाविंशतियोंजनानां लक्ष्याण्यानन्दभूमिका ॥ २७ ॥

चिदानन्दमयी भूमि काःविस्तार भी उतना (चौदह योजन) ही कहा गया है अपार अपानन्दमूमि का विस्तार बाइस योजन तक है ॥ २७ ॥

नित्यं वृन्दावनं यत्र राजते कणिकाकृति। समरेद् ब्रह्मपुरं तत्र प्रकाशपरमोज्ज्वलम्।। २८॥

कमल की कर्णिका के समान उस आनन्दभूमि पर नित्य वृन्दावन शोमा सम्पन्न रहता है। उसी वृन्दावन में साधक को प्रकाश से अत्यन्त उज्ज्वल ब्रह्मपुर का स्मरण करना चाहिए॥ २८॥

> तन्मध्ये देव देवेशि मणिनैकेन निर्मितम्। समकालोदितानेककोटिचन्द्राकंभास्वता ॥ २९॥

१. 'लक्षाणि मितयोक्तानि' इ० पा०।

ववित्रीलं वविद्रक्तं ववित्रुष्णं वविदिसतम्। दशभूम्यात्मकं श्रीमत्संस्मरेन्तिजमन्दिरम्। ३०॥

है देवदेवेशि ! उसके मध्य में एक हो मणि से निर्मित, एक ही समय में उदित होने वाले अनेक कोटि चन्द्र एवं सूर्य से चमकते हुए; कहीं नीले, कहीं लाल, कहों काले, कहीं सफेद दस भूमि वाले शोभा युक्त निज मन्दिर का स्मरण करना चाहिए।। २९-३०॥

विमर्श-श्रीकृष्ण के मन्दिर का वर्णन इस प्रकार है-

	1.0			-	
	९ खण्ड		९ रत्न .		९ भूमियाँ
₹.	मध्यः खण्ड		पद्मराग .		अानन्दभूमि
₹.	आग्नेय खण्ड		पुब्पराग		चिदानन्दमय भूमि
₹.	दक्षिण खण्ड		वज्रवटित		वैराग्यभूमि
٧.	नेऋित्य खण्ड		मरकत		महासन्तोषभूमि
4.	प्रतीच्य खण्ड	11111	प्रवाल	1 15 1	प्र मभूमि
ξ.	वायव्य खण्ड		नीलमणि		भुक्तभूमि
6.	उत्तर खण्ड		इन्द्रनील		ज्ञानभूमि
5.	ईशान खण्ड		गोमेद		प्रकाशभूमि
٩.	पूर्व खण्ड	*	महामौिवतक		रतिभूमि
-	4. 9.6			÷ ∌ i	

नौ मुमियों के रास्तों आदि का वर्णन ४२वें पटल में है।

मन्दिरं परितः पङ्किः सौद्यानां कृष्णयोषिताम् । एकैकं मन्दिरं देवि ! योजनार्द्धप्रमाणतः ॥ ३९॥

मन्दिर के चारों ओर ऋष्ण की प्रियाओं की प्रासाद पिंड् क्त का स्मरण करना चाहिए। हे देवि ! इस प्रकार का एक-एक मन्दिर आवे योजन विस्तार का है ॥ ३१॥

सार्द्धियोजनोत्सेधं निजमन्दिरमद्भुतम् । प्राकारदेशिभगु प्तं महोद्यानिवराजितैः ॥ ३२॥

ढाई योजन विस्तार वाला श्रोकृष्ण का अद्भुत मन्दिर महान् उद्यान से शोभा सम्पन्न है और गुप्त दश भवनों से शोभित है।। ३२॥

परिवृत्तीः स्मरेत्तस्य षट्सहस्राणि योजनाः। द्विसहस्रमिदं सूत्रं दक्षिणोत्तरगं भवेत्।। ३३॥

इस प्रकार छः हजार योजन की परिवृत्तियों (=चहारदीवारी) से सम्पन्न उस

मन्दिर का घ्यान साधक को करना चाहिए। दक्षिण और उत्तर में यह दो हजार योजन तक विस्तीर्ण है।। ३३।।

पूर्वपित्वमगं सूत्रं तथैव परिमाणतः।
महापद्मवनं ध्यायेत् परितो निजमन्दिरम्।। ३४।।

इसी प्रकार इस मन्दिर का पूर्व और पश्चिम का भाग भी उतने ही (दो हजार योजन) विस्तार वाला है। इस निजमन्दिर के चारों ओर महान् पदा (कमल) के बनों का घ्यान करना चाहिए॥ ३४॥

> प्रकाशानन्दभूम्योस्तु सन्धौ नीलाद्रिष्ठत्तमः । योजनायुतमानेन तस्योच्छ्रायं स्मरेत्प्रिये ॥ ३५ ॥

प्रकाश एवं आनन्दभूमि के सन्धि में श्रेष्ठ नीलाद्रि विराजित है। हे प्रिये ! उसकी एक हजार योजन ऊँची चोटी का ब्यान करना नाहिए ॥ ३५ ॥

> श्रुङ्गाणि तस्य देवेशि त्रीणि सन्त्यद्भुतानि च । चन्द्रगौरं चन्द्रच्डं महाचन्द्रं ततः परम् ॥ ३६॥

हे देवेशि ! उस पर्वंत की तीन अद्भुत चोटियाँ है। जिसके नाम हैं १. चन्द्रगीर, २. चन्द्रचूड और ३. महाचन्द्र ॥ ३६ ॥

> चद्रगौरे महाशृङ्गे चन्द्रनाम्ना महासरः। शतयोजनविस्तारं चन्द्रसोपानमण्डितस्।। ३७॥

चन्द्रगोर नामक महान् चोटी पर चन्द्रनामक महान् सरोवर है। इस सरोवर का विस्तार सो यौजन है। इस सरोवर की सीढियाँ चन्द्रकान्तमणि से बनाई गई हैं।। ३७॥

> गुञ्जद् भ्रमरञ्जङ्कारमुखरीकृतदिङ्मुखम् । प्रफुल्लपङ्कजवनामोदमोहितषट्पदम् ॥ ३८ ॥

यहाँ पर प्रफुल्लित कमलों के वन की सुगन्ध से आकृष्ट हुए भीरों की गुरुजन एवं झङ्कार से दिशाओं के मुख मुखरोंकृत हैं।। ३८॥

> मरालीयूथमध्यस्थमरालगणमण्डितम् । कूजितैरिचत्रपक्षाणां पक्षिणां सुमनोहरम् ।। ३९ ॥

हंसिनियों के झुण्ड में मरालों (हंसों) के समूह से शोभायमान सरोवर विभिन्त प्रकार के चित्र विचित्र पक्षियों के पङ्खों और उनके चहचहाने से अत्यन्त मनोहर प्रतीस होता है।। ३९॥ तटस्योद्यानशोभाभिनंयनानन्दमन्दिरम् । आनन्दसुधयापूर्णं संस्मरेत्स्मृतिधारया ॥ ४० ॥

उस सरोवर के तट पर बने उद्यान की शोभा का और नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले मन्दिर का व्यान स्मृति पटल पर ऐसे करना चाहिए जैसे आनन्द के अमृत से वह सरोवर भरा हुआ है।। ४०॥

> कदिनत् क्रीडनं तत्र भगवान् पुरुषोत्तमः। सखीसहस्रसेन्याभिः स्वामिन्या सह केवलम्।। ४९॥

वहाँ पर भगवान् तुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को कहीं पर क्रीडा करने का ध्यान करना चाहिए जो केवल अपनी स्वामिनी श्री राघा के साथ और हजारों सिखयों, की सेवाओं से युक्त हैं।। ४१।।

> चन्द्रचृडं पञ्चह्रदाः परमानन्दसुधामृताः। रत्नसोपानसाहस्रोः काञ्चनौः कृतकौतुकाः॥ ४२॥

चन्द्रचूड नामक दूसरे शिखर पर पाँच ह्रद हैं जो परमानन्द के अमृत से पूर्ण हैं। यहाँ की सिंदियां स्वर्ण एवं सहस्रां रत्नों से निर्मित अत्यन्त कीतुक पूर्ण हैं॥ ४२॥

> सुवर्णपङ्कजवनैर्वायुनान्दोलितैर्मुहुः । सुवासयोद्भः सततं दिगन्तात्परिशोभिताः ॥ ४३ ॥

सोने के (रंग के) कमलों के बनों की वायु से बार-बार हिलने डूलने से सदैव जहाँ के दिगन्त सुवासित एवं चारो ओर से शोभायमान हैं॥ ४३॥

क्रीडते तत्र भगवान् कदाचिद्योषितां गर्णः। उद्यानराजं देवेशि महाचन्द्रेऽपि संस्मरेत्।। ४४।।

कभी वहाँ पर भगवान कृष्ण युवितयों के समूहों के साथ विहार करते हैं। हे देवेशि ! इस महान् चन्द्रचूड सरोवर के उत्कृष्ट उद्यान की भी स्मरण करना चाहिए।। ४४॥

> पादपाः पत्रविस्तीर्णाः स्वर्णशाखासुपेशलाः । नीलवैद्र्यपत्राढ्यामुक्तास्तबकमालिनः ॥ ४५ ॥

उस उद्यान के वृक्ष पंत्रों से आकीर्ण हैं और उनकी शाखाएँ स्वर्ण के समान अंत्यन्त चिकनी और सुबड़ हैं। नीलें तथा लाल रंग के पंत्री से परिपूर्ण तथा मुक्ता के गुच्छों के समूहों से वहाँ के पेड़ सुशोभित है।। ४५।। कदम्बाशोकपुत्रागमालतीबकुलाज्जुनैः । बिल्वपालैस्तमालैश्च हितालैः पारिजाजकैः ॥ ४६ ॥ केतकैश्चम्पकैश्चतैः कल्पवृक्षैः सुशोभितम् । तन्मध्ये संस्मरेह् वि मणिमण्डपमायतम् । बातस्तमभैः स्वर्णमयैः मुक्तारत्नचितान्तरैः ॥ ४७ ॥

कदम्ब, अशोक, पुन्नाग, मालती, बकुल, अर्जुंन, बिल्व, ताड़, तमाल, हिताल, पारिजात, केतकी, चम्पा, आम्रमञ्जरियों से वहाँ के कल्पवृक्ष सुशोभित हैं। है देवि! इन वृक्षों के मध्य मणिनिमित उस चौकी र मण्डप का ध्यान करना चाहिए जो मण्डप सौ स्वणिम तथा मुक्ता आदि रतन से जटित खम्भों से युक्त है।। ४६-४७॥

शोभमानं चतुर्द्वारं साप्तभौमं निरामयम् । प्रतिद्वारं कुट्टिमाभ्यां प्रतिकुट्टिमदीर्घिकम् ॥ ४८ ॥

यह मण्डप चार द्वारों वाला, सातमञ्जिल का तथा निर्मल है। इसके प्रत्येक द्वार रत्नजटित दरवाजों से तथा प्रत्येक द्वार फर्श से युक्त दीधिका (वापी) वाले हैं॥ ४८॥

> दीर्घिकासु लसत्स्वर्णपद्मव्यग्रवडाङ्घिकम् । कुट्टिमोपरि विस्फूर्जद्रत्नस्तम्भमनोहरम् ॥ ४९ ॥

इन दीधिकाओं में स्वर्ण कमल खिले हैं, जिस पर व्यग्नता से मेंडराते हुए भीरे सुशोभित है। उनकी फर्यं पर प्रभा फैलाने वाले रत्न से जटित खम्भे अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रहे हैं।। ४९।।

> प्रवालनीलमाणिक्यमुक्तावैदूर्यगारुडः । कृतस्वस्तिकविस्फूर्यन्मध्यदेशश्रियोज्ज्वलम् ॥ ५० ॥

प्रवाल (मूँगा), वैद्या, नील, माणिक्य, मुक्ता, तथा गारुड आदि रत्नों से बने मण्डप के मध्य भाग में चमकते हुए 'स्वस्तिक' उज्ज्वल श्री की धारण कर रहे हैं।। ५०।।

शुकैः पारावर्त्तर्हंसैः क्रूजद्भिः परिशोभितम् । स्वर्णवैदूर्यमुक्ताभिविलसत्तोरणोज्ज्वलम् ।। ५१ ॥

(वे द्वार) धुकों (तोता), पारावतों (कबूतर) तथा हंसों से कूजित होने के कारण सुशोभित और स्वर्ण, वैदूर्य एवं मोतियों से जड़े हुए उज्ज्वल तोरणों से कान्तिमांन हैं। ५१॥

चतुर्दिक्ष् महासौधराजिराजितमद्भुतम् ।
कदाचिदत्र भगवान् रथमास्थाय सुप्रभम् ॥ ५२ ॥
सखीसहस्रीरायाति क्रीडनार्थं महेश्वरि ।
कृत्वा नादाविधां क्रीडामुद्याने सुमनोहरे ॥ ५३ ॥
मण्डपं प्रविशेत्सद्यः सखीभिः सह संवतः ।
आराधन्ते ततः सर्वास्तासां याः परिचारिकाः ॥ ५४ ॥

चारो दिशाओं में ऊँचे-ऊँचे भवनों की पिछ त से युक्त अद्भुत शोभा को प्राप्त
मन्दिर है। किसी समय यहाँ पर सुन्दर प्रभा वाले रथ पर चढ़कर भगवान श्रीकृष्ण
हजारों सिखयों के साथ क्रोडा करने के लिए आते हैं। हे महेश्वरि! इस सुन्दर
एवं मनोहर उद्यान में वे नाना प्रकार की क्रीडा करके सिखयों के साथ धिरे हुए
शीघ्र ही मण्डप में प्रवेश करते हैं। इसके बाद उनकी जो परिचारिकाए हैं वे
सभी उनकी आराधना करती हैं। ५२-५४॥

दिव्यसौधानि मणिभिदीव्यमानानि सर्वतः । वीणामृदङ्गतन्त्रीभिगीयन्ति यश उत्मुकाः ॥ ५५ ॥

वहाँ के दिव्य भवनों में सभी स्थान मणियों के प्रकाश से प्रकाशित हैं। उत्सुक भक्त जन वीणा, मृदञ्ज एवं सितारों के साथ यश का गायन करते हैं।। ५५।।

तद्गीतानन्दसन्दोहनिमग्नेन्द्रियवृत्तयः । उद्यानराजहरिणाः हरिण्यः शुकसारसाः॥ ५६॥ पिकाः पारावताश्चैव मयूरा मधुभाषिणः। स्ववाचं मुद्रयन्त्येव यथा चित्रगताः शिवे॥ ५७॥

उनके गीत के आनन्द समुद्र में उनकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निमग्न हो गई हैं।
उद्यान में विचरण करने वाले हरिणों और हिरिणयों, शुकों एव सारसों, पिक
(कोयल) पारावतों (कबूतरों) और मधुरभाषित करने वाले मयूरों आदि के झुण्ड,
हे शिवे ! अपनी वाणी को चित्रगत के जैसा मुद्रा में बोलते हैं।। ५६-५७।।

सुधारसादप्यधिकैर्वाक्यैहस्यिरसान्वितः । हासयन्ति हसन्त्यश्च प्रियं च स्वामिनीमपि । ५८॥

सिखर्यां सुधा रस से भी अधिक हास्य रस से युक्त बाक्यों द्वारा प्रिय एवं स्वामिनी को भो हँसातो है और स्वयं हँसती भो हैं।। ५८॥

कदाचित्प्रार्थयामासुः स्वोमिनीपक्ष**ात्रिताः ।** नेत्रबन्धमयीं लीला रन्तुं कृष्णं स_्स्रतः॥ ५९॥ उन सहस्रों सर्खियों ने किसी समय स्वामिनी का पक्ष लेकर कृष्ण के साथ खेलने के लिए नेत्रबन्धमयी (' आँख बांधकर खोजने की) लीला करने की प्रार्थना की ॥ ५९॥

पणबन्ध ततश्चक्रुनैत्रबन्धे कृते सित । यदि नाम न जानासि तदा प्रिय पराजितः ॥ ६०॥

नेत्र बन्धन करने के बाद उन्होंने फिर शपथ ग्रहण की। यदि बोलने वाली प्रिया के नाम को प्रिय कृष्ण न बता पाएँगे तो प्रिय पराजित हो जायँगे।। ६०।।

स्ववस्त्राभरणान्यस्यै देहि चित्तमखेदयन्। सा प्रिया प्रिय ते रूपं ऋरिष्यति मनोहरस्।। ६९ ॥

चित्त में बिना खिन्न हुए अपने वस्त्राभूषण उस सखि को आप दे देंगे। हे प्रिये ! वह आपकी प्रिया होगी जो आपके रूप को मनाहर करेगी ॥ ६१ ॥

त्वित्सहासनमारूढा कृष्णोऽहमिति वादिनी । भवन्तमाज्ञापयतु नृत्यतां सिख मत्पूरः ॥ ६२ ॥

आपके सिहासन पर बैठकर 'मैं कृष्ण हैं' यह कहते हुए आपको आजा देगी कि कि हे सिख ! मेरे सामने नृत्य कोजिए ॥ ६२ ॥

त्वया नृत्यं तदा कार्यमवश्यमिय चाङ्गना। त्वयि नृत्यति निःशङ्के गास्यामो वयमेव हि ॥ ६३॥

तब आपको और आपकी अङ्गना को अवश्य हो नाच करना होगा। क्योंकि आपके नृत्य करते समय हम लोग निःशङ्क होकर गीत गाएँगी ॥ ६३॥

यदि वा नाम जानासि प्रियापि कुरुतां तथा । इति ताः पणमाश्राव्य परिवद्गः प्रियं प्रियाः ।। ६४ ।।

यदि आम नेत्रबन्ध लीला में उस सिख का नाम जान लेंगे तो वह प्रिया भी वैसा ही करेगी। इस प्रकार की उनकी मर्त को सुनकर प्रियाओं ने प्रिय से कहा।। ६४ //

तदेन्द्रिरा सखी कावित् पश्चादागत्य सत्वरम् । बंबन्ध नेत्रयुगलं करपदायुगेन च ॥ ६५ ॥

तब शोंघ्र ही इंन्दिरा नाम की कोई संखि पीछे आकर अपने हस्तपधी से उनके दोनों नेत्रों को बाँघ दिया ॥ ६५ ॥

नेवे गृहीतः क्रुब्णः प्राहत्वमसि सुन्दरी। तदोन्मुच्याक्षियुग्छं स्मिता प्राहेन्दिरा सखी॥ ६६॥

नेत्र बन्द कर लेने पर कृष्ण ने कहा — 'तुम सुन्दरी हो।' तब इन्दिरा नामक सखी ने मुस्कुराते हुए कहा-नेत्रों को खोल दो ॥ ६६ ॥

> कि जल्पसि मुद्या नाम प्राणनाथ पराजितः। न चाह सुन्दरी नाम्ना प्रिया तेऽस्मीन्दिराभिधा ॥ ६७ ॥ तस्माल्लज्जां परित्यज्य पणबन्धं विचारय।

आप क्या गलत नाम से कह रहे हैं। प्राणनाथ पराजित हो गए। मैं सुन्दरी हूँ। मैं तो आपको इन्दिरा नाम की प्रिया है। इसलिए आप अब लज्जा का त्याग कर शर्त का विचार करें ॥ ६७-६८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच-

नाहं पराजितः साक्षावज्ञातेति च मुह्यताम् ॥ ६८ ॥ त्वयीन्दिरे सुन्दरीति भ्रमः सार्वदिको मम। सुन्दर्या मरिप्रयायां च स्फ्रुरत्येवेन्दिराश्चमः ॥ ६९ ॥

श्री कृष्ण ने कहा —

मैं साक्षात् रूप से पराजित नहीं हुआ हूँ नयों कि पहचान में तुम्हें भ्रम नहीं होना चाहिए। हे इन्दिरे ! तुम्हारे में सर्वत्र हमें सुन्दरी का ही भ्रम होता रहता है वस्तुतः सुन्दरी में और मेरी प्रिया में सदैव इत्दिरा का अम हो ही जाता है ॥ ६८-६९ ॥

नाण्वप्यन्तरं वापि नामतो रूपतोऽपि च। ज्ञात्वापि स्वामिन्दिरेति क्षणादेव भ्रमद्धिया। सुन्दरीत्येतन्मयोक्तमवधार्यतां ॥ ७० ॥ प्रियस्य वचन श्रुत्वा पुनः प्राहेन्दिरा वचः।

क्योंकि नाम से या रूप से अणु मात्र भी दोनों में अन्तर नहीं है। अता यह जानकर भी तुम इन्दिरा में क्षण भर ही वृद्धि भ्रम हुआ। 'सुन्दिरि' यह जो हमने कह दिया है उसे आप इन्दिरा ही समझें। प्रिय के इस प्रकार के बचनों को सुनकर पुनः इन्दिरा ने कहा ॥ ७०-७१ ॥

इन्दिरोवाच-

अहो नाथ महत्येषा वञ्चना चातुरी तव ॥ ७१ ॥ ज्ञात्वापि मामिन्दिरेति सुन्दरीति मुखोद्गतम् । क्य श्रद्शं हे नाय वेदार्थमित नास्तिकाः ॥ ७२ ॥ इन्दिराने कहा-

अहो नाथ ! यह तो आपकी महान् छलना-चातुरी है ॥ मुझे इन्दिरा जानकर भी आप के मुह से सुन्दरी मान्द जब निकला तो हे नाथ हम नास्तिकों के वेदार्थ के समान इस वचन पर कैसे श्रद्धा करें ॥ ७१-७२ ॥

> स्त्रीषु हास्येषु धूर्त्तेषु प्राणबाधाभयेषु च। संवदत्यनृता वाणीत्येतज्जानाति भो भवान् ॥ ७३ ॥

हे कृष्ण ! स्त्रियों में, हंसी में, घूलों में, प्राण के संकट में तथा भय में झूठ वाणी का प्रयोग होता है—यह आप जानते हैं ॥ ७३ ॥

> मुखोद्गते हि विश्वासो नास्माकं हृदयस्थिते । नास्तिकस्येव प्रत्यक्षे प्रमाणे न तु शाब्दिके ।। ७४ ।

हम लोगों का तो विश्वाप्त मुख से निकलने वाले शब्द पर है । आपके हृदय में क्या है ? यह हम क्या जाने । जैसे नास्तिक प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास करता है. शब्द प्रमाण में नहीं ।। ७४ ॥

> तस्मात्त्वं स्वीयवचनं यदि सत्येन युञ्जसि । देहि लज्जां विहायाशु वासांस्याभरणानि च ॥ ७५ ॥

इसलिए यदि आप अपने वचन को सत्य समझते हैं तो लज्जा छोड़कर शीछ ही अपने वस्त्र और आमूषण हमें दे दीजिए।। ७५ ।।

> नो चेत्स्वतन्त्रः कि कुर्मः प्रभुस्त्वमस्वतन्त्रकाः। पणलोपभयाद् भूयः का प्रतीतिस्तवेति हि।। ७६।।

यदि आप नहीं देते हैं तो हम स्वतन्त्र रूप से त्रया करेंगे ? क्योंिक आप तो प्रमु हैं और हम आपके वश में हैं। अतः शर्त के लोप के भय से पुनः आप पर क्या हमारी प्रतीति होगी ? आप ही जानते हैं।। ७६।।

तस्मादर्थमनथं च स्वकीयहृदये पुनः। विनिश्चित्य यथा न्यायं यदिच्छिस तथा कुरु ॥ ७७ ॥

इसलिए अर्थ एवं अनर्थ को पुनः अपने हृदय में विचार कर जैसा न्यायसंगत हो वैसा ही कीजिए।। ७७।।

श्रुत्वेन्दिरावाक्यमितप्रगरुभं चातुर्ययुक्त च सखीसमाजे। स्मित्वा स्वभूषावसनानि सद्यः स्वयं समुत्तायं ददावधास्यै।। ७८।। इस प्रकार के इन्दिरा के अत्यन्त बुढिमत्ता पूर्णं तथा चतुराई भरे बाक्यों को सखो समुदाय के मध्य सुनकर उन भगवान् कृष्ण ने हैंसते हुए शोघ्र ही अपने आसूषण एवं वस्त्रों को स्वयं उतारकर इन सिखयों को दे दिया।। ७८॥

महानीलं ददौ वासः कटिवस्त्रं सुवर्षभम् । उष्णीषं चेव कौसुम्भ मुक्ताभूषितकुण्डले ॥ ७९ ॥

अत्यन्त नीले वस्त्रों बीर सुवर्ण के समान पीले किट वस्त्र पीताम्बर को तथा कौसुम्म के वर्ण वाली पगड़ा को और मुक्ता जटित कुण्डलों को भी दे दिया ॥ ७९ ॥

स्फुरस्कोटीन्दुविलसदुष्णीषमणिमुत्तमम् । दिव्यमुक्ताफलानद्धग्रीवाभरणमुज्ज्वलम् ॥ ८०॥ नवरत्नमयीमालां विचित्रकिरणोज्ज्वलाम् । किमीरितमिवात्युच्चैः प्रकुर्वन्तीं हृदाम्बुजम् ॥ ८९॥ माणिक्यमुक्तामणिभिजंटित वलयद्वयं। नखसुक्तिं महारम्यां स्वर्णभद्मविभूषिताम्॥ ८२॥

नखसुनित गुरु। रचणानाचित्र कि मणि को, दिव्य करोड़ों चन्दमा की प्रभा से सुशोभित उत्तम उष्णीष की मणि को, दिव्य मुक्ताफल से जटित उज्ज्वल ग्रीवा के आभूषण को, नौ रत्नों के हाए को जो मुक्ताफल से जटित उज्ज्वल ग्रभा वाली थी, किमीरित के समान अत्यन्त विचित्र प्रकार की किरणों से उज्ज्वल प्रभा वाली थी, किमीरित के समान अत्यन्त किचे हृदय कमलों को खिलाने वाली, माणिक्य एवं मुक्तामणि से जटित दोनों कैंचे हृदय कमलों को खिलाने वाली, माणिक्य एवं मुक्तामणि से जटित दोनों कणें के आमूषण को तथा स्वर्ण पद्म से विभूषित महान रस्य नखशुक्ति को भी वे दिया।। ८०-८२।।

केयूरयुगलं चाच विन्तारत्नचितान्तरम्।

सहयोरूलसत्पद्मरागं चतुरुकं चातिसुन्दरम्॥ ८३॥

पहयोरूलसत्पद्मरागं चतुरुकं चातिसुन्दरम्॥ ८३॥

दोनों हाथों के बाजूबन्दों को जो चिन्ता (मणि) रत्न से भीतर में चित्रित थे,

दोनों हाथों के बाजूबन्दों को जो चिन्ता (मणि) रत्न से भीतर में चित्रित थे,

वीर मध्य में पद्मराग के समान दीप्ति वाले अत्यन्त सुन्दर चतुरुक (नामक) आभरण
को भी दे दिया॥ ८३॥

उन्मत्तानङ्गमातङ्गगलघण्टाविडिम्बिनीम् नीलहीरादिमणिभिः स्फुरिद्धः परितो वृत्ताम् । क्षुद्रघण्टाक्वणत्कारेः स्वर्णकाञ्चीमन्पमाम् ॥ द४ ॥ अन्मत्त कामदेव एवं हायी के बच्चे के गले में झूलते हुए घण्टे के समान नीलम्, हीरा आदि चमकते हुए मणियों से चार्यों और से विरे हुए, सोने की अद्वितीय करषनी को जिसमें छोटे-छोटे घुँघल झङ्कार कर रहे थे उस सिखयों को दे दिया ॥ ५४ ॥

कर्मिकाः प्रस्कुरद्रत्नप्रभाषटलमध्यगाः। बङ्गुलीखद्मलावण्यधाराजाङ्कां वितन्वतीः॥ ८५॥ पादयोः कटके दिन्ये सुवृत्तेः मणिभूषिते। दृदी महामनाः कृष्णो यदन्यद्भूषणादिकस्।। ८६।।

रत्नों की प्रभा पटल के मध्य अभियों से प्रभावान अङ्गुलियों के व्याज से लावण्य युक्त धाराओं की शब्द्धा को उपस्थित कर देने वाले दोनों चरणों के दिव्य कड़े जो सुद्धर गोलाई वाले और मणि से विभूषित थे, उन्हें और जो भी अन्य आभूषणादिक थे सभी को महामना श्री कृष्ण ने उन प्रियाओं को दे दिया।। ८५-६६।।

त्तरचा रचयामास वेषं तस्या मनोहरस्। उंडणीवं मूध्ति रचितं कणयौः कुण्डलद्वयम्।।८७।। इसके बाद उस सुन्दरी का मनोहर वेष बनाकर शिर पर पगड़ी घारण की बौर दोनों कानों में कुण्डल पहन लिए॥८७॥

कण्ठं माला दधौ रम्यां नवरत्नविराजिताम् । वलये कल्पयायास मणिबन्धद्वये तथा ॥ ८८ ॥ नौ रत्नों वाली रमणीय माला को गले में घारण कर लिया और दोनों कलाइयों में दो वल्य बाँघ लिए ॥ ८८ ॥

केयूरयुगल बाहोश्चतुष्कं हृदयाम्बुजे। कट्यां प्रकल्पयामास स्वर्णकाश्वी मनोहरास्।। ८९।। तों बाह्यों में बाजबन्द और द्रदय कमल पर चतुष्क तथा कटि में मनोह

दोनों बाहुओं में बाजूबन्द और हृदय कमल पर चतुष्क तथा किट में मनोहारी सुवर्ण की करधनी पहन ली।। द९।।

अङ्गुलीयान्यङ्गुलिषु तदङ्गे कल्पयद्धरि।।
 द्वी वेत्रं महादिव्यं खचितं मणिमौक्तिकै: ॥ ९०॥
श्रीहरि ने उन-उन अङ्गुलियों में उन अँगुठियों को पहना तथा मणि एवं मुक्ता
से खचित महादिव्य छड़ो को हाथ में धारण किया ॥ ९०॥

रत्नसिंहासने स्थाप्य तां सखीमिन्दिराभिधाम् । ननर्तं कृष्णो रुचिरान् भावानाविद्यकार हु ॥ ९९ ॥ उस इन्दिरा नामक सखी को रत्न के सिंहासन पर बेठाकर श्री कृष्ण भगवान् अनेक मनोहर भावों की अभिब्यक्ति करते हुए नृत्य करने लगे ॥ ९१ ॥

> वितिस्हिपमास्थायः मोहयन्तिव सायया। प्रिये नृत्यति सोत्साहं जगुः काश्चन योषितः ॥ १२ ॥

१. 'विभूषिताम्' इत्युक्ति पाठः ।

विनता के रूप में बतकर श्रो कृष्ण ने मानों अपनी माया से सभी को मोहित कर दिया। तभी किसी युवती ने कहा — प्रिये! यह बड़े उत्साह से नृत्य कर रही है। ९२॥

मृदङ्गमहनत् माध्वी यौवनोद्वेलगर्विता । वीणामासावती विद्युल्लता तन्त्रीमवादयत् ॥ ९३ ॥ यौवन के उद्वेग से गर्वीली माध्वा नाम की सखी ने मृदङ्ग बजाया तया वी<mark>णा</mark> को आसावती ने और विद्युल्लता ने तन्त्रो (सितार) का वादन किया ॥ ९३ ॥

लावण्यलहरी साक्षाद्वंशीवादनतत्परा। सुप्रभा निस्तुला चोभे अभृतां तालधारिके ॥ ९४॥ लावण्यलहरी नामक सखी साक्षात् रूप से वंशी बजाने में तत्पर हो गई। सुप्रभा स्रोर निस्तुला नामक दोनों सिखर्या ताल देने लगी ॥ ९४॥

काश्चिनमुखध्वित चक्रस्तालीवादनतत्पराः।
काश्चिज्जयजजयेत्युच्चैक्रच्हस्यरसाकुलाः ॥ ९५ ॥
कुछ ने मुख से स्वर की धुन निकालना आरम्भ किया तथा कुछ तो ताली ही
पीटने में तत्पर हो गई। कुछ तो हँसते हुए आकुल भाव से ऊँचे-ऊँचे स्वर में जय
हो, जय हो कहना शारम्भ किया ॥ ९५ ॥

सुमुखोलिलनाद्यास्तु साधु साध्विति चाबुवन् । अन्याः कुतूहलामग्नाः कृष्णस्य मुखपङ्कजम् ॥ ९६ ॥ उस समय सुमुखो और लिलता आदि सिखयों ने साधु-साधु कहना गुरू किया । अन्य सिखयों कृष्ण के मुखकमल पर आसक्त हो कुतूहल पूर्वक आनन्द रस में निमग्न हो गई ॥ ९६ ॥

पपृक्तिवण्यमधुरं भ्रमन्तनषदःम् । ततो लीलावसाने तु कृष्णरूपघरा सखी । सिंहासनात्समुत्थाय रचिताञ्जिलराययौ ॥ ९७ ॥ पपात पादयोभेर्त्तुः प्रिय उत्थाप्य तां सखीम् । आलिलिङ्ग चिरं प्रमणा चुचुम्बाननपङ्कजम् ॥ ९८ ॥

जालाल क्ष चिर प्रमणा चुचुन्वापा के निया का पान किया।
नयन रूपो भौरों ने इस प्रकार को मधुर छोब के लावण्य का पान किया।
तब लीला के अन्त में उन कृष्ण रूप वाली सखी अपनी अञ्जलि पसारे हुए सिहासन
सब लीला के अन्त में उन कृष्ण रूप वाली सखी अपनी अञ्जलि पसारे हुए सिहासन
से उठकर आयी और स्वामी कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ो तब उन प्रिय ने उस
सखी को उठाकर अत्यन्त प्रेम से चिरकाल तक उसका आलिङ्गन किया और उसके
मुखकमल का चुम्बन करते रहे।। ९७-९८।।

कृष्णं विभूषयामास पुनस्तैभूषणाम्बरैः। रथारूढा ययुः सर्वाः प्रियेण निजमन्दिरम्॥ ९९ ।।

कृष्ण को पुनः उन आभूषणों और वस्त्रों से अलङ्कृत किया और वे सभी रथ पर आरूट होकर प्रिय कृष्ण के साथ निजमन्दिर को लौट गई।। ९९॥

> चतुःषिष्टमहास्तम्भराजराजितभूमिकाम् । प्राप्यसिंहासनगतं परिवत्रः प्रियं प्रियाः ॥ १००॥ ॥ इति श्रीमाहेश्वतन्त्रे शिवोमासम्वादे सप्तत्रिंशं पटलम् ॥ ३७॥

उन प्रियाओं ने चौसठ खम्भों की पिङ्तयों से विभूषित भूमिका वाले सिहासन गत प्रिय को प्राप्त कर उन्हें घेर लिया ।। १००॥

शा इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के सैंतीसवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कत 'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच-

देवेश परमेशान सुरासुरनमस्कृत । कथेयं सुमहत्पुण्या सुधास्वादीयसंस्तुता ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा-

हे देवेशि ! हे परमेशान ! हे देवों और असुरों से नमस्कृत ! यह कथा महा-पुण्य वाली तथा अमृत से परिपूर्ण है ।। १ ॥

तथापि देवदेवेश त्वद्वाक् पीयूषपानजा। तृष्तिनं जायते सम्यक् शुश्रूषाकुलचेतसः॥२॥

हे देवेशि ! आपके वाणी रूप अमृत का पान हमने किया; तथापि सेवा गुश्रूषा के लिए व्याकुल चित्त मुझे इस कथा से तृष्ठि नहीं मिल रही है ।। २ ।।

कथाश्रवणजानन्दो न मुक्ताविप दृइयते । कस्तं विहाय मोहेन निजायुः प्रविलापयेत् ॥ ३ ॥

कथा के श्रवण से उत्पन्न आनन्द से मैं अपने को मुक्त भी हुआ नहीं देख रही हैं। कीन है जो उस कथामृत को मोहवश छोड़कर अपनी आयु को व्यर्थ ही व्यतीत करेगा।। ३।।

ते मन्दभाग्याः कुधियो दुराचारपरा हि ते । यैर्ने लब्धा क्षणमपि कथा कर्णसुद्या सती ॥ ४ ॥

वे कुत्सित बृद्धि वाले लोग दुराचार पंरायण होकर मन्द भाग्य के व्यक्ति हैं जो क्षणभर, भी कथामृत का पान नहीं कर सके ।। ४ ।।

सार्द्धत्रिकोटितीर्थानि ऋषयो मन्त्रदेवताः । यत्र कृष्णकथावादस्त्रैवायान्तिनिध्वितम् ॥ ५॥

जहाँ कृष्ण कथा होती है वहाँ साढ़े तीन करोड़ तीयँ, ऋषि; मन्त्र और देवता गण निश्चित ही आते हैं ॥ ५ ॥

तस्मादनुप्रहीतास्मि भवता करुणात्मना । कथां कथयता रम्यां कृष्णस्यानन्दरूपिणः ॥ ६॥ इसलिए, हे करुणापरायण ! मैं आपकी अनुगृहीत है । आनन्दरूप कृष्ण की रम्य कथा आपने कहकर मुझे अनुगृहीत किया है।। ६।।

पुनः कथय देवेश कथामानन्दकारिणीम् । चतुःषिटमहास्तंभराजिराजितभूमिकाम् ॥ ७॥ अधिष्ठाय प्रियेणिताः सङ्गताश्च किमाचरन् । तद्वदस्वमहेशान यदि तेनुग्रहो मिय ॥ ८॥

हे देवेश ! अतः आप पुनः आनन्दकरी कथा को कहें। चौसठ स्तम्भों वाले सिहासन पर प्रिया (राधा) के साथ बैठकर उन सखी समुदाय ने क्या-क्या आचरण किए ? उन आनन्द को, हे महेशान ! यदि मेरे ऊपर अनुग्रह हो तो, आप आगे कहें।। ७-८॥

शिव उवाच-

श्रृण् पार्वति वक्ष्यामि यत्पृष्टोहं सुलोचने। यस्य श्रवणमात्रेण जायते रतिकत्तमा। ९॥

शिव ने कहा---

हे पार्वित ! हे सुलोचने ! आपने जो पूछा है उसे मैं कहता हूँ, सुनिए । जिसको सुनने मात्र से भगवान में उत्तम रित हो जाती है ।। ९ ।।

> नोलाद्रिशिखरादेत्य निजं धाम परात्परः। रत्नसिहासने तस्थौ नवरत्नविभूषिते।। १०॥

अपने धाम नीलाचल शिखर से आकर परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण नौ रत्नों से विभूषित रत्न के सिहासन पर बैठे हैं।। १०।।

> सिहासनस्य परितो मण्डलाकारसंस्थितः। प्रफुल्लनयनाम्भोजाः पृश्यन्ति स्म प्रियं मुदा ॥ ११ ॥

मण्डलाकार रूप से सिहासन को जारों ओर से घेर कर विद्यामान सखियाँ
प्रसन्न होकर अपने प्रफुल्लित नयन कमलों से प्रिय को देख रही हैं।। ११।।

पूर्णानन्दं पूर्णकामं तत्र काञ्चन् योषितः। राजोपचारविधिना हचुपतस्थुर्मुदान्विताः॥ १२॥

पूर्ण आनन्द में विभार एवं पूर्णकाम कोई युवित राजीपचार की विधि से अत्यन्त प्रसन्तता के साथ प्रिय श्री कृष्ण के पास आई ।। १२।।

> शरच्चन्द्रप्रभागीरं मुक्तामणिविभूषितम् । रत्नदण्डम्नोहारि मिहिला इत्रमाद्धौ ॥ ५३ ।

शारदकालीन चन्द्र की प्रभा के समीन घवल वर्ण के तथी मुक्ता एवं सिणि के विभूषित और रत्नजटित मनोहारी छत्र को उसने आकर पकड़ लिया ।। १३ ॥

माणिक्यखचितस्वर्णदण्डचामरचालनै। । उपतस्थौ महाभागा चन्द्रलेखा मनस्विनी। १४॥

माणिक्य से जड़े हुए सुवर्ण के दण्ड वाले चामर को चलाने के लिए महामागा मनस्विनी चन्द्रलेखा भी पास आ गई।। १४।।

> सुवर्णसूत्रविद्योतच्चन्द्रकार्षितमौक्तिकम् । मयूरव्यजनं द्युत्वा करे चित्रा परामृशत् ॥ १५ ॥

सुवर्ण के सूत्र से चमकीले चन्द्र और मौक्तिक जड़े हुए मयूरपङ्ख हांथ में घारण किए हुए चित्रा परामृश करती हैं ॥ १५ ॥

हिमांशुमण्डलप्रस्यं दर्पणं स्वर्णभूषितम्। स्तिचित्रः करे घत्वा तस्थावानन्दमञ्जरी। १६॥

चन्द्रमण्डल के समान स्वर्ण से भूषित तथा रत्नों से जटित वित्रित्र लगने वाले दर्पण (=अाइने) को हाथ में घारण किए हुए आनन्दमञ्जरी वहाँ आतो है ।। १६ ।।

सुगंन्धद्रव्यसिभन्नास्ताम्बूलदलवीटिकाः । रत्नपात्रे समादाय तस्यौ मदनमेखला ॥ १७ ॥

सुगन्ध द्रध्य से युक्त पान की बोड़ा रत्न जटित पात्र में लेकर मदनमेखला वहाँ खड़ी है। १७॥

शतयोजनसंसपि दिव्यचन्दनपूरितम्। रतनपात्रं करे घृत्वा तस्थी भुवनमालिनी । १८॥

सौ योजन तक सुगन्य को फैलाने वाली दिव्य चन्दन से परिपूर्ण रत्नजटित थाल हाथ में लिए भुवनमालिनी वहाँ खड़ी है । १८॥

मुक्ताजटितसीवणभृङ्गारजलपूरितम् माणिक्यनालमादाय रत्नरेखा पुर:स्थिता॥ १९॥

मुक्ता जिंदा (घड़े में) स्विणिम भुङ्गार के जल से परिपूर्ण माणिक्य के नाल को लेकर रत्नरेखा सामने उपस्थित है।। १९॥

शर्यंचन्द्रांशुधवलं दशाविलतमौक्तिकम् । हस्तवासः करेष्टृत्वाः पुरस्तथौ विहारिणी ॥ २०॥ शरदकालीन चन्द्रकी किरणों के समान धवल मौक्तिक वस्त्र से परिवेष्टित ्हस्त सुगन्ध को हाथ में लेकर विहारिणी सम्मुख खड़ी है।। २०।। स्वर्णपात्रे स्थितं दिव्यं नानास्वादुरसान्वितम्। आनन्दभोगमादाय माधुरो दक्षिणे स्थिता।। २९।।

अनेक प्रकार के सुस्वाद रसों से युक्त दिव्य आनन्दभोग को सोने की थाल में लेककर माधुरी सिहासन के दाहिने ओर खड़ी है।। २१।।

लीलावचांसि यानीह प्रवाक्त पुरुषोत्तमः। तानि श्लाघयितुं तस्थौ सुन्दरीशानकोणगा ॥ २२॥

पुरुषोत्तम प्रभु जिन लीला ववनों को यहाँ कहते हैं उनको प्रशंसा के लिए सुन्दरी सिहासन के ईशानकाण में खड़ी है।। २२।।

माध्वी मृदङ्गघोषेण वीणयाशावती सती। विद्युरुलता तथा तन्त्रीरवेणातिरसच्युता॥२३॥

. मृदङ्ग के घोष से मान्वी, अशावती अपनी वीणा से तथा विद्युल्लसा अति रस -से पूर्ण तन्त्री के रव से मुक्तः वहाँ उपस्थित है ।। २३।।

> वंशीवाद्यन लावण्यलहरी ललिताकृतिः। रागरङ्गा विनोदायं प्रयुक्तपरिभाषया॥२४॥

लित आकृति वाली लावण्यलहरी वंशी वाद्य के द्वारा तथा तथा रागरङ्का नामक कोई सक्षी मनोविनोद के लिए तरह-तरह की वाताओं को कहती हुई वहाँ उपस्थित हैं।। २४।।

> रागिवद्यासु कुशला रागिणी रागिवद्यया। उपतस्थुमेहाभागाः कृष्ण परमपूरुषम्।। २५॥

रागरागिनियों की विद्या में कुशल रागिणी अपनी राग विद्या के द्वारा प्रसन्न करती हुई महान् सौभाग्यदालो रागिणा श्रेष्ठ पुरुष श्रीकृष्ण के पास आतो हैं।। २५।।

ततो नाना विधां चक्रुर्लीलां हास्यरसाधिकाम् । तदन्ते प्रियमाभाष्य वप्रच्छुस्ताः समुत्सुकाः ॥ २६ ॥ इसके बाद वहां अधिकतर हास्य रस से परिपूर्ण नाना प्रकार की लोला होती है । अन्त में प्रिय से बालने के लिए उत्सुक उन सिखयों ने श्राकृष्ण से पूँछा ॥२६॥ सख्य ऊचः--

> भो नाथ पुरुषश्रेष्ठ प्रियस्त्वं च वयं प्रियाः। प्रियत्त्वभाजां या प्रीतिने चोपाधिकृता भवेत् ॥ २७ ॥

सखियों ने कहा --

हेनाथ ! हेपुरुषों में श्रेष्ठ ! आप हमारे प्रिय हैं और मैं आप की प्रिया हूँ। आप मुझे वह प्रीति प्रदान करेंजो प्रिय को प्रसन्त करने वाली हो और प्रिय को लुभाने वाली हो।। २७॥

> यद्यपाधिकृता प्रीतिस्तदा रूपं न मिद्धचित । तस्मात्त्रो मवतीनां नो यथावद्वव्यमहंसि ॥ २४ ॥

वस्तुतः रूप की सिद्धि तब तक नहीं होतीं जब तक 'उपाधिकृत प्रीति न हो । इसिलिए हम प्रेम करने वाली सिखयाँ आपसे वैसा बोलने में समर्थ होवें ।। २८ ॥

अवाग्विषयमत्युग्रहैतुकमनामयम्
त्वय्येवास्माकमतुलं प्रोम विद्योतते प्रिय। २९॥
हे प्रिय! विना वाणी का विषय हुए, अत्यन्त उग्न, अहैतुक तथा अनामय
हमारा अतुलतीय प्रेम आप पर प्रगट हो रहा है॥ २९॥

शब्दोपाधौ कथं तच्च धतुँ शक्ता वयं स्त्रियः।
तस्मात्तरप्रकटीकतुँ न समर्थाः कदाचन।। ३०॥
हम स्त्रियां उस अलौकिक प्रेम को शब्द के बन्धन में बाँधकर घारण करने में
समर्थ नहीं हैं। इसीलिए हम उत्कट प्रेम को प्रगट करने में हम समर्थ भी नहीं
हैं॥ ३०॥

स्वयंवेद्यभिदं भाति कथं वाचा प्रचक्ष्महे। अस्मासु यद्भवेत्प्रेम त्वदीयं पृष्ठषोत्तमः।। ३९॥ अधिकं वा समंन्यूनं कथं विद्यः प्रिया वयम्। त्वमेव वाचा तद्बूहि तारतम्यविदो वयम्॥ ३२॥

यह प्रम तो स्वयं जानने योग्य (अनुभूति) है। इसे हम कैसे वाणी से कह हैं। अतः हे पुरुषोत्तम! जो प्रम आपका हमारे ऊपर होवे वह अधिक है या न्यून हे हम आपको प्रिया भी कैसे जान सकती हैं। अतः हमलोगों से आप ही वाणो से कहिए। हमलोग उस तारतम्य परम्परा की जाता हैं, हमलोग जान लेंगी।। ३१-३२।।

सखीनामपि सर्वासां स्वस्वप्रमितिरूपणे। विवादः शान्तिमाप्नोति त्वत्प्रमिश्रवणेन च।। ३३।।

सभी सिखयाँ भी अपने-अपने प्रम के निरूपण में तथा आपके प्रम कि श्रवण में विवाद करतो हुई शान्ति प्राप्त करती हैं।। ३३।। इति श्रुत्वा वचस्तासां परात्मा पुरुषोत्तमः। न वाग्वृत्तिव्यक्तियोग्य ज्ञात्वा प्रोमाजवीद्वचः॥ ३४॥

इस प्रकार उनके इन बचनों को सुनकर श्रेष्ठ आत्मा पुरुषोत्तम ने प्रेम बाक् वृत्ति से प्रगट करने योग्य नहीं है, यह जानकर प्रेमपूर्ण वाणी से कहा । ३४॥

श्रीकृष्ण उवाच— भवतीभियंदुक्तं भी तत्तथैव न संशयः। स्वसंवेद्यमिदं प्रोम न वाचा वक्तुमँहति॥३५॥

श्रीकृष्ण ने कहा-

हे सिखयो ! जो आप ने यह कहा कि प्रेम वाणी से प्रगट करने योग्य नहीं है, वह ती स्वसंवेद्य है। यह तो वैसा हो है। इसमें कोई संशय नहीं है।। ३५।।

रम्यैमेनोहरैभिवैलेक्षणीयं भवेदपि। प्रोम रत्यात्मकं सख्यो रतिरेव रसोस्म्यहम्॥ ३६॥

फिर भी रमणीय एवं मनोहर भावों से यह प्रगठ करने वाला होता है। है सिखयो ! प्रेम रत्यात्मक (परंस्पर करने योग्य) है और वह रित रूप रस मैं ही है ॥ ३६॥

> तस्मान्मदात्मकं प्रोम ज्ञातव्यमिह सर्वथा। मत्स्वरूपंतुको वेत्ति को वा वक्तुं समीहते।। ३७॥

इसिलए मेरे पर प्रगट करने वाले प्रेम को तुम्हें अवस्य जानना चाहिए हैं मेरे (रित रूप रस के) स्वरूप को कौन जानता है और (उस अगाघ प्रेम को) कहने में कौन समर्थ है।। ३७॥

निषेधमुखतो वेदा वर्णयन्ति विशारदाः। कथमन्ये वराकास्तु कालावच्छेदमूर्त्तयः॥ ३८॥ प्रेम को जानने वीले वेद इंसका वर्णन निषेघ वाक्यों के द्वारा (नेति-नेति = यहः नहीं हैं, यह नहीं) करते हैं। तब काल की सीमा में आबद्ध अन्य मनुष्य इसे कैसे

कंह सकते हैं ॥ ३८॥

मत्स्वरूपिदं प्रेम न शब्दविषयं भवेत्। तस्मान्मयापि नो वक्तुं शक्यतेऽन्यस्य का कथा।। ३९॥ मेरा यह प्रेम स्वरूप शब्द का विषय नहीं बंग सकता है। अंतः मैं भी इसे नहीं कह सेकता। तब अन्य जन वैसे कहने में समर्थ हो सकते हैं ?॥ ३९॥

१. 'स्वयंवेद्यमिदं' इ० पा०।

एवं ता। प्रत्युदीयीय दर्पणं स्वपुर:स्थितम्। आदाय ताभ्यः प्रायच्छत्सन्मुखं पुरुषोत्तमः ॥ ४० ॥

इस प्रकार उनसे कहकर अपने सामने स्थित दर्पण को लेकर पुरुषोत्तम ने उन्हें सम्मुख दे दिया ॥ ४० ।

> त्रे मदत्ते त्रियेणास्मिन् दर्पणे योषितां तदा। पश्यन्तीनां मुखाब्जानि वितर्कः सुमहानभूत् ॥ ४१ ॥

तब प्रिय कृष्ण द्वारा प्रेम से प्रदत्त उस दर्पण में उन उन सिखयों ने अपने-अपने मुखकमलों को देखते हुए महान् तर्क युक्त भावों को प्रगट किया।। ४१॥

प्रोमप्रक्तोत्तरं वक्तुमात्मदर्जाः प्रदर्शितः। कि सूचितमनेनेति कथं विज्ञायते हि तत्।। ४२।।

इस प्रकार प्रेम के प्रश्नों तथा उत्तरों को कहने के लिए उन्होंने आत्म-दर्पण को प्रदर्शित किया। इस दर्पण से क्ष्म सूचित हुआ और उससे क्याज्ञान हुआ (इसे कौन कहेगा) ? ॥ ४२ ॥

स्वच्छं दर्पणवत् प्रेम स्वकीय वक्ति कि प्रभुः। प्रतिबिम्बवदस्माकं बिम्बवत्स्वीयमित्युत ॥ ४३ ॥

दर्पण के समान अपने स्वच्छ प्रेम को कौन कहने में समर्थ है। क्योंकि स्वकीय बिम्ब के समान हमारा प्रतिबिम्ब है।। ४३॥

अथवा दपेणे यद्वत् यथारूपं च द्रयते। तथा भवेत्प्रमिनभं मदीयमिति सूचितम् ॥ ४४॥

भयवा दर्णण में जैसा दिखाई पड़ता है मेरा प्रेम भो उसके ऊपर वैसा ही होता है ॥ ४४ ॥

किम्। प्रेमभेदनिरासार्थमैक्यसंसूचनाय रूपस्य प्रतिरूपस्य यथा तद्वद्भवेन्न किम् ॥ ४५ ॥ प्रेम-भेद की बताने के लिए और उस प्रेम में एकी इत भाव की प्राप्त प्रेमी के रूप तथा प्रतिरूप के जो भाव जैसे होते हैं क्या बैसे वे नहीं होते ? ॥ ४५ ॥

इति संशयमग्नं स्वं सखीवगं परात्परः। भवतीनामयं तर्को मदाशयनि रूपकः ॥ ४६॥ इस प्रकार परात्पर परब्रह्म के विषय में संशयमग्न अपने सखी वर्ग का यह तर्क मेरे आशय का निरूपण करने वाला है।। ४६॥

न मया विद्यते भेदो युष्माकं च मनागपि। अहं यूयं यूयमहमित्येषा मे मतिः प्रियाः॥ ४७॥ मैं आप में अपने प्रेम के कुछ भी भेद को नहीं जानता क्योंकि मैं तुझमें हूँ बौर तुम मुझमें हो-इस प्रकार मेरी प्रिया बुद्धि है ॥ ४७ ॥

> अभेदसूचनार्थाय दर्पणो वः पुरोधृतः। इति प्रहर्षजनकैर्वचोभिः समनन्दयत्॥४८॥

हमारे और तुम्हारे में अभेद (सम्बन्ध) है-इसी को दिखलाने के लिए आप के सामने हमने दर्पण रक्खा है। इस प्रकार के आनन्द-विभोर कर देने वाले वचनों से उन्हें श्रीकृष्ण भगवान ने आनन्दित किया॥ ४८॥

शिव खवाच-

एवमानन्दिताः सर्वाः श्रुत्वा वाचः सुशोभनाः । प्रहर्षवेगविवशाः कृष्णस्य मुखपञ्जम् ॥ ४९ ॥ अङ्गृष्ठतर्जनीम्यां गृहीत्वा चिबुकस्थलम् । चनुम्बुः परया प्रीत्या ससीत्कारं गतत्रपाः ॥ ५० ॥ आलिलिङ्गुस्तथा चान्याः प्रश्नसंसुस्तथापराः । त्वय्येतदुचितं नाथ यत्त्रियाणां प्रयञ्जराः ॥ ५१ ॥ इत्याहरपराः सख्यः प्रमनिमिन्नमानसाः ।

शिव ने कहा-

इस प्रकार के वचनों को मुनकर वे सभी सिखयां भी बहुत आनिन्दत हुई और अत्यन्त आनन्द के वेग से विवश होकर अपने अँगूठे और तर्जनी से कृष्ण के मुखकमल के चिब्क स्थल (गाल) को पकड़कर चूम लिया। अत्यन्त प्रीति के कारण उन्हें सीत्कार करके चूमती हुई वे अपनी लज्जा को भूल गई। एक दूसरे का उन्होंने आलिङ्गन किया तथा एक दूसरी की प्रशंसा की। हे नाथ! प्रिय लोगों को आनन्द प्रदान करने वाले आप के लिए यह उचित ही है। इस प्रकार के वचनों को एकीकृत मन वाली होकर उन सिखयों ने प्रेम में परस्पर एक दूसरे से कहा। ४९-५०।

एतस्मिन्नन्तरे नाम्ना सुन्दरीति वराङ्गना ॥ ५२ ॥ स्मितपूर्वमुवाचेदं वचनं प्रेमगर्विता।

इसी समय सुन्दरी नामक श्रेष्ठ अङ्गना ने प्रेम से गर्वीकी होकर मुस्कुराते हुए इन वचनों को कहा ॥ ५२-५३॥

१. 'गृहोतचिबुकस्थलाः', इ० पा०।

२. 'वियकरः' इ० पा०।

सुन्दर्युवाच--

भवतीनामयं तर्को यद्यपि श्रियसम्मतः ॥ ५३ ॥ तिकीशेवस्त्याच्यस्ति न प्रियेण प्रकाशितः। भवतीभिः स्वमत्यापि स च नावगतः परम् ॥ ५४॥

सुन्दरी ने कहा 1 १००० श किया अपना किया किया के प्रत्या में बाप लोगों का यह तर्क (भाव) यद्यपि प्रिय सम्मत है तथापि कुछ तर्क अभी शेष रह गया है जो हमारे प्रिय श्रीकृष्ण द्वारा नहीं कहा गया है। आप लोगों ने भी अपनी बुद्धि से उस तर्क (भाव) को अभी नहीं जाना है ॥ ५३-५४॥

स्वीयोपरि प्रेम कीद्गिति पृष्टे प्रियेण हि। आत्मदर्शो दर्शितो वस्तत्र वस्ये प्रियाशयम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि स्वयं पर प्रिय का कैसा प्रेम है-प्रिय द्वारा ऐसा पूँछने पर अपना बादर्श (दर्पण) जो उन्होंने आप को दिखा दिया है उससे प्रिय का क्या आशय है ? यह मैं कहती हूँ ॥ ५५ ॥ 🚎 🚎 🕬 🕬 🏋

आत्मादर्शे यथा सम्यक् स्वस्वरूपं निरीक्षते । तदभावे स्वस्वरूपातुभवो तैव जायते ॥ ५६॥ आत्मा के दर्पण में जैसे स्वयं के स्वरूप का निरीक्षण सम्यक्ष् रूप से किया जा

सकता है और उसके अभाव में स्व-स्वरूप का अनुभव नहीं होता ॥ ५६॥

श्रुतिगीतिमिदं तद्वत्स्वरूपं मे रसात्मकम्। मयानुभूयते सम्यक् प्रियापात्रसमाश्रयम् ॥ ५७ ॥

उसी प्रकार से यह श्रुति और गीत मेरा रसात्मक स्वरूप है। प्रिया पात्र में

समाश्रयण करके सम्यक् रूप से इसे मैं अनुभव करता हूँ। ५ ।।

अन्यथा मत्स्वरूपस्य त ममानुभवः क्वचित्। यथा घरागतं सूर्यो रसं पीत्वाभिवर्षति ॥ ५८॥ तथा श्रियारसं मां च पीत्वां तद्भावपूरिताः। आनन्दयन्ति मामेव घनीभूतरसात्मकम् ॥ ५९॥

अन्यथा मेरे स्वरूप का मुझे भी कभी अनुभव नहीं होगा। जैसे पृथ्वी से जल को पोकर सूर्य वर्षा करते हैं उसी प्रकार प्रिया के रस को पीकर और मुझ में उसी भाव से परिपूर्ण होकर वह घनोभूत रसात्मक बहा मेरे में ही आनन्द लेते हैं ॥ ५६-५९ ॥ . . इत्राह . . दे . 12

दर्पणळ्याना सल्यः अयमघाँऽपि स्चितः।

रे. 'स पत्यापि' इ० पा०

इत्येतत्सुन्दरीवाक्यं श्रुत्वा सख्योतिविस्मिताः ॥ ६० ॥ भगवानि पूर्णात्मा तदुक्तार्थममन्यत ।

दर्पण के व्याज से सिखयों ने इस अर्थ को भी सूचित किया है। इस प्रकार के मुन्दरी के वाक्यों को सुनकर अन्य सिखयाँ अत्यन्त विस्मित हुई। पूर्णात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी इस अर्थं को मान लिया ॥ ६०-६१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच-

अन्वर्थं साधु ते नाम सुन्दरीति मम प्रियम् ॥ ६१ ॥ त्वं मे प्राणाधिका चासि सर्वस्वं मे त्वमेव हि। त्वदधीनोऽस्म्यहं साध्व प्रेमपाशनियान्त्रतः ॥ ६२ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा —

तुम्हारा सुन्दरी यह नाम ठीक ही अन्वर्थ है और मुझे प्रिय है। तुम मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी हो। अतः मेरा सर्वस्व भी तुम्हीं हो। हैं साध्वि! तुम्हारे प्रेम के पाश से नियन्त्रित मै अब तुम्हारे अधीन हूँ ।। ६१-६२ ॥

त्वदुक्तं यन्मयोक्तं तत् त्वद्दृष्टं तन्मयेक्षितम्। यत्त्वयाङ्गीकृतं साध्वि मयाप्यङ्गीकृतं हि तत् ॥ ६३ ॥ जो तुमने कहा - उसे मैंने कहा, जो तुमने देखा उसे मैंने देखा । हे साध्व ! जो तुमने अङ्गीकार किया मैंने भी उसे ही अङ्गीकार किया है ।। ६३ ।।

> आवयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी । इत्येवं वचनं श्रत्वा प्रियास्ताः प्रियभाषितम् ॥ ६४ ॥ प्रहर्षं परमं जग्मुविषण्णां स्वामिनीं विना ॥ ६५ ॥ ।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्बादे अष्टित्रंशं पटलम् ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरि ! अब हमारे और तुम्हारे बोच में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई भेद करता है तो वह पापी है। इस प्रकार के प्रिया कृष्ण द्वारा माषित उन प्रिय वचनों को सुनकर वे सखियाँ भी अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई। किन्तु स्वामिनी (राघा) के विना वे कुछ खिन्त मन वाली हो गई ॥ ६४-६५ ॥

।। इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के अड़तीसवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।। ३८॥

अथ एकोनचत्वारिशं पटलम्

पार्वत्युवाच-

भगवन् देवदेवेश दिव्यज्ञानविशारद । अत्याश्चर्यकरी प्रोक्ता कथा ते जीवदुर्लभा ॥ १ ॥

पार्वेती ने कहा — है भगवान्, देवदेवेश, दिव्यज्ञान के विशेषरूप से ज्ञाता, आप ने अत्यन्त आश्चर्यान्वित कर देने वालो और जीवों के लिए दुर्लभ कथा कही है।। १।।

प्रादुर्भवन्ति देवेश सर्गेस्मिन् देवदानवाः। मनुष्यलौकेपि च ते सम्भवन्ति यदृच्छया॥२॥

हे देवेशि ! इस मृष्टि में देव और दानव दोनों ही उत्पन्न होते हैं। वे इस मृत्यलोक में भी अपनी इच्छा से जन्म लेते हैं।। २।।

देवाः क्षमार्जवोपेताः दयादाक्षिण्यसंयुताः। जितेन्द्रिया जितक्रोधा दम्भमात्सर्यविज्जिताः॥३॥

उनमें से देव क्षमा और आजँव, [सरलता] से युक्त होते हैं और उनमें दया तथा दाक्षिण्य [= उदारता] होती है। वे जितेन्द्रिय एवं क्रोध को भी जीतने वाले होते हैं। वे अहङ्कार एवं ईर्ध्या से रहित होते हैं॥ ३॥

अलोलुपाः सुशीलाश्च श्रद्धाभक्तिसमन्विताः। जिज्ञासवो' दढाभ्यासा वेदशास्त्रार्थविन्तकाः॥ ४॥ ॥

वे लालको नहीं होते एवं वे सुशोल तथा श्रद्धा-मिक्त से युक्त होते हैं। वे जिल्लासु, हड अभ्यास करने वाले और वेदशास्त्र के अर्थों का विन्दान करने वाले होते हैं।। ४।। अर्थ-विन्दार प्राप्त के अर्था का विन्दान करने वाले होते हैं।। ४।। अर्थ-विन्दार प्राप्त विन्दान करने वाले का वाले

तेषापि महादेव तत्त्वमेतत्सुदुर्लभम् । १८६० कि पूनर्दानवांशानां परद्रोहरतात्मनाम् ॥ ५॥ कि पूनर्दानवांशानां परद्रोहरतात्मनाम् ॥ ५॥ उनमें भी, हे महादेब, यह 'तत्त्व' दुर्लभ है तो फिर इन दानवों में, जो दूसरे से द्रोह करने में ही सदैव रत है यह कहीं प्राप्त होगा ?॥ ५॥

रै. 'जितासवो' इ० पा०

नास्तिकानां च घूर्तानां कुघ्नानां दुरात्मनाम् । वेदार्थदूषकानां च देहातिष्वर्थमानिनाम् ॥ ६ ॥

नास्तिक [च जो वेद में एवं ईश्वर में आस्था नहीं रखते]; घूर्त, कृत्यन [किसी का उपकार न मानने वाले] दुरात्मा, वेद के अर्थ को अन्यथा करके कहने वाले और देह आदि में ही आस्था रखने वालों को कहाँ यह तत्त्व ज्ञान प्राप्त होगा ? ।। ६ ।।

> बैंडालिकानामक्षपादशापिवभ्रष्टचेतसाम् । सोगतानाञ्च बौद्धानां दिगम्बरमतस्पृशाम् । ७ ॥ जैनमाघ्यमिकानां च चार्वाकाणां दुरात्मनाम् । वेदशास्त्रोजिझतानां च न मुक्तिः क्वापि विश्रुता ॥ ४ ॥

वैडालिक वृत्ति में लीन [घर-वर्ग में छोना झपटी करके जीने वाले], अक्षपाद [गीतम] के शाप से अब्ट हुए चित्त वालों को, सुगत (बुद्ध) के शिब्धों, बौद्धों और दिगम्बर जैन आदि अस्पृश्यों को, [श्वेताम्बर | जैन, माध्यमक [बौद्ध-मत] चार्कोंक और अन्य दुरात्माओं को तथा वेद शास्त्र को छोड़ देने वालों की मुक्ति कहीं मुनीं गई।। दा।

यस्त्वया वासनासर्गस्तृतीयः परिकीर्त्तितः। यदर्थमुपदेशोऽयं तत्वज्ञानस्य धूर्जटे। ९॥

जो आपने तृतीय वासना सर्ग बतलाया है हे धूर्जंटे जिसके लिए यह 'तत्त्व ज्ञान' का उपदेश दिया गया है ॥ ९ ॥

बह तु श्रवणादेव कृतार्थास्मीति मे मतिः। प्राप्तिः सम्बन्धविषया नान्यथा तु कदाचन ॥ १० ॥ मैं तो उसके श्रवण से ही कृतार्थं हो गई हूँ — मेरा यह विचार है। यदि इस तस्त्रज्ञानः की प्राप्ति हो जाक तो वह ककी भी निष्फल नहीं होता ॥ १० ॥

तस्मान्में श्रवणानन्दो रोचतेतितरां प्रभो । अप्राप्यः श्रवणानन्दः पापग्रस्ते दुरात्मिभः ॥ १९॥ अतः हे प्रभो ! मुझे श्रवण का अत्यन्त आनन्द ही रुचिक्रण्है । इसके श्रवण का आनन्द पात्रग्रस्त और दुरात्माओं को नहीं प्राप्त होता ॥ ११ ॥

> तहमात् संश्रोतुमिञ्छामिः प्रवक्तुं यदि मन्यसेः। न त्वया सद्गाः कश्चित्करुणामृतवारिकिः।। १२॥।

१. जैन्यमाध्यमिकानामित्याप पाठः

अतः यदि आप कहना चाहते हैं तो मैं इसे सुनना चाहती हूँ। करुणा के अमृत रूप समुद्र के समान आप जैसा (तत्त्ववेत्ता) और कोई अन्य नहीं है।। १२।।

यत्त्वयोक्तं महादेव सर्वस्ताः कृष्णयोषितः । प्रहर्षं परमं जम्मुविषण्णां स्वामिनीं विना ॥ १३॥

हे महादेव ! जो सापने उन श्री कृष्ण की अञ्चनाओं के बारे में कहा है कि वे सभी स्वामिनी के विना अत्यन्त हर्षान्वित होकर भी खिन्न हुई ॥ १३॥

तत्र मे संशयो जातो देवदेव जगहपते। स्वामिनीखेदमूल मे कथयस्व यथातथम्॥ १४॥

है देवदेव, जगत्पते ! यहाँ मुझे सन्देह हो रहा है कि स्वामिनी के खेद का क्या कारण था। जैसा हो वैसा ही आप मुझसे कहें।। १४॥

श्चिव उवाच— श्रुण् देवि प्रवक्ष्यामि स्वामिनीखेदकारणम् । नेत्रबन्धात्मिका लीला नीलाद्रिशिखरे कृता ॥ १५ ॥

शिवजी ने कहा—
हे देवि ! सुनो, मैं स्विमनी के खेद का कारण बतलाता हूँ—नीलावल है के हिव ! सुनो, मैं स्विमनी के खेद का कारण बतलाता हूँ—नीलावल है के शिखर पर भगवान श्री कृष्ण ने नेत्र बन्द करके खेल-खेलने की लीला की ॥ १५॥

तत्रेन्दिरानाम हिस्वा सुन्दरीत्यवदित्रयः। सदेन्दिरावदद्वाक्यं सुन्दरी न भवाम्यहम्॥ १६॥

वहाँ पर इन्दिरा नामक सखी को उसका नाम छोड़कर भगवान ने 'सुन्दरी' कह कर सम्बोधित किया । तभी इन्दिरा ने कहा—'नहीं, मैं सुन्दरी नहीं हूँ'।। १६।।

नाम्नाहमिन्दिरा साक्षात्प्रियास्यि प्राणनायकः।
तदा कृष्णोवदद्वावयं प्राण्वतीनां च योषिताम्।। १७॥
त्वयोन्दिरे सुन्दरीति ग्रमः सार्वदिको मनः।
त्वयोन्दिरे सुन्दरीति ग्रमः सार्वदिको मनः।
जात्वापि त्वामिन्दिरेति क्षणादेव भ्रमद्विया।
जात्यापि सुन्दरीत्येतन्मयोक्तमवद्यायंनाम्।। १८॥
जात्यापं सुन्दरीत्येतन्मयोक्तमवद्यायंनाम्।। १८॥

है प्राणनायक ! इन्दिरा नामक मैं साक्षात् भगवान् की व्रिया हूँ। तब कृष्ण ने उन स्त्रियों की बातों को सुनते हुए कहा—'हे इन्दिरे ! तुम सुन्दरी हो'-इस प्रकार उन स्त्रियों की बातों को सुनते हुए कहा—'हे इन्दिरे ! तुम इन्दिरा' हो । फिर हमें सर्वदा ही भग रहा है। तुम्हें यह जानकर भी कि 'तुम इन्दिरा' कह दिया है—भी हमारो बुद्धि के क्षणमात्र के भ्रम के कारण मैंने तुम्हें 'सुन्दरी' कह दिया है—ऐसाजानो ॥ १७-१८ ॥

इत्येतद्वचनं श्रृत्वा सुन्दरीगौरवात्मकम्। किञ्चित्कलूषचित्ताभूत् सलीमण्डलमध्यतः॥ १९॥

इस प्रकार के वचनों को सुनकर गौर वर्णा सुन्दरी का चित्त उन सिखयों के समूह के मध्य कुछ कलुषित हो गया।। १९॥

सर्वास्वेतासु घटते समः स्नेह। प्रियस्य हि। सुन्दर्यामधिकं प्रेम हेतुना केन युष्यते॥२०॥

इन सभी सिखयों में प्रिय का स्तेह तो समान बना रहता है फिर किस कारण से 'सुन्दरी' पर अधिक प्रोम हो ?।। २०॥

> सखीनां चापि सर्वासामहमेका वराङ्गना । मत्तः किमधिका जाता सौन्दर्यादिंगुणादिभिः ॥ २१ ॥

फिर सभी सिखयों में क्या मैं हो एक वराङ्गना | = सुन्दरी] हूँ। सींदर्य आदि गुणों से मुझसे और कोई अधिक क्या नहीं है ! ।। २१ ।।

> स्वािमनीत्थं विमृष्य स्वे हृदये प्रेमपूरिते। तस्यो समाहितमतिगूँहयामास हृद्गतम्॥ २२॥

इस प्रकार से स्वामिनो (राघा) अपने प्रमपूरित हृदय में विचार विमर्श करके हृद्गत भावों को हृदय में ही छिपाकर तथा समाहितचित्त होकर चुपचाप वहाँ से चली गई।। २२।।

> ततो नीलाद्रिशिखरादागत्य मणिसद्यनि। प्रियाभिवेष्टितस्तत्र संस्थितः पुरुषोत्तमः॥२३॥

इसके बाद नीलोचल के शिखर से आकर उस मणिनिर्मित गृह में भगवान पुरुषोत्तम अपनी प्रियाओं से घिरे हुए थे।। २३।।

> तत्र प्रियाभिः सम्प्रदने कृते दर्पणमादिशत्। आदाय दर्पणं सख्यस्तर्कयन्त्यो मुदं ययुः॥ २४॥

वहाँ पर त्रियाओं के प्रश्न पूँछने पर उन्होंने दर्पण लाने के लिए आदेश दिया। तब सिखयाँ दर्पण लेकर आपस में विचार विमर्श क्रते हुए बड़ी ही प्रसन्नता से वहाँ पहुँची ॥ २४॥

स्वबुध्या सुन्दरी चापि सखीचित्तं समादधे। तत्समाहितमाकण्यं प्रसन्नः पुरुषोत्तमः।। २५ ॥ सुन्दर्श (रिशां) ने भी अपनी बृद्धि से सखी [क्यानान् कृष्ण] को चित्त में ध्यानस्य कियां। उसको समाहित [ध्यानस्य] हुआ जानकर परम पुरुष परमात्मा भगवान् ऋष्ण बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

> व्यक्तीकुर्वन्निजं प्रेम प्रोवाच वचनं तदा। अन्वर्थं साध्वी ते नाम सुन्दरीति मम प्रियम् ॥ २६॥

उन्होंने अपने प्रेम को व्यक्त करते हुए तब इस प्रकार वचन कहे—'हे साब्वि! तुम्हारा 'सुन्दरी' यह नाम अन्वर्थक है क्योंकि यह मुझे बहुत प्रिय है।। २६।।

> त्वं मे प्राणाधिका चासि सर्वस्व मे त्वमेव हि । त्वधीनोस्म्यहं साध्वि प्रेमपाशनियन्त्रितः ॥ २७ ॥

तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो क्योंकि तुम्हीं मेरा सब कुछ हो। अतः है साब्दि ! मैं तुम्हारे अधीन हैं। तुम्हारे प्रोम रूपी बन्धन से नियन्त्रित हैं।। २७॥

त्वयोक्तं यन्मयोक्तं तत्त्वदृष्टं तन्मयेक्षितम्। यत्त्वयाङ्गीकृत साध्वि मयाप्यङ्गीकृतं हि तत्॥ २४॥

तुमने जो कुछ कहा और जो मेरे द्वारा कहा गया है। मैं उसको तस्व दृष्ट्या देखता हूँ और हे साध्व ! जो तुमने अङ्गीकार किया है उसे ही मैंने भी अङ्गीकार किया है। २८॥

वावयोरन्तरं नास्ति यः करोति सःपातकी ।
इत्यादिवचनं श्रुत्वाः सुन्दरीप्रेमसूचकम् ॥ २९ ॥
उत्तम्भयन्ती भ्रूवल्लीमीषत्कल्षितेक्षणा ।
विक्रतग्रीवमवदत्स्वामिनी स्फुरिताधरा ॥ ३० ॥
एषा सखीसहस्राणां सुन्दरी सुन्दरित्रया ।
कि कार्यं विद्यतेऽस्माभिगुं णरूपविषयंयात् ॥ ३१ ॥

कि काथ विद्यात उस्मामिन जिल्ला के नित्त करता है वह पापी हमारे और तुम्हारे में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर करता है वह पापी हमारे और तुम्हारे में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर किचित कलुषित है। इस प्रकार के सुन्दरी के लिए प्रोम सूचक वचनों को सुनकर किचित करके चितवन से अकुटि को चढ़ाती हुई आठों को वृद्वुदाकर एवं टेढ़ो गर्दन करके चितवन से अकुटि को चढ़ाती हुई आठों को वृद्वुदाकर एवं टेढ़ो गर्दन करके स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्यामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्यामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्यामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सिखयों के बीच यह सुन्दरी हो स्थामसुन्दर की स्वामिनी ने कहा — इन हजारों सुन्दरी हो स्वामिनी ने कर सुन्दरी हो सुन्दर

सुन्दर्येव प्रियेका चेदसुन्दर्यः कथं प्रियाः। भवन्ति सुन्दरास्यास्य मादृष्यी वामलोचनाः॥ ३२ ॥ फिर जुड़ एक ही सुन्दरी तो प्रिय हो सकती है तो हम लोगों के जैसी वामलीवना असुन्दरी कैसे प्रिय होगी ? ।। ३२ ॥

> एवं वक्रोक्तिमाश्राव्य सखीनां पुरतः प्रियस् । अगमत्सहसोत्थाय निजकेलिगृहान्तरम् ॥ ३३॥

इस प्रकार की प्रिय की व्यंग्य उक्ति को सिखयों के ही सामने सुनकर वह सुन्दरी एकाएक उठकर अपने केलिगृह में चली गई।। ३३।।

> सम्प्रेषयामास तदा कृष्णः कमललोवनः। प्रियामाननिरासार्थं दूतीं नाम्ना कलावतीस्।। ३४।।

तब कमल के पुष्प के समान नयनों वाले भगवान श्री कृष्ण ने कलावती नामक दूती को अपनी त्रिया के मान के उपशम के लिए भेजा ॥ ३४॥

> सन्धिकायेककुशलां स्मितपूर्वाभिभाषिणीम् । सदुक्तिचतुरां घीरा युक्तिवादिविवक्षणाम् ॥ ३५ ॥

कलावती सन्विकार्य में अत्यन्त कुशल थी। वह पहले हँसकर वोलने वाली, अच्छी-अच्छी उक्तियाँ बोलने में चतुर, घीर और युक्तिपूर्वक बात करने में विचक्षणा थी। ३५ ॥

> कलावती ततो गत्त्वा दृष्टवा मानवतीं च ताम् । निजकेलिगहे रम्ये स्थितामेकाकिनीं रहा। ३६॥ नानामन्त्रप्रयोगैश्च विषवेगं यथा भिषक् । वाक्षप्रयोगैरभिनवैमानवेगं न्यवारयत् ॥ ३७॥

तब कलावती ने वहाँ जाकर, उसे मानवती रूप में अपने रम्य केलिगृह में एकान्त में अकेले बैठी देखकर नाना प्रकार के चातुर्यपूर्ण उक्ति एवं हाव माव से, अपने नवीन-नवीन वाक्य प्रयोगों से उसके मान के वेग को उसी प्रकार मनाकर शान्त किया जैसे वैद्य विषवेग का शान्त कर देता है।। ३६-३७।।

प्राणादप्यधिके साध्व किमेतदुचितं रिप्रये। त्वं पत्युः प्राणसद्शी पतिः प्राणसमस्तवः। ३८ ।।

हे साब्ति ! तुम तो प्राण से भी अधिक प्रिय हो । हे प्रिये ! क्या यह (मान) उचित है । जबकि तुम पति के प्राण के सहश हो और पति तुम्हारे प्राण के समान हैं ॥ ३८ ॥

> सख़ीवर्गसमस्तोऽपि इन्द्रियाणीव देहिनः। त्वमारमेव त्रियस्यासि वव मानावसरस्तवः॥३९॥

शरीर में विद्यमान इन्द्रियों के समान समस्त सखी समुदाय है। तुम तो प्रिय की अंतिमा हो हो। तब फिर मान का अवसर कहाँ है।। ३९।।

पूर्णानन्दे पूर्णकामे गिरः प्रियतमे सति। न वक्तुं परुषो योग्यो यथा धूतं शठे खले।। ४०॥

पूर्ण आनन्द में तथा पूर्ण कामनाओं में वाणी प्रियतम में ही विद्यमान होती है। अतः यह उचित नहीं है कि तुम कठोर वचन उन्हें कहो। जिस प्रकार एक धूर्त एवं शठ या खल के प्रति कहाः जाय ।। ४० ॥

भुवोदतस्भताद्वि । बिम्बाधरस्फ्ररणतो लीहित्यादगहलभित्ते इन मानस्ते छक्ष्यते गुरुः ॥ ४९ ॥

लाल-लाल ओष्टों का स्फुरण, क्रोघ में भीहों का चढ़ जाना, अत्यन्त ललाई के कारण कपोल का ऊपरी भाग मान करने से मोटा दिखलाई पड़ रहा है ॥ ४१ ॥

अन्तंस्तापोष्णिनिश्वासो दहत्यधरपल्लवम्। मिथ्या ग्लापयसे चाङ्गलतिकां मानविह्नता ॥ ४२ ॥

तुम्हारे अघर रूपी पल्लव को अन्तःकरण के ऊष्ण निश्वास जला रहे हैं। अता हे सिंख ! तुमः व्यर्थं हो मान रूप अग्नि से अपने अङ्ग लता को झुलसा रही हो १६४२ ॥ विकास सम्बद्ध

क्षणिवश्लेषः वियस्याननपङ्कजम्। अदृष्ट्वा यत् जीवेत तस्माच्च मरण वरम् ॥ ४३ ॥

प्रिय के मुखकमल का क्षण भर भी विश्लेष अत्यन्त दुःखद है। अतः बिना प्रिय को देखे जो तुम जी रही हो उससे तो मर जाना ही अच्छा है । ४३॥

सखीनां च सहस्राणि सन्ति यद्यप्यनेकशः। त्वय्येव रमते चित्तं कीमुद्यामिव शीतगोः ॥ ४४॥

यद्यपि अनेक प्रकार की और सहस्रों सिखयाँ यहाँ विद्यमान हैं। फिर भी प्रिय का मन तुम्हारे में हो उसी प्रकार लगा हुआ है जिस प्रकार चाँदनी में चन्द्रमा की शीतलता विद्यमान रहती है।। ४४।।

मान्यो मानिनि नायकः प्रमदया वाक्यैः सुधासन्निभे-विच्यः कोमलपाणिपङ्कजपुट बध्वाभिवन्दाः सदा। तद्वाक्यं ब्रियमित्रयं न हृदये द्वार्यं सतीनामयं, स्वात्वारः कथितो मया तमनु कि त्यक्त्वा वृथा तप्यसे ॥ ४५ ॥ है मानिति ! माननीय नायक श्रीकृष्ण सदैव प्रसन्नता युक्त अमृत सदृश वाक्यों के द्वारा बात करने योग्य हैं और कमल के पत्ते के समान कोमल हाथों को जोड़कर अभिवादन के योग्य हैं। उन श्री कृष्ण के बाक्य चाहे प्रिय हों या अप्रिय हों हम सिखयों की अपने हृदय में नहीं घारण करना चाहिए। हमने अपनी बुद्धि से जो आचार की बात थी, कह दी। अतः उन्हें छोड़कर व्यर्थ में क्यों रुष्ट हो रही हो ?।। ४५॥

कि मानिनि बहूबतेन कुरु मद्वचनं यथा। गाढमानपरिक्लिष्टं औदासिन्यं त्रजेत्प्रियः॥ ४६॥ हे मानिनि ! बहुत क्या कहना ! जो मैं कहती हूँ उसे करो । अधिक मान

करने से खिन्न हुए प्रिय प्रिया के प्रति उदासीन हो जाते हैं।। ४६।।

तस्मान्मद्वचने श्रद्धां कृत्वा तन्निकटं वर्ज । विलम्बेन तु मानोऽयं परां कोटि गमिष्यति ॥ ४७ ॥ इसलिए मेरे वचनों में श्रद्धा करके सिन्नकट चलो जाझो । यदि विलम्ब करोनी सो यह मान पराकाष्ठा को पहुँच जायगा ॥ ४७ ॥

प्रियस्त्विय प्रयातायामकस्माज्जातकदमलः। हास्यक्रीडारसावेशरहितो वत्तेतेधुना । ४८ ।। तुम्हारे अकस्मात् वहाँ आ जाने पर वे निर्मल हृदय हो जायेंगे । वे इस समय

हास्य क्रीड़ा के रस के आवेग से रहित हैं।। ४८॥

त्वामाह्वायितुमेवाहं प्रेषितास्मि प्रियेण हि। आज्ञापयसि चेत्कान्ते तमेवेहानयाम्यहम्।। ४९ ।।

क्योंकि उन प्रिय के द्वारा तुम्हें बुला लाने के लिए मैं भेजी गई हूँ। अतः है कान्ते! यदि तुम्हारी आजा हो तो मैं उन्हें हो तुम्हारे पास लाऊँ॥ ४९॥

शिव उवाच—

श्रुत्वा कलावतीवाक्यं स्वामिनी मानमन्थरा । मानाद्रिशिखरात् किचिदुत्तीर्णा वाक्यमब्रवीत् ।। ५० ॥

मिव ने कहा-

कलावती के इन वचनों को सुनकर स्वामिनी का मान कुछ कम हुआ और उसने मान की पराकाण्टा से कुछ नीचे उतर कर इस प्रकार वाक्यों को कहा ॥ ५० ॥

स्वामिन्युवाच-

कलावति त्रिये मानो न कदापि मया कृतः। सुन्दरीपुणमाहात्म्यश्रवणं मे विषादकृतः। ५१।। स्वामिनी ने कहां

हे कलावती ! मैने प्रिय पर कदापि मान नहीं किया है । मुझे तो सुन्दरी के गुण एवं माहात्स्य के श्रवण से विषाद हुआ है ॥ ५१ ॥

> मनुते चेत्प्रयस्त्वेकां सुन्दरीं गुणगुम्फितास्। कलावति तदा कार्यं किमस्माभिः प्रियस्य हि ॥ ५२ ॥

यदि वे सर्वगुण सम्पन्न सुन्दरो को ही प्रिय मानते हैं तो हे कलावती ! हमें प्रियः को लेकर क्या करना है।। ५२।। 💮 🐃 🙄 👂 💆

> इति मत्वाहमुत्थाय प्राप्तास्मि भवनं रहः। सुखी भवतु सुन्दर्या गुणवत्त्या गुणी प्रियः ॥ ५३ ॥

यह सोंचकर मैं वहाँ से उठकर इस एकान्त स्थान में आ गई हैं। प्रिय श्रीकृष्ण गुणवती सुन्दरी के गुणों से सुखो रहें।। ५३।।

कलावत्य्वाच-

नाग्रहः सति कर्त्तव्यस्त्वया सरलनायके। नायकाः सन्ति चत्वारः स्वलक्षणविलक्षिताः॥५४॥

कलावती ने कहा-

हे सखि ! तुम्हे सीघे-सादे नायक श्रीकृष्ण में इस प्रकार का आग्रह नहीं करना चाहिए। वस्तुतः अपने स्वकीय गुणों या अवगुणों के कारण चार प्रकार के नायक होते हैं ॥ ५४ ॥

अनुक्लो दक्षिणश्च धृष्टश्च शठ एव च। अनुकूल उदीरितः ॥ **५**५ ॥ एकपत्नीव्रतधरः

१. अनुकूल, २. दक्षिण (सरल या उदार प्रकृति के) ३. धृष्ट और ४. शठ। इनमें से जो एक पत्नी में हो आसक्त होते हैं उसे 'अनुकूल' नायक कहा गया है ॥ ५५ ॥

अन्यस्यां बद्धचित्तोऽपि पूर्वस्यां स्नेहगीरवस्। न त्यजत्येव सततं स च दक्षिणनायकः ॥ ५६॥

अन्य नायिकाओं में बद्धचित्त होकर भी अपनी स्वकीय स्त्री में स्नेह की अधिकता का जो सदैव त्याग न करे वह दक्षिण नायक कहा गया है।। ५६।।

त्वमेका मम सर्वस्वं नान्या मे कामिनी प्रिया। वदित परोक्षं योऽपराधकृत् ॥ ५७ ॥ समक्षमेवं

१. 'सः शठः' इति शेषः

ज्ञातापराधः शपथान् कुक्ते गूढचेष्टितः। कृटिलं तं विज्ञानीयान्नायकं शठसंज्ञकम् ॥ ५७ ॥

तुम्ही मेरी सब कुछ हो। मेरी अन्य कामिनी प्रिय नहीं है—इस प्रकार से समझ में तो कहता है किन्तु परोक्ष में अपराध करता है। अपराध के पता लग जाने पर जो अपनी रहस्यमय चेष्टाओं से शपथ आदि लेता है उसे 'शठ' नामक कुटिल नायक जानना चाहिए ॥ ५७-५८ ॥

कृतदोषोऽपि निःशङ्कस्ताडयमानो न लज्जते । प्रत्यक्षेष्वपि दोषेषु मिथ्यावाक् घृष्ट उच्यते ॥ ५९ ॥

दोषों के होने पर भी जो नि:शङ्क होकर प्रताड़ित किए जाने पर भी छिजित न हो और अपराधों के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी मिध्या वाणी जो बोले वह 'घृष्ट' नायक होता है।। ५९॥

एवं चतुविद्येष्वेषु नायकेषु मनस्विति। अनुकूलो दक्षिणक्च कीर्स्यतेऽसी तव प्रियः॥ ६०॥

हे मनस्वित ! इस प्रकार चारों प्रकार के नायकों में यह तुम्हारे प्रिय श्रीकृष्ण अनुकूल और दक्षिण नायक जाने जाते हैं ।। ६० ।।

न शठोऽयं न धृष्टोऽयं कि मुखा खिद्यसे हृदि। इत्युक्ते विस्मयं प्राप्ता पुनः प्राह कलावतीस्।। ६१।।

॥ इति माहेश्वतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे एकोनचत्वारिशं पटलम् ॥ ३९ ॥

ये न तो शठ नायक हैं और न तो घृष्ठ नायक हैं। तब फिर तुम क्यों अपने हिंदय में व्यर्थ ही खिन्न हो गई हो। इस प्रकार से विस्मय को प्राप्त कलावती के कहने पर स्वामिनी ने पुन: कहा।। ६१।।

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के उन्तालीसर्वे पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३९ ॥

अथ चत्वारिशं पटलम्

स्वामिन्युवाच--

कलावति महाप्राज्ञे यत्त्वयोक्तं प्रियाश्रयम् । विरुद्धमिव मे भाति विरुद्धैलंक्षणैः कि**ल** ॥ ९ ॥

स्वामिनी ने कहा-

हे कलावति ! महाप्रज्ञावान्, तुमने जो कुछ प्रिय के लिए कहा है. वह विषद रुक्षणों के कारण मुझे तो विषद्ध के समान लगता है ॥ १ ॥

एकपत्नीव्रतघरोऽनुकूल इति कीत्तितः। दक्षिणो बहुपत्नीकः सर्वास्वविषमः स्मृतः॥ २॥

वस्तुतः एकपत्नी वृत का पालन करने वाला नायक अनुक्रूल कहा गया है और दिखण नायक तो बहुत सी पितनयों को रखने के कारण सभी में विषम नहीं कहा गया है ॥ २॥

एकस्मिन्नायके साहित कथमेतद्द्वयं भवेत्। अश्रद्धेयमिवाभाति यदि जानासि तद्द्वः॥३॥

एक नायक में दो नायकत्व कैसे हो जाता है ? यह तो अश्रद्धा के योग्य लगता है। अत: यदि तुम जानती हो तो कहो।। ३।।

कलावत्युवाच— श्रृणु स्वामिनि प्रवक्ष्यामि तव प्रवनोत्तरं शुभम् । यस्य श्रवणमात्रेण स्वास्थ्यं तव भविष्यति ॥ ४ ॥

कलावती ने कहा— है स्वामिनी सुनो, मैं तुम्हारे शुभ प्रश्न का उत्तर कहती हैं। जिसके अवणमात्र से ही तुम्हें स्वास्थ्य लाम होगा ॥ ४ ॥

एकदा पृष्परागादी क्रीडनाय गतः प्रियः।

शारुह्य शिविकी दिन्यां सुवर्णकलकोज्ज्वलाम्।। ५।।

एक बार प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पराग पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गए।

एक बार प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पराग पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गए।

पक बार प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पराग पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गए।

वे दिन्य शिविका [विमान] पर आरूढ़ होकर वहाँ गए। वह विमान सुवर्ण के कलम के समान उज्ज्वल था।। ५।।

उपर्युपरिविन्यस्तनानातोरणमण्डिताम् । हंसपारावतशुकपिकसारसनादिताम् ॥ ६॥

उसके ऊपर नाना प्रकार के तोरणों को लगाकर उसे सजाया गया था। वह विमान हंस, पारावत [कब्रूतर] तोता, कोयल, और सारस आदि पक्षियों के कलरव निनाद से गुरुजायमान था।। ६।।

नवरत्नविचित्राभां कामगां च मनोजवाम्। शतयोजनविस्तीणीं नानाक्रीडारसालयाम्।। ७।।

वहाँ नवीन रत्नों की विचित्र आभा वाले और इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ चले जाने वाले और मन के समान गति वाले विमान थे। सौ योजन तक फैले हुए उसमें नाना प्रकार के रसवान केलिगृह थे।। ७।।

काञ्चने मध्यकलको विन्यस्ते चोपरिस्थिते। कोटिचन्द्रप्रभागौररत्नेनोल्लासिताम्बराम् ॥८॥ उसके मध्य में स्थित सुवर्ण के कल्ध के ऊपर करोड़ों चन्द्रमा की कान्ति के समान गौर वर्ण के रत्नजटित उज्ज्वल अम्बर्र था॥ ६॥

तस्मिन्विमानप्रवरे संस्थितः पुरुषोत्तमः। द्विषट्सखीसहस्रोष् भध्ये चन्द्र इवोडुषु॥ ९॥ उस श्रेष्ठ विमान में भगवान पृष्ठषोत्तम अवस्थित थे। वे बारह हजार सिखयों

उस श्रष्ठ विमान में भगवान पुरुषोत्तम अवस्थित थे। वे बारह हजार स के मध्य मानों तारों के मध्य चन्द्रमा के समान विराजमान थे।। ९।।

> मनोनुसारिगमनं विमानं कृष्णयोषिताम्। तीर्यगूध्वंमधश्चापि पुष्पाद्रिशिखरेऽपतत्।। १०।।

भगवान् कृष्ण और उनकी स्त्रियों का वह विमान मन की गति के अनुसार तिरछे, ऊपर और नीचे चलता था। वह पुष्पाद्रि के शिखर पर उतरा।। १०।।

तत्र 'चन्द्रप्रभो नाम्ना हृदः पीयूषपूरितः।
रचितस्वर्णसोपानः स्वर्णपङ्कजभूषितः॥ ११॥

वहाँ एक चन्द्रप्रभ नामक तालाब अमृत से भरा हुआ था। उस तालाब की सीढियाँ सोने से बनी थी। वह तालाब सोने के ही कमलों से भूषित था।। ११।।

> स्रस्ति दक्षिणतस्तस्य सरः परमसुन्दरम्। नाम्ना पञ्चनदं ख्यातं शतयोजनविस्तरम्।। १२॥

उसके दक्षिण में अत्यन्त सुन्दर एक सरोवर है। 'पञ्चनद' नाम से विख्यात सौ योजन तक विस्तृत वह सरोवर था।। १२।।

१. 'तत्र यश्च नदो नाम्ना नदः पीयूषपूरित। इ॰ पा॰।

अधोधः कल्पिते। सप्तश्रतेमीणचितान्तरः। जातस्यमयैदिव्यसोपानेबद्धमायतेः ॥ १३।

ि उसमें नीचे की ओर सात सौ मणियाँ विचित्र रूप से चित्रित-थी। आयताकार रूप से उसमें दिव्य सीहियाँ बनी थी।। १३॥

> वैदूर्यपद्मिनीलण्डैः पद्मरागसरोह्हैः। मराललीलापतनैर्मण्डितं तत्र तत्र हु॥ १४॥

वैदूर्यमणि और पिरानी के खण्डों से, लाल कमलों से तथा मराल [— हंसों] के लीला पूर्वक उड़ने से वह सरोवर शोभित था।। १४।।

तत्र या याः कृताः क्रीडा जलस्थलविभेदतः। त्वया स्वपतिना साकं तास्ताः स्मर भामिनि ॥ १५॥

हे भामिनी ! तुम्हारे द्वारा अपने पित के साथ वहाँ पर जो जो क्रोड़ा जल में की गई और स्थल पर जो क्रोड़ा की गई उन सब को स्मरण तो करो।। १५॥

प्रियः सरसि सर्वाधिः सखीभिः परिवेष्टितः। समस्तान्निपतद्वर्षेराहतो यत्र विद्वतः॥ १६॥ आकरोह ततस्तूणं सरोविश्रान्तिमण्डपम्। प्रतिजग्मुः प्रियाः सर्वास्तत्रोत्तीणंसरोवराः॥ १७॥

उस सरोवर पर सभी साखयों से घिरे हुए [भगवान के जा विया के साथ उस सरोवर पर स्थित विश्वाम मण्डप में एकाएक चढ़े। तब सभी प्रिया भी उस सरोवर को पार करने के लिए चल पड़ी।। १६-१७।

तावत्पपात सहसा पुनरेव सरोजले।
उत्तीर्णगम्भीरजलः कुत्रचिद्विजनस्थले।। १८॥
उत्तीर्णगम्भीरजलः कुत्रचिद्विजनस्थले।। १८॥
उसी समय सरोवर के जल में वे सहसा कूद पड़े और गहरे जल को पार कर

अनेक कुञ्जगहने प्रच्छानोऽभवदेक छः।
मृगयन्त्यः प्रियाः सर्वा विचे हस्तत्र तत्र च ॥ १९॥
मृगयन्त्यः प्रियाः सर्वा विचे हस्तत्र तत्र च ॥ १९॥
वह अनेक छता आदि के गहन कुञ्ज में छिप गए। बहाँ पर सभी प्रियाओं
ने इघर-उघर उन्हें खोजा ॥ १९॥

अह विचिन्वती तत्र गता गहनद्यामित । विलीय संस्थितं कृष्णमद्राक्षमितसुन्दरम् ॥ २०॥ तत्रः मामागतां सुध्यु विकोक्यः प्रह्मेन् प्रियः । नासाग्राहिततर्जन्याः कौतुकीः सन्त्यवारयत्।। २१।।

में खोजतो हुई उस मण्डप में गई। वहाँ पर अत्यन्त सुन्दर विग्रह वाले मगनान् इल्लाको देखा। मैं उन्हें देखकर उन्हीं। की रूप माधुरी में विलीन हो गई। है सुन्दर मीहों वाली विहाँ पर मेरे आने पर प्रिय ने मुस्कुराते हुए देखकर मेरी नाक पकड़कर कीतुक करते हुए रोका ॥ २१॥

प्रिय उवाच

कलावति कलाभिज्ञे मां विचिन्वन्ति योषितः। न पश्यन्ति परं चात्र विभ्रमन्ते यतस्ततः॥ २२॥

प्रिय ने कहा

है कलावति, हे कलाओं की अभिज्ञ ! मुझे युवितया खोज रही हैं। हमारे ही अगल बगल यहाँ वहाँ रहकर भी अभित होती हुई मुझे थो नहीं देख पा रहीं है ॥ २२ ॥

त्वमप्यत्रैव सन्तिष्ठ मया सह कलावति। त्रिया सह करिष्यामि छीलाखेल रहः स्थितः ॥ २३॥

अता तुम भी हे कलावित, मेरे साथ यही उहर जाओ। इस एकान्त स्थान में रहकर मैं तुम्हारे साथ विभिन्न प्रकार की लीला और खेल भी करू गा॥ २३॥

> इत्युक्ताहं स्थिता तत्र बहुमानेन मानिता। तत्र नानाविद्याः क्रीडाः प्रियश्चक्रे मया सह ॥ २४ ॥

इस प्रकार उनके कहने पर मैं बहुत मान से सम्मानित हो कर वहीं रुक गई। घहाँ पर प्रिय ने मेरे साथ अनेक प्रकार की क्रीडाएँ की ॥ २४॥

> तदाः मया कृतः प्रश्नः प्रियमुद्द्श्य भामिनि । नायकाः सन्ति चत्वारस्तेषु वा को भवानिति । २५ ॥

तब हमने प्रश्न किया कि लोक में चार प्रकार के नायक होते हैं उनमें से भाग कीन हैं ? ॥ २५ ॥

> ततः प्रकात्तरं प्राह कृष्णः कमललोचनः। तदहं ते प्रवक्ष्यामि यथाश्रुतमनिन्दिते।। २६॥

तब उस प्रश्न का उत्तर कमल लोचन भगवान् कृष्ण ने जो दिया था मै उसी को तुमसे कहूँगा । हे अनिन्दितें ! जैसा हमने सुना वैसा ही कहूँगा ॥ २६॥

श्रीकृष्ण उद्याच — अनुकूलो दक्षिणश्च द्वेविध्यं म्यि वर्त्तुते। अनुकूलो दक्षिणश्च देविध्यं म्यि स्फटम्।। २ तदन्यत्र विरुद्ध स्यादविरुद्धं मिय स्फूटम्।। २७॥

श्रीकृष्ण ने कहा हिन्स स्वाहित

मुझमें अनुकूल और दक्षिण नायकत्व के गुण विद्यमान हैं। वह दूसरे में विरुद्ध भले ही होए किन्तु मेरे में विरुद्ध नहीं है ॥ २७ ॥

रसोऽहं मूलिमान् साक्षात् धनीभूतः कलावति । तस्याद्यभागं मां विद्धि द्वितीयं स्वामिनीं प्रियाम् । २४ ॥

है कलवित ! मैं साक्षान् रस का घनीमूत हुआ मूर्तिमान् रूप हूँ। उसके आदि के माग को मुझे जानो और द्वितीय भाग मेरी प्रिय स्वामिनी को संमझो ॥ २८ ॥

> नावयोविद्यते भेदो भोक्तृभोग्यस्वरूपयोः। मदात्मा स्वामिनी प्रोक्ता स्वामिन्यात्माहमेव च ॥ २९॥

हम दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि मुझमें और उसमें भोक्ता बीर भोग्य का स्वरूप विद्यमान है। मेरी आत्मा (उपनिषद् आदि श्रुतियों के द्वारा) स्वामिनी कही गई हैं और मैं उन स्वामिना की आत्मा हूँ ॥ २९ ॥

> यदन्यः पुरुषो नास्ति न च स्त्री स्वामिनीपरा। नैकाकी रमते यस्मात् द्विधाभूतो रसस्ततः ॥ ३०॥

मुझसे अन्य कोई पुरुष नहीं है और न तो मेरी स्वामिनी से अलग अन्य कोई स्त्री ही है। क्योंकि एकाकी रमण नहीं किया जाता। इसी लिए रस की दो में रहने वाला कहा, गया है ।। ३० गिल्लि में माना मानाहरू कि कि अला

पुंस्त्रीरूपविभागाम्यां रसोऽहं विलसाम्यहम्। ब्रह्मानन्दमयीं साक्षान्न लक्ष्मीमिप संस्पृशेत्।। ३१॥

पुरुष और स्त्री रूप के दो विभाग में मैं हो रस हूँ और मैं ही विलास करता हैं। वह रस साक्षात् रूप से ब्रह्मानन्दमय है जो लक्ष्मी को भी स्पर्ण नहीं कर पाता है ॥ ३१ ॥

कमलेक्षणे। तेनाहमनुक्लोऽस्मि नायकः यथाहं दक्षिणश्चास्मि तत्प्रकारं वदामि ते ॥ ६२॥

१. 'पराम्' इं पार् ।

है कमल के समान नेत्रों वाली इसी [लक्षण के] कारण मैं अनुकूल नायक हैं और जिन गुणों के कारण मैं दक्षिण नायक हूँ, उन्हें मैं तुमसे कहता है ॥ ३२ ॥

यथानर्घस्य रतनस्य परितः किरणाविकः।
प्रसर्पति न सा भिन्ना मणिसस्तु विचारतः।। ३३।।
स्वामिन्या एव ताः सख्यः कलाख्पाः कलावति ।
न स्नामिन्या विभेदोस्ति सखीनामणुमात्रतः।। ३४।।

जिस प्रकार मूल्यवान रतन के चारों ओर किरणों का वेरा होता है और जो मिण किरण से हाकर किसी भिन्न व्यक्ति के पास जैसे नहीं जातो है उसी प्रकार स्वामिनी के साथ वे सिखयों, हे कलावित ! कला रूप हैं। सिखयों और स्वामिनी में भी उसी प्रकार अणुमान भी भेद नहीं है।। ३३-३४॥

अत एवासु सर्वासु द्रवीभूतो वसाम्यहम् । वहिश्चापि घनीभूतस्ताभिः क्रीडारतोस्म्यहम् ॥ ३५॥

अतः इन सभी में मैं द्रवीमूत होकर रहता हूँ और बाहर से भी घनीमूत मैं उनसे क्रीडा में रत भी हूँ ॥ ३५॥

> क्रीडमानोऽपि सर्वाभिः स्वामिनीप्रेमविह्वलः। अतोऽहं दक्षिणद्यास्मि नायको हि कलावति ॥ ३६॥

सभी सिखयों के साथ रमण करते हुए भी मैं स्वामिनी के लिए प्रमिविह्वल हो जाता हूँ। अतः हे कलावति, मैं दक्षिण नायक हूँ॥ ३६॥

> अत्रापि नैव विहतमानुकूल्यं विचारतः। भेदद्वयोपचारो हि कदाचिन्मयि वर्तते॥३७॥

विचारतः यहाँ भी अनुकूलता विहित है। ये दो भेद मुझमें कभी-कभी रहते हैं ॥ ३७ ॥

> इति मानिनि यत्पृष्टं त्वयैतत्कथितं मया। प्रियेण कथितं साक्षात्स्वमुखेन यथा तथा॥ ३८॥

इस प्रकार हे मानिनी, जा तुमने पूछा है उसे मैंने तुमसे कह दिया। प्रिया के द्वारा कहा गया साक्षात जैसा था वैसा हो मैंने तुमसे स्वमुख से कहा है।। ३८।।

> प्रक्तोत्तरावसाने च विचिन्वन्त्यक्च ताः प्रियाः । घनकुञ्जान्तरे लीनं दृष्ट्वाजग्मुस्त्वरान्विताः ॥ ३९॥

प्रथन के दिए जाने वाले उत्तर के अन्तिम क्षण में वे प्रिय सखियां खोजते

हुए उस गहन-कुञ्ज के अन्तर में एकाएक मुझे लीन देखकर आ गई।। ३९॥

ततः प्रियेण सहिता आगतास्तव सन्निधिम् । एतत्सर्वे तु जानासि विशेषस्तु मयोदितः॥ ४०॥

उसके बाद प्रिय के सहित वे तुम्हारे पास आ गई। यह सब तुम मेरे द्वारा बिशेष रूप से जान हो ॥ ४० ॥

> तस्मान्मानिनि मानस्ते प्रियेण सह नोचितः। वानन्दोऽपि निरानन्दः प्रतिभाति विना त्वया ॥ ४१ ॥

इसलिए हे मानिनि ! तुम्हारा प्रिय के साथ मान करना उचित नहीं है। क्योंकि तुम्हारे विना आनन्द भी निरानन्द के रूप में लगता है ॥ ४१ ॥

> तस्मादुत्तिष्ठ तत्पाद्यवंमलंकुरु मनस्विनि । त्वया विरहितं चण्डि प्रियं नो वीक्षितुं क्षमाः॥ ४२॥

धातः हे मनस्वनी, तुम उठो, और उनके पार्श्वभाग को अलङ्कृत करो। है चण्डि ! तुम्हें छोड़कर हम लोग प्रिय को देखने में समर्थ नहीं हैं ॥ ४२ ॥

इति पाण्डित्यचातुर्यं कलावत्या प्रयोजितम्। ह्व्टवदना वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ४३॥

इस प्रकोर कलावति के द्वारा प्रयुक्त पाण्डित्यपूर्णं और चतुराई युक्त वचनों को सुनकर प्रसन्न मुख होकर इस प्रकार के बचनों को उसने कहा।। ४३॥

स्वामिन्युवाच-

कलावति महाप्राज्ञे मानस्ते वचसा गतः। तथापि मानिनीनां च समयान् वेतिस हृद्गतान् ॥ ४४ ॥

स्वामिनी ने कहां-

है कलावति, हे महाप्रज्ञावान् ! तुम्हारे बचनों से भेरा मान अब चला गया। तथापि तुम मानिनियों की हृद्गत शपयों को तो जानतीं ही हो ॥ ४४ ॥

आगच्छामि यदि स्वैरं गौरवं मेऽपगच्छति। तस्मात्प्रियः करे धृत्वा सुखं नयतु मामिति ॥ ४५॥

यदि मैं अपने से आ जाती हूँ तो मेरा गीरव चला जायगा। इसलिए तुम मेरा हाथ पकड़ कर सुखपूर्वंक प्रिय के पास मुझे ले चली !! ४५ ।।

[&]quot;भामिनीना चेत्यपि पाठः"।

इत्यं तया निगदिता सखी प्राप्ता प्रियान्तिकम् । प्रहृष्टवदनां दृष्ट्वा प्रियोऽपि मुमुदे भृशम् ॥ ४६ ॥ ॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्बादे चत्वारिशं पटलम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार उससे समझाई गई सखी त्रिय के पास आ गई और प्रसन्त मुख मुद्रा में उसे देखकर त्रिय [भगवान कृष्ण] भी अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ४६॥

।। इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और मगवान शङ्कर के संवाद के चालिसवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।। ४०॥

अथ एकचत्वारिशं पटलम्

पार्वत्युवाच के हता निर्माण लाह

कलावती यदा कान्तदूती प्राप्ता प्रियान्तिकम् । ततः किमभवत्तत्र तन्मे ब्रहि महेश्वरं ॥ १॥

पार्वती ने कहा कि महा का महानम में

है महेश्वरं ! जब कलावती अपने प्रियतम की दूती होकर प्रिया के पास पहुँची तब क्या हुआ ? उसे कहिए । १ ॥

शिव उवाचक्कि । अर्थ । १६६० प्रकार स्थार १

शृण देवेशि वक्ष्यामि कथां दिव्यां रेसीश्रयाम्। यस्याः श्रवणजानन्दो नुन्न मुक्ताविष विद्यते ॥ २ ॥

शिवजी ने कहा 📆 🖽 🦻 🕫

है देवेशि ! रस पर आश्रित मैं उस दिव्य कथा को कहूँगा जिसके श्रवण से प्राप्त आनन्द मुक्त जीव को भी नहीं मिलता ।। २ ॥

प्रहृष्टवदनाम्भोजां दृष्ट्वा दूतीं कलावतीम् । समयित्रव प्रियः प्राह शृष्वतीनां च योषिताम् ॥ ३ ॥ कलावति कलाभिज्ञे किमुक्तं प्रियया तया। विवासीरिव पीयूषं तहचस्तृष्तये मस् ॥ ४ ॥

प्रसन्न मुखकमल वालो उस दूती कलावती को देखकर विष श्रांकृष्ण ने युवितयों के सुनते हुए ही विस्मय पूर्वक कहा—हे कलाओं की जानने वाली कलावति ! उस प्रिया ने क्या कहा—मुझ प्यासे के लिए अमृत के समान उसके बचन तृप्तिदायक है ॥ ३-४॥

तरसुद्यानिधिपीयूषप्रणाली त्वं कलावति । सखीलतासमाहिल टकलपदुमं निषिञ्च मास ॥ ५॥

है कालावति, तुम उस अमृत रूपी निधि की पीर्यूष प्रवाली (अमृत की नहर) (च्हिजारा) हों। अतः सखी की लता से समान्त्रिष्ठ मुझे कल्पडूम की उस पीर्यूष से सीचों। ५।। कलावत्युवाच —

प्राणनाथ प्रिया तेऽद्य मानमास्थाय संस्थिता। गत्वा मया बहुविधैर्वास्यैरुद्बोधिता मुहु।।। ६ ॥

कलावित ने कहा-

हे प्राणनाय, तुम्हारी प्रिया आज मानिनि होकर बैठी थी। मैने जाकर विविध प्रकार के वाक्यों से उसे बारम्बर उद्बोधित किया।। ६ ॥

मानाद्रिशिखरारूढा मां कथञ्चिदुवाच है। कलावति प्रियेमानो न कदापि मया कृतः।। ७।।

मान रूपी अद्वि [== पर्वत] पर आरुढ़ हुई मुझसे किसी किसी प्रकार बोली— 'हे प्रिये, कलावति, मैंने कभी भी मान नहीं किया ॥ ७ ॥

> सुन्दरीगुणमाहात्म्यश्रवणं मे विषादकृत्। मनुते चेत्प्रियस्त्वेकां सुन्दरीं गुणगह्वराम्।।८।।

वस्तुत: 'सुन्दरि' शब्द के माहात्म्य का श्रवण मेरे हृदय के विषाद का कारण है। यदि मैं 'सुन्दरी' के गुणों से युक्त होती तो बात भी होती।। पा

> अस्माभिगुं णहीनाभिः कार्यं तस्य न विद्यते । इत्यादिविविधैर्वाक्येवंदन्ती सा मनस्विनी ॥ ९ ॥ युक्तियुक्तेश्च वचनैस्तोषिता सा मयापि हि । त्यक्तरोषा प्रियं च त्वां हस्तग्राहमपेक्षते ॥ ५० ॥

किन्तु मेरे सहन गुणों से हीन के लिए उसका कोई कार्य नहीं है। इसी प्रकार के विविध वाक्यों को कहती हुई उस मनस्विनी ने युक्ति-युक्त वचनों से मुझे सन्तुष्ट किया। अतः क्रोध को छोड़कर अब प्रिय और तुम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ने के योग्य हो।। ९-१०॥

स्त्रीणां जातिस्वभावोऽयं तस्मात्कृरु तथा प्रभो । कलावतीवचस्तथ्यं मन्यमानः परात्परः। आत्भारामोऽपि तत्प्रीत्यं आजगाम तदन्तिकम् ॥ १९॥

स्त्रियों का यह जो जातीय स्वभाव ही है। इसलिए हे प्रभो ! आप वैसा ही करों जो उचित हो। कलावती के इस प्रकार के तथ्य पूर्ण वचनों को मानते हुए परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी उस प्रिया की प्रसन्नता के लिए उसके सन्तिकट आ गए ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण उर्वाचं कि कहुं कुर कि है इस अकार प्रमाणकार हार्के

नोचितस्ते प्रिये साध्िव मानो मिय निरागिस । त्वदात्मकत्वात्सख्यो मे सर्वाः प्रियतमा अपि ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा —

हे साध्व ! हे त्रिये ! तुम्हें मुझ निरपराध पर इस प्रकार कृद्ध नहीं होना चाहिए। तुम्हारे ही समान अन्य समी सिखयाँ भी मेरी प्रियतमा हैं ॥ १२ ॥

लहर्यः सलिलस्येव यथाग्नेविस्फुलिङ्गकाः। पृथक् न सन्ति ते तद्वत्सख्यो भिन्ना न ते क्वचित् ॥ १३॥

जल की लहरियाँ जिस प्रकार आगे की लहरों को उठाती रहती है और पहली लहर से जैसे वे बाद की लहरें अलग नहीं हैं वैसे ही वे तुम्हारी सिखयाँ भी मुझसे कहीं भी भिन्न नहीं हैं ॥ १३॥

तासु सर्वासु यत्प्रेम मदीयं परिवर्तते। सनेकधापि विलसत् त्वय्येव पर्यवस्यति॥ १४॥

जन सिखयों में मेरा जो प्रेम होता है वह प्रेम अनेक में भी होने पर उस प्रेम का पर्यवसान तो तुम्हारे में ही होता है॥ १४॥

इति सत्येन वचसा प्रार्थयामि मुहुर्मुहुः। स्वसङ्केतं समायाहीत्युक्त्वा जग्राह तत्करम् ॥ १५॥ र समा वचनो से मैं नारस्वार तस्वारी प्रार्थना करता हूँ कि अपर

इसिकए इन सत्य वचनों से मैं बारम्बार तुम्हारी प्रार्थना करता है कि सपने संकेत स्थल पर चलो-यह कह कर श्रीकृष्ण ने उसका हाथ पकड़ लिया ॥ १५॥

गृहीते. स्वकरे पत्या मावपूरितमानसा। तीर्यक्कटाक्षविशिखं सन्दधाना स्मिताद्यरा ॥ १६ ॥ चुम्बितालिङ्किता प्रोक्णा प्रियेणोत्याप्य सत्वरम् । प्रियांसारोपितभुजा स्वीयांसारूढतद्भूजा ॥ १७ ॥

स्वामी श्रीकृष्ण के द्वारा अपने हाथ पकड़ लिए जाने से अध्यन्त भावविभोग मन से तीक्षण कटाक्ष के बाण से मुस्कुराते हुए अधरों से आकृष्ट प्रिय (श्रीकृष्ण) मन से तीक्षण कटाक्ष के बाण से मुस्कुराते हुए अधरों से आकृष्ट प्रिय (श्रीकृष्ण) के द्वारा शीझतापूर्वक प्रेम से वह सखी चुम्बित हुई और आलिङ्गित भी हुई। के द्वारा शीझतापूर्वक प्रेम से वह सखी चुम्बित हुई और अपनी भुजा की प्रिया के कन्धों पर अपनी भुजा डालकर और अपने कन्धों पर उसकी भुजा की माला पड़ी हुई दोनों ने एक दूसरे का चुम्बन किया, ।। १६-१७ ।।

स्वसङ्केतं समागत्य यथापूर्वं निषेदतुः। मुद्रमापुः परां सख्यो दृष्ट्वा तं प्रियया युतम् ॥ १८ ॥ अपने संकेत स्थल पर आकर पहले की तरह पुनः दोनों बैठ गए। उस सखी को प्रिय के साथ बैठा हुआ देखकर सखियाँ अत्यन्त प्रसन्त हुई ॥ १८॥

हासक्रीडावसाने तां प्रियः प्राह हसन्तिव। प्रिये विज्ञाप्तुमिच्छामि यदि ते श्रवणे स्पृहा ॥ १९॥

हास्य-क्रीडा के अन्त में प्रिय श्रीकृष्ण ने पुनः हैं सते हुए उससे कहा — हे प्रिये ! यदि आप सुनना चाहती हैं तो मैं आपको कुछ बताना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

अवाच्य तत्तु जानीहि तथापि कथयामि ते।
कदाचिन्मोहजलघौ यदा मन्ना भविष्यथ।। २०॥
तदेयं सुन्दरी साक्षाद्भवतीष्ट्वरिष्यति।
यदा यदा महामोहजलघौ परिमज्जथ।
तदा तदोद्धरित्रीयं भवतीनित्र संशयः।। २१॥

यद्यपि यह बात कहने योग्य नहीं है फिर भी मैं कह रहा हूँ। कभी यदि मोह॰ सागर में मग्न हो जाना तब यह मुन्दरी ही साक्षात् आप लोगों का उद्घार करेगी। इस प्रकार जब जब महामोह समुद्र में बूबना-उतराना तब तब यह नि:सन्देह रूप से आपका उद्धार करने वालो होगी। २०-२१।

यदेनामवलम्ब्येव संख्यः सर्वा भ्रमाणंवस् । तरिष्यन्तीति विज्ञातवतो मे सुन्दरी प्रिया । २२ ॥

इस सुन्दरि का अवलम्ब लेकर सभी सखिया भ्रम के सागर के पार्य उत्रय जायेंगी—इस बान को मैंने प्रिया सुन्दरी से बता दिया है।। २२।।

> सुन्दर्गामधिकः प्रम हेतुस्ते विनिक्षितः। इति प्रियवचः रुष्टर्गं श्रुत्वा सर्वा विशिष्टमरे ।: २३।।

आप लोगों ने जो मेरा सुन्दरों में अधिक प्रेम निरूपित किया है – वह ठीक ही है। इस प्रकार के प्रिय के सुन्दर प्रेम पूर्ण बचनों को सुनकर सभी सिखयाँ विस्मित हुई 14 २३।।

तां सर्वाः पूजयामासुः स्वामिन्याद्याश्च सुन्दरी ।
मनोज्ञभाषणपरैर्वचोभिः कुसुमैरिव ॥ २४ ॥
स्वभावशीतलै रम्येः स्वभावश्चन्दनीरिव ।
प्रसन्नाग्निविनिर्देश्चहृत्कालृष्यंश्च ध्वकः ॥ २५ ॥

१. 'अधिकं प्रेम' इ० पात्र।

मानांधतमसुव्वंसप्रसादंरिव दीपकैः।

उन सभी ने पहले स्वामिनी 'सुन्दरो' की (मानस) पूजा की । मन को लुभाने वाले वचन रूप कुसुमों से स्वभावतः शीतल तथा रम्य मानों स्वाभाविक चन्दनों से, प्रसन्तता रूप अग्नि से जलाए गए हृदय के कालुख्यों एवं धूपों द्वारा तथा मन के अन्यकार को प्रसन्तता रूपी दीपकों से हटाते हुए पूजा की ॥ २४-२६ ॥

त्तो बहुतरे काले यदा जाता सुमञ्जला।। २६।। 'तदाविष्टः सखीवर्गो ययाचे प्रियमीप्सितम्। दुःखाति दुःखमिति वः प्राधितं चेति बोधिताः। न शिक्षावचनं चक्रुरिच्छाशक्तिविमोहिताः॥ २७।।

इसके बाद बहुत काल बीत जाने पर जब सुमञ्जला उत्पन्न हुई, तब आविष्ट सखी वर्ग ने प्रिय वस्तु की याचना की। अत्यन्त दुःख है, दुःख है—इस प्रकार प्राथित होती हुई वह जनसे प्रबोधित की गई। फिर भी इच्छा शक्ति से विमोहित शिक्षा वचनों को उसने नहीं कहा।। २६-२७।।

वियोगदलमाश्रित्य यदा क्रीडित वै रसः। तद्रसानुक लगितिविमोहयति सुमङ्गला ॥ २४॥

वस्तुत: वियोग दल में आश्रित करके जब रस क्रीडा करता है, तब सुमङ्गला उनके विप्रलम्भ रस के अनुकूल गति होकर ही उन्हें विमोहित करती है।। २८।।

तदा त्रियः सखीः त्राह श्रुण्डवं मम भाषितम् । निवार्यमाणा हि मया दुरन्ताच्च मनोर्थात् ॥ २९॥ न निवृताञ्च भो सख्यो यूयमाग्रहतत्पराः । नानादुःखमयी बाललीलां द्रक्ष्यथं मा चिरम् ॥ ३०॥

तब प्रिय सखी ने कहा मेरे वचनों को सुनो। मेरे द्वारा अत्यन्त दुःसह मनोरथों को निवारित किया जाता है। यदि फिर भी, हे सखियो ! मनोरथ से

२. 'तत्कालानुकूलगतिविमोहयति सुमङ्गला' इ० पा०।

रै. आग्रहमेदुराः इं पा० i

निवृत्ति न प्राप्त हो तो आप सब अग्रह से तत्पर चित्त होकर नाना प्रकार की दुःख पूर्ण बाल लीलाओं का अवलोकन देर तक न करें।। २९,३०।।

विस्मरिष्यय मां तत्र किमन्यदिधकं बुवे। तथापि सुन्दरी हाथा तारियष्यति तत्तमः॥३१॥

मैं और अधिक क्या कहूँ ? आप उस समय जब मुझे भूल जाइएगा, तब भी यह सुन्दरी सखी उस अन्धकार से आप सभी को पार उतार देगी ॥ ३१॥

> मता प्रबोधिता सम्यक् कथित्वा विनिर्णयम् । इति प्रियवचः श्रुत्वा सर्वाः सस्यो मुदान्विताः ॥ ३२ ॥

मेरे द्वारा आप सब प्रबोधित की जा चुकी है-इस प्रकार के प्रिय के वचनों को सुनकर धनी सिखयाँ अत्यन्त प्रसन्न हुई।। ३२।।

> प्रसन्नानन्दजलधौ निमग्नाः शक्तिमोहिताः। फले विलम्बमाज्ञाय पुनस्ताः प्रार्थनोत्सुकाः। प्यदा तदा प्रियश्चक्रे तन्मनोरथपूरणम्॥३३॥

।। इति माहेरवतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे एकचत्वारिशं पटलम् ॥ ४१ ॥

वे सभी प्रसन्तता के आनन्द-समुद्र में निमग्न हुई इच्छा शक्ति से मोहित हो गईं। आनन्द रूप फल में विलम्ब जानकर उन्होंने पुनः प्रार्थना की। जब आप मेरा प्रिय चाहें तब मेरी कामना पूर्ण करें।। ३३।।

श इस प्रकार श्रीनारवपाचरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शाक्कर के संवाद के एकतालीसवें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४१ ॥

यदास्माकम्प्रियं चेच्छ तदा पूर्य चेप्सितम् इत्यपि पा॰ ।

अथ द्विचत्वारिशं पटलम्

अतः पर प्रवक्ष्यामि प्रस्तुत शृणु सुन्दरि। यच्छु, त्वा विविधा लीला हुचारूढा भवेतिप्रये॥ १॥

अब इसके बाद मैं उन विविध प्रकार की लीलाओं का वर्णन करूँगा जिसकों सुनकर हे प्रिये ! हृदय में वह ब्रह्म अरूड़ हो जाएँ। अतः हे सुन्दरि ! उस ब्रह्म की प्रस्तुत संगुण लीला को सुनो ॥ १।।

सन्तोषानन्दभूम्योस्तु सन्धौ पुष्पाद्रिष्तमः। योजनायुतमानेन नानाश्चर्यमयो महान्॥२॥

सन्तोष और अंतिन्द नामक सूमि पर पुष्पाद्रि नामक उत्तम सिन्धु में एक लाख योजन वाला वह पर्वत नाना प्रकार के महान् आश्चर्यों से युक्त है ॥ २॥

नानाधातुमयः श्रीमान् नानामणिविभूषितः। त्रीण्यस्याद्रिप्रधानस्य शिखराणि द्युमन्ति च ।। ३ ।।

नाना प्रकार की घातुओं से युक्त, श्री युक्त और नाना प्रकार की मणियों से विभूषित इसके तीन प्रधान शिक्षर कान्ति से युक्त है।। ३।।

पावमानं महारम्यं विभ्राजमिति तद्भिदा। पावमाने तु शिखरे नित्यं सङ्क्रीडते हरिः ॥ ४॥ उनके नाम क्रमशः १. पावमान, २. महारम्य और ३. विभ्राज हैं। इनमें से पावमान शिखर पर श्रीहरि नित्य क्रीडा करते रहते हैं॥ ४॥

नित्यं सङ्क्रीडतोरेव स्वामिनीकृष्णयोरिष । श्रमघर्मजलस्रावो महानासीच्च देहतः ॥ ५ ॥ इस प्रकार स्वामिनी और श्रीकृष्ण के नित्य क्रीडा करने के श्रम से उनके देह से अत्यिषक पसीना निक्लानी ५ ॥

तद्वारिपूर्णं यत्रास्ते सरः परमसुन्दरम् । शतयोजनमानेन रत्नसोपानभास्त्ररम् ॥ ६ ॥

उसका जलं जहाँ भर गया वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर तालाब बन गया। वह सौ योजन लम्बा चौड़ा था। जिसकी सीढ़ियाँ रन्नों से जटित होने से दीसिमान धी भ ६।। भ्रमद्भ्रमरसंशोभि सरोजवनसङ्कुलम् । पक्षिणां स्वणेपक्षाणां कुर्लर्मण्डितसेकतम् ॥ ७ ॥

वह सरोवर परिश्रमण करते हुए अमरों से और कमल के वन से संकुलित था। स्वर्ण के पंखों से युक्त पक्षियों के समूह से वहाँ का तट शोभायमान था।। ७।।

तस्मात्प्रवृत्ता सरसो नाम्ना सा यमुना नदी। अगाधतीया गम्भीरा बहुलावर्तभीषणा॥ ८॥

उसी सरोवर से जो नदो निकली वह यमुना नामक नदी हुई। वह यमुना नदी अगाव जल वाली, अत्यन्त गहरी और भीषण भवरों से युक्त हुई।। ८॥

पावमानात्पतन्ती सा नदी विरजमस्तके। शर्तंकयोजनोत्तुङ्गे धाराध्विनतगह्नरे । ९॥

विरज [= अदि] के मस्तक पर पावमान शिखर से एक सी योजन की ऊँचाई से गिरतो हुई वह नदी बहुत सो भूमियों को पवित्र करती है। गिरि गह्वर में गिरने से ब्वित उस नदी की घारा में बहुत सी भूमियाँ पवित्र होती हैं।। ९।।

> सन्तोषभूमिकां प्लाव्य किञ्चिद्धराग्यभूमिकाम् । चिदानन्दमयीं भूमि किञ्चिदानन्दभूमिकाम् ॥ १०॥ रतिभूमि प्लावयन्ती याति भूमि प्रकाशिकाम् । प्रकाशानन्दभूम्योऽस्तु हान्तराले महासरः ॥ ११॥

वह 'सन्तोष' भूमि को आप्लावित करती हुई कुछ वैराग्यभूमि को, कुछ चिदा-नन्दमयी मूमि को, कुछ आनन्दभूमि को, कुछ रितभूमि को आप्लावित करती हुई प्रकाशिका भूमि को जाती है। प्रकाश और आनन्द भूमि के बीच में एक विशाल सरोवर है।। १०-११।।

सपादलक्षयोजनमानेन परिविस्तृतम् । समुद्र इव गम्भीरं रत्नसोपानसुन्दरम् ॥ १२ ॥ वह डेढ़ लाख योजन चारो और विस्तृत है । समुद्र के समान अगाघ जल वाले उस विशाल सरोवर को सीढ़ियाँ सुन्दर रत्नों से जटित हैं ॥ १२ ॥

> पूरयन्ती पुनस्तस्मान्तियाति ज्ञानभूमिकाम् । भुक्तिभूमि तमाष्ठाव्य याति प्रेमारिमका भूवम् ॥ १३॥

पुनः उसको परिपूर्ण करती हुई उससे निकलकर वह ज्ञान भूमि में प्रविष्ट होती है और भोग [= भुक्ति] भूमि का अच्छी तरह से आप्लावित करके प्रभातिमका भूमि पर जाजी है।। १३॥

प्रेमारिमका भव प्लाब्य सुद्याब्द्यी विलय कृता। रसस्य रममाणस्य दलाभ्या गिरिनन्दिन ॥ १४॥

प्रोमारिमका भूमि को खाष्ठाविति करके सुघा रूपी समुद्र में विलीन हो जाती है। हे गिरिनन्दिति ! रम में रमण करने वाले दोनों प्रेमारिमका भूमि में नहाकर अमृत समुद्र में विलीन हो जाते हैं।। १४॥

> तंत्र्यन्दमात्रां यमुनां चिन्तयेत्तदभेदतः ॥ यमुनानिलसंसर्गसमुत्यानन्दसागरः ॥ कूटस्थं गणितानन्दं पूरयत्येव सन्ततम् ॥ १५॥

उसी से निकली यमुना नदी का ध्यान करना चाहिए। अतः उससे अभिन्न होने के कारण यमुना की वायु के संसर्ग से आनन्दसागर समुद्भूत होता है। इस प्रकार वह कूटस्थ सदैव हो अगणित आनन्द को प्रदान करता है। १५॥

> ्परब्रह्म रसः कृष्णः तस्यापि द्रवरूपिणीम्। यमुनां केन तुलयेद्रसानन्दजलात्मिकाम् ॥ १६ ॥

परब्रह्म रस रूप कृष्ण और उनके हो .(रूप वाली) द्रव रूपी यमुना की जो आनन्दरूपी जलात्मिका मूर्ति है, उसकी किससे तुलना की जा सकवी है ?।। १६ ॥

गोमेदखण्डे यमुनाप्रवाहो योजनास्मकः। तत्र पीतिमिव स्वच्छं जलं पीयूषसन्तिभम्। १७॥ एक योजन तक गोमेद के खण्ड में यमुना का प्रवाह् है। बहाँ पीने लायक स्वच्छ अमृत सहश जल है॥ १७॥

उभयोः कूलयोस्तस्याः कुट्टिमानि बृहन्ति च । नानारत्नधयस्तम्भमण्डपानि द्युमन्ति च ॥ १८ ॥ उसके दोनीं ही किनारे पर बड़े-बड़े शिला खण्ड हैं जो नाना प्रकार के दीसिमान स्तम्भों के मण्डप के समान हैं ॥ १८ ॥

गुञ्जद्भ्रमर्विष्ठालिलताकुञ्जावृतानि च।
चतुर्लक्षाणि देवेशि 'महस्तोमोज्वलानि च।। १९।।
उपर्यधः स्थितास्तेषां पक्षिणश्चित्रपक्षकाः।
कुञ्जसन्द्वारिणः केचित् केचिन्मण्डपसंस्थिताः। २०॥
उसके किनारे भ्रमरों से गुञ्जायमान पुष्प की लता के कुञ्जों से आवृत्त हैं।
हे देवेशि ! वह चार लाख योजन तक उज्ज्वल प्रकाश के समूह से युक्त है। उसके

१. 'महान्त्युज्जवलानि च' इ० पा०।

अपर और नीचे चित्र विचित्र पक्षी हैं। उनमें से कुछ कुङजों में विचरण करने बाले हैं और कुछ मण्डप में बंठे हैं।। २०।।

> कुटिटमान्तःस्थिताः केचिद्गायन्तो मधुरस्वराः। वज्रखण्डप्रवेशोऽस्यादशयोजनमानतः ॥ २१ गाः

मानो कुछ कुट्टिम (फर्श) के अन्दर स्थित थे। कुछ मधुर-स्वर में गान कर रहें थे। यह यमुना दश योजन तक वज्र के समान खण्डों से युक्त है।। २१।।

> पयः फेननिभं तत्र दृश्यते सलिलं शिवम्। तावानेव प्रवाहोस्यास्तटयोः कुट्टिमानि च॥ २२॥

इसका फेन के समान कल्याणकारी सिलिल दिखाई पड़ती है। इसका प्रवाह भी उतना ही दोनों तटों और फर्सों पर है।। २२।।

> स्वर्णभक्तिविचित्राणि रत्नस्वस्तिकवन्ति च। चतुर्द्वाराणि सर्वाणि भुकातोरणवन्ति च॥ २३॥

विचित्र प्रकार की स्वर्णमिक्तयों और रत्नों से बने स्वस्तिकों से यह युक्त है। इसके सभी चारों द्वार मणि की माला से युक्त हैं।। २३।।

> मणिमण्डपयुक्तानि स्वर्णस्तम्भोज्वलानि च । वज्रमुक्ताप्रवालाढचिविष्टरास्तरितानि च ॥ २४ ॥

मणियों के मण्डपों से युक्त और स्वर्ण के बने देदीप्यमान स्तम्भों से युक्त भवन में बच्चमुक्ता और प्रवाल (मूँगा) से समृद्ध आस्तरण है ।। २४ ।।

> रसानन्दात्मनां यत्र पक्षिणां कलकृजितैः। श्रवणानन्दसन्दाहं वर्षद्भिः सुखमीयते॥ २५॥

वहाँ के पक्षियों की कलरव युक्त कूजनों के द्वारा वातावरण रस और आनन्द से परिपूर्ण है। श्रवण के आनन्द की वर्षा से सुख की अनुभूति होतो है।। २५॥

> पुष्परागमये खण्डे चिदानन्दात्मभूमिके। इयामश्वेतजला भाति प्रविष्टा यमुना नदी।। २६॥

चित् और आनन्द की मूमिका पर और पुष्परागमय खण्ड पर श्याम और सफेद जल ऐसा लगता है मानों यमुना नदी प्रविष्ट हुई हों॥ २६॥

> शतयोजनमानेन विश्वालास्तरप्रवहकाः । स्वर्णमाणिक्यसोपाना फुल्लस्वर्णाम्बुजाकुला ॥ २७ ॥

१. चतुर्द्वाराणि मुक्तानां नानातोरणवन्ति व इ० पा० ।

सी योजन तक के परिमाण में वह विशाल प्रवाह वाली नदी है जो स्वर्ण और माणिक्य की सीढ़ियों से युक्त एवं सोने के खिले हुए कमलों से मनोहर छटा वाली है।। २७।।

> पतत्पद्मरज.पुञ्जपिञ्जरीकृतसज्<mark>जला ।</mark> हंसकारण्डवानेककोलाहलतटोत्सवा ॥ २**८ ॥**

कमल की गिरने वाली रजों के पुञ्जों से वहाँ का जल पीला था। हंस एवं कारण्डवों आदि अनेक पक्षियों के कोलाहल से मानों यमुना के तट पर बड़ा ही उत्सव [मेला ==] सा लगा था।। २८॥

अन्त:स्थारत्नसिकताचाकचक्यलसज्ज्ञा । जल के अन्दर रहनों के बालू में चमकने के कारण जल बड़ा ही चकमकाहट युक्त था ॥ २**९** ॥

> एकेनोनं च' शतकं योजनानां प्रमाणतः ॥ २९ ॥ चिदानन्दमहीव्याप्ता पादेनानन्दभूमिका । आनन्दभूमिसञ्चारियम्नातटसीमनि ॥ ३०॥

यमुना के तट पर ९९ योजन तक चित् और आनन्द से पृथ्वी व्याप्त है। वह पाद रूपी आनन्द भूमि से युक्त हैं। वस्तुतः यमुना के तट का भाग आनन्द की मूमि से सञ्चरित है।। २९-३०।।

तीर्थसप्तकमीशानि स्मरेल्लीलारसाश्रयम् । जलावतारमार्गागां वटसीमवनानि तु ॥ ३९॥

हे ईशानि ! लीलारस के आश्रय [भगवान कृष्ण] और सात तीर्थों का स्मरण करना चाहिए। उस यमुना के जल के आवरण मार्गों पर अर्थात् उसके तट की सीमा में [सात] वन हैं।। ३१।।

वनं चान्द्रमसं नाम द्वितीयं नीलकाननम् । तृतीयं पुष्पदन्ताख्यं तूर्यमानन्दकाननम् ॥ ३२॥ पञ्चमं हेमकूटाख्यं षष्ठं तत्तारकृटकम् । गारुडं नाम विख्यातं सप्तमं वनमुच्यते ॥ ३३॥

प्रथम वन का नाम चान्द्रमस है, दूसरा नीलकातन नामक है, तीसरा,पुष्पदन्त नामक है, चतुर्थ आनन्दकानन नामक है, पाचवां हेमकूठ नामक है, छठवा तास्कूट

एकेन न्यूनं शतकं इं० पा० ।

२. तटसीम्नि इ० पा॰। २६ मा०

नामक है और सातवाँ गारुड नाम से विख्यात वन कहा जाता है।। ३२-३३ ।।
वने चान्द्रमसे देवि नाम्ना चान्द्रमसो महान्।

वन चार्यस्य या । स्यग्रोधराज आमाति वैदूर्यविलसच्छदः ।। ३४ II

हे देवि चान्द्रमस बन में चान्द्रमस नाम का एक बड़ा विशाल न्यग्रोघराज शोभित है जो वैदूर्यमणि के समान आच्छादन वाला है।। ३४॥

चक्षुण्मत्पद्मरागोऽय फलस्फारप्रभाचितः । स्वर्णाङ्कुरजटाप्रान्तलम्बिनमौक्तिकगुच्छकः ॥ ३५ ॥

वह पद्मराग के समान चक्षु युक्त फल की प्रभा से शोभित है। उसकी जड़ स्वर्ण के समान अड़ कुरों से युक्त और उसकी जटा लम्बी मौक्तिक के समान गुन्छक वाली है।। ३५।।

दिव्यपक्षिकृतावासशाखान्दोलनविश्रमेः । दर्शनादन्तरात्मानं चमत्कुवंन्नटो यथा ॥ ३६ ॥

दिव्य पक्षियों के आवास से युक्त और शाखा रूप झूले में झूलने वाले विभ्रमों से युक्त यह वैसा ही था जैसे एक नट अपने को चमत्कृत करता है।। ३६॥

फलापह नृतचञ्च् श्रीपत्रापह नृतपत्रकाः । महाराजेति कृष्णेति वाचा च दृष्टव्यक्तिकाः ॥ ३७ ॥

उनकी चोंच फल के समान और उनके पंख पत्तों के समान हैं। वे पक्षी 'महाराज'-यह नाम और 'कृष्ण' यह नाम इस प्रकार बोलते थे जैसे कोई पुरुष ही बोल रहा हो।। ३ ।।

> माध्वीकश्रवणां दिव्यां नानाकलपदांचिताम् । गिरं च कीरनिवहाः संसृजन्ति कुतूहलम् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियों की दिव्य चहचहाट सुनने में अत्यन्त मधुर है। वे नाना प्रकार से इठलाकर पैर रखते हुए चलते हैं। कोयल के क्क के समान उनकी वाणी कुतूहल को जगा देती है।। ३८।।

यस्याधस्तात् समाभाति शशिकान्तमणिस्थली । अखण्डचन्द्रकान्तोद्यत्प्रभापुञ्जसुपेशला ॥ ३९॥

इन वृक्षों के नीचे की भूमि शशिकान्तमणि से सुशोभित है। वह पूर्णचन्द्र की किरणों की कान्ति से स्फुरित होने वाली प्रभा के पुञ्ज से मनोहर है।। ३९।।

यद्दीर्घविटपालम्बमानान्दोलनविश्रमाः । सख्यः परस्परं यस्यां प्रतिबिम्बभूजो भुवि ॥ ४०॥ यहाँ बड़े-बढ़े वृक्षों पर झ्ले लटक रहे हैं। जहां पर परस्पर सिखयां एक दूसरे का हाथ पकड़े हैं। उनका प्रतिबिम्ब पृथिवी पर पड़ने से मनोहर प्रतीत होता है।। ४०।।

> यदालवालवद्भाति माणिक्यवरकुट्टिमः । चतुर्भिः काञ्चनस्तम्भैम् कावेदुर्यभूषितैः ॥ ४९ ॥

जहाँ की माणिक्य निर्मित फर्श गमलों की भौति शोभित होती है। वहाँ पर चारों ओर मुक्तामणि एवं वैदूर्य मिण से विभूषित स्वर्ण निर्मित स्तम्भ सुशोभित है ॥ ४१॥

> उपर्यर्कमणिक्छप्तमण्डपच्छाययाविलः । विष्वग्विततविटपाक्रान्तप्रान्तमहीतलः ॥ ४२ ॥

ऊपर छत में सूर्यकान्त मणि से युक्त मण्डप को छाया से वह सम्पन्त है। वहाँ की ुमूमि चारों तरफ फैले हुए वृक्षों से आकीर्ण है।। ४२।।

> न्यग्रोधमूलसं भूतकल्पद्रमलतामधः । दिव्यपल्लवपुष्पाढचो 'रत्नसिहासनोत्तमे ॥ ४३ ॥ क्रीडार्थमागतस्तत्र तिष्ठते पुरुषोत्तमः । योजनायुतमाणिक्यकुट्टिमस्थाः सखीगणाः ॥ ४४ ॥ हसन्तो हासयन्तरुच दिव्यक्रीडाकुत्तृहर्लः । मञ्जुस्वरेण गायन्ति प्रियस्यैव यशोऽमलम् ॥ ४५ ॥

गूलर के पेड़ के तने में लिपटो हुई कल्पद्र म लता के नीचे दिन्य पल्लव भीर पुष्पों से समृद्ध उत्तम रत्न के सिंहासन पर क्रोड़ा के लिए आए पुरुषोत्तम कृष्ण वहाँ बैठते हैं। अगुत योजन तक माणिक्य की फर्शं पर आसीन सिंखयों के समूह हंसती हुई तथा एक दूसरे को हैंसाती हुई दिन्य क्रीड़ा के कुत्हल से गुक्त प्रिय के निर्मल यश का अत्यन्त मधुर स्वर में गान कर रही हैं॥ ४३-४५॥

तिष्ठन्त्यत्र महोद्याने तत्स्थानपरिचारिकाः। चतुर्विज्ञतिदेवेका सहस्राणीति संख्यया॥४६॥

है देवेशि ! उस महान् उद्यान में चीबीस हजार परिचारिकाएँ भी सेवा में खड़ी हैं।। ४६ ।।

१. 'छाययान्वितः' इ० पा०।

२. 'संसृत' इ० पा०।

३. 'पुष्पास्यां' इ० पा०।

तासां सौधानि शुभ्राणि मणिद्वाराणि पार्वति । प्रवालदेहलीकानि विष्वक् न्यग्रोधमण्डलम् ॥ ४७ ॥

हे पार्वित ! उस न्यग्रोघ वृक्ष के चारो ओर मूँगे की देहली वाले मणिर्निमि<mark>त</mark> द्वारों से युक्त वहाँ उनके श्वेत प्रासाद हैं ॥ ४७ ॥

> द्विपङ्किभाव्यिज रम्याणि साप्तभौमानि सुन्दरि । तावन्त्येव विराजन्ते वीयीयुक्तानि मध्यतः ॥ ४८ ॥

हे सुन्दिर ! सात मूमिका वाली दो रम्य पिङ्त में बद्ध एवं मध्यत: गिलयों से युक्त उनके उतने ही भवन विराजमान है ॥ ४८ ॥

अन्योन्यपङ्क्तिस्यितहर्म्यलम्बद्दोलासमारूढसर्खासमूहः । अन्योन्यसङ्घट्टन पाणिपालीकरः पुनः श्लेषमुपैति गायन् ॥ ४९ ॥

दोनों पिंड् क्तयों के प्रासाद के बीच में लटकते हुए झूले पर सखी समूह विराज-मान है। वे सभी सिखर्या गायन करती हुई एक दूसरे के पास झूले से पहुँच कर पुन: श्ळिष्ट होती हैं और एक दूसरे से परस्पर ताली पीटती हुई शोभा पा रही हैं॥ ४९॥

> हेमप्राकारकलितमिदं चान्द्रमसं वनम् । यमुनाभिमुखे यस्य द्वारमाभाति काञ्चनम् ॥ ५०॥

स्वर्णनिर्मित चहारदिवारी के इस चान्द्रमस वज का काञ्चन का द्वार यमुना की ओर को खुलता है ॥ ५०॥

> द्वारापसव्यसव्यस्थो कुट्टिमी रत्नकाञ्चनौ । महाचतुःस्तम्भलसन्मण्डपाडम्बरस्पृशौ ा। ५१ ॥

द्वार के बाहर वाएँ और दाएँ दोनों तरफ रत्न एवं काश्वन की फर्श बनी हुई है। बड़े-बड़े चार खम्मों से शोभायमान दोनों ओर के मेहराब युक्त मण्डप हैं।। ५१।।

> ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी। सोपानानि सहस्रे द्वे द्वे शते च दशोत्तरे।। ५२।

उसके बाद सीढियों से उतरकर यमुना नदी पर जाया जाता है। ये सीढ़ियाँ दो हजार दो सी दस हैं।। ५२।।

१. सहसः।

२. 'काकतालीकरः' इं० पा०।

पद्मरागार्कवेदूर्यप्रवालशक्षिगा**रुडैः** । मुक्तेन्द्रतीलगोमेदपूष्पवक्रहिरण्मयैः ॥ ५३ ॥

पुनः पुनः क्रमादेतैः सोपानैः प्रान्तमण्डपैः। अधोघः कल्पिनैः सम्यक् गम्यते यमुना नदी ॥ ५४ ॥

पुनः पुनः क्रम से पद्मराग मिण, सूर्यंकान्त मिण, वैदूर्यं, मूँगा, चन्द्रकान्तमिण, गारुड, मुक्ता, इन्द्रनीलमिण, गोमेद, पुष्पवाच्च (हीरा) और स्वर्णं से निर्मित प्रान्त-मण्डप से युक्त उन सीढ़ियों के द्वारा नीचे और नीचे सम्यक् रूप से यमुना नदी के तट पर जाते हैं।। ५३-५४।।

मणिकाञ्चनसन्तद्धा यत्र नौकाः सुपेशलाः। वायूद्धूतध्वजपटाः विश्रमन्ते यतस्ततः॥५५॥

यमुना नदी के तट पर मणि और स्वर्ण जटित सुन्दर नावें जहाँ पर हैं । जिनके त्रिपाल ब्वज वायु से भरें हुए इघर-छघर घूम रहे हैं ॥ ५५ ॥

अनेकपोतसंस्थासु सखीषु पुरुषोत्तमः।
मध्यपोतस्थितः सम्यक् राजते तिसृभिर्युतः ॥ ५६॥

अनेक नौकाओं में सिखयों के मध्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मध्य पोत पर स्थित तीन सिखयों से युक्त विराजमान है ॥ ५६ ॥

स्वामिनी वामभागस्था दाडिमीपुष्पभां शुकाः। इन्दिरा सुन्दरी चोभे पुरः सव्यापसव्ययो।।। ५७॥

उनके वाम भाग में स्वामिनी राघा जी है जिनका वस्त्र अनार के पुष्प के अने वाम भाग में स्वामिनी राघा जी है जिनका वस्त्र अनार के पुष्प के समान हल्के लाल रंग का है। उनके सामने दोनों ओर बाएं और दाए इन्दिरा और सुन्दरी नामक सिखरी शोभायमान है ॥ ५७ ॥

इन्दिरा कृष्णपक्षीया सुन्दरी स्वामिनी परा। हास्य केलिविहारेषु विवादेषु रसात्मसु॥ ५८॥

इन्दिरा कृष्ण की तरह है और मुन्दिशी राघाजी के तरफ है। सभी लोग हास्य क्रोडा विहार में और रसात्मक विवादों में अठकेलियाँ करते हुए तल्लीन हैं॥ ५८॥

तेनेयमिन्दिरा साक्षात्स्वामिनीप्राणवल्लभा। सुन्दरी चापि कृष्णस्य प्राणाधिवल्लभा हि सा॥ ५९॥

हास्यमय क्रोडा में इन्दिरा साक्षात् स्वामिनों की प्राणवल्लमा हैं और सुन्दरी भी श्रीकृष्ण की प्राणवल्लमा हैं ॥ ५९ ॥ एवं क्रीडारसानन्दसखीभिः पुरुषोत्तमः।
वने चान्द्रमसे कृष्णः सेवते च यद्च्छया।। ६०।।
।। इति माहेश्वतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
द्विचत्वारिशं पटलम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उस चान्द्रमस वन में स्वेच्छापूर्वक उनसे सेविट होते हुए सिवर्स के साथ क्रीडा के रस का आनन्द ले रहे हैं।। ६०॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद कें बयालिसचें पटल की डॉ॰ सुघाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी ज्याख्या समाष्ठ हुई ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिशं पटलम्

शिव उवाच-

नीलोद्यानेऽपि देवेशि कदाचित्पुरुषोत्तमः। सखीसहस्रेरागत्य क्रीडते स्वामिनीमुर्खः।। १।।

शिव ने कहा —

है देवेशि ! किसी समय पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण स्वामिनी बनकर हजारों सिखयों के साथ आकर नील उद्यान में भी क्रीड़ा करते हैं ॥ १ ॥

> अखण्डमाणिक्यशिलाकल्पिता नीस्रभूमिका। अन्तरान्तरितामुकावज्जवेदूर्यविद्रुमेः ॥ २१॥

अखण्डमाणिक्य की शिला की नील भूमिका वहाँ किल्पत की गई है। उस नील भूमिका के अन्दर मुक्ता, वजा, वैदूर्य एवं विद्रुम (मूँगे) से नक्काशी की गई है। उस

यत्र वाप्यः सुधापूर्णाः काञ्चनोत्पलमालिनः । प्रवालपुष्पाभरणा लतोल्लासितमण्डपाः ॥ ३॥ वहाँ की वापी अमृत से पूर्ण है जिनमें सुवर्ण के खण्ड विद्यमान हैं। सूँगों के पृष्प खिले हुए हैं और नील भूमिका का मण्डप लताओं से उल्लसित है ॥ ३॥

उपर्युपरिविन्यस्तभूमिस्थपरिचारिकाः । बीणामृदङ्गघोषेण घोषयन्त्यो वनस्थलीम् ॥ ४ ॥

उस नोलभूमिका की ऊपरीमञ्जिल में परिचारिकाएँ विद्यमान हैं। बीणा एवं मृदङ्ग आदि के घोष से वहाँ की वनस्थली गुञ्जायमान है ॥ ४॥

ैश्विरांशुति डिद्दीप्तरत्नभूषणभूषिताः।
नानारसकलाभिज्ञा यशो गायन्ति संहताः।। ५।।
ने परिचारिकाएँ मनोहर किरणों से युक्त एवं विद्युत की प्रभा वाले रत्नों के
अाभूषणों से विभूषित हैं। नानाविध रस कलाओं का ज्ञाता वे सिखयाँ झुण्ड बनाकर
भगवान के यश का गान करती रहती हैं।। ५।।

रै. 'मालिनी' इ० पा॰ ।

२. 'चोराञ्चतडिदुहीप्त' इ० पा० ।

चतुर्विश्रतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः। द्विपङ्क्तया परितस्तासां मन्दिराण्युज्वलस्ति च ॥ ६ ॥

वहाँ की परिचारिकाएँ घौबीस हजार हैं। दो पङ्क्ति में उनके उज्ज्वल मन्दिर बने हुए हैं।। ६।।

> तन्मध्यभूमौ देवेशि क्रीडासौंधमनुत्तमम् । कोटिचन्द्रप्रभाषुञ्जिधिकारिमणिकल्पितम् ॥ ७ ॥

है देवेशि ! उन दोनों कतारों के मध्य की भूमि पर उत्तम क्रीडा के प्रासाद बने हैं। करोड़ों चन्द्रमाओं की प्रभा के पुञ्ज को भी वहाँ की मणियों को कान्ति नष्ट कर देने वाली है ॥ ७ ॥

> चतुर्विक्षु लसत्स्वर्णस्तम्भराजिविराजितम्। प्रतिस्तमभं प्रविन्यस्तपत्रिकाभिरलङ्कृतम्।। ८।।

चारो दिशाओं में स्वर्ण के खम्भों की कतारें शोभायमान है। एक एक स्तम्भ पर पुत्तिकाओं को अङ्कित कर सजाया गया है। द।।

मुक्ताप्रवालरिवतं कपाटद्वारतोरणम् । हंसपारावतगुकैभित्तिशङ्कुकृतास्पदेः ॥ ९॥

द्वार के दरवाजे और तोरण मुक्ता एवं मूंगे से जटित हैं। वहाँ की दीवारों पर हंस, कबूतर, तोता आदि पक्षियों की रचना की गई हैं।। ९।।

> अन्योऽन्यं वादिभिरिव क्षिप्ता वाचो जिगीषया। मनः श्रोत्रहरा यत्रानन्दयन्ति सलीगणान् ॥ ५०॥

एक दूसरे से बात-चीत करती हुई सखी समूह की कौतूहलपूर्ण वाणी मन एवं कानों को आनन्दित करती है।। १०।।

> सौधाङ्गणचतुर्दिक्षु कुट्टिमानि बृहन्ति च। मण्डपाट्टालयुक्तानि मणिस्तम्भशतानि च॥११॥

वहाँ के प्रासादों के आँगनों की फर्श चारो दिशाओं में विस्तृत हैं। वहाँ के मण्डप खूब ऊँचे-ऊंचे और मणि जटित सैंकड़ों स्तम्भों से युक्त हैं।। ११।।

दीघिकास्तेषु दिव्यन्ति सृजन्त्यः सिललोन्नतिम् । कल्पद्रुकुसुमामोदसुवासितजलाः शिवाः ॥ १२ ॥

उन प्रासादों के मध्य बनी हुई दीर्घिका दिव्य हैं और वह सिललपूर्ण हैं। उनका जल कल्पद्रुम के पुष्प की सुगन्घ से सुवासित अत्यन्त कल्याणकारी है।। १२॥ नर्त्तंक्यो यत्र नृत्यन्ति नाटचितद्याविशारदाः। यन्तूपुररणत्काराः श्र्यन्ते कुञ्जभूसिषु॥ १३॥

नाट्यविद्या में पारङ्गत नर्तिकया वहाँ नृत्य करती रहती हैं। उन भवनों की कुञ्जभूमियों पर वजती हुई उन नर्तिकयों के त्रुपुरों की ममुर व्वित सुनाई पड़ रही है।। १३।।

कुट्टिमनिकटारूढाश्चरवारो जम्बुपादपाः । वाखायां शतविस्ताराः काननस्येव केतदः ॥ १४॥ उन फर्शो के निकट में चार जामुन के वृक्ष विद्यमान है। सी शाखाओं के विस्तार वाले वे वृक्ष कानन के मानों ब्वज की तरह हैं॥ १४॥

> शालाबद्धसुवर्णशृङ्खललसद्दोलाधिरूढाङ्गता । हस्ताहस्तमृदङ्गधीरनिनदैरानन्दयन्त्यः शिखीन् । विद्युत्पञ्जनिभांशुकांशुपरिघानापादयन्त्यश्चलान्, यातायातविहारविभ्रमलसत्स्मेराननाक्षिभृतः ॥ १५॥

उन जामुन के वृक्षों की शाखाओं पर सुवर्ण की शृङ्खिला से बने झूलों पर बैठी हुई युवितयां आनन्द से झल रही हैं। अपने अपने हाथों से (बादलों के समान) बजाते हुए मृदङ्ग की गम्भीर व्वित से आनन्द लेते हुए मानों मयूर नाच रहे हैं। बिच्तप्ञ के समान वस्त्र की प्रभा से शोभायमान वे झूले परिव में झूलने के कारण अर्धचन्द्राकार आयुध के समान प्रतीत हा रहे हैं। आते जाते हुए झूलों पर युवितयों के विहार की शोभा से युवत उनके मुख मयूर पङ्ख की आँखों से युवत स्तित हो रहे हैं। १५।।

इन्द्रनीलमणिश्राजत्प्राकारपरिवेष्टिते । नीलोद्याने महारम्ये क्रीडते पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥ इन्द्रनीलमणि से शोभायमान चहार दीवारी से विरे हुए महान् रम्य नील उद्यान में इस प्रकार प्रधोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा करते हैं ॥ १६ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य महाद्वारं विराजते। चन्द्रकान्तिशिलाक्छप्तकपाटं रत्नतीरणम् ॥ १७॥ यमुना के अभिमुख उस उद्यान का सिहद्वार शोभायमान है। उसके दरवाजे चन्द्रकान्त मणि की शिला से निर्मित हैं और उसके रत्नजटित तोरण हैं॥ १७॥

१. चतुर्वशकाकोऽयं 'कुट्टिमनिकटनिरूढाश्चत्वारो जम्बपादपप्रवराः । शाखाशतिविचिन्तयन्तः कितव इवेह काननस्योच्चैः ॥ १४ ॥ इत्यमायछिन्दसोपनिबद्ध प्राचीन पुस्तकेषप्रकम्यते ।

द्वारस्य दक्षिणे वामे काञ्चनौ कुटिमौ समौ। चतुर्द्वारमणिस्तम्भवज्रीकल्पिनमण्डपौ ।। १८॥

इस द्वार की दक्षिण ओर बाएं की फर्श स्वर्ण से एक समान बनी हिई है। द्वार पर चार मणिनिर्मित खम्भे हैं जिनपर वजू निर्मित दो मण्डपर्हें ।। १८॥

> ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी। सोपानानि सहस्रे द्वे शते च दशोत्तरे॥ १९॥

इसके बाद सीढ़ियों से उतरकर यमुना नदी में जाया जाता है। यहाँ दो हजार दो सी बीस सीढ़ियाँ नीच तक बनी हुई हैं।। १९।।

> अस्मिन् सोपानमार्गेऽपि वामदक्षिणयोः स्थिताः । रत्नमण्डपशोभाढचाः कुट्टिमाः सन्त्यनेकशः ।। २० ।।

इस सीढ़ियों के मार्ग पर बाएं ओर तथा दक्षिण ओर अगल बगल रत्न जटित मण्डपों की शोभा से समृद्ध अनेक प्रकार की फर्श बनी हुई है ॥ २०॥

> कदाचिष्जलखेलान्ते तिष्ठन्त्यत्र सखीगणाः। चतुरस्रा विशालास्ति तत्रोचेर्मणिवेदिका।। २१।।

कभी-कभी जलक्रीडा के अन्त में सखीगण यहाँ बैठती हैं। यहाँ पर एक विशाल भौकोर चबूतरा बना है। उस पर मणि निर्मित एक वेदिका वनी है॥ २१॥

> वेदिकायां विशालायां कुट्टिमो मणिभूषितः। स्वर्णस्तम्भचतुर्द्वारो मुक्तामण्डितमण्डिपः॥ २२॥

> वेदिकायां समुद्भूते द्वे दले स्वर्णपत्रके। पार्श्वयोः पद्मरागीयपुष्पप्रचयभूषिते।। २३।।

विशाल वेदिका की फर्श मिण से विभूषित है। वहाँ स्वर्ण निर्मित खम्भों वाले षार द्वार से युक्त, मुक्ता से सजाया गया मण्डप है। वेदिका के दो तरफर्स्वर्ण के पत्ते समुद्भूत हैं। दोनों तरफ पद्मरागमिण के समान पुष्प राशि से वह भूषित है। २२-२३।।

मण्डपोपरि त्च्छाखाः प्रसृताः कुसुमाकुलाः।
काश्चन प्रसृतास्तस्य मध्यदेशे सुशोभने।। २४।।
मण्डप के ऊपर उस स्वर्ण पत्रक की दो गाखा बहुत से खिले हुए पृष्पों से युक्त
फैली हुई है। हे सुशोभने! उनके मध्य देश में भो कुछ शाखा फैली हुई हैं।। २४।।

तत्र सिहासन देवि कोटिचन्द्रांशुनिर्मलम् । इन्दिरासुन्दरीभ्यां तुपार्श्वयोः समिधिष्ठितम् ।। २५ ॥ हे देवि ! उस मध्यभाग में करोड़ों चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक निर्में हैं एक सिहासन है। इन्दिरा और सुन्दरी दोनों ही (उनके) अगल-बगल में बैठी हुई हैं। २५॥

> कदाचित्तत्र भगवान् कृष्णः कमललोचनः। तिष्ठते क्रीडते ताभिः सखीभिः कृतकौतुकः।। २६॥

किसी समय कमल नयन भगवान कृष्ण वहाँ उन सिखयों के साथ कौतूहलपूर्ण क्रीडा करते हुए रहते हैं ॥ २६ ॥

> स्मरेदयो वनं दिव्यं पुष्पदन्ताख्यमद्भृतम्। वैदूर्यवीरुधां यत्र राजयो भान्ति पेशलाः॥२७॥

अतः पुष्पदन्त नामक अद्भुत एवं दिव्य वन का घ्यान करना चाहिए । जहा<mark>ँ परा</mark> वैदूर्य एवं लता-कुञ्जों की सुन्दर पङ्क्तियाँ शोभायमान हैं ॥ २७ ॥

> लतापरिमलोद्गारलोभमुग्धीकृताशयाः । इतस्ततोनुधावन्ति भृङ्गा मायादिता यथा ॥ २४ ॥

लता की सुगन्धि से आकृष्ट एवं मुग्ध अमर वहाँ इघर-उघर उसी प्रकार मंडरा रहे हैं जैसे माया से आकृष्ट मनुष्य भव जाल में घूमता रहता है ॥ २८ ॥

पुष्पदन्ताभिद्यो यत्र दाडिमीतरु६्ल्लसन्। माणिक्यकुसुमश्रीको वैदूर्यं ६चिरच्छदः॥२९॥

पुष्पदन्त नामक अनार का पेड़ जहाँ पर शोभायमान है। माणिक्य के समान उसके पुष्प शोभा सम्पन्न हैं। उसकी सुन्दर डालियाँ वैद्यं के समान हैं। २९॥

विशुद्धस्फाटिकमयो यत्र भूमिविराजते। अरजस्कामृतस्यन्दा प्रतिबिम्बतभूरुहा । ३०॥

उस पुष्पदन्त वन की भूमि विशुद्ध स्फटिक से निर्मित द्युतिमान है। भूमि में प्रतिबिम्ब वृक्ष विना घूलि के अमृत की वर्षा करने वाले हैं ॥ ३०॥

वैद्यंपत्रद्युतिपुञ्जपूरितं माणिक्यपुष्पप्रभयानुरञ्जितम्। वनं विश्वन्त्यो हि मयूरवल्लभा नृत्यन्ति विद्युद्धनशङ्किताशयाः ॥ ३९॥ वैद्यं मणि के समान पत्तों की द्यति के पुञ्ज से पूरित और माणिक्य के समान वृद्यं मणि के समान पत्तों की द्यति के पुञ्ज से पूरित और माणिक्य के समान पुष्प की प्रभा से रंगे हुए के समान मयूरियां जिस वन में प्रविष्ट हो रही हैं और वहाँ विद्युत एवं बादल की आशङ्का से आशङ्कित मयूरियां नाच रही हैं ॥ ३१॥

अत्र सर्वत्र वेंड्ये शब्द एवापलभ्यते नतु वेंद्यं इति ।

विदोर्णसद्दाडिमबीजसंहतीनिरीक्षमाणाः प्रबलानुरागिणीः। स्वदन्तसाद्दयमुपेति वा न वाभ्युपेतुमादर्शधरा भवन्ति॥३२॥

प्रबल अनुराग वाली सिखयां सुन्दर अनार के बीज को संहती का अवलोकन करती हुई अपने हाथ में दर्पण लिए हुए देखती हैं कि मेरे दांत अनार के बीज के सहश हुए या नहीं ॥ ३२ ॥

> योजनायुतमूर्द्धन्यः 'शाखाक्रान्तमहीतलः । फलप्रलवपद्मिशारभ्गनमहाभुजः ।। ३३ ॥

अयुत योजन तक फैलो शाखाओं से आक्रान्त पृथ्वी तल वोले तथा फल एवं परलव तथा पुष्प की शोभा से सम्पन्न विस्तृत एवं टेढ़ो शाखाओं वाले वृक्ष हैं।।३३॥

> अनेकपक्षिसङ्घातगीतश्रवणनन्दनः । यदधः कुट्टिमवरो राजते स्वर्णनिर्मितः ॥ ३४ ॥

वह वन अनेक प्रकार के पक्षियों के समूह के कलरव से युक्त है। जिस वन के वृक्षों के नीचे की मूमि सुन्दर स्वर्ण से निर्मित होने से द्युतिमान है।। ३४।।

> प्रवालस्तम्भशोभाढचरत्नमण्डपमण्डितः । पृष्पदन्तः सखीवृन्दावतसीकृतपृष्पकः ॥ ३५ ॥

वहाँ के मण्डप प्रवाल (मूँगे) के खम्भों को शोभा से सम्पन्न एवं रहनों से मण्डित हैं। सिखयों के समूहों ने पुष्पों का अवर्तस (आसूषण) मानो पहन रक्खा है, ऐसा पुष्पदन्त वन है।। ३५।।

आधिपत्ये वनस्यास्य नियुक्त इव राजते।
स्वर्णकुट्टिममध्ये तु वेदूर्यमणिनिमितम्।। ३६।।
इस वन के आधिपत्य में मानों वे नियुक्त हुई सी शोभित हैं। स्वर्णनिमित फर्शं
के मध्य में वैद्र्यमणि से निमित फर्श है।। ३६।।

महासिहासनं देवि यच्च कृष्णोऽधितिष्ठित । नीलाम्बर इवाभाति जुभ्रवस्त्रधरोऽपि यत् ॥ ३७ ॥

है देवि । उस वैदूर्यनिर्मित चबूतरे पर एक महान् सिहासन है जिस पर श्री
कृष्ण विराजमान हैं। अनेक स्वेत् वस्त्र धारण करने पर भी उनका वस्त्र (मणि की
अभा से मिश्रित होकर) नीलाम्बर के समान प्रतीत हो रहा है।। ३७।।

सर्वाः सल्योऽपि वैदूर्यसिहासनपरम्पराम्। जुषाणाः परितो भान्ति नीलाम्बरधरा इव ॥ ३८॥

योजनायतमूर्धन्यशाखा क्रान्तमहीतलः इ० पा० ।

उनकी सभी सिखयाँ भी वैदुर्यमणि के सिहासन की कतार में बैठी हैं। चारो जोर से श्रीकृष्ण को घेरे रहने के कारण वे भी नीलाम्बर के समान प्रवीत हो। रही हैं ॥ ३८ ॥

अतीव भूषाम्बरवैपरीत्यं निरीक्ष्यमाणाः प्रहसन्ति सख्यः । स्वानां प्रियस्यापि परस्परं ताः प्रदत्ततालीकरपङ्कजेषु ।। ३९ ।।

वस्त्र सफोद पहने हैं और वह नीला प्रतीत हो रहा है इस वेषभूषा की विपरीत स्थिति को देखकर सभी सिखयाँ आपस में हंस रही हैं। परस्पर एक दूसरे को अीर प्रिय को भी ऐसा देखकर वे एक दूसरे के साथ प्रसन्न होकर अपने कर कमलों से प्रदत्त ताली बजा रही हैं ॥ ३९ ॥

तत्स्थानपरिचारिकाः। चतुर्विशतिसाहस्र 💮 💮 परिचर्यापरास्तत्र वसन्ते कृष्णयोषिताम्।। ४०॥

वहाँ पर चौबीस हजार अन्य परिचारिकाएं विद्यमान हैं जो कृष्ण की प्रियाओं की सेवा में संलग्न हैं ।) ४० ॥

> दिव्यपुष्पाम्बराकरपैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः परिचारिकाः ॥ ४१ ॥ दिव्यानन्दरसैस्तत्र सेवन्ते

वे परिचारिकाएँ दिव्य पुष्प, दिव्य वस्त्र, दिव्य गन्धों एवं अनुलेपनों से तथा दिव्य प्रकार के आनन्द रस से उनकी परिचर्या कर रही हैं।। ४१।।

नानाक्रीडारसासक्ता यदा सख्यः प्रियेण हि। काचिन्मृदङ्गेण काचित्तन्त्रीरवेण च।।४२॥

नाना प्रकार की क्रीडा रस में जब वे सिखयाँ प्रिय के साथ आसक्त हो जाती हैं तब कभी मृदङ्ग और कभी बीणा की झङ्कार में विलीन हुई सी जान पड़ती हैं ॥ ४२ ॥

काश्चिन्मधुरवीणाभिर्नृत्यगीतादिगिश्च परितः स्वगृहारूढा दूरतस्तोषयन्ति ताः॥४३॥ कुछ सिख्यां मधुर वीणा के द्वारा और कुछ अपने नृत्यों के द्वारा अपने अपने ही घर पर परितः रहती हुई वे दूर से ही श्रीकृष्ण को प्रसन्त कर रही हैं ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण तासां सीधानि पार्वति। द्विपङ्कचापरितो भान्ति वीथीयुक्तानि मध्यतः ॥ ४४ ॥ हे पार्वति ! पूर्वोक्त प्रकार से निर्मित उनके प्रासाद कतार में हैं जिसमें

दो पङ्क्ति के बीचोबीच एक वीथी शोभायमान है।। ४४।।

वैदूर्यरत्नविलसत्प्राकारपरिवेष्टिते । पृष्पदन्तमहोद्याने क्रीडते पुरुषोत्तमा । ४५ ॥

वैदूर्य एवं रत्नों से चमकते हुए चहारदिवारी से घिरे उस पुष्पदन्त नामक महान् उद्यान में इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा कर रहे हैं।। ४५॥

> यमुनाभिमुखे यस्यं राजते गोपूरं महत्। पद्मरागमणिक्छप्तकपाटद्वारतोरणम् ॥ ४६॥

यमुना के अभिमुख जिस प्रसाद का विशाल गोपुर शोभायमान है उसके दरवाजे अौर तोरण[पद्मरागमणि से जटित हैं।। ४६।।

> ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी। सोपानानि च तावन्ति संख्यावर्णविभेदतः॥४७॥

वहाँ से होकर सीढ़ियों के मार्ग से नीचे की ओर यमुना नदी पर जाया जाता है। उसकी सभी सीढ़ियाँ अरूग अलग रंगों से बनी है।। ४७॥

> द्वारस्य दक्षिणे वामे कुट्टिमी सुमनोहरी। स्तम्भमण्डपसंयुक्ती मुक्तामाणिक्यतोरणौ॥४८॥

द्वार के दाहिने और बाएँ ओर सुन्दर एवं मनोहर फर्श बनी हुई है। खम्भों एवं मण्डप से युक्त उनके तोरण मुक्ता मणि एवं माणिक्य जटित हैं॥ ४८॥

> जलक्रीडावसाने तु कृष्णः स्वसखीवृतः। मुहूर्तं कुट्टिमे स्थित्वा ततो याति निजालयम् ॥ ४९ ॥

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे त्रिचत्वारिशं पटलम् ।। ४३ ।।

जल क्रोडा के अन्त में श्रीकृष्ण अपनी सिखयों से विरे हुए एक मुहूर्त्त तक वहीं फर्श पर रहकर फिर अपने भवन में चेले गए॥ ४९॥

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्रृ' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के तैंतालीसर्वे पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिशं पटलम्

शिव खवाच-

स्मरेदयो महानन्दवनं सर्वर्तुसेवितम् । नानापृष्पलताकुञ्जपुञ्जशोभाविराजितम् ॥ १ ॥

शिब ने कहा---

इसके बाद सभी ऋतुओं से सेबित महानन्दवन का स्मरण करना चाहिए। वह वन नाना प्रकार के पृष्पों, लताओं एवं कुञ्जों के समूह की शोभा से सम्पन्न है।। १।।

यत्र भूः काश्वनी दिव्या नवरत्नविचित्रता। सार्द्धेकयोजनायामविस्तारा मध्यवेदिका॥२॥

जहाँ की सूमि नव एतों से निर्मित विचित्र प्रकार की काञ्चनमय है। उस वन की मध्य वेदिका का विस्तार डेढ योजन तक फैला है।। २।।

चतुरस्रा दिव्यरत्ना प्रभापुङजारुणान्तरा। तन्मध्ये कुट्टिमो देवि योजनार्द्धप्रमाणतः।।३।।

उस वेदिका का चतुरस्त्र दिन्य रत्नों की प्रभा के पुत्रज्ञ से लाल रग का अन्तराल बाला है। हे देबि! उसके मध्य की फर्रा आधा योजन तक विस्तृत है॥ ३॥

रजतस्वर्णवज्ञे न्दुमुक्ताविद्रुमगारुडैः । वैद्यैरिन्द्रनीलैश्च पद्मरागार्कगोमदैः ॥ ४ ॥

चौदी, सोना, वज, इन्दु, मुक्ता, विद्रुम, गाहड, वैदूर्यं, इन्द्रनीलमणि पद्म-चौदी, सोना, वज, इन्दु, मुक्ता, विद्रुम, गाहड, वैदूर्यं, इन्द्रनीलमणि पद्म-चागमिण, सूर्यकान्तमणि तथा गोमेद आदि रत्नों से वेदिका को चित्र-विचित्र फशं चित्रत है ॥ ४॥

समन्ततः परिक्ऌप्तस्तम्भराजिविराजितः । दक्षिणोत्तरमघ्यस्थसूत्रधाकष्यं पार्वति । पूर्वगर्भगतं कुर्यादघः पहिचमगर्भगम् ॥ ५ ॥

पूजानात पुजादवः पारजात माभायमात है। हे पार्वति ! चारो ओर खम्भों की पिड कत से वह वेदिका शोभायमात है। हे पार्वति ! दक्षिण से उत्तर मध्य में रेखा खोचकर ऊपर का भाग पूर्व गर्भगत करे और नीचे का भाग पश्चिम गर्भगत बनावे।। ५॥

इन्द्रनीलप्रभालिप्तमेवं कोणचतुष्टयम् । कल्पद्रमलताकोणे चतुष्कोपरिराजते ॥ ६ ॥

इन्द्रनीलमणि की प्रभा से लिप्त कर उसे चौकोर बनावे। उसे चारो कोनों पर कल्पद्रुम लता से वेष्टित चतुष्क पर शोभित करना चाहिए।। ६॥

> शतयोजनससपिदिव्यसौरभमेदुरा । दिव्यप्रवालकुसुमामोदमोहितषट्पदा ॥ ७ ॥

सौ योजन तक दिन्य गन्ध वहाँ फैली हुई है तथा दिन्य प्रवाल के समान पुष्प की सुगन्धि से भौरे आकृष्ट हो रहे हैं।। ७॥

मन्दमारुतससर्गचलत्कुसुमपल्लवा । पद्मरागमयस्तम्भौ पूर्वद्वारे नियोजितौ ॥ ८ ॥

मन्द मन्द वायु के संसर्ग से पुष्प और वृक्षों के पल्लव हिल रहे हैं। पद्मराग-मणि से युक्त दो स्तम्भ भवन के पूर्वद्वार पर निर्मित हैं।। ८ ।।

> महानीलमणिस्तम्भौ दक्षिणे तु व्यवस्थितौ। महावज्रमणेः स्तम्भौ प्रतीच्यां दिशि कल्पितौ।। ९॥

दक्षिण द्वार पर महानीलमिण से युक्त दो स्तम्भ बने हैं। पश्चिम द्वार पर महावज्रमिण से उट्टिक्कृत दो स्तम्भ योजित है।। ९॥

> वैद्यंस्तम्भयुगलमुत्तरे ह्यनुकल्पितम् । तप्तचामीकरवल्द्यमण्डपस्तेषु कल्पितः ॥ १०॥

वैदूर्यमणि के दो स्तम्भ उत्तर दिशा में अनुकल्पित हैं। तपाए हुए सोने सा वहाँ का मण्डप सुशोभित है।। १०॥

> अन्तर्बहिस्तत्र मुक्ता भान्ति तारागणा इव। अनेककोटिचन्द्राकंप्रभाविकारिवर्चसः ॥ १९॥

उस मण्डप के बाहर और भीतर मुक्तामिण इस प्रकार जटित है जैसे तारों का समूह हो। करोड़ों सूर्य एवं चन्द्र की प्रभा को भी उनकी कान्ति मानों घिक्कृत कर रही है।। ११।।

वेदिमध्ये तु कलशा विभान्ति मणिमेदुराः।
मण्डपाधो मध्यभागे रत्नसिहासनोत्तमम्।। १२।।
वेदिका के मध्य में मणिजटित चिकना कलश शोभित हैं। मण्डप के नीचे मध्य
भाग में उत्तर्भ रत्न निर्मित सिहासन शोभायमान है।। १२।।

परितस्तस्य देवेशि सिहासनपरम्परा। कृष्णित्रयानिवेशाही कृष्णे मध्यासनं गते॥ १३॥

हे देवेशि ! उसके चारों ओर सिहासनों की कतारें लगी हैं। मध्य सिहासन पर श्रीकृष्ण के बैठ जाने पर चारो ओर कृष्ण त्रियाओं के बैठने के योग्य ये सिहासन हैं।। १३।।

वेदिकापरितो भान्ति नानामणिमया छताः।
मालती मल्लिका यूयी जातिनन्दनपाटली ।। १४।।
कदम्बपारिजातास्रबकुलार्जुनकेसराः
केतकीचम्पकाशोकनीपाश्चत्थवटादिकाः ।। १४॥

वेदिका के चारो ओर नाना प्रकार की मणिमय लढाएँ मालती, मल्लिका, जाही, जातिचन्दन ओर पाठली सुशोभित हैं। कदम्ब, पारिजात, आस्र, बकुल, अर्जुन, केसर, केतकी, चम्पक, अशोक, नोप, अश्वत्य (पीपल) एवं वरगद आदि के वृक्षों से वह उद्यान सुशोभित है।। १४-१५।।

रत्नच्छदा घनीभूताः पुष्पपल्लवमण्डिताः। महल्लीलाचलशाखारूढस्यल^१विहङ्गमाः ॥ १६॥

रत्नच्छद का वृक्ष अत्यन्त हरा और फूल एवं पल्लवों से व्याप्त है। पक्षियों के झुण्ड हवा से हिलती हुइ[°] उस वृक्ष की शाखाओं पर बैठे हैं।। १६।।

रत्नकुल्याविनिर्गच्छत्सुधापूरसुतर्पिताः आभान्ति पादपा दिव्या महानन्दवने प्रिये ॥ १७ ॥

हे प्रिये ! रतन के समान सरिताओं से निकलते हुए सुवा पूरित जल से सिचित उस दिव्य महानन्द वन के वृक्ष सुशोभित है ॥ १७ ॥

चतुर्विशतिसाहस्र तत्स्थानपरिचारिकाः। तासां गृहाणि दिव्यानि परितो भान्ति सुन्दरि ॥ १८ ॥

हे सुन्दरि ! उस महानन्द वन की चौबीस हजार परिचारिकाएँ हैं। उनके दिव्य भवन वहाँ चारों ओर सुशोभित हैं।। १८।।

> वष्प्रप्रकल्पितमहाप्रकारपरिवेष्टितम् । महानन्दवनं वन्दे रसानन्दैकपत्तनम् ॥ १९॥

^{ी. &#}x27;पाटला' इ० पा• ।

२. 'चल' इंग्पाठ: ।

वर्ष्णनिमित ऊँची-ऊँची चहारिदवारी से घिरे हुए आनन्द रस के नगर महातन्द वन की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १९ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य गोपुरं पद्मरागजम् । यौगपद्मोदितानेकबालार्कं चृतिभासुरम् ॥ २० ॥

पद्मरागमणि से निर्मित यमुना को अभिमुख करके जिसका गोपुर सुशोभित है वह गोपुर एक साथ उदित हुए अनेक बाल सूर्यों को प्रभा से दीसिमान है।। २०॥

कुद्टिमद्वयमीशानि यद्बहिर्भातिसुन्दरम्। चतुर्द्वारं चतुःस्तम्भं शोमानिर्भावभूमिकम्।। २१।।

हे ईशानि ! उस गोपुर को भूमि दो प्रकार को है जो बाहर और भोतर वोनों ही सुन्दर है। वहाँ की भूमि चार द्वारों और चार स्तम्भों से सुशोधित है 11 २१ ॥

ततः मोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी । स्मरेदथो महेशानि हेमकूटवनं महत्।। २२।।

इसके बाद सीढ़ियों से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है। अतः हे महेशानि ! इसके बाद महान् हेमकूट वन का स्मरण करना चाहिए॥ २२ ॥

यत्र हेममयी भूमिहेंमपादपसङ्कुला। तन्मध्ये कुट्टिमो हैमौ हैमस्तम्भचतुष्टयम्।। २३।।

जहाँ की स्वर्णमयी मूमि है और सोने के समान वृक्षों से जो आकीर्ण है उस बन का ब्यान करना चाहिए। उसके मध्य में स्वर्णनिर्मित चार स्तम्भ से युक्त सोने की दो मूमियाँ हैं।। २३।।

> गन्यूत्यर्द्धयुतः श्रीमान् हैममण्डपभूषितः। चतुर्विश्वतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः। २४॥ तासां गृहाणि दिन्यानि हैमोपस्करवन्ति च। मण्डगम्परितो भान्ति तडितामिव राशयः॥ २५॥

स्वर्ण जिटत मण्डप से युक्त अर्घ गव्यूति (योजन) तक वह श्रीसम्पन्न है। वहाँ की भी परिचारिकाएँ चौबीस हजार हैं। उनके भवन दिव्य और स्वर्ण की बस्तुओं से युक्त हैं और वहाँ के झाड़ू भी स्वर्ण के हैं। मण्डप के चारो ओर विद्युत् के समान राशियाँ चमक रही हैं।। २४-२५।।

सौधमण्डपयोर्देवि यावत्स्यादन्तरालकम् । तत्सवं परितो व्याप्तं नारङ्गीलतिकाशतैः ॥ २६॥ हे देवि ! प्रासाद और मण्डप के बीच जो अन्तराल है उसमें सर्वत्र नारज़ी की सैकड़ों लताओं से वह व्यास है ॥ २६ ॥

> एलालविङ्गकाइमीरसुरभ्यनिलसेवितम् । मृद्वीकामण्डपयुतं मातुलिङ्गलतोल्लसत् ॥ २७ ॥

उस वन में इलायची, लींग और केसर की सुरिम से व्याघ वायु से सेवित वातावरण है। वहां के मण्डप अङ्गुर की लता से युक्त हैं और मातुलिज्ञ (चकोतरा नीबू) के वृक्षों से वह वन सुशोभित हैं॥ २७॥

बन्धू केह्यमारैक्च लवलीभिरलङ्कृतम् । कणिकारैक्च कुन्दैक्च चम्पकैक्चन्दनैवृतम् ॥ २८॥

बन्ध्क (गुलदुपहरिया) हयमार (कनेर) और लवली आदि की लताओं से बह मण्डप विश्ववित है। वह वन कणिकार, कुन्द, चन्पा और चन्दन के वृक्षों से च्यास है।। २८।।

नावापक्षिगणाव्वानमुखरीकृतिदङ्मुखम् ॥ २९॥ महानन्दमहोल्लामक्रान्तकोकिलक्जितम् ॥ २९॥

नाना प्रकार के पक्षियों के समूहों की व्वित्यों से उस वन की दिशाएँ मुखरीकृत हो रही हैं। कोयल की कूक से महानन्द और महान् उल्लास से उल्लिख वातावरण वाला वह वन है।। २९॥

नृत्यत्कलापिनिकर गुङ्जन्मत्तमधुवृतस्। धावद्धरिणसञ्चारमृत्पतत्प्लवगद्गमभ्' ॥ ३०॥

मयूरों का झुण्ड वहाँ नृत्य कर रहा है। मदमत्त भौरों के झुण्ड गुञ्जार कर रहे हैं। हिरणों के समूह छोटे-छाटे वृक्षों को कूद-फाँद कर लाँबते हुए दौड़ रहे हैं।। ३०।।

हेमप्राकारसंवीतं हेमकटमिवास्थितम् । हेमकटमहोद्यानं हेमगोप्रमण्डितम् ॥ ३९॥

सोने की चहारदिवारी से युक्त और स्वर्ण पर्वंत के समान स्थित, स्वर्ण के गोपुर से मण्डित महान् हेमकूट उद्यान शोभायमान है ॥ ३१॥

हेमकुट्टिमविभ्राजद् बहिःपार्श्वद्वयोज्ज्वलम् । ततः सोपानमागेण गतब्या यमुना नदी ॥ ३२ ॥

१. 'उत्प्लवत्प्लवगद्रुमम्' इ० पा०।

स्वर्णनिर्मित फर्म से युक्त उद्यान के बाहर और भीतर दोनों ही पार्श्व उज्याल एवं कान्तिमान हैं। वहाँ से सीढ़ियों के मार्ग से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है।। ३२॥

> ततश्च तारक्टाख्यं स्मरेद्विपिनमद्भुतम्। नीलरत्नमयी भूमिर्भ्राजते यत्र निस्तुला ॥ ३३ ॥

इसके बाद साघक अद्भुत तारकूट नामक विषिन का स्मरण करे। उस वन की ऊबड़ खाबड़ भूमि नीले रतन के समान आजमान है।। ३३।।

कदम्बकलपद्गुपमपारिजातेरमन्दगन्धाहृतभृङ्गसङ्घैः । मदल्लसत्पल्लवराजिपुष्पैयंथा सदः सद्भिरिवातिशोभते ॥ ३४॥

कदम्ब, कल्पद्र म और पारिजात सादि की मन्द-मन्द सुगन्ध से भौरों के समूह आकृष्ट हो रहे हैं। वायु से कम्पित पल्लवों की शोमा से सम्पन्न पुष्पों के द्वारा वह विपिन अत्यन्त शोमायमान है जिस प्रकार सभा सज्जनों से अत्यन्त शोभित होती है ॥ ३४ ॥

जम्बीरैनिम्बुकैश्चैव कोविदारार्जुनैरिप । श्री**पर्णैः स**रसेराम्प्रैः पनसैदंकुरुरिप ।। ३५ ।।

जम्बीर, नीबू, कोविदार, अर्जुन, श्रीपर्ण, सरस, आम्र, पनस (कटहल) एवं बकुल के वृक्षों से वह विपिन शोभायमान है।। ३५।।

> नागपुत्रागमन्दारेस्तथेवामलकीद्रुमैः । अम्लानपुष्पाभरणैः समन्तात् परिशोभितम् ॥ ३६ ॥

नाग, पुत्राग, मन्दार (मदार) और आमलको के वृक्ष खिले हुए पुष्पों के आमरणों से युक्त चारो ओर वहाँ शोभायमान हैं ॥ ३६॥

तारकूटमहं वन्दे तारप्राकारवेष्टितम् । चतुर्विशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ ३७ ॥

ताड़ वृक्ष की चहारिदवारी से परिवेष्टित ऊस तारकूट वन की मै वन्दना करता है जिस स्थान की परिचारिकाएँ चौबोस हजार नियुक्त हैं ॥ ३७॥

> तासां गृहाणि दिव्यानि तारकुट्टिममुच्चकैः । परितो भान्ति देवेशि दलानीव कुशेशयम् ॥ ३८॥

उनके दिव्य भवन तार की फर्श से बने अत्यन्त विशाल हैं। हे देवेशि ! कुशेशिय (कमल) के पत्ते के समान वे भवन चारों ओर शोभायमान हैं।। ३८।।

> यमुनाभिमुखे यस्य भाति गोपुरमुन्नतम् । गोपुरस्य बहिभागे राजितं कुट्टिमद्वयम् ।। ३९ ।।

उस वन का यमुना को अभिमुख कर एक कैंचा सा गोपुर है। गोपुर के बाहर दो प्रकार की फर्श सुशोभित हैं। ३९॥

> स्तम्भैश्चतुभिरुद्भान्तं राजतेः स्वणंसूत्रितैः। ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुनानदी॥ ४०॥

स्वर्ण के सूत्र से वेष्टित चार दीप्तिमान खम्भों से वह मुशोमित है। उस गोपुर से निकल कर सीढ़ियों के मार्ग से यमुना नदी पर जाते हैं। ४०।।

> स्मरेदथो महेशानि गावडं वनमद्भृतम्। गावडै रत्ननिचयैः परिकल्पितभूमिकम्॥ ४९॥

हे महेशानि ! इसके बाद अद्भुत गास्ड वन का स्मरण करना चोहिए। वह वन गास्ड रत्न के समूहों से निर्मित भूमि वाला है ॥ ४१ ॥

तत्र हस्तान्तरे देवि चतुष्कं मणिकल्पितम्।
पूर्वपरिचमभागेन चन्द्रकान्तमणिद्धयम्।। ४२ ॥
हे देवि । वहाँ दाहिनी और एक मणिनिर्मित चतुष्कं (चार खम्भों से युक्त
भवन) है। उसके पूर्व और पश्चिम दोनों भाग की सूमि चन्द्रकान्त मणि निर्मित
है॥ ४२ ॥

दक्षिणोत्तरभागेन पद्मरागद्धयाङ्कितम्। ४३।। अन्योन्यचुम्बितमुखं शुद्धम्वर्णगृहार्षितम्॥ ४३।। उसके दक्षिण और उत्तर दोनों भाग की भूमि पद्मरागमणि से निर्मित है। एक दूसरे के आमने-सामने (मानो चुम्बन करते हुए से) भवन शुद्ध स्वर्ण से बने

एवं कोटिचतुब्काणि हस्तमात्रान्तरम्।
भान्ति सर्वत्र देवेशि गरूत्ममणिभूमिषु ॥ ४४॥
हे देवेशि ! इस प्रकार चार करोड़ हाथ के परिमाण की अवान्तर भूमि सर्वत्र
गरुत्म मणि से निर्मित शोभायमान है ॥ ४४॥

यस्याः प्रान्तचतुष्केषु स्थलपङकेरुहाण्यपि ।
यत्परागरजःपुञ्जैरुरुणीक्रियतेऽम्बरम्
जिसके चारों कीने पर स्थल कमल भी खिले हैं। जिसके पराग की राज के
पुञ्ज से मानों समस्त अम्बर लाल रंग का हो गया है।। ४५ ॥

तन्मध्यदेशगः श्रीमान् भाति माणिक्यमण्डपः। सूर्यकान्तमणिस्यम्भनीलपत्रश्रियोल्लसत् उसके मध्य भाग में, श्रीयुंत माणिक्य मण्डप शोभायमान है। सूर्यकान्त मणि जटित खम्मे नीले पत्तों की शोभा से सम्पन्न है।। ४६!!

तन्मध्ये दीर्घिका दीर्घा स्वर्णपङ्कजमालिनी।
यद्गन्धात्राणमत्तालिझङ्कारमुखरान्तरा ॥ ४७॥

उस माणिक्य मण्डप के मध्य एक विस्तृत दीधिका है जिसमें स्वर्ण-कमल खिले हुए हैं। उन कमलों को सुगन्ध से आकृष्ट हुए मदमत्त भीरे दिशाओं को अपनी झंकार से झंकृत कर रहे हैं।। ४९॥

> माणिक्यभूमिपतिता अपि मौक्तिकराजयः। न हर्षयन्ति कादम्बान् गुच्जाशङ्काप्रतारितान्।। ४८।।

माणिक्य भूमि पर गिरी हुई मुक्ता की पिह क्तियों के समूह गुरुजा के फल की आशाङ्का से हुवं को उत्पन्न नहीं कर रहे हैं।। ४८।।

माणिक्यकन्दलाक्रान्ता वैदूर्यविलस^{च्}छदाः । मण्डपं परितो दूराहिभान्ति कदलीलताः ॥ ४९ ॥

माणिक्य के कारण मानों केले के वृक्षों से आक्रान्त वह वन है। वैदूर्यमणि की शोभा से आच्छन्त मण्डप के चारो ओर दूर से केले की लता शोभायमान हो रही है।। ४९।।

कदलीकाण्डमारूढा हंसा गोफेनसन्तिभाः। तत्पत्रद्युतिसम्भिन्ना न लक्ष्यन्ते मनागपि ॥ ५० ।

केले की शाखा पर आरूढ़ हंस गोफेन के सहश उसके पत्ते की कान्ति से सिमिश्रित होकर थोड़ा भी अलग नहीं दीखते हैं।। ५०॥

वाय्वान्दोल्तिपत्रौषप्रकम्पत्कन्दलस्तनाः । कृजत्पक्षिगणक्रीडा मनोनयननन्दनाः ॥ ५१ ॥

हवा के झोंके से पत्तों के समूहों के हिलने के कारण केले के गुच्छे भी हिल रहे हैं। मन तथा नेत्रों को आनन्दित करने वाले पक्षियों के समूह उस केले के वृक्षों पर क्रीडा कर रहे हैं।। ५१।।

नृत्यमाना इवाभान्ति कदस्यो वारयोषितः । चतुर्विज्ञतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ ५२ ॥

केले के पेड़ हवा से हिलते हुए गणिका के समान मानों नृत्य करते हुए शोभायमान हैं। वहाँ की भी परिचारिकाएँ चौबीस हजार हैं।। ५२।।

मध्यवीयीनि सौधानि द्विपंवत्तचा भान्ति तद्बहिः। भ्राजन्मणिकपाटानि हसद् रत्नाजिराणि च।। ५३॥

उनके भवन दो पिङ्क्तयों में मध्य में गिलयों से युक्त हैं। उन भवनों के दरवाजे आजमान मिणयों से युक्त तथा नकीन रत्नों से जिटत हैं। ५३।।

तद्बहिर्भान्तिदेवेशि महोद्यानलताद्रुमाः। गन्धाल्क्य भ्रमद्भृङ्गा मस्दाघातवेपिताः'॥ ५४॥

हे देवेशि ! उन भवनों के बाहर महान् उद्यान है जो लताओं और वृक्षों से आकीण है। वायु के झोकों से हिलते हुए तथा वन के पुष्पों की सुगन्धि से आकृष्ट भीरे इघर-उधर भ्रमित हो रहे हैं।। ५४।।

> मयूरमृगचक्राह्वहंसकारण्डवैः पिकैः। शुकपारावतक्रोश्वसारसेहरिलैरपि ॥ ५५॥

मयूर, मृग, चक्रवाक, हंस, कारण्डव, कोयल, शुक्र, कबूतर, क्रीन्ब, सारसः भीर हारिल आदि पक्षियों से युक्त वह वन है ॥ ५५ ॥

शाखामृगैः शहीः क्रोड़ैश्चातकैश्चटकैरिप ।
पतित्रिभिरनेकैश्च कुलङ्गैरुपसेवितम् ।। ५६ ।।
पतित्रिभिरनेकैश्च कुलङ्गैरुपसेवितम् ।। ५६ ।।
बन्दर, खरगोश, क्रोड, चातक और गौरया आदि अनेक प्रकार के पशु पिक्षयों
के समूह से व्याप्त वह बन है ॥ ५६ ॥

जाडघं मम धियो भिद्यादुद्यानं गाठडाह्वयम् ।

मुक्ताप्राकारकित्पतमप्राकृतजनाश्रयम् ॥ ५७ ॥

यह गाठड नामक वन मेरे बृद्धि की जड़ता का नाश करे। उस वन को

मुक्तानिर्मित चहारिदवारी बनी है जिसमें अप्राकृत जनों का आश्रय है ॥ ५७ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य महाद्वारं विराजते ।

माणिक्यदेहलीरम्यमिन्द्रनीलकपाटकम् ॥ ५८ ॥

उस वन का महान् द्वार यमुना की ओर को सुशोभित है। माणिक्य की

देहली से रमणीय तथा इन्द्रनीलमणि से जटित उसके दरवाजे हैं॥ ५८॥

महाद्वारबहिशांगे कुट्टिमद्वयमद्भृतम् । काञ्चनं विद्रुमस्तम्भं स्वर्णमण्डपमण्डितम् ॥ ५९ ॥ उस महान् द्वार के बाहरी हिस्से में दो अद्भुत फर्शं निर्मित हैं। स्वर्णं एवं विद्रुम के खम्भों से युक्त स्वर्णं निर्मित मण्डप से विभूषित उसके द्वार है ॥ ५९ ॥

 ^{&#}x27;गन्चलुम्यद्भ्रमद्मृङ्गाः सप्त गायन्ति ते स्वराः' इ० पा०।

यत्रस्थाः परिगायन्ति नृत्यन्ति च वराङ्गना । वीणामृदङ्गवाद्यादिविद्यानैपुण्यशालिनः ।। ६० ॥

नव युवितयाँ वहाँ नृत्य कर रही है और भगवान् का यमोगान कर रही हैं। वे युवितयाँ वीणा और मृदङ्ग आदि वाद्यों की विद्या में पारङ्गत हैं।। ६०॥

> ततः सोपानसारींण गन्तव्या यमुना नदी । पूर्वसङ्ख्यैव सर्वत्र सोपानानां प्रियंवदे ॥ ६९ ॥

उस द्वार से सीढ़ियों के मार्ग से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है। है
प्रियंवदे ! उन सीढ़ियों की संख्या जैसे पहले कही गई है उतनी ही हैं।। ६१।।

एषु स्थानेषु देवेशि लीलार्थं पुरुषोत्तमः। आयाति चन्द्रिकोद्गारिविमानेन सखीवृतः॥ ६२॥

है देवेशि ! इन स्थानों में पुरुषोत्तम लीला के लिए चाँदनी को छिटकाने वाले विमान से सिखयों से आवृत्त होकर आते हैं।। ६२।।

> कदाचिद्रथमारुह्य सहस्राश्वयुजं हरिः। सखीसमाजमध्यस्थस्तल्लीलाप्रोमगर्वितः।, ६३॥

किसी समय भगवान हिए सहस्त्र अश्व वाले रथ पर चढ़कर सखी समाज के मध्य विराजमान होकर उनकी प्रेम लीला में गर्वान्वित हो शोभित हुए।। ६३।।

> रथाः सन्ति महादिव्याः सहस्राणि तु षोडश । प्रधानाः षोडशैवेषु तांस्ते वक्ष्यामि नामतः ॥ ६४ ॥

वहाँ पर एक हजार सोलह महान् दिव्य रथ हैं। उनमें सोलह प्रधान रथ हैं जिन्हें भैं नाम निर्देशपूर्वक कहता हूँ॥ ६४॥

चन्द्रको भद्रकश्चैव मनोजवमहाजवी।
जवमाली मणिस्कन्दो रोचिष्मान् भद्रसेनकः ॥ ६५ ॥
मेघनादो महानादश्चन्द्रगोरो विसर्पणः ।
नीलचक्रः कुरङ्गाह्यः स्वणंनेमिविभावसुः ॥ ६६ ॥
सर्व एते सहस्राश्वयुजः काञ्चनमालिनः ।
क्षुद्रघण्टानिनादेन परिपूरितदिङ्मुखाः ॥ ६७ ॥

उन रथों के नाम हैं - १. चन्द्रक, २. भद्रक, ३. मनोजव, ४. महाजव,

र, शालिनीः।

रे. 'सम्रुणु' इ० पा० ।

५. जवमाली, ६. मिणस्कन्द, ७. रोचिष्मान्, ८. भद्रतेनक, ९. मेघनाद, १०. महानाद, ११. चन्द्रगीर, १२. विसर्पण, १३. नीलचक्र, १४. कुरङ्ग, १५. स्वणं-नेमि और १६. विभावसु। ये सोलहो रथ हनार हनार घोड़ों से युक्त काञ्चन निर्मित है। इन रथों में छोटे-छोटे उण्टे लगे हैं जिनकी हन-झुन घ्वनि से दिशाओं के प्रान्त भाग मुखरित हो रहे हैं॥ ६५-६७॥

केचिन्नीलवरूथेषु व्युप्तमीक्तिकराज्यः। विभान्ति विलसत्तारागणा इव बलाहकाः ॥ ६८ ॥

किन्हीं रथों पर नोले रंग की गदी और मौक्तिक की शोभा से सम्पन्न वासन्दी है। वह मुक्तामणि इस प्रकार जड़ो गया है जैसे तारमण को शोभा से शोभायमान सारसों की पंक्ति आकाश में उड़ रही हों।। ६८।।

> के।चन्तीलवरूथेषु स्वर्णरेखाविचित्रिताः। तडिदुन्मेषरुचिरा हेपयन्ति घनश्चियम्॥६९॥

किन्हीं रथों पर नीलो गद्दो पर स्वर्ण के तार से विचित्र चित्रकारी बनी है जो ऐसी लगती है मानो बादलों में बिजलो चमक रहा हो ॥ ६९॥

> केचिद्रक्तवरूथेषु वज्रमण्डपमण्डिताः। विलज्जयन्ति सन्ध्याभ्रशतभानूदयं नभः॥ ७०॥

किन्हीं रथों की लाल गद्दियों पर वज्र विभूषित मण्डप हैं। ये मण्डप सन्ध्या-कालीन लाल बादलों में एक सौ सूर्य के उदय से युक्त नम की शोभा को भी लिजित कर रहे हैं।। ७०।।

अन्येपि स्यन्दनवरा मेघगम्भीरिनःस्वनाः। मौक्तिकारूपे वने दिवपे राजन्ते राजिमण्डलैः॥ ७९॥

दूसरे मी अन्य श्रेष्ठ रथ हैं जो मेघ की गम्भोर व्वित से निनादित हैं। इंस प्रकार मौक्तिक नामक वन में दिव्य शोभा का समूह विराज रहा है।। ७१।।

महासीधाङ्गणभ्राजनमण्डपस्याप'सब्यतः।
रथाः षोडश तिष्ठन्ति हयशालासु ते ह्याः ॥ ७२ ॥
रथाः षोडश तिष्ठन्ति हयशालासु ते ह्याः ॥ ७२ ॥
मण्डप के दाएँ और वाएँ ओर को महान् प्रासाद के औगन शोभित हैं। वहाँ
सोलह रथ और उनके घोड़े अश्वशाला में रहते हैं॥ ७२ ॥

विमानान्यपि दिव्यानि व्यायतानि निजेच्छ्या। विचित्रशयनस्थानसभावाटीवृतानि च॥ ७३॥

रै. मण्डपस्यास्य सन्यतः इ० पा०।

दिव्य विमान भी अपनी इच्छा से विस्तृत बनाए गए हैं। उनमें विचित्र ' शयनगृह हैं जो सभागृह से युक्त हैं।। ७३।।

> मुक्तावितानशोभानि मणिस्तम्भोज्जवलानि च । कोटिचन्द्रप्रभास्पद्धिरत्नचित्राङ्गणानि च ॥ ७४ ॥

उस विमान की छत मुक्ता से जटित है। उस विमान के खम्भे मणि निर्मित उज्ज्वल वर्ण के हैं करोड़ों चन्द्रों की शोभा की स्पर्धा वाले रत्न से विचित्र उस विमान के आंगन हैं।। ७४।।

> रत्नस्तम्भावलिश्चाजत्युत्रिकाहस्तकिष्यतैः । मणिभिर्भान्ति वेश्मानि प्रदीपावलिभिर्यथा ॥ ७५ ॥

रस्तनिर्मित खम्भों पर हस्तिशस्य द्वारा पुत्तिकाएँ बनाई गई हैं। उनकें मणिनिर्मित आवास ऐसे हैं जैसे प्रदीप की पिङ्क्ति विराजमान हो ॥ ७५ ॥

> अब्टादशसहस्राणि विमानप्रवराणि हि। तेब्वप्यब्टादशैवेह वरीयांसि द्युमन्ति च।। ७६॥

वहाँ पर उनके बट्ठारह हजार श्रेष्ठ विमान हैं। उन विमानों में भी अठारह विमान प्रधान और द्युतिमान हैं॥ ७६॥

> खन्मादनं सुधास्यन्दि चन्द्रकं शतचन्द्रकम् । तुङ्गभद्रं मनोयानं महानीलमुदश्वनम् ॥ ७७ ॥ वज्यक्टं कलासारं चारचन्द्रं प्रभारणम् । हेमकक्षं प्रभापूरं पुष्पगन्धमनाविलम् ॥ ७४ ॥ चित्रध्वजं वज्यकृटमेवमष्टादश स्मृताः । स्थाप्यन्ते शिविकाख्या या विमानश्रेष्ठभूमिषु ॥ ७९ ॥

उन १८ विमान के नाम इस प्रकार कहे गए हैं—१. उन्मादन, २. सुधास्यन्दि, ३. चन्द्रक, ४. शतचन्द्रक. ५. तुङ्गभव, ६. मनोयान, ७. महानील, ८. उदञ्चन ९. वज्रक्ट, १०. कलासार, ११. चारुचन्द्र, १२. प्रभादण, १३. हेमकक्ष १४. प्रभापूर, १५. पुष्पगन्ध, १६. अनाविल, १७. चित्रव्वज, १८. चित्रक्ट । को विमान की श्रेष्ठ मूमि है उसमें शिविका स्थापित है। ७७-७९।।

चिदानन्दानन्दभम्योरेवमाप्लाव्य निम्नगा। प्रकाशानन्दसन्धिस्थसरस्यां विशते हि सा ॥ ८० ॥

१. 'चित्रक्ट' इ० पा०।

वह विमान चिदानन्द एवं आनन्द भूमि को अप्लावित करके नीचे की ओर प्रकाशानन्द की सन्चि पर विद्यमान सरावर में प्रवेश करता है ॥ ५०॥

> सरसः पुनरुद्भूय प्रका<mark>शाभिमुखं गता।</mark> शतयोजनमानेन ततः पश्चिमवाहिनी ।। ४१।।

उस सरावर से पुनः उठकर वह प्रकाशानन्द सूमि को ओर अभिमुख होकरः जाता है। उसके बाद वह सौ योजन तक पश्चिम को और जाता है।। ८१।।

ज्ञानभूमिमथाप्लाव्य प्रयाता भृक्तिभूमिकाम्। प्रोमभूमि ततः प्लाब्य प्रविष्टा पश्चिमार्णवम् ॥ ८२ ॥

तब ज्ञान मूमि को आप्लावित कर वह भुक्ति भूमि की आर जाता है। इसके बाद प्रमभूमि को आप्लावित कर पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट हो जाता है।। ८२।।

आनन्दभुक्त्योरन्तराले महामाणिक्यपर्वतः। बालाककोटिरुचिर उच्छाये शतयोजनः॥ ८३॥

आनन्दभूमि और भुक्ति भूमि के अन्तराल में महामाणिक्य पर्वत है। उस पर्वत की सौ योजन की चोटी करोड़ों बाल सूर्य के उदय से मनोहर प्रतीत हो रही है।। ८३॥

यन्नितम्बभवा नद्यद्यतस्रो धमुनां गृताः। प्रविशन्ति सुधासिन्धुं सुषुम्णा सिरसा सिता ॥ ४४ ॥

इस माणिक्य पर्वत की चोटी से चार निदया निकलती हैं जो यमुना में जाती हैं। फिर वे सुघासमुद्ध में वैसे ही प्रवेश कर रही है जैसे सुधुम्णा नाडीं और श्वेत सिरसा प्रविष्ट होती है [?] ।। ८४ ॥

निम्लोचा नामतः ख्याताः सर्वाः पीयूषवाहिनीः। कदाचित् क्रीडते तत्र निझेरध्वनिनादिते ॥८५॥

ये सभी नदियाँ अमृत को बहाने वाली निम्लोचा नाम से (शरीर में) किसी समय वहाँ घ्वनि से कल कल निनाद करने वाले झरने पर के प्रसिद्ध हैं। खेलते है ॥ ६५ ॥

सखीसहस्रसङ्कीर्णविमानवरमाश्रितः भगवान्युरुषोत्तमः ॥ ८६ ॥

भगवान पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उन पर्वत की रम्य बोहियों पर सहस्रों सिवयों से व्याप्त श्रेष्ठ विमान पर अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं।। हद ॥

एवं चानेकलीलाभी रसरूपाभिरन्वहम् । क्रीडते हि रसः साक्षात् कृष्णः परमपूरुषः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार रस रूप होकर अनेक लीलाओं के द्वारा प्रतिदिन साक्षात् परम पुरुष श्रीकृष्ण रस रूप से क्रीडा करते हैं।। ८७।।

> एतत्ते सर्वमाख्यातमनापृष्टमपि प्रिये। स्मृत्यवस्थोदये कृष्णस्त्रीणामेतद्धितं यतः॥ ८८॥

।। इति श्रीमाहेरवरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे चतुक्वत्वारिशं पटलम् ॥ ४४॥

हे प्रिये! यह सब कुछ आपके न पूँछने पर भी हमने आपसे बताया है अयों कि स्मृति अवस्था के उदय होने पर श्रीकृष्ण स्त्री रूप से विद्यमान होकर कीटा करते हैं।। दद।।

श इस प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मौ जगदम्बा पार्वती और भगवान शाङ्कर के संवाद के चौवाली सर्वे पटल की डॉ॰ सुचाकर मालवीय कृत 'स्वरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४४॥

अथ पग्चचत्वारिशं पटलम्

शिव उवाच--

स्मरेदथो महादेवि ब्रह्मनालिश्रयं शुभाम्। 'ब्रह्मनालानन्दवनाद्दण्डाकारतया स्थितः ॥ १ ॥

शिवने कहा—

हे महादेवि ! इसके बाद साधक को ब्रह्मनाल की शुभ कान्ति का स्मरण करना चाहिए । ब्रह्मनाल वन आनन्द वन को अपेक्षा दण्डाकार रूप में स्थित है ॥ १ ॥

एव महेशानि निजालयनिवेशने। प्राकारदशकावधि ॥ २ ॥ गोपुरद्वारमारम्य

हे महेशानि ! अपने घर में प्रवेश के लिए मार्ग में हो गोपुर द्वार से आरम्भः करके दश चहारदिवारो की अवधि है।। २।।

विश्वतिर्योजनानां च ब्रह्मनाल उदाहृतः। पाइवैयोषभयोस्तस्य विष्टयुत्तरशतं विये। सौधानि सन्ति देवेशि बहिः कुट्टिमवन्ति च ॥ ३ ॥

ब्रह्मनाल का परिमाण बीस योजन का कहा गया है। है प्रिये उसके दोनों क्षोर एक सौ साठ भवन हैं। हे देवेशि ! उस भवन के बाहर की भूमि पक्की बनी हुई है।। ३।।

तत्तदुद्यानमण्डलम्। तत्तत्त्राकारसंवीत ब्रह्मनालतः ॥ ४ ॥ ग्रम्यते तत्द्द्वारप्रवेशेन

एक-एक भवन की चहारदिवारी बनी है और उनका अपना उद्यान का घेरा भी है। उन उन प्रवेश द्वारों से ब्रह्मनाल तक जाया जाता है।। ४॥

प्रतिप्राकारामीशानि प्रवेशे ब्रह्मनालतः।

सन्यापसन्ययोद्घारद्वयमुद्यत्प्रभारुणम् है ईशानि ! ब्रह्मनाल तक प्रवेश द्वार में प्रतिमाओं के आकार बने हैं। बाएँ और दाएँ दोनों द्वार उदयकालीन सूर्य को प्रभा के समान छाल रंग के हैं।। ५।।

१. ब्रह्मनालोनन्दवनात्' इ० पा० ।

स्वर्णप्राकारसंवीता महाचम्पकवाटिकाः। अनेकपक्षीनिनदा बहुलामोदमेदुराः॥६॥

यहाँ स्वर्ण निर्मित चहारिदवारी से युक्त एक महाचम्पक वन की बाटिका है। यह वाटिका अनेक प्रकार के पक्षियों के कलरव से युक्त है। इस वाटिका में अनेक प्रकार की सुगन्ध फैली हुई है।। ६।।

तप्तकाञ्चनवर्णामा भान्ति चम्पककोरकाः। दीपा इव निवातस्या भृङ्कीदूरतरोज्झिताः॥ ७॥

चम्पा के पुष्प की कलियाँ तपाएँ हुए सोने की कान्ति के समान दीप्तिमान हैं। वायु से न हिलने वाली लों के समान उन कलियों को भौरे चमक के कारण उसका दूर से ही परित्याग कर रहे हैं।। ७।।

पूर्णशारदराकेशानुकारिकुसुमोज्ज्वलाः ।
राजन्ते यत्र बहुशो दिव्यादचम्पकवीरुधः ॥ ८ ॥
पुत्पों की उज्ज्वल कान्ति मानों शरद के पूर्ण चन्द्र का अनुकरण कर रही है ।
चहाँ दिव्य चम्पा के इस प्रकार बहुत से वृक्ष सुशोभित हैं ॥ ८ ॥

चम्पकोद्यानकुञ्जेषु दिव्यहर्म्यकृतास्पदाः । चतुर्दशसहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ।। ९ ।।

चम्पा के उद्यान के कुञ्जों में दिव्य भवन युक्त वन हैं। वहाँ चौदह हजार पिरचारिकाएँ कायं रत हैं।। ९।।

कदाचित् क्रीडते तत्र श्रीकृष्णः स्वसखीवृतः । मध्ये तारागणस्येव पूर्णशारदचन्द्रमाः ॥ १० ॥

अपनी सिक्षयों से आवृत्त होकर कभी श्रीकृष्ण यहाँ क्रीडा करते हैं। उस समय उनकी शोभा उसी प्रकार होती है जैसे तारों के मध्य शरदकालीन पूर्णचन्द्र हों। १०॥

> तदन्तः संस्मरेद्देवि वनं कल्पद्रुमाकुलम् । महावैदूर्यशालेन समन्तात् परिवेष्टितम् ॥ ११॥

हे देवि ! उसके भोतर कल्पद्रुम से व्याप्त वन का स्मरण करना चाहिए।

महा वैदूर्य के शाल से वह वन चारों ओर से घिरा हुआ है।। ११।।

कल्पद्रकुसुमामोदमोदमाना शिलीमुखाः । नान्यगन्धमपेक्षन्ते पूर्णकामा यथेतरत् ॥ १२ ॥ भौरे उन कल्पद्रुप के पुष्पों की सुगन्ध में इतने मदमत्त है कि वे पूर्णकाम होकर अन्य सुगन्धि की अपेक्षा ही नहीं रखते ॥ १२ ॥ करपद्रकुसुमास्वादुरसव्यासक्तबुद्धयः । स्वा वाच मुद्रयन्तीह ज्ञाततत्वा इवालयः ॥ १३ ॥

कल्पद्रुम के पुष्पों के स्वादिष्ट रस में आसक बुद्धि वाले वे भौरे अपनी वाणी इस प्रकार निकाल रहे हैं जैसे वे तत्त्व के ज्ञाता हैं।। १३।।

> महामरकतक्छप्तस्थलीपतितमीक्तिका । यथा तामसभक्तस्य बुद्धिः प्रोमाङ्कुरोज्ज्वला ॥ १४ ॥

महामरकत मणि से बनी हुई भूमि पर मौक्तिकों के गिरने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे तामस प्रकृति भक्त की बुद्धि में उज्ज्वल प्रोम का अङ्कुर उग आया हो ॥ १४ ॥

मद्युश्रीमाधवश्रीकः स्त्रीस्कन्धार्<mark>षितसद्भुजः।</mark>
युष्पकल्पितवासःश्रीर्भूषाश्रुङ्गारमण्डितः ॥ १५॥

इस प्रकार भ्रमरों की शोभा और माघव की शोभा स्त्री के कन्ने पर अपनी सुन्दर भुजलता को डाले हुए सी प्रतीत होती है। मानों पुष्पों के वस्त्र पहने श्री भूषा एवं श्रृङ्गार से मण्डित मालूम पड़ती है।। १५॥

वसन्तः सन्ततं यत्र चरतेऽसौ रसात्मकः। कल्पद्रममहाकुञ्जवीथिषु प्रोमविह्वला।। १६।।

जहाँ पर रसात्मक वसन्त सदैव रहता है। यह वसन्त कल्पद्रुम की महाकुञ्ज वीथियों में प्रोम विह्वल होकर विचरण करता है॥ १६॥

कामकोदण्डकुटिलभ्रूलताचारुविभ्रमः । कुङ्कुमारक्तवसनः साचीक्षणिवचक्षणः॥ १७॥

अर्ड अर्ज कामदेव के धनुष रूप उस वसन्त की कुटिल अ्ला, सुन्दर एवं विश्वम युक्त है। कुङ्कुम से लाल बसनों को धारण करने वाला वसन्त का ईसप विचित्र है। १७॥

दिव्यपुष्परजः पुञ्जञ्चसरः सस्मिताननः।
कल्पकोद्यानकुञ्जेषु दिव्यहम्यंकृतालयाः॥ १८॥
कुष्पों की रज दिव्य है, उस रज के समूह से घूसारत किन्तु मुस्कुराते हुए नयनों
वाला वसन्त है। कल्पद्रुम के उद्यान के कुञ्जों में दिव्य प्रकार के प्रासाद बने

त्रयोदश सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः। कदाचिदत्र भगवान्कृष्णः कमललोचनः॥ १९॥ वहाँ तेरह हजार परिचारिकाएँ हैं। किसी समय कमल लोचन भगवान श्रीकृष्ण यहाँ क्रीडा करते हैं।। १९॥

> वसन्तलीलारसिको रसात्मोपवने चरन्। इन्दिरासुन्दरीमुख्यप्रियाविभ्रममोहितः ।। २०।।

श्रीकृष्ण वसन्त लीला के रसिक हैं और रसात्मक उपवन में विचरण करने वाले हैं। इन्दिरा और सुन्दरी उनकी मुख्य प्रिया हैं। जिनके विश्रम विलास पर के मोहित हैं।। २०॥

प्रियाकटाक्षचषकेरापीत इव सर्वतः। आवृष्ट इव पृष्पोद्यः सखीमुक्तैः समन्ततः।।२९।। सर्वतः वह मानो प्रिया के कटाक्षरूप प्यालों से रस का पान कर रहे हैं। पृष्पों के समूहों पर जैस भौरे रहते हैं वसे ही सखियों से घिरे हुए श्रीकृष्ण है।।२१।।

अभिवर्षेत् स्वयमपि सखीः कुसुमवृष्टिभिः। मुखामोदसुसक्तालिझङ्कारोद्धिग्ननेत्रया ॥ २२ ॥

स्वयं भी साखियाँ कुसुमों की वर्षा करते हुए अपने मुख की सुगन्धि से आसवत भौरों की झंकार से वे मानों उद्धिग्न नेत्रों वाली हो रही हैं।। २२।।

> गाढमालिङ्गितः कण्ठे स्वामिन्या पद्महस्तया । प्रियाभिः प्रमयुक्ताभिर्जलयन्त्रविनिर्गतेः । कुङ्कुमाम्भोभिरासिक्तो जातः पीताम्बरो यथा ॥ २३ ॥

स्वामिनि के करकमलों द्वारा कण्ठ में श्रीकृष्ण गाढालिङ्गित हैं। जल-यन्त्र से निकलने वाली प्रोम युक्त प्रियाओं के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है मानों कुङ्कुम के जल से सींचा हुआ पिताम्बर हो।। २३।।

> गजीभिरिव मातङ्गो रमते रतिलम्पटः। अनेकरसयुक्तासु क्रीडासु कृतकौतुकः॥२४॥

मानो रित लम्पट मत्त गज अ^र नी प्रिया हिथिनियों के साथ रमण कर रहे हैं । अनेक रसों से युक्त क्रीडाओं में वे अनेक कौतुक करने वाले है ॥ २४॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां मन्दारद्रुमवाटिकाम् । दिव्यप्रवालरत्नोद्यत्प्राकारपरिवेष्टिताम् ।। २५ ॥

उसं वसन्त के अन्दर दिव्य मन्दार वृक्ष की वाठिका का स्मरण करना चाहिए। वह वाठिका दिव्य प्रवाल एवं जाज्वल्यमान रत्नों की चहारदिवारी से परिवेष्टित है। २५॥ महानीलमणिश्राजद्भूमिकाभासमाश्रिताम्'। नृत्यन्ति यत्र शिखिनो नित्यमम्भोदशङ्कया ॥ २६ ॥

महानीलमणि से आजमान भूमिका के आभास में आश्रित होकर जहाँ मयूर नित्य बादलों की आशब्द्धा से नृत्य कर रहे हैं।। २६॥

मन्दारमकरन्देषु विलीनमतयोऽलयः। विस्मरन्त्यन्यपुष्पाणि यथा ब्रह्मरसप्लुताः।। २७ ॥ मन्दार पुष्प के मकरन्दों पर विलीन हुए भौरे जैसे ब्रह्म रस से आप्लावित जीव अपने को भूल जाता है वैसे ही वे अन्य पुष्पों को भूल जाते हैं।। २७ ॥

यत्रास्ते सततं राका पूर्णचन्द्रसमन्विता। कुहूः कोकिलचञ्चुस्था केवलं यत्र लक्यते ॥ २८ ॥

जहाँ पर पूर्णचन्द्र से युक्त सदैव पूर्णिमा विद्यमान रहती है और अमावस तो मात्र केवल कोयल को कूक से ही प्राप्त होती है ॥ २८॥

मन्दारमन्दसौरभ्यल्ब्झा रोलम्बराजयः।
न क्वापि गन्तुमिच्छन्ति दानलुब्झा इवाधिनः।। २९।।
न क्वापि गन्तुमिच्छन्ति दानलुब्झा इवाधिनः।। २९।।
मन्दार पुष्प की मन्द सुरिभ से लुभाए हुए अपरों की श्रीणमां उसी प्रकार
अन्य स्थान पर नहीं जाना चाहती जैसे दान लेने के लोभी याचक कहीं और
नहीं जाना चाहते।। २९।।

शुक्तिश्रीति शुचिश्रीति यस्य वामे मदालसे।

मन्दारोद्यानसञ्चारी ग्रीब्मर्त् मंदिविह्नलः ।। ३०।।

मन्दारोद्यानसञ्चारी ग्रीब्मर्त् मंदिविह्नलः ।। ३०।।

जिसके मद से आलस्य युक्त वाम भाग में शुक्तिश्री और शुचिश्री विद्यमान हैं

उस मम्दार पुष्प के उद्यान में वे सञ्चरण करती है। वहाँ मद विह्नल ग्रीब्म ऋतु

होता है।। ३०॥

मन्दारोद्यान कुञ्जेष दिग्यहम्यंकृतास्पदीः।
दादशैत्र सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः॥ ३९॥
सन्दार पुष्प के उद्यानों में दिग्य प्रासादों का समूह है। बहाँ बारह हजार
परिचारिकाएँ रहती हैं॥ ३१॥

मन्दारकुञ्जकीडार्थं कदाचित्प्रमदागणै। । मूलभूमेः समुत्थाय पश्चिमद्वारमागतः ॥ ३२ ॥

 ^{&#}x27;भासिनोक्ताम्' इ० पा०।

२ 'ग्रीष्मतु'स्तिग्मलोचनः' इ० पा० ।

प्रविशत्यरविन्दाक्षः क्रीडते रतिलालसः। महाकामकलाभिज्ञः कामात्मा पुरुषोत्तमः॥३३॥

मन्दार कुञ्ज में प्रमदाओं के समूह के साथ क्रीडा के लिए किसी समय मूलभूमि से उठकर पश्चिमदार के मार्ग से रित की लालसा वाले अरिवन्दाक्ष, महान् कामकला के जाता, कामाल्मा, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं। ३२-३३।।

> ततस्तदन्तरुद्यानं पारिजातमयं स्मरेत्। महामाणिक्यशालेन समन्तात्परिवेष्टितम्॥ ३४॥

उसके बाद उसके अन्दर परिजातमय उद्यान का स्मरण करना चाहिए। वह परिजातमय उद्यान महामाणिक्यरूप शाल वृक्ष से चारो और से विरा हुआ है ॥ ३४॥

> चन्द्रकान्तशिलावॡप्तस्थलीकमितसुन्दरम् । यत्रेन्दुरक्षमयः स्पर्कात्सुद्याकणमवापिताः ॥ ३५ ॥

चन्द्रकान्तमणि की शिला से बनी मूमि अतिसुन्दर है। जहाँ पर चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से अमृत के कण उद्भूत हो जाते हैं। ३५॥

कुट्टिमा यत्र भूषांसो विस्फुरद्रत्नमण्डणः। कुञ्जगुञ्जन्मधुकरत्नातझङ्कारनादिताः ।। ३६ ॥

वहाँ की बहुत सी भूमि चमकीले रत्नों के मण्डप से युक्त है। वहाँ के कुञ्ज गुञ्जारयुक्त अमरों के समूह की झंकार से निनादित है।। ३६ ॥

> सरस्यो' विलसत्स्वर्णसहस्रदलपङ्कजीः। खेलन्मरालमिथुनैर्गन्धवासितपादपै। ॥ ३७॥

वहाँ के सरोवर स्वर्ण के सहस्र दल वाले कमलों से सुशोभित हैं। क्रीडा करते हए हंस के जोड़े से युक्त वह सरोवर सुगन्धि युक्त वृक्षों से समन्वित है।। ३७॥

> निष्चलालिसमाकान्तपत्रजालैः समन्ततः । विलोकयन्ति वात्यन्तं नेत्रैसन्मेषवर्षिजतैः ॥ ३८ ॥

निश्चल भ्रमरों से समाक्रान्त एवं पत्र के जालों से युक्त कमलों को चारो छोर अपलक नेत्रों से सखियां अत्यन्त रूप से देख रही है।। ३८।।

> पारिजातवतीकुञ्जदिव्यसीधकृतालयाः । एकादशसहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ॥ ३९ ॥

१. 'सरसीषु लसत्' इ० पा०।

पारिजात वन के कुञ्ज दिव्य हैं और वहाँ गृह एवं उज्ज्वल प्रासाद बने हैं। जिनमें ग्यारह हजार परिचारिकाएँ रहती हैं॥ ३९॥

> पारिजातवनक्रीडारसलुब्धेन चेतसा । कदाचिदत्र भगवान् समायाति सखीगणैः ॥ ४० ॥

पारिजात वन में क्रीडा का रस प्राप्त करने के मन से किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण सखीसमुदाय के साथ आते हैं।। ४०॥

> कृष्णं सरोवराभ्यासमणिकुटिटमसंस्थितम् । भूषाम्बरादिभिः सस्यः कौसुम्भैभू वयन्ति हि ॥ ४१ ॥

पारिजात वन में सरोवर के निकट मणिनिर्मित फर्श पर ऋष्ण को सखियाँ वस्त्र एवं आभूषण तथा पुष्प निर्मित आभूषणों से सजाती हैं।। ४१।।

> हारकुण्डलकेयूरवलयोत्तुङ्गमौलिभिः । उद्योषकञ्चककटिबन्धरम्योत्तरीयकैः ॥ ४२॥

उन्हें ने गले में हार, कानों में कुण्डल, बाजू में केयूर और हाथ में कड़े एवं ऊँने मुकुटों द्वारा सजाती हैं। सिर में पगड़ी, कझ्चुक, कटिबन्ध और मनोहर उत्तरीय आदि भी पहनाती हैं।। ४२।।

पौष्पैः कृतश्री। भगवान् सखीवृन्दान्तरे चरन् । दिव्यपृष्पमयं वेत्रमादधानः कराम्बुजे ॥ ४३ ॥ पुष्प से सजे भगवान् कृष्ण सक्षी समुदाय के मध्य विचरण करते हुए अपने कर कमलों में दिव्य पुष्प निर्मित छड़ी घारण किए हुए हैं ॥ ४३ ॥

वमद्भिरिव सत्त्रेम विकुञ्चद्भृकुटीतर्छैः। अभिवर्षन्तिव सखीवृन्दं लोचनपङ्कर्जैः।। ४४।। अपनी टेढ़ी मौहों के प्रान्तभाग से मानीं सत् प्रेम का वमन करते हुए सखियों का समूह अपने श्रीकृष्ण पर मानों लोचन पङ्कर्जों की वर्षा कर रही हैं॥ ४४॥

स्वकराळूनकुसुमाभृषाभिभूषयन्' सखीः।
हिसतो हासयन्सर्वा लोलागितिविचक्षणः॥ ४५॥
सिखयौ अपने करकमलों में पुष्पों के आमूषण से विभूषित होकर लीला पूर्वक

 ^{&#}x27;कोसुमैः' इ० पा० ।

रे. 'अभिवष न्तीब सखीवृत्दलोचनषटपदा' इ० पा॰।

३. 'कुसुमाक्रीडाभिः' इ० पा०।

ं गर्मन से विचक्षण प्रतीत होने वाली वे सभी एक दूसरे को हँसाती और हँसती हैं ॥ ४५ ॥

गीयमानयशा गायन् रमते कुञ्जभूमिषु।
समरेदतस्तदन्तःस्थां हरिचन्दनवाटिकाम्।। ४६।।

वे कुञ्जभूमियों पर भगवान् श्रीकृष्ण के यश का गान करते हुए रमण कर रही है। अतः उनके अन्तःकरण में पारिजात की वाटिका का स्मरण करना चाहिए॥ ४६॥

> गोमेदकमहारत्नरचितस्वीयगोपुराम् शुद्धस्फटिकविभ्राजद्भूमिकाकिरणोज्ज्वलाम् ॥ ४७ ॥

बह पारिजात पुष्प की बाटिका गोमेद एव महारत्न से जटित एक गोपुर से युक्त है। वहाँ शुद्ध स्फटिक मणि से जाज्वल्यमान भूमि में से उज्ज्वल किरणें निकल रही है। ४७॥

महल्लसत्पल्लवराजिराजितद्रुमावलीनां प्रतिबिम्बभूमिषु । विहङ्गमाः पक्वफलाशया मुहुश्रञ्चूपुटाघातविधि वितेनिरे ।। ४८ ॥

इस वाटिका की भूमि में हवा से हिलते हुए पल्लवों की पिङ्क्तियों की शोभा से सम्पन्न वृक्षों की कतारे प्रतिबिम्बत हो रही हैं। उन वृक्षों के प्रतिबिम्ब को देखकर पके हुए फल समझकर पक्षी गण बारम्बार अपनी चोंचो से आघात कर रहे हैं। ४८॥

क्वचिद्विहङ्गाः स्फिटिकावनीतले निरीक्षमाणः प्रतिबिम्बिक्षमम् । स्वजातिपक्षित्रजशिङ्कताशयाः कूजिन्त स्वं स्वं स्वरमुच्चकौर्मुं हुः । ४९॥ स्फिटिक मणि की मूमि पर कहीं कहीं पिक्ष गण अपने ही प्रतिबिम्ब को देखते हुए भ्रामत हो रहे हैं। वे पिक्षगण प्रतिविम्ब में अपनी ही जाति के पिक्षगण के समूह की आशङ्का से बारम्बार अपने-अपने उच्च स्वर से कूजन कर रहे हैं॥ ४९॥

हरिचन्दनस्फुरदमन्दसुन्दरस्फिटिकावनीतला वनविहारिणः।
पवनोल्लसिंद्वटपिविष्टराः खगा विवदन्ति पण्डितगणा इवोद्भ्दाः।।५०।
उस पारिजात की बाटिका में स्फिटिक की भूमि पर पारिजात के वृक्ष प्रतिबिम्बित होकर अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रहे हैं। उस भूमि पर वन में विहार
करने वाले पक्षिगण, जिनका निवास पथन से हिलाती हुई शाखाओं पर है,
उसी प्रकार कौंब-काँव कर रहे जैसे उद्भट विद्वान एक दूसरे से विवाद कर
रहे हों।।५०।।

मणिकृद्विमास्फ्रद्यनन्दरश्मयः परितो विभान्ति कृतरत्नमण्डपाः । शुककोकिलभ्रमरहंससारसैः समुपास्यमानरमणीयमध्यमाः ॥ ५१॥

मिलिमित फर्श पर चमकती हुई रिष्मिमी ऐसी निकल रही हैं मानों चारो ओर एक मण्डप का निर्माण कर रही हों। उस मण्डप का मध्यभाग मानों शुक, कोयल, अमर, हंस और सारसों से उपासित एवं रमणीय है।। ५१।।

मुखराट्टहासपरिपृरिताम्बरः सृनभोनभस्थरमणीविराजितः। ऋतुराज एव किल प्रावृडित्ययं मदघूणमाननयनो विराजते ॥ ५२॥

मुखर अट्टहास से अम्बर को पूर्ण करने वाली अप्सराओं से वहाँ का नम शोभायमान है। मद से मस्त नयन वाला ऋतुराज-वसन्त ही मानो इस वर्षा के रूप में शोभित है।। ५२।।

मृदुमन्दगर्जिजतपयोदमण्डलीघटनान्धकारपरिलब्धवर्चसः । परितो भ्रमन्ति वनकुञ्जमण्डलेष्वतिनीलरत्निभकीटकोटयः ।। ५३ ॥ मृदु एवं मन्द-मन्द गर्जना करने वाले मेघों के मण्डल की घटा छा जाने से सन्धकार हो गया है। वन के कुञ्ज मण्डल में अत्यन्त नीले रंग के समान करोड़ों

हरिचन्दनद्रमितिकुञ्जमण्डलेष्वितिदिव्यरत्नपरिचारिकागृहाः ।
परितो विभान्त्ययुतसंख्यया शिवे ज्वलदिग्निबीजरिचताङ्कणिश्रयः॥५४॥
पारिजात वाष्टिका के निकुञ्जों के मण्डलों में अत्यन्त दिव्य रत्नों से बने परिपारिकाओं के गृह हैं । हे कल्याणकारिणि ! जाञ्वल्यमान अग्नि बीज की शोभा
को घारण करने वाले आँगन में वहाँ अयुत (१० हजार) पारिचारिकाएँ चारो
ओर शोभायमान है ॥ ५४॥

कोड़े चारो ओर भ्रमण कर रहे हैं ॥ ५३॥

अत्रापि कीडते कृष्णः स्वामिन्यादिसखीवृतः।
नानाक्रीडाविनोदेश्च परिहासरसादिभिः॥ ५५॥
यहाँ भो कृष्ण स्वामिनी आदि सखियों से विरे हुए क्रीड़ा करते हैं। वे नाना
यहाँ भो कृष्ण स्वामिनी आदि सखियों से विरे हुए क्रीड़ा करते हैं। वे नाना
प्रकार की क्रीड़ा एवं विनोद से परिहास करते हुए आनन्द रस से परिपूर्ण
हैं॥ ५५॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं सुमनोहरम् । वंड्यंलतिकाखण्डमण्डितं नन्दनं दृशाम् ॥ ५६ ॥ उसके भीतर दिव्य एवं सुमनोहर उद्यान का स्मरण करना चाहिए । वह उद्यान वैडूर्यमणि की लता के खण्डों से सजा हुआ नारियों को आनन्द देने वाला है ॥ ५६ ॥

> यत्र वैड्यंवृक्षेषु प्रवालप्रतिबिम्बजा। काप्यभिच्या दृगम्भोजमोदहेतुः प्रवर्तते ॥ ५७ ॥

जहाँ वैड्यमिण के वृक्षों में प्रवाल (मूँगे) का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह छिव किन्हीं युवितयों के नयन कमलों को खिला रही है।। ५७॥

सूर्यकान्तमणिकलप्तदिव्यप्राकारमण्डितम् । सन्धिवज्जितमाणिक्यशिलाकित्पतभूमिकम् । ५७॥

सूर्यंकान्त मणि से निर्मित दिव्य चहारदिवारी से घरे हुए दिव्य उद्यान का स्मरण करे। बिना जोड़े हुए माणिक्य की शिला से यहाँ की सूमि निर्मित है।।५८॥

सूर्यंकान्तमणिच्छायाविद्धमाणिक्यभूमिकम् । जातारणोदयमिव भ्रममुत्पादयत्यहो । । ५९ ।।

उस माणिक्य का मूमि में सूर्यंकान्त मणि की छाया पड़ने से ऐसा श्रम उल्पन्न कर रहा है कि मानो अरुणोदय हो रहा हो ॥ ५९ ॥

> वैड्यंद्रमकुञ्जेषु दिव्यसीधकृतालयाः। सहस्राणि नव प्रोक्ताः तत्स्थानपरिचारिकाः॥ ६०॥

वैड्यं के वृक्षों के कुञ्जों में दिन्य भवनों की श्रेणी बनी हुई है। उस स्थान की परिचारिकाएँ नी हजार हैं।। ६०।।

> तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां महामौक्तिकवाटिकाम् । विस्फुरत्पुष्परागीयप्राकारपरिवेष्टिताम् ।। ६९ ॥

उस दिव्य उद्यान के भीतर महामौक्तिक की वाटिका का स्मरण करना चाहिए। यह पुष्पों की रश्मियों से दीष्ठिमान चहारदीवारी से घिरा हुआ है।। ६१।।

> माणिक्यपुष्पविद्योतन्महामुक्तालतावृताम् । लतासु विस्फुरद्दिव्यवेडूर्यंवृन्तभासुराः ॥ ६२ ॥

यह चहारदिवारी माणिनय के पुष्पों से शोभायमान तथा महामुक्ता की लिए की भावत है। उन लताओं में दिन्य वैड्यं की दीसिमान कलियाँ चमक रही हैं।। ६२।।

महावज्रमणिभ्राजद्भूमिकािकरणप्लृताम् ।
कुटजेषु पक्षिनिनदप्रतिध्वानमनोहराम् । ६३ ।

महावज्रमणि से दीप्तिमान भूमि की किरण से मिलकर वह भूमि अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही है। कु<mark>ङजों में पक्षियों के कलरव से रमणीय वातावरण</mark> प्रतिष्वनित हो रहा है ॥ ६३ ॥

> इषो'र्जलक्ष्मीलावण्यप्रवाहपतितान्तरः मल्लिकामालतीपुष्पभूषावासःपरिच्छदः ॥ ६४ ॥

श्री लक्ष्मी के लावण्य का प्रवाह <mark>उसके अन्दर विद्यमान है। वहाँ के कुञ्ज</mark> मल्लिका एवं मालती के पुष्पों के मानो वस्त्रों से आच्छादित है ॥ ६४॥

स्मितशोभिमुखाम्भोजश्चम्पकद्युतिपाण्डुरः सञ्चरते साक्षाद्रसरूपी शरदृतुः॥६५॥

इषत स्मित की शोभा से युक्त सखियों के मुख कमल की द्युति चम्पक पुष्प के समान भ्वेत है। वहाँ पर इस प्रकार मानों रस रूपी शरद्ऋतु साझात रूप से विचरण कर रही है ॥ ६५ ॥

> मुक्तानिकुञ्जभृवनक्रीडारसवशंवदा। सहस्राण्यष्ट देवेशि वसन्ति परिचारिका।।। ६६।।

हे देवेशि ! मुक्तामणि के निकुञ्जों से युक्त मण्डपों में क्रीडा रस से वशीभूत हुई आठ हजार परिचारिकाएँ वहाँ रहती हैं ।। ६६ ।।

क्रीडतेऽत्रापि भगवान् कृष्णः कमललोचनः। स्वामिन्यादिसखीवृन्दसभाक्रीडाकुत्हलः ॥ ६७ ॥

यहाँ भी कमलनयन भगवान् कृष्ण स्वामिनी आदि ससी समूहों के साथ सभा में कौतूहल युक्त क्रीडा करते हैं।। ६७॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां प्रवालद्रुमवाटिकाम् गहत्मनमणिशालेन निगूढां परितः प्रिये॥ ६८॥ उसमें दिन्य प्रवाल द्रम वाटिका का स्मरण करना चाहिए। हे प्रिये! गरुत्म

मणि के शाल से वह वाटिका चारो ओर विरी हुई है ॥ ६८ ॥

पुष्परागशिलावल्प्तवसुधातलमण्डिताम 11 89 11 मुक्तास्तबकसंशोभिप्रवालद्रुमशोभिताम्

पुष्पराग की शिला से निर्मित श्वेत भूमि सजी हुई है। मुक्तामणि के गुच्छे से शोभित प्रवाल के वृक्षों से वह चृतिमान है।। ६९।।

^{&#}x27;बिस्फुर्जलक्ष्मी' इ॰ पा॰ ।

स[°]हसहस्यश्रीभ्यां तु नारीभ्यामुपलालितः । हेमन्तस्तत्र चरते लीलाखेलकृतादरः ॥ ७० ॥

यह वाटिका नारियों की शोभा से सम्पन्न है। जहाँ पर कीला पूर्वक खेल करते हुए हेमन्त ऋतु विद्यमान है।। ७०।।

> प्रवालोद्यानकुञ्जस्थरत्नसौधनिकेतनाः । सप्त चैव सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ॥ ७९ ॥

प्रवाल के उद्यान कुञ्जों में रत्नों से निर्मित प्रासाद बने हैं। वहाँ सात हजार गरिचारिकाए रहती हैं॥ ७१॥

> सूर्यंकान्तमणिश्राजल्लताकुसुमपल्लवम् । तदन्तः संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं कोटिसूर्यंभम् ॥ ७२ ।

सूर्यंकान्तमणि से दीक्षिमान लता, कुसुम एवं पह्नवों के अन्दर कोटि सूर्यं की चृति वाले दिव्य उद्यान का स्मरण करना चाहिए ॥ ७२ ॥

> कोटीन्दुविस्फुरच्वन्द्रकान्तशालेन व्यूहितम् । दिव्यप्रवालरत्नोर्घेनिबद्धवसुघातलम् ॥ ७३॥

करोड़ों चन्द्रमाओं की किरणों से द्युतिमान चन्द्रकान्त मणि के शाल वृक्ष से इसकी चहारदिवारी घिरी हुई है। इस उद्यान की भूमि दिव्य प्रवाल एवं रत्नों के समूहों से निर्मित है।। ७३।।

> तपस्तपस्यश्रीभ्यां च तष्णीभ्यामलङ्कृतम् । तद्भावानुभवानन्दमोदमानमहनिष्णम् ।। ७४ ॥

वह भूमि तरुणियों के तप की शोभा से अलङ्कृत हैं। वह उद्यान उनके भावों एवं अनुभावों के आनन्द से अहर्निश आनन्दित है।। ७४।।

> शिशिरर्तुं भजेतत्र चरन्तं मदिवह्वलम् । सूर्यकान्तनिकुञ्जेषु खेलन्त्यो मदिवह्वलाः ॥ ७५ ॥

मदिवह्नल होकर विचरण करते हुए शिशिर ऋतु का वहाँ भजन करना चाहिए। सूर्यकान्तमणि के निकुञ्जों में ये तक्षणियाँ मानों मद विह्नल होकर खेल रही हैं।। ७५।।

> षट्सहस्राणि देवेशि वसन्ति परिचारिकाः। कदाचिदत्र क्रीडार्थं सखीभिः पृरुषोत्तमः॥ ७६॥

हे देवेशि ! वहाँ पर छः हजार परिचारिकाएँ रहती हैं। कभी-कभो पुरुषोत्तम सगवान कृष्ण सखियों के साथ यहाँ भी क्रीडा करने के लिए आते हैं॥ ७६॥

> स्वामिन्या च समासाद्य क्रीडन् विक्रीडयत्यपि। तदन्त संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं तु मनोहरम्। पद्मरागलतापूञ्जकूञ्जगूञ्जन्मधूब्रतम् ॥ ७७॥

वह स्वामिनी के साथ आकर खिलवाड़ की क्रीडा करते हैं। उसके भीतर दिन्य एवं मनोहर उद्यान का स्मरण करना चाहिए। यह उद्यान पद्मराग मणि को लता के कुञ्जों से घिरा हुआ है। जिस पर अमरों का समूह मँडरा रहा है।। ७७॥

> चिन्तारत्नविचित्रान्तभू मिविद्योतितान्तरम् । अनेककुट्टिमैभ्रजिन्मण्डपैः कुञ्जमध्यगैः ॥ ७४ ॥

वह दिव्य उद्यान चिन्तामणि से निर्मित भूमि वाला है। अनेक प्रकार की फर्श से बने हुए विद्योतित मण्डपों से युक्त वह उद्यान है जिसमें मध्य में भी निकुञ्ज बने हैं।। ७८।।

भ्राजत्कपाटरत्नालिप्रभोद्यैवियदन्तरम् । उदितेन्द्रधनुःकोटिकुर्वाणमिव सर्वतः ॥ ७९ ॥

इसके दरबाजे दीप्तिमान रत्नों की पंक्ति की प्रभा से युक्त है और उनकी छत चमक रही है। चारों ओर उस मण्डप में मानों करोड़ों इन्द्र-घतुषों का उदय हो रहा है। ७९।

क्वचिदिन्दीवरवनप्रोच्छलन्तः प्रभाङ्क्रराः। सान्द्रमेघान्धकारेण लिम्पन्त इव दिक्तटान् ॥ ८०॥

कहीं पर कमल के वन को शोभा से सम्पन्न वह उद्यान है। उस समय बहीं ऐसा प्रतीत हो रहा है कि घने बादलों की घटा से अन्धकार मानों दिशाओं के कोनों में लिपट रहा है।। ८०॥

कलापिनो हुष्टिचित्तास्तत्र नृत्यिन्ति सन्ततम् । अद्धाटघ स्वकलापांश्च जलदाटोपशङ्क्या ।। ४९ ।। वहाँ पए निरन्तर प्रसन्न चित्त होकर मयूर नृत्य कर रहे हैं । बादलों की घटा की आशङ्का से वे मयूर अपने पङ्खों को फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ।। ८१ ॥

शुकपारापतको चिपिककोलाहलाकुलम् ॥ ८२॥ कोटीन्दुकोमुदीगवंनिर्वासनलताद्यतम् गुक, कबूतर, क्रींच एवं कोयलों के कलरव से वह उद्यान गुञ्जायमान है । सैंकड़ों लताएँ करोड़ों चन्द्रों की चांदनो के गर्व को समाप्त कर रही हैं ।। ८२ ।।

> ज्ञत्पतिद्भमृगीवृन्दैवंराहैर्गवयेः शशैः । इहिभमृंगनाभैदच वमरीभिरलङ्कृतस् । ४३ ॥

उछलते कूदते हरिणों के झुण्डों, जङ्गली सूकरों, नील गायों तथा खरगोशों से तथा नामि में कस्तूरी वाले कर मृगों तथा चमरी गायों से वह वन अलङ्कृत है।। ८३।।

> अनेकसूर्यसङ्काशचिन्तारत्नावृतिव्रतम् । यत्र पञ्चसहस्राणि मणिहम्यंकृतास्पदाः ॥ ८४ ॥

अनेक सूर्य के मिलने से चिन्तामणि के रत्नों से आवृत वह वन है। यहाँ पांच हजार मणिनिर्मित प्रासाद बने हैं।। ५४॥

> दिब्यश्रृङ्गारवेषाढघा रसभावविभावृकाः । सेवोपचारचतुरा वसन्ति परिचारिकाः ॥ ८५ ।।

वहाँ दिव्य प्रुङ्कार एवं विभिन्न वेषमूषा में सजी हुई, रस के भाव में भावितः प्रकृति वाली तथा सेवा एवं उपचार में कुशल परिचारिकाए रहती हैं।। ८५।।

> तदन्तः सस्मरेदिदन्यं महापद्मवनं महत्। लक्षयोजनविस्तीणं गुञ्जन्मत्तमधुव्रतम्।। ७६॥

उनके मध्य में दिव्य एवं विशाल उस महापदा वन का स्मरण करना चाहिए जो एक लाख योजन तक फीला हुआ है और मदमत्त भीरों के झुण्डों से गुक्रजायमान है।। ८६।।

> वियद्वितानितमित्र परागैः पवनेरितैः। कुवंन् तद्गन्धसञ्चारिषटपदन्याजिचित्रितम्।। ४७॥

आकाश में चँदोवे के समान हवा से लाए गए पुष्पों के परागों से वह आकीर्ण है। उन परागों की गन्ध से आए हुए सन्बरणशील भ्रमरों से मानों शिकाकाश चित्तकबरा सा प्रतीत हो रहा है।। ५७।।

> महापद्माटवीमध्ये स्मरेदेकमणिगृहम् । चतुःषिटमहास्तम्भशोभाडम्बरमण्डितम् ॥ ८८ ॥

उस महापद्म वन के मध्य एक ऐसे मणिनिर्मित गृह का स्मरण करना चाहिए जो चौसठ महान स्तम्भों की शोभा के आडम्बर से मण्डित है।। पद ।। मूलभूमिस्तु प्रथमा द्वितीया मितिविश्रमा। तृतीया भोगभूमिश्च नृत्यभूमिश्चतुथिका॥ ७९॥

वह मणिगृह दस भूमियों वाला है। प्रथम मूलभूमि है, द्वितीय मतिविभ्रमाभूमिः है, तृतीया योगभूमि और चौथी नृत्यभूमि है।। ८९।।

पञ्चमी शयनीयाख्या षष्ठी वैमानिकीति च । सप्तमी अष्टमी चोभे दोलाभूमी निरूपिते ॥ ९०॥

शयनीय नाम की पाँचवीं भूमि है। छठो भूमि वैमानिकी नाम की है और सातवीं तथा आठवीं भूमि दोलामूमि के नाम से निरूपित की गई है।। ९०॥

नवमी दूरलक्षा च दशमी चन्द्रभूमिका। इत्येता दश आख्याता भूमयो निजवेश्मना॥ प्रियाभिः सह वसेदस्मिन् घनीभूतो रसः पुमान्॥ ९१॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे पञ्चचत्वारिशं पटलम् ॥ ४५॥

नवीं भूमि 'दूरलक्षा' है और दसवीं भूमि चन्द्रभूमिका नाम की है। भगवानः श्रीकृष्ण के स्वयं के निवास स्थान की ये दस भूमियाँ बताई गई है जिनमें प्रिया के साथ घनीभूत होकर रस पुरुष भगवान श्रीकृष्ण विराजते हैं।। ९१।।

श्वास प्रकार श्रीनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्रृ' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के पैतालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४५ ॥

अथ षट्चत्वारिशं पटलम्

'शिव उवाच—

इत्थं स्मरन्ती सततं निजधाममहोदयम्। क्रमेण वासना देवि गमयत्येव वासरान्॥ १॥

प्राव ने कहा —

हे देवि ! इस प्रकार निज हुत् कमल में प्रभु की निज लीला का निरन्तर समरण करते हुए कुछ दिनों में वासना क्रमशः चली जाती है।। १॥

यद्येषा विरहावस्था स्मरणाख्या प्रवर्त्तते। तदा स्मृतिपथारूढं निजं धाम भवेत्त्रिये।। २।।

जब यह स्मरण नामक विरह की अवस्था साघक में प्रवर्तित होती है तभी, है प्रिये ! स्मृति पथ में आहढ होकर प्रभु का निज घाम साघक के हुत् कमल में प्रकट हो जाता है ।। २ ।।

अन्यथा व्यायमानस्य रसलीलामहोदधिम् । मध्ये विच्छिद्य विच्छिद्य मनस्तस्मान्निवर्त्तते ॥ ३ ॥ अन्यथा व्यान करते हुए रस लीला के समुद्र में सावक का मन मध्य में ही टूट-टूटकर ब्रह्म से अलग हो जाता है (अतः विरह आवश्यक है)॥ ३॥

> यावन्न जायते ह्योषा दशा विरहसम्भवा। तावन्न शक्तुयात्कर्तुं विद्धि सेवां मनोमयोम् ॥ ४ ॥

जब तक यह विरह की दशा मन में न आ जाए यही समझना चाहिए कि तब तक प्रभु की मनोमयी सेवा नहीं की जा सकती है।। ४।।

> स्मृत्यवस्थोदयो यावत्तावत्सेवाद्वयं भवेत्। आन्तरीया तथा बाह्या तयोर्नेकतरा क्वचित्। ५ ॥

जब तक सामक में स्मृति की अवस्था का उदय होता है तब तक दो प्रकार की सेवा चलती रहती है—(१) आन्तरिक सेवा और (२) बाह्य सेवा; अथवा कहीं पर दोनों में से एक ॥ ५ ॥

सेवया तद्गतं चेतः शर्नेर्लीलागतं भवेत्। स्मृत्यवस्थामवाष्नोति क्रमेण परमेश्वरि ॥ ६ ॥

इन (दोनों प्रकार को) सेवाओं से प्रभु श्रीकृष्ण से लगा हुआ चित्त घीरे-घीरे उनकी लीला में तल्लीन होता है। है परमेश्वरि ! क्रमानुसार यहो (बाह्य और आन्तरिक सेवा तथा लीलागत) चित्त उनकी स्मृति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥ ६॥ हमृत्यंवस्थोदये देवि मनस्तत्तनमनोरथै:। प्रलापाख्यांमवाप्नोति दशो च व्याकुलीकृतम् ॥ ७ ॥

हे देवि ! स्मृति की अवस्था के उदय होने पर साधक का मन उन-उन मनोरथों के द्वारा ज्याकुल हो उठता है और वह 'प्रलाप' नामक अवस्था को प्राप्त करता है।। ७।।

अबुद्धिपूर्वकालापः प्रलापः कथितः प्रिये । प्रियलीलाविलासादिविषयस्थिरचेतसः ॥८॥ रमयस्वाद्य रुचिरं त्रियप्रेम्णा वनान्तरे। प्रियं त्वं चिरकालेन मया प्राप्तोऽसि साम्प्रतम् ॥ ९ ॥ इत्यादिविविद्यालापाः प्रवर्त्तन्ते महेश्वरि। यदा देहानुसन्धानं मध्ये मध्ये प्रजायते।। १०॥

हे प्रिये ! बिना समझे बूझे जो कुछ कहते रहना 'प्रलाप' नामक सबस्या कहीं' गई है। प्रिय की लीला एवं विलास आदि के विषय में स्थिर चित्त होकर प्रलापः करना तथा प्रिय के प्रम में पड़कर वन के अन्तराल में मनोहर लीला में मन को रमाना अथवा हे मन रमण करो-ऐसा कहना, हे प्रिय! इस समय तुम मुझे बहुत काल के बाद प्राप्त हुए हो-अ।दि विविध प्रकार के प्रलाप में हे महेश्वरि ! जबः मन प्रवृत्त हो और जब बीच-बीच में अपने शरीय की स्मृति आ जाय तब प्रलाप की अवस्था होती है ।। ५-१०॥

अत्युग्रतरसन्तापनिविपणपटीयसी सुद्याधारेव सततं वाक त्वदीया रसस्रवा ॥ ११ ॥ अत्यन्त उग्रतर सन्ताप के निर्वापण में पटु एवं रस का स्रवण करने वाली आपकी

वाणी अमृत की घारा के समान मुझे निरन्तर आव्लाबित करे।। ११।।

अनङ्गकोटिसोन्दयंमहाब्धिमथनोद्धृतः सारांश इव त रूपमानन्दोद्वेलनक्षमम् ॥ १२॥

करोड़ों कामदेव के सौन्दर्य-समुद्र के मन्धन से निकाले गए नवनीत के समान है कुछ्ण ! आपके रूप का आनन्द मुझे उद्दे लित कर देने में समर्थ है।। १२॥

महादुः खतमस्तोमविपाटनपटीयसी चन्द्रज्योत्स्नेव रुचिरा हास्यशोभा तव प्रिय ॥ १३ ॥

हे प्रिय! महान् दुःख के अन्धकार के घन को हुटाने में समर्थ चन्द्रमा की चौदनी के समान मनोहर आप के हास्य की शोभा है।। १३।। मय्येतत्तु कथ नाथ विषरीतं प्रवर्तते। एवमादीनि वाक्यानि प्रवर्त्तन्ते गुणस्तवे ॥ १४ ॥

हे नाय ! आप मुझ पर क्यों विपरीत रूप से प्रवर्तित हैं। इस प्रकार के
﴿ गुण सम्पन्न) वाक्य आपके गुण में मुझे प्रवर्तित करते हैं।। १४।।

ततः क्रमेण देवेशि मनौबैवश्यकारिणी।
आह्यवस्था प्रवर्तेत विप्रलम्भद्द्यातिमका ।। १४।।

है देवेशि ! इसके बाद क्रमपूर्वक साधक के मन को विवश कर देने वाली विप्रलम्ब श्रृङ्गार की मन पर प्रभाव डालने वाली व्याधि आदि दस अवस्था प्रवितित होती हैं ॥ १५॥

दीर्घतापाग्निसन्तप्तमाधिग्रस्तं मनोन्तरम्।
बहिः सृजत्यश्र्धारां द्वासकम्पादिकं तथा।। १६।।
वीर्षं (विश्वास के) ताप की अग्नि से सन्तप्त मन, जब विश्रलम्भ की दशाओं से
ग्रस्त हो जाता है तब प्रमुके वियोग में नेत्रों से अश्र्धारा प्रवाहित होने लगती
है और श्वास प्रश्वास में कम्पन होने लगता है।। १६।।

विरहे प्राणनाथस्य अप्राप्ती सङ्गमस्य च ।
जायते देवदेवेशि दशा चीन्मादसंज्ञिका !। ९७ !।
हे देव देवेशि ! प्राणनाथ प्रभु श्लीकृष्ण के विरह में उन्हें न प्राप्त करने के कारण
और उनके संगम के विना साधक में 'उन्माद' नामक विप्रलम्भ श्रङ्कार की दशा

हवासाश्रुपातसन्तापकम्पभूलेखनादिभिः । अवस्था ज्ञायते देवि ह्यान्माद इति संज्ञया ।। १८ ।। हे देवि ! श्वास प्रश्वास का आधिक्य तथा अश्रुपात, सन्ताप, शरीय में कम्प और भू-लेखन आदि अवस्था साधक में प्रगट होती है तब उसे 'उन्माद' कहते हैं ।। १८ ॥

जायमाने ततो देवि तापे विरहसम्भवे। हुङ्कारमात्रवचना तन्द्रामोहसमाकुला ।। १९ ॥ हे देवि ! तदनन्तरु विरहजन्य तःप के उत्पन्न हो जाने पर्य तन्द्रा एवं मोह सै व्याकुल साबक से बात करने पर मात्र हुँ हुँ ही करता रहता है।। १९॥

अनुसन्धानरहिता दवाससंशोषिताधरा। विवर्णवदनाकारा कृशीभूतकलेवरा।। २०॥ चैतन्यता से रहित साधक के श्वास प्रश्वास से उसके ओठ सूख जाते हैं, उसके मुख की कान्ति विवर्ण हो जाती है तथा उसका धरीर दुर्बल हो जाता है॥ २०॥

१. 'विप्रलम्भरसारिमका' इ० पा०।

नकटचजातमरणा जडावस्था भवेषिये। कदाचिद्देवदेवेशि ध्रयंस्याप्यनवस्थितौ ॥ २१॥

हे प्रिये ! साधक मरण के निकट उपस्थित हो जाता है तब वह जडावस्था होती है। है देवदेवेशि ! उस समय कभी धैर्य भी जाता रहता है।। २१।।

निजनाथवियोगाग्निज्वालाज्वलितविग्रहा । जायते देवदेवेशि दशा मरणरूपिणी । २२ ॥

अपने प्रभु के वियोग की अग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित शरीर वाले साधक में हे देवदेवेशि ! श्रुङ्गार की मरण रूप दसवी अवस्था आ जाती है ॥ २२ ॥

इत्येता विरहावस्था दश प्रोक्ता तवानघे। विप्रलम्भास्यश्रुङ्गाररसे प्रादुर्भवन्ति ताः॥ २३॥

हे निष्पाप ! विप्रक्रम्भ म्युङ्गार रस में उत्पन्त होने वाली इन दस अवस्थाओं को हमने आपसे कहा है ।। २३ ॥

यद्यप्येका प्रजायते दशा विरहसम्भवा। तथापि च वरारोहे रसस्यानुभवो भवेत्। १२४॥

प्रमु के विरह में इन अवस्थाओं में से यद्यपि एक भी अवस्था यदि साधक में उल्पन्न हो जाय हो है वरारोहे ! उसे रस की अनुभूति हो जाती है ॥ २४॥

यावन जायतेऽप्येका दशा विरहसम्भवा। तावन्न जायते देवि रसस्यानुभवः क्वचित्।। २५॥

जब तक विरह जन्य इन दस अवस्थाओं में से एक की भी अनुभूति साधक को नहीं होती है तब तक हे देवि! कभी भी उसे रसानुभूति नहीं हो सकती है।। २५।।

ज्ञात्वापि प्रियविङ्लेषं यद्यवस्थोदयो नहि। तदा चूडामणिजपः कर्त्तव्यः गुद्धिहेतवे॥ २६॥

प्रिय प्रभु के विरह को जानकर भी यदि साधक में इन विरह जन्य अवस्थाओं का उदय न हो तब उसे मन की शुद्धि के लिए चूडामणि (श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण राधेकृष्ण) का जय करना चाहिए ॥ २६ ॥

मनोविकारे भावाख्ये जायमाने सुरेहवरि । अप्राप्तौ विरहावस्थां घत्ते भावः स एव हि ॥ २७ ॥

हे सुरेश्वरि ! सावक में (जप करने से) भाव नामक मनो विकार के उत्पन्त हो जाने पर विरहाबस्या के न प्राप्त करने पर भी उसमें भाव आ जाता है ॥ २७॥

परानन्दे प्रिये ज्ञाते तदप्राप्तिवद्यादिह । मनो विकृतिमभ्येति भावसंज्ञामलौकिकीम् ॥ २८॥ यहाँ एर प्रिय के ज्ञान से प्राप्त श्रंष्ठ आनन्द से उसे न प्राप्त करने के कारण सामक को 'भाव' नामक अलोकिक मनोविकार की प्राप्ति हो जाती है।। २८।

अनेकजन्मकलुषेयंदा वीतं मनो भवेत्। नैवाप्नोति तदाभाव येन स्याद्विरहोदयः॥२९॥

अनेक जन्म के कालुक्य के कारण जब तक मन का मालिन्य दूर नहीं होता है तब तक उसे 'भाव' संज्ञक मन का विकार नहीं प्राप्त होता है जिससे उसमें विरह की उत्पत्ति भी नहीं होती है ॥ २९ ।

> तन्मालिन्यनिरासायँ जपसेवार्चनादिकम् । अवश्यमेव कर्त्तव्य श्रीकृष्णश्रीतये चिरम् ॥ ३० । स्मालिन्य को दर करने के लिए दी (साधक को प्रभु के स्मरण

उस मनो मालिन्य को दूर करने के लिए ही (साधक को प्रभु के स्मरणार्थ) जप, सेवा तथा उनकी (षोडशोपचार से) अर्चना आदि श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए चिरकाल तक अवश्य ही करना चाहिए।। ३०।।

अनुग्रहदृशा पश्येत् यदैव पुरुषोत्तमः। प्रसादसुमुखो भूत्वा तदा स्याद्विरहोदयः।। ३१।। जब पुरुषात्तम प्रभु श्रीकृष्ण साधक को अनुग्रह बुद्धि से देखेंगे तब भगवान्, के प्रसाद स्वरूप उस साधक में विरह उत्पन्न होगा ॥ ३१॥

> इति ते सर्वभाख्यात दशावस्थानिरूपणम् । समासेन महेशानि कि भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३२॥

।। इति श्रीमाहेश्वतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे षट्चत्वारिशं पटलम् ।। ४६ ॥

इस प्रकार संक्षेप में हे महेशानि ! आप से हमने विप्रलम्भे श्राङ्गार की सभी दस अवस्थाओं का निरूपण कर दिया है। अब आप और क्या सुनना चाहती हैं ?।। ३२।।

शा इस प्रकार स्रोनारदपाश्वरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में मां जगदम्बा पार्वती और भगवान शाङ्कर के संवाद के छियालिसवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ४६ ॥

अथ सप्तचत्वारिशं पटलम्

पार्वेःयुवाच--

भगवन् श्रोतुमिच्छामि यथा कृष्ण। प्रसीदति । विना जपं विना सेवां विना पूजामपि प्रभो।। १।।

पार्वती ने कहा-

हे भगवन् ! हे प्रभो ! मैं यह पूँछना चाहती हूँ कि विना जप, विना सेवा तथा बिना पूजा के भी कृष्ण कैसे प्रसन्न होते हैं ? ॥ १ ॥

यथा कृष्णा प्रसन्नः स्यात्तमुपायं वदाघुना। अन्यथा देवदेवेश पुरुषार्थो न सिद्धधति॥२॥

जैसे कृष्ण प्रसन्न होंने-उस उपाय को अब आप कहिए। नहीं तो, हे देवदेवेश ! (मानव का मोक्ष रूप) पुरुषार्थं नहीं सिद्ध होता है ॥ २ ॥

शिव उवाच -

साध्र पार्वति ते प्रश्नः सावधानतया श्रृणु ! विना जपं विना सेवां विना पूजामिष प्रिये ॥ ३ ॥ यथा कृष्णः प्रसन्नः स्यात्तमुषायं वदामि ते । जपसेवादिकं चाषि विना स्तोत्रं न सिद्धघति ॥ ४ ॥

शिव ने कहा—
हे पार्वित ! तुम्हारा प्रथन बहुत सुन्दय हैं ? अब इसे सावधान हो कर सुनो ।
हे पार्वित ! तुम्हारा प्रथन बहुत सुन्दय हैं ? अब इसे सावधान हो कर सुनो ।
विना जप के, विना उनकी सेवा के तथा विना पूजा के भी, है प्रिये ! जैसे ऋष्ण
विना जप के, विना उनकी सेवा के तथा विना पूजा के भी, है प्रिये ! जिस का विना
प्रसन्न होवें उस उपाय को मैं अब कहता हूँ । जप और सेवा आदि भी बिना
स्तोत्र के सिद्ध नहीं होते हैं ।। ३-४ ॥

कीर्तित्रियो हि भगवान् वरातमा पुरुषोत्तमः। जपस्तन्मयतासिद्धचे सेवा स्वाचाररूपिणी।। ५।।

भगवान परमात्मा पुरुषोत्तम की तिप्रिय (गुणसंकी तैन से प्रसन्त होने वाले) भगवान परमात्मा पुरुषोत्तम की तिप्रिय (गुणसंकी तैन से प्रसन्त होने वाले) हैं। जय तो भगवान में तन्मयता की सिद्धि के लिए होता है और सेवा स्वयं के आचरण के रूप वाली होती है।। ५।। स्तुतिः प्रसादनकरी तस्मात्स्तोत्रं वदामि ते ।
सुधाम्भोनिधिमध्यस्थे रत्नद्वीपे मनोहरे ॥ ६ ॥
नवखण्डात्मके तत्र नवरत्नविभूषिते ।
तन्मध्ये चिन्तयेद्रम्यं मणिगृहमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

भगवान की स्तुति उन्हें प्रसन्त करने वाली होती है। अतः उनके स्तोत्र को मैं
तुमसे कहता हूँ। सुधा-समुद्ध के मध्य में मनोहर रत्नद्वीप पर नव रत्न से विभूषित
नव खण्डात्मक पीठ है। उस पीठ के मध्य में उत्तमौत्तम एवं रम्य 'मणिगृह'
का चिन्तन करना चाहिए।। ६-७।।

परितो वनमालाभिः लिलताभिः विराजिते। तत्र सञ्चिनतयेच्चारु कुट्टिमं सुमनोहरम्।। ८॥ चतुःषष्ट्या मणिस्तम्भेश्चतुदिक्ष् विराजितम्। तत्र सिहासने ध्यायेत्कृष्णं कमललोचनम्॥ ९॥

चारो ओर लिलत वनमालाओं से शोभायमान सिहासन पर आसीन भगवान् कमललोचन कृष्ण का व्यान करना चाहिए। उस सिहासन का भी व्यान करना चाहिए जो सिहासन सुमनोहर एवं चारु फर्श वाला है और जो चारों ओर दिशाओं में चौसठ मणिनिमित स्तम्भों से जगमगा रहा है। । ८-९।।

अन्दर्यरत्नजटितमुकुटोज्वलकुण्डलम् । सुस्मितं सुमुखाम्भोजं सखीवृन्दनिषेवितम् ॥ १०॥ स्वामिन्यादिलब्टवामाङ्गं परमानन्दविग्रहम् । एवं ध्यात्वा ततः स्तोत्रं पठेत्सुविजितेन्द्रयः ॥ १९॥

भगवान् कृष्ण का मुकुट चमचमाता हुआ और कुण्डल अनर्ध्य रत्नों से जिटत है। उनका मुखकमल सुन्दर मुस्कान से युक्त तथा सखी वृन्द से सेवित है। उनका परमानन्द विग्रह वाम भाग में स्वामिनी (राघा) से संक्लिब्ट है। उस विग्रह का स्थान करके जितेन्द्रिय साधक को उनके स्तोत्र का पाठ करना चाहिए।। १०-११।।

श्रीकृष्णस्तोत्रम्

कृष्णं कमलपत्राक्षं सिच्चदानन्दविग्रहम्। सिख्यान्तरचरं प्रणमामि परात्परम्।। १२।। सित्, चित् एवं आनन्दस्वरूप, कमल के पत्र के समान नेत्रों वाले तथा सिखीन सिपूह में विचरण करने वाले परात्पर कृष्ण को मेरा प्रणाम है।। १२।।

> श्रुङ्गाररसहताय परिपूणसुखात्मने । राजीवाहणनेत्राय कोटिकन्दपहतिणे ॥ १३॥

श्रृङ्काररस रूप वाले, परिपूर्ण सुख वाले, लाल कमल के समान अरुण नेत्र वाले तथा कोटिकामदेव स्वरूप कृष्ण को मेरा नमस्कार है।। १३।।

> वेदाद्यगम्ह्पाय वेदवेद्यस्दह्मिणे । अवाङ्मनस्रविषयनिज्ञलीलाप्रवस्तिने ॥ १४॥

वेद आदि आगम रूप वाले, वेद से ही जाने जाने वाले, अन्तर मन के विषय तथा निज लीला का स्वयं प्रवर्तन करने वाले कृष्ण को नमस्कार है।। १४॥

नमः गुद्धाय पूर्णाय निरस्तगुणवृत्तये । अखण्डाय निरंशाय निरावरणरूपिणे ॥ १५ ॥

शुद्ध, पूर्णं, गुणों की वृत्ति से निरस्त, अखण्ड, निरंश तथा आवरणरहित रूप वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ १५ ॥

> संयोगवित्रलम्भाख्यभेदभावमहाब्धये । सदंशविश्वरूपाय चिदंशाक्षररूपिणे। १६॥

संयोग एवं विप्रलम्भ नामक श्रृङ्गाररस के भेदों के भाव के महासमुद्र, सत् अंश से विश्वस्वरूप वौर चित् अंश से युक्त अक्षर रूप वाले (नित्य) कृष्ण को नमस्कार है ॥ १६ ॥

आनन्दांशस्वरूपाय सच्चिदानन्दरूपिणे।
मर्यादातीतरूपाय निराधाराय साक्षिणे।। १७॥

आनन्द के अंश के स्वरूप वाले, इस प्रकार सर्व, चित् तथा आनन्द स्वरूप वाले, मर्यादा से भी अधिक रूप वाले, निरावार एवं (सर्व कार्य के) साक्षी कृष्ण को नमस्कार है।। १७॥

मायाप्रपञ्चद्राय नीलाचलिवहारिणे । माणिक्यपुष्परागाद्विलीलाखेलप्रवितने ॥ १४॥

नारायपपुरुपरागाद्रिलालाखलप्रवाराय मायाप्रपन्त (की परिधि) से दूर रहने वाले, नीलाचल (जगन्नाथ पुरी) में विहार करने वाले तथा माणिक्य एवं पुष्पराग के अदि की लीला आदि खेलों को करने वाले कृष्ण की नमस्कार है ॥ १८॥

चिदन्तर्यामिरूपाय ब्रह्मानन्दस्वरूपिणे । प्रमाणपथद्राय प्रमाणाग्राह्मरूपिणे ।। १९ ।। चित् रूप से अन्तरात्मा में रहने वाले, ब्रह्मानन्द स्वरूप, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न जाने जाने वाले, अत। अनुमान आदि प्रमाण पथ से विज्ञेय कृष्ण को नमस्कार है।। १९॥

मायाकालुष्यहीनाय नमः कृष्णाय शम्भवे । क्षरायाक्षररूपाय क्षराक्षरविलक्षणे ।। २०।।

माया को कालिमा से विद्वीत, कल्याण करने वाले कृष्ण को नमस्कार है। क्षर (अनित्य) और अक्षर (नित्य) स्वरूप वाले तथा क्षर एवं अक्षर से भी विलक्षण (गुणातीत एवं अनन्त) स्वरूप वाले कृष्ण को नमस्कार है।। २०।।

तुरीयातीतरूपाय नमा पुरुषरूपिणे। महाकामस्वरूपाय कामतत्त्वार्थवेदिने । २१॥

तुरीय से अतीत रूप वाले एवं पुरुष रूप वाले कृष्ण को नमस्कार है। महान् काम स्वरूप वाले एवं काम तस्व के अर्थ के ज्ञाता कृष्ण को नमस्कार है।। २१।।

दशलीलाविहाराय सन्ततीर्थविहारिणे। विहाररसपूर्णीय नमस्तुभ्यं कृपानिधे॥ २२॥

दशावतार रूप लीला में विहार करने वाले तथा (मथुरा के जमुना, जन्मभूमि, वज बादि) सप्ततीथीं में विचरण करने वाले, (लीला) विहार के रस से पूर्ण और तुम कृपा के निधान कृष्ण को नमस्कार है।। २२।।

विरहानलसन्तप्तभक्तिचेत्याय च। आविष्कृतनिजानन्दविफलीकृतमुक्तये ॥ २३॥

(कृष्ण के) विरह की अग्नि से संतप्त तथा भक्त के चित्त में प्राण का संचार करने वाले और अपने मुक्ति को विफल करने के लिए आनन्द को स्वयं प्रकट करने वाले कृष्ण को नमस्कार है।। २३॥

द्वैताद्वैतमहामोहतमःपटलपाटिने । जगदुत्पत्तिविलयसाक्षिणेऽविकृताय च ॥ २४॥

(माया एव ब्रह्म रूप से) हैं त तथा (ब्रह्म रूप से) अहं त रूप से महा मोह के अन्धकार पटल को समाप्त कर देने वाले, जगत् की उत्पत्ति और उसके विलय के साक्षी एवं अविकृत कृष्ण को नमस्कार है। २४॥

ईश्वराय निरीशाय निरस्ताखिलकमणे।

संसारहवान्तसूर्याय प्तनाप्राणहारिणे ॥ २५ ॥ ईम्वर, ईशविहीन, समस्त कर्म से रहित, संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य रूप तथा पूतना के प्राण का हरण कर लेने वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ २५ ॥

रासलीलाविलासोमिपूरिताक्षरचेतसे । स्वामिनीनयनाम्भोजभावभेदैकवेदिने ॥ २६ ॥

रास लीला के विलास रूप समुद्र की लहर से पूरित होकर भी अक्षर चित्त वाले, स्वामिनी राघा के नयन कमल की भावभिक्तिमा के एकमात्र ज्ञाता कृष्ण को नमस्कार है ॥ २६ ॥

> केवलानन्दरूपाय नमः कृष्णाय वेधसे। स्वामिनीहृदयानन्दकन्दलाय तदात्मने॥२७॥

मात्र आनन्द रूप वाले सृष्टि कर्ता तथा स्वामिनी राघा के हृदयानन्द के दाता एवं तद्रृप कृष्ण के लिए नमस्कार है ॥ २७ ॥

> संसारारण्यवीथीषु परिभ्रान्तात्मनेकद्या। पाहि मां कृपया नाथ त्वद्वियोगाधिदुःखिताम ॥ २८॥

संसार रूपी बरण्य की गलियों में अनेक रूप से विचरण करने वाले एवं आपके वियोग से दुखित, हे नाथ ! आप कृपया मेरी रक्षा की जिए ॥ २८ ॥

त्वमेव मातृपित्रादिबन्धुवर्गादयइच ये। विद्या वित्तं कुलं शील त्वत्तो मे नास्ति किञ्चन ॥ २९॥

हे ऋष्ण ! आप ही मेरे माता-पिता, बम्धु-बान्घव आदि सभी कुछ हैं। विद्या, घन-सम्पत्ति, कुल एवं शील आदि गुण आप ही हैं। आपको छोड़कर मेरा इस संसार में कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥

यथा दारुमयी योषिच्चेष्टते शिल्पिशिक्षया। अस्वतन्त्रा त्वया नाथ तथाहं विचरामि भोः॥ ३०॥

जैसे लकड़ी की बनी हुई नारी-कठपुतली की भौति जैसे-जैसे होरी से उसे चलाया जाय चलती रहती है उसी तरह मैं भी हे नाथ ! आपके आश्रित हैं आप जैसे मुझे प्रेरित करते हैं मैं वैसे ही विचरण करता हूँ !! ३० !!

सर्वसाधनहीनां मां धर्माचारपराङ्मुखाम्। पतितां भवपाथोशौ परित्रातुं त्वमहंसि ॥ ॥ ३९।

हे स्वामि ! मैं सभी साधनों से हीन हूँ तथा मैं तो धर्माचरण से भी विमुख हूँ। अतः इस संसार समुद्र से उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। ३१ ॥

मायाभ्रमणयंत्रस्थामूध्विधोभयिवह्वलम् । अद्ष्टनिजसंकेतां पाहि नाथ दयानिधे ॥ ३२। हे स्वामि ! हे दयानधान ! माया मोह में फैसे रहने से व्याकुल, यन्त्रस्थ के समान उपर नीचे दोनों ओर धूमने वाले तथा मय से व्याकुल मुझ निरूद्देश्य चक्कर काटने वाले की रक्षा कीजिए ॥ ३२ ॥

> अनर्थेऽर्थद्शं मूढां विश्वस्तां भवदस्थले। जागतन्ये शयानां मामुद्धरस्व दयापरः।। ३३ ॥

अनर्थं परम्परा में ही दृष्टिपात करने नाले मूढ़ और भयदायी विषयों में ही विश्वास रखने वाले और जागने वालों में सोने वाले मेरा, हे दयावान प्रभु ! उद्धार की जिए ॥ ३३ ॥

अतीतानागतभवसन्तानविवशान्तराम् । बिभेमि विमुखी भूय त्वत्तः कमललोचन ॥ ३४॥

हे कमलनयन ! मैं अतीत एवं अनागत (भूत एवं भविष्य) में होने वाली दु:खपरम्परा में पड़कर विद्या हुआ मैं आपसे विमुख होकर भयगस्त हूँ।। ३४।।

> मायालवणपाथोधिपयःपानरतां हि माम्। त्वत्सान्निध्यसुधासिन्धुसामीष्यं नय माऽचिरम्।। ३५।।

क्योंकि मैं माया रूपी नमकीन समुद्र के पानी को पीने में संलग्न हूँ। अतः है ऋष्ण श्वाप अपने सन्तिष्य रूपी सुधा समुद्र के समीप मुझे शीघ्र ही खींच लाइए॥ ३५॥

> त्वद्वियोगातिमासाद्य यज्जीवामीति लज्जया । दर्शियव्ये कथ नाथ मुखमेतद्विडम्बनम् ॥ ३६॥

आपके विरह रूप विपत्ति में पड़ा हुआ मैं जो लज्जा से जीवित हूँ उस विवर्ण मुख को, हे नाथ ! मैं आपको कैसे दिखाऊगा ? यही विडम्बना है। अतः आप स्वयं मुझे खींच लीजिए।। ३६॥

> प्राणनाथ वियोगेऽपि करोमि प्राणधारम् । अनौचिती महत्येषा कि न लज्जयतीह माम् ॥ ३७ ॥

है प्राणनाथ। वियोग में भी मैं प्राण घारण कर रहा हूँ—यह क्या महान, अनौचित्य क्या नहीं है ? मुझे तो आपके वियोग में प्राणत्याग कर देना ही उचित था। यह मुझे छज्जा नहीं प्रदान कर रहा है ? । ३७ ।।

> कि करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे प्रवदाम्यहम् । उत्पद्यन्ते विलीयक्ते वृत्तयोब्धो यथोर्मयः ॥ ३४॥

मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके समक्ष मैं अपनी विषदा को कहूँ ? इस प्रकार विचार समुद्र में मेरे विचार लहरों के समान ऊपर उठते हैं और पुना उसी में विलीन हो जाते हैं।। ३८॥

> अहं दु:खाकुली दीना दु:खहा न भवत्परः। विज्ञाय प्राणनाथेदं यथेच्छिस तथा कृष्ट ।। ३९ ।।

मैं दु:ख परम्परा से पीड़ित हूँ, दीन हूँ दु:ख का मारा हुआ हूँ तथा आपके परायण भी नहीं हूँ—यह सब जानकर, हे प्राणनाथ! आप जो चाहें वहो करें।। ३९।।

ततश्च प्रणमेत्कृष्णं भूयो भूयः कृताञ्जलिः। इत्येतद्गृह्यमाख्यातं न वक्तव्यं गिरीन्द्रजे ॥ ४०॥

इसके बाद हाथ जोड़कर श्रोकृष्ण के समझ बारम्बार प्रणाम करे। हे गिरिराज हिमालय की पुत्रि ! यह रहस्य मैंने आपसे बता दिया है। इसे किसी (अपात्र) को कभी नहीं बताना चाहिए ॥ ४० ॥

> एवं यः स्तौति देवेशि त्रिकालं विजितेन्द्रियः। आविर्भवति तिचत्ते प्रेमह्स्पी स्वयं प्रभुः॥ ४९॥

।। इति श्रोमाहेरवरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवीमासंवादे सप्तचत्वारिश पटलम् ॥ ४७ ॥

हे देवेशि ! इस प्रकार जो जितेन्द्रिय साधक त्रिकाल में भगवान चिदानन्दधन परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण की स्तुति करता है, उसके (निर्मेल) चित्त में प्रेम रूपी प्रभु स्वयं बाविभूत हो जाते हैं।। ४१।।

।। इस प्रकार श्री नारदपश्चरात्र आगमगत 'माहेश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और अगवान शङ्कर के संवाद के सैंतालीसवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दो व्याख्या पूर्ण हुई।। ४७।।

अथ अष्टचत्वारिशं पटलम्

पार्वत्युवाच--

भगवन् देवदेवेश जगन्नाथ दयानिधे। कथा साध्वी महापृण्या भवता विनिरूपिता ॥ १॥

पार्वती ने कहा -

हे भगवन् !हे देवदेवेश, हे जगन्ताय, हे दयानिधे, आपके द्वारा महापुष्यदायिनि सुन्दर कथा कही गई है ॥ १ ॥

> अनुगृहोता नाथेन त्वयाहं करुणात्मना। ब्रह्मगुद्धामिदं देव यदेतत्प्रकटीकृतम्॥२॥

आप करुणात्मा स्वामी के द्वारा मैं अनुगृहीत हुई हूँ। हे देव! यह 'ब्रह्म' का गुह्य ज्ञान है जो आपके द्वारा प्रकट किया गया है।। २।।

अतः परं तु देवेश वेदितव्यं न विद्यते। तथापि प्रव्टृमिच्छामि कोऽमृतं पीय तृष्तिभाक् । ३।।

हे देवेश, इसके बाद भी अब जानने योग्य नहीं बचा। तथापि मैं पूँ छना चाहती हूँ क्योंकि कीन अमृत को पीकर तृप्ति का अनुभव करेगा ?।। ३।।

> मन्त्रराजप्रसङ्गोन सेवा ते विनिरूपिता। यथा सिष्टयन्ति देवेश वासनाः कृष्णयोषिताम् ॥ ४ ॥

वस्तुतः मन्त्रराज के प्रसङ्घ से आप द्वारा सेवा दैसे ही निरूपित हुई है, हैं देवेश ! जैसे कृष्ण की प्रियाओं की वासना सिद्धि को प्राप्त करती हैं।। ४ ।

धर्मः कृष्णप्रियाणां हि न सेवातोधिकः क्वचित्। तथापि भवता नाथ कि चित् पूजापि सूचिता । ५।।

कृष्ण प्रियाओं का धर्म 'सेवा' से अधिक कुछ भी नहीं है, तथापि हे नाथ ! आपके द्वारा कुछ 'पूजा' भी बताई गई है।। ५।।

> विधिना केन देवेश क्रियते सा कदा च कैः। एतन्मे ब्रह्मि भो विद्वन् महांस्त्वं दोनवत्सलः।। ६।।

हे देवेश ! ब्रह्म के द्वारा क्या किया जाता है ? श्रीर कब एवं किसके द्वारा किया जाता है ? हे (ब्रह्म तत्त्व के वेता) विद्वान् ! इसे ही आप बतलाइए। आप महान् एवं दीन वत्सल हैं ।। ६ ।।

शिव उवाच-

त्रिये धन्यासि धन्यासि धन्यासि मम मानसम्। त्रीणासि प्रश्नवादने सूर्योऽब्जमिव भानुना ॥ ७ ॥

शिव ने कहा-

हें प्रिय! तुम घन्य हो, घन्य हो जो कि तुमने प्रश्न पूँछकर मेरे मन का उसी प्रकार प्रसन्न किया है जैसे सूर्य कमल को खिला देते हैं।। ७।।

अतस्त्वां कथिष्यामि सुगोप्यमिष पूजनम्। सेवनां मुख्यमेवोक्तां पूजनं गौणमुज्यते। ८॥ अतः मैं तुमसे अच्छी प्रकार से गोपन के योग्य भी 'पूजन' को कहूँगा। वस्तुता सेवा ही मुख्य बताई गई है और 'पूजन' तो गौण कहा जाता है। ८॥

सेवां कर्तुमशक्तरचेत् पूज्येत्र्रुषोत्तमम्। तदहंते प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं पृच्छिसि प्रिये। १।। यदि साधक सेवा करने में अशक्त हो तो अगवान पुरुषोत्तम की पूजा करे। अत। हे प्रिये! मैं तुम्हैं वहीं बतलाऊँगा जो तुम मुझसे पूछती हो। ९॥

प्रातरुत्थाय देवेशि बह्मरन्ध्रे निजं गुरुम्।

हयात्वा पञ्चोपचारैक्च मानसैः पूजयेत्परम्।। १०।।
प्रातःकाल उठकर हे देवेशि ! ब्रह्मरन्ध्र में अपने गुरु का व्यान करके परम

तत्त्व का पञ्चोपचार के द्वारा मानस पूजन करना चाहिए।। १०॥

ततो हृदम्बुजे ह्यायेच्छ्रीकृष्णं स्वामिनीयुतम् ।
प्रसन्नवदनाम्भोजप्रियावृत्दविहारिणम्
प्रसन्नवदनाम्भोजप्रियावृत्दविहारिणम्
इसके बाद हृत्कमल में श्रोकृष्ण का ह्यान उनकी प्रिया से युक्त करके करना
चाहिए। साधक प्रसन्न मुखकमल वाली प्रियाओं के समूह में विहार करते हुए कृष्ण
का ह्यान करे।। ११॥

पूर्ववत्पूजियत्वाथ व्यवहारिवधी प्रिये ।
युववत्पूजियत्वाथ व्यवहारिवधी प्रिये ।
अनुज्ञां प्रार्थयेत्तस्य प्रबद्धकरसम्पुटा । १२ ।।
हे प्रिये ! पहले के ही समान व्यवहारिविधि से पूजा करके हाथ जोड़कर उनसे
अनुज्ञा की प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए ॥ १२ ॥

जानामि धमँ न हि मे अवृत्तिर्जानाम्यधमँ न ततो निवृत्तिः।
मायान्धकारे गहने प्रविष्टा गृहान्धकूपे पतिता प्रमादात्।। १३॥
मैं धमं को जानता हूँ फिर भी उसमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधमं
को जानता हूँ फिर भी मैं उससे विरत नहीं हो पाता हूँ। हे भगवन मैं माया
के गहन अन्धकार मे प्रविष्ठ हूँ और प्रमाद के कारण गृह के अन्धे कुएँ में
गिरा पड़ा हूँ॥ १३॥

यद्यत्करिष्यामि धुभाशुभं वा नाहं स्वतन्त्रः प्रकरोमि तत्तत् । तस्मात्क्षमस्य वियनाय सर्वं संसारयात्रामनुवर्तामानम् । १४ ।।

जो-जो भी मैं शुभ या अशुभ कर्म करूँगा उन सबसे मैं अपने को स्वतन्त्र नहीं करता हूँ। हे मेरे प्रिय नाथ! इसलिए सभी कुछ संसार की यात्रा का ही अनुवर्तन समझते हुए क्षमा करो।। १४॥

> बादायाज्ञां ततो देवि भूमि सम्प्रार्थ्यं पूर्ववत् । मलोत्सर्गविधि कृत्वा हस्तपादादिज्ञोधनम् ॥ १५ ॥

हे देवि ! फिर आजा को प्राप्त करके पूर्ववत् भूमि की प्रार्थना करके उसके बाद मलोत्सर्गविधि करके हाथ और पैर आदि घोना चाहिए ॥ १५ ॥

> पूर्ववद्देवदेवेशि दन्तगुद्धि समाचरेत्। तीर्थे वा स्वगृहे वापि स्नानं कृत्वा च पूर्ववत् ॥ १६ ॥ पूजागृहसमीपं तु गत्वोक्तासनसंस्थितः। कुङ्कुमादिशुभैद्रंव्येस्तिलकं हरिमन्दिरम्॥ १७ ॥

है देवेशि । पूर्व की ही तरह दन्तगुद्धि करना चाहिए। तीर्थ में या अपने गृह में पूर्ववत् स्नान करके, पूजागृह के समीप जाकर वहाँ उक्त आसन पर संस्थित हो कुङ्कुम आदि ग्रुभ द्रव्यों से हरिमन्दिर (लालट) में तिलक करना चाहिए।। १६-१७।।

> वामरेखास्थितो ब्रह्मा दक्षिणायामह विये। हरिमंध्यगतस्तस्मान्मध्यदेश न लेपयेत्।। १८॥ न दर्पणे च जले तैले विलोक्य तिलकी भवेत्। कृतमप्यकृतं वीक्ष्य दर्पणादौ तु यत्कृतम्।। १९॥

हें प्रिये ! हरिमन्दिर में (ललाट) ब्रह्मा बाम रेखा की ओर स्थित होते हैं और मैं (शिव) उसके दक्षिण में रहता हूँ। हरि मध्य में होते हैं इसलिए मध्य स्थान में विलक नहीं करना चाहिए। न दगेंण में और न तो जल में तथा न तेल में

देखकर तिलक लगाना चाहिए। दर्पण के आगे देखकर किए हुए तिलक न कियह हुआ ही होता है ॥ १८-१९ ॥

> मुद्रादिघारणं कुर्यात् यथा स्थानं महेश्वरि । आदौ ललाटदेशे तु गदां कौमोदिकीं न्यसेत् ॥ २०॥

हे महेश्वरि ! यथा स्थान मुद्रा आदि धारण करना चाहिए। पहले कीमोदकी गदा को ललाट में बनाना चाहिए ॥ २० ॥

> एकैकां विन्यसेद्वामपाइवं वामस्तने तथा। बाहुयुग्मे तथैकैका द्वे द्वे वा भक्तिभावतः॥ २१॥

एक-एक को वाम पार्श्व में और वामस्तन में बनाना चाहिए। दोनों बाहुआं पर एक-एक अथवा दो-दो या जैसा भक्तिभाव हो वैसा बनावे ॥ २१ ॥

उदरे पञ्च चक्राणि हृदि चक्रत्रयं न्यसेत्। चक्रद्वयं ततो देवि दक्षपादर्वे नियोजयेत्॥ २२॥ त्रीणि दक्षस्तने युज्यात् द्वयं दक्षभुजे वहेत्। दक्षकर्णस्य मूले तु चक्रयुगमं प्रविन्यसेत्॥ २३॥

पेट पर पांच चक्रों को और हृदय में तीन चक्र का न्यास करे। इसके बाद है देवि! दक्ष (= दक्षिण) पार्श्व में दो चक्र का न्यास करे; तीन चक्र दाहिने स्तन पर बनाकर दो चक्र दाहिनी भुजा में बनावे। दाहिन कर्ण के मूल में दो चक्र पर बनाकर दो चक्र दाहिनी भुजा में बनावे। दाहिन कर्ण के मूल में दो चक्र पर बनाकर दो चक्र दाहिनी भुजा में बनावे। दाहिन कर्ण के मूल में दो चक्र पर बनाकर हो २२-२२॥

कण्ठदेशे तथा वामबाही चक्रं सकृत्सकृत्। एक एव भवेद्देवि शङ्घो वामकपोलगः।। २४।।

कण्ठ में और बाएँ बाहू में एक-एक चक्र बतावे। हे देवि! वाम कपोल में मात्र एक ही शङ्ख चित्रित करे।। २४।।

वामपार्श्वेतथा चैक: स्तने वामे द्वयं न्यसेत्। वामबाही त्रयं विद्याद्वामकर्णे द्वयं तथा।। २५।।

वाम पार्श्व में एक और वाएँ स्तन (छाती) में दो (शह्व) का न्यास करे। बाएँ बाहु में तीन जानना चाहिए और बाएँ कर्ण में दो (शह्व) का न्यास करे। २५॥

अद्यरेऽपि द्वयं न्यस्य शुभया गोपिकामृदा। दक्षबाही तथा चैकमेवं शङ्खान् प्रविन्यसेत्।। २६।। अधर में भी दो चक्र का न्यास ग्रुम गोपी चन्दन से करे और दाहिने हाथ में एक ही शक्क का प्रकृष्ट रूप से न्यास करे।। २६॥

> पद्ममुद्राद्वयं वामे दक्षिणेऽपि तथा न्यसेत्। नाममुद्रा तु सर्वाङ्गे विभृयाद्भक्तितत्परः॥ २७॥

बाएँ और दक्षिण हाथ में भी दो पद्म-मुद्रा का न्यास करना चाहिए। साधक को चाहिए कि नाम मुद्रा का सम्पूर्ण शरीर में अत्यन्त भक्तिभाव से न्यास करे।। २७॥

> अधृत्वा तुलसीमालामकृत्वायुघलाञ्छनम् । न सिद्धिमाप्नुयात्कोऽपि सत्यमेव वचो मम ।। २८ ॥

यह मेरा सत्य वचन है कि (हाथ या गले में) विना तुलसो की माला घारण किए और भगवान के (शङ्ख, चक्र, गदा, बद्म आदि) आयुधों के चिह्नों को बिना 'चिह्नित किए कोई भी साधक सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है।। २८॥

पार्वत्युवाच---

अधृत्वायुष्ठलिङ्गानि यः कुर्याद्भजनादिकम् । न सिद्धिमाप्नुयादत्र मनो मे मुह्यतेतराम् ॥ २९ ॥

पार्वती ने कहा —

'जो साधक बिना आयुघों के चिह्नों को चिह्नित किए हुए भजन आदि करता है वह सिद्धि को नहीं प्राप्त करता है'—इस बात में मेरा मन अत्यन्त मोह को प्राप्त कर रहा है।। २९॥

> रसरूपस्य कृष्णस्य न चास्त्यायुष्ठधारणम् । कस्मात्कृष्णप्रिया साक्षात् बिभृयाद्वैष्णवायुष्ठम् ॥ ३० ः।

वस्तुतः रस रूप ऋष्ण का तो कोई आयुद्धों का घारण नहीं होता। फिर साक्षात् (रस रूप से ऋष्ण को प्राप्त) कृष्णप्रिया इन वैष्णव आयुद्धो को कैसे घारण करे ?।। ३०।।

> यो यो यद्देवता भक्तः स बिमित्त तदायुधम् । प्रयोजनं तु नास्त्येव तथाप्यादिश्यते त्वया ॥ ३९ ॥

जो जो जिस देवता का भक्त होता है वह तो उस देवता का आयुध धारण करता है। (रस रूप कृष्ण लीला के प्यान में) यद्यपि इसका कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी आपके द्वारा इसका आदेश क्यों किया गया है ? ॥ ३१ ॥

तस्मानमे संशयो जातो व्यथते हृदि शल्यवत् । तमुद्धर दयासिन्धो येन मे निश्चयो भवेत् ॥ ३२ ॥

ईसिलए मुझे सन्देह हुआ है और यह सन्देह बाण के समान हृदय में चुभ रहा है। हे दयासिन्थो ! इस सन्देह का आप निवारण करें जिससे मेरा मन एक निश्चय पर पहुँच जाय ॥ ३२ ॥

शिव उवाच-

श्रुण देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छिति । यस्य श्रवणमात्रेण मनो निःसंशयं भवेत् ॥ ३३ ॥

शिव ने कहा --

हे देवि ! जो आप पूँछ रही है उसी को आपसे कहूँगा, सुनिए। इसकें श्रवणमात्र से हो मन का संशय दूर हो जाता है '। ३३ ॥

> अद्वैतं भावयेत्रित्यं द्वैतभावं न भावयेत्। द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवक्ति। ३४॥

मन में अद्वैत कृष्ण की ही भावना करनी चाहिए। द्वैत की भावना कभी भी नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः द्वैत की भावना से संसार का नित्य रूप से निवर्तन नहीं होता है।। ३४।।

> अद्वैतभावनिष्णातः संसारं नैव पश्यति। तस्मादद्वेतभावेन यः पश्यति स पश्यति॥ ३५॥

अद्वैत भाव में निष्णात साघक (ससार में रहकर भी) संसार को नहीं देखता है। इसलिए जो अद्वैत भाव से (ससार को) देखता है वही साधक वस्तुतः (ब्रह्म को) देखता है।। ३५।।

> अयं ब्रह्मा हरिरय रुद्रोयमिति व भिदा। यः पश्यति महेशानि तस्य कालकृतं भयम् ॥ ३६॥

हे महेशानि ! जो साधक 'यह ब्रह्मा हैं, यह हरि हैं, और यह रुद्र हैं ऐसा भेद करके ब्रह्म को देखता है उस साधक को कालकृत भय सदैव बना रहता है।। ३६।।

> प्रपञ्चो ब्रह्मतन्मात्रं ब्रह्मादिस्थावरान्तकः। द्वे ब्रह्मणीति वेदोक्तिर्लीलाभेदकृता भवेत्।। ३७॥

एकमेवादितीयं चेत्यन्यथा तु विरुद्धधते। तस्माद्दैतं तु देवेशि भ्रममात्रं न संशयः।। ३८।।

ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त यह समस्त प्रपन्त ब्रह्म से ही निर्मित है। माया जीर ब्रह्म यह जो दो रूप से ब्रह्म की वेदोक्ति है वह लीला के भेद से की गई है अन्यथा 'एकमेवाद्वितीयम्'—यह वेदोक्ति तो विरुद्ध हो जायगी। इसलिए हे देवेशि! द्वित का भाव, भ्रममात्र है, संशय नहीं।। ३७-३८।।

> चन्द्रद्वैतं प्रतीयेत जलोपाधिप्रसङ्गतः। जलोपाधिनिरासेन चन्द्राद्वैतं प्रकाशते ॥ ३९ ॥

वस्तुता आकाशस्य चन्द्र का जल में प्रतिबिम्ब दो चन्द्र को प्रकट करता है। किन्तु जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब है। यह असली चन्द्र नहीं हैं। असली चन्द्र तो आकाश में है—इस प्रकार जब अम का निराकरण हो जाता है तो चन्द्र का अद्वैत होना प्रकाशित हो जाता है।। ३९॥

ब्रह्मण्यपि तथा द्वैतमज्ञानेन विजृम्भितम्। अज्ञानस्य निरासे तु ब्रह्माद्वैतं यथा भवेत्।। ४०।।

इसी प्रकार से ब्रह्म में भी अज्ञान के कारण (माया और ब्रह्म रूप) द्वीत का भान हमें होता है अरे जब अज्ञान का निराकरण हो जाता है तब ब्रह्म के अद्वीत होने का भाव वैसे हो ही जाता है।। ४०।।

क। शिवः को हरिर्बह्या 'एकत्वमनुपद्दयतः'। तस्मादायुष्ठलिङ्कानां घारणं न विरुध्यते । ४१ ॥

कीन शिव हैं, कीन हिए हैं और कीन ब्रह्मा हैं ? सभी में एकत्व का दर्शन करने वाला साधक ब्रह्म का दर्शन करता है। इसलिए आयुष एवं चिह्नों का घारण करना विष्ढ नहीं है।। ४१॥

आत्मश्रेयः प्रवृत्तानां तामससर्गमाश्रिता। दोषा विनायकाश्चान्ये भ्रंशयन्ति मनःश्रिताः ॥ ४२।।

तामसी सृष्टि के आश्रित भूतिपशाच आदि आत्म कल्याण में प्रवृत्त सावक के दीव दर्शन से विनायक आदि भूतगण मन में आश्रय लेकर साधना की अह कर देते हैं।। ४२।।

पलायन्ते च ते सर्वे वैष्णवायुधदर्शनात्। जाज्वस्यमानज्वस्रनज्वास्येवाकुलीकृताः ॥ ४३॥ जब वैष्णव आयुधों का उन्हें दर्शन हा जाता है तो वे सभी भाग जाते हैं। जल रहा हूँ, जला रहा है आदि कड़कर वे जलते हुए अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं।। ४३।।

> सत्त्वोपाधिगतं ब्रह्म विष्णुस्तस्यायुधान्यपि। दृष्ट्वा दोषाः पलायन्ते सिहं दृष्ट्वा यथा गजाः॥ ४४॥

बहा तो सच्वोपाधिगत हैं विष्णु और विष्णु के आयुष भी सच्वोपाधिगत हैं अतः साधक के दोष इन आयुषों को देखकर उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे सिह को देखकर हाथी पलायन कर जाते हैं। ४४।।

> अन्यथाविश्य चित्तं ते भजनं वारयन्ति हि । तस्मादायुष्टिङ्गानां घारणं सर्वथा प्रिये । ४५ ॥

यदि आयुध का चिह्न अङ्कित नहीं रहता है तो वे दोष चित्त में आविष्ट होकर भजन में बाघा पहुँचाते हैं। अतः हे त्रिये ! आयुध और उनके चिह्नों को सर्वया भारण करना आवश्यक है।। ४५।।

> दृष्टवा बिभ्यति पापानि चक्राङ्कितवर्ग्धरम् । रजस्तमोसयाभावा न स्पृशन्ति कदाचन ॥ ४६ ॥

पाप चक्राङ्कित शरीर धारण किए साधक को देखकर डर जाते हैं। अतः राजस या तामस भाव उसे कभी भी स्पर्श नहीं कर पाते हैं।। ४६।।

> ये लोकरञ्जनार्थाय चक्राद्यायुघलाञ्छनाः । पाखण्डिनः पतन्त्येते निरयेषु पुनः पुनः ।। ४७ ।।

जो समार के मनोरञ्जन के लिए चक्र आदि आयुष के चिह्नों से अपने को चिह्नाङ्कित करते हैं ये पाखण्डी पुनः पुनः नरकों में गिरते हैं ॥ ४७ ॥

> तस्माद्भजनाङ्गतया बिभृयादायुघानि तु । भजन्सिद्धिमवाप्नोति पापदोषाद्यसंश्रितः ॥ ४८ ॥

इसलिए भजन के अङ्गभूत होकर आयुघों को घारण करना चाहिए। इससे पाप एवं दोष आदि से असंश्विष्ट होकर भजन करता हुआ साघक सिद्धि को प्राप्त करता है।। ४८॥

द्वारपूजां ततः कृत्वा प्रविशेद्यागमन्दिरम्। त्रिवीमपार्दिणचातेन भौमांस्तालत्रयेण च॥४९॥

प्रथमत। द्वारपूजा करके किर याग मन्दिर में प्रवेश करे। साधक को तीन

बार वाएँ पैर को पटक कर और तीन बार ताली बजाते हुए प्रवेश करना चाहिए ॥ ४९ ॥

अन्तिरिक्षस्थितान् दिव्यद्ष्टचा भूतान् दिवि स्थितान् । उत्सार्ये भूमि सम्प्रार्थ्यं सम्प्रोक्ष्य विधिनासनम् ॥ ५० ॥ अन्तिरिक्षस्थित और स्वर्गं स्थित भूतों को दिव्य दृष्टि से अलग हटाकर भूमि की प्रार्थना करके और विधिपूर्वक आसन का सम्प्रोक्षण करके प्रवेश करना चाहिए ॥ ५० ॥

आचम्य च शिखां बध्वा मूलमन्त्रेण देशिकः। स्त्रीवेषधारी सुभगः ताम्बूलवदनोर्चयेत्।।५१॥

।। इति श्रीमाहेरबरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्बादे अष्टचत्वारिशं पटलम् ।। ४८ ॥

आचमन करके मूलमन्त्र से साधक शिखा बन्धन कर स्त्रीवेष धारण करके सुन्दरः वेषमुषा में ताम्बूल खाकर श्रोकृष्ण की अर्चना करे । ५१।

श इस प्रकार श्रीनारदपाखरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान शाङ्कर के संवाद के अड़तालीसर्वे पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४८॥

अथ एकोनपञ्चाशत्तमम् पटलम्

शिव उवाच-

पृथिव्यादीनि भूतानि ब्रह्मणि प्रविलाप्य च। क्रमेणोत्पाद्य च पुनः पवित्राणि विभावयेत् ॥ १ ॥

मगवान् शङ्कर कहते है-

पृथिवी आदि [पञ्ज] भूतों की गुद्धि करके और ब्रह्म में विलीन करके पुनः क्रम से उनका पवित्रि से विभावन करके (घुमाकर) शोधन करे।। १।।

भूतशुद्धि विधायेत्थं प्राणान् संस्थापयेत्युनः। पः चाशनमातृका न्यस्य न्यसेत् ऋष्यादिकं ततः ॥ २ ॥

इस प्रकार भूतों की गुद्धि करके पुना उसमें प्राणीं की संस्थापित करके पचास मातृकाओं का न्यास करे। फिर ऋषि आदि का न्यास करना चाहिए।। २।।

मूलमन्त्राक्षरन्यासं ततः कृत्वा समाहितः। ध्यायेत्स्वहृदयाम्भोजे कृष्णं कमललोचनम् ॥ ३॥

इसके बाद समाहित मन से मूल मन्त्र के (द्वादश) अक्षरों का न्यास करके अपने हित् कमल में कमललोचन भगवान् कृष्ण का व्यान करे।। ३॥

दिव्यरत्निकरीछं तु मूर्वित सन्धिन्तयेत् प्रिये। अथवोष्णोषकं ह्यायेद्दाडिमीकुसुमप्रमम् ॥ ४॥

है प्रिये! शिर में दिव्य रत्न जटित मुकुट धारण किए हुए कृष्ण का घ्यान करे, अथवा (उनके द्वितोय स्वरूप) दाडिम (अनारा) के फूल के समान हल्के लाल प्रभा वाले पगड़ी का घ्यान करे। १४ ॥ 💛 💯

अनर्घरतनिलसन्मुक्ताकुण्डलमण्डितम्। उष्णीषबद्धरत्नेन वत्तुं लेनातिभास्वता ॥ ५ ॥

दीसिमान रत्नों से शोभायमान, मुक्तामणि से जटित कुण्डलों से सजे हुए भीर रत्नजित, अर्थन्त प्रकाशमान कपोल एवं पगड़ी वाले मगवान कृष्ण का ध्यान करे ॥ ५ ॥

३० भा०

धिक्कुवैन्तमिव प्रोद्यत्पूर्णचन्द्रस्य मण्डलम् । ्दिव्यमुक्ताफलस्रजा वेदिटतोष्णीषसुन्दरम् ।। ६ ॥

पूर्णिमा के उदित होते हुए चन्द्र की शोभा को मानों तिरस्कृत करने वाले कृष्ण के मुख-छिष का व्यान करे। दिव्य मुक्ता-फल की माला से वेष्टित सुन्दर उष्णीष (पगड़ी) वाले कृष्ण का व्यान करे।। ६।।

> क्षीरसागरकल्लोलकोभातिशयसुन्दरम् । न्यस्तरत्नप्रभोद्भासि वसानममलाम्बरम् ॥ ७ ॥

कल्लोल करते हुए क्षीरसागर की अत्यन्त सुन्दर शोभा को धारण करने वाले जीर जड़े हुए रत्नों से निकलती हुई प्रभा वाले सुन्दर पीताम्बर पहने हुए भगवान किला की व्यान करे। अ

> प्रांतपल्लवविश्राजेंस्लम्बिमुक्तालिभास्वरम् । द्यानमुक्तरं वासो नवीनजलदप्रभम् ॥ ८॥

नवीन मेघ की प्रभा बाले, प्रान्तभाग में पत्लव की शोभा घारण करने वाले अर्थात् हरे रंग की किनारे वाले, नीचे तक लटकते हुए मुक्तामणि की कान्ति से युक्त उत्तरीय बस्त्र को घारण किये हुए भगवान् कृष्ण का ध्यान करना चाहिए॥ द॥

वलयाङ्गदकेयूरभ्राजमानकरद्वयम् । वैडूर्यमुक्तामाणिक्यहारभारविराजितम् ॥ ९ ॥

उनके दोनों हाथ कञ्जन और केयूर से सुशोभित हैं। वह वैदूर्यमणि और मुक्ता एवं माणिक्य के हार से सुशोभित हैं॥ ९॥

> दिव्याङ्गरागसौरभ्याघ्राणमत्तमधुत्रतान् । लीलारविन्दभ्रमणैवरियन्तं मृहुर्मुहुः ॥ १०॥

दिव्य अङ्ग-राग की सुरिम से आकृष्ट हुए मतवाले श्रमरों के झुण्हों को लीला कमल से बार-बार भगाते हुए कृष्ण का व्यान करे।। १०॥

> हीरालिदशनज्योत्स्नां विकिरन्तं स्मिताननात् । रसालभृकुटिलीला' विह्वलोकृतवस्लभम् ॥ ११ ॥

भगवान कृष्ण की दन्त पिंड्कित मानों उस हीरे की पिंड्कित के समान है जो ज्योतस्ता को उगल रहे हों। उनकी मन्द मन्द मुस्कान से ये होरे की तरह प्रतीत

<mark>१. '</mark>भृकुठोभाव' **६० पाठ:** ।

होते हैं। ये टेड़ी एवं विलास युक्त भृकुटी युवितयों को विह्वल कर देने वाली है—ऐसे कृष्ण का व्यान करना चाहिए ॥ ११॥

> नीलकुञ्चितसुस्निग्धालकशोभिमुखाम्बुजम् । पाटीरतिलकोद्भासिभालस्थलमनोहरम् ।। १२ ॥

नीले, घुंघराले, चिकने बालों की लटें उनके मुख कमल पर शोमायमान हैं। चन्दन के तिलक से दीधिमान उनका ललाट स्थल अत्यन्त मनोहर हैं।) १२।।

> ताम्बूलपूर्णवदनं चाम्पेयद्यतिविग्रहम् । सदाषोडशवर्षीयं 'ध्यायेत्कृष्णं हृदाम्बुजे ॥ १३ ॥

उनका मुख ताम्बूल से पूर्ण है। उनका बदनार बिन्द चम्पक पुष्प के समान हलका नोला द्युतिमान है। साधक को चाहिए कि अपने हृत्कमल में सर्वा सोलह वर्ष की अवस्था धाले कृष्ण का घ्याम करे।। १३॥

वामभागातां तस्य स्वामिनीं संस्मरेत् प्रिये।
कुञ्चितानङ्गकोदण्डभ्रूलताविश्रमिश्रयम् ॥ १४॥
हे प्रिये ! उनके वाम भाग में बैठी हुई स्वामिनी का स्मरणं करे। उनकी
देढ़ी भौहें कामदेव के घनुष के भ्रम को उत्पन्न कर शोभित हैं॥ १४॥

रसानन्दाङ्कुरीभूतदेशनाविलिशासुरास् ।

सीनाङ्जखञ्जरीटोग्रगर्वनिर्नाशिलोचनास् ॥ १५ ॥

सीनाङ्जखञ्जरीटोग्रगर्वनिर्नाशिलोचनास् ॥ १५ ॥

उनकी दन्तपङ्कित की जगमगाहरु मानो आनन्दरंस के अङ्कुर को पैदा कर

रही हैं। मीन, कमल और खञ्जरीर नामक पक्षी के उपमान के उग्रगर्व को मी नष्ट

करने वाली आंखों को जिन राधिका ने घारण किया है, उसका ज्यान करना

न्वाहिए॥ १५॥

तिलस्नलसन्नासानटन्मोक्तिकभूषणाम् ।
प्रान्तमुक्तावलिभ्राजद्भालभूषणभृषित्ताम् ॥ १६ ॥
प्रान्तमुक्तावलिभ्राजद्भालभूषणभृषित्ताम् ॥ १६ ॥
उनकी नासिक में तिल के पुष्प के समान श्वेत मुक्ता जटित आभूषण हिलते
उनकी नासिक में तिल के पुष्प के समान श्वेत मुक्ता जटित आभूषण के हिए चमक रहे थे और भाल के प्रान्त भाग की पिड्वित से प्रकाशमान माल के आभूषणों से विभूषित मुख है ॥ १६ ॥

मुखेन्दुमण्डलप्रोद्यत्कस्तूरीतिलकाङ्किताम् । 'कपोलपालिविल्ठन्मुक्तादाममनोहराम् ॥ १७॥

रै. वार्षिक्यं इ० पाठः।

⁻२. 'कपोलावलि' इ० पाठः ।

चन्द्ररूपी मुख के मण्डल से शोभायमान ललाट पर कस्तूरी का तिलक सङ्कित है। स्वामिनी के कपोलों की आभा अत्यन्त मनोहर मुक्ता की शोभा को मानों चुरा रही हो।। १७॥

> किंशुकाभांशुकद्यत्या प्रसर्पेन्त्याध ऊध्वंतः। सिन्दूरपूरितमिव कुर्वाणां वियदन्तरम् ॥ १८ ॥

किंशुक पुष्प की आभा की द्युति से नीचे और ऊपर प्रसर्पण कर रही मानों ऐसी प्रतीव हो रही है कि माँग में मानों सिन्दूर भरा हो ॥ १८ ॥

> सुवणेरचनाचञ्चन्मुक्तारत्नविचित्रिताम् । दधानां नीलजलदश्यामलां कुचपट्टिकाम् । १९ ॥

सुवर्ण से बने चन्चलमुक्ता आदि रत्न से चित्र वित्र नीले बादल के समान स्यामल कुचपट्टिका को वे घारण की हुई हैं।। १९॥

> प्रान्तलम्बितमुक्तादिच्छटाविच्छुरिताविन । नीलचण्डातक चारु दघानां स्वर्णसूत्रवत् ॥ २०॥

पृथ्वी पर प्रान्तभाग तक लटके हुए मुक्तादि की छटा से शोभायमान स्वर्ण से युक्त मनोहर नीले लेंहगे को घारण की हुई है।। २०।)

सुवर्णमुक्तामणिहारशोभां ग्रैवेयविद्योतितकम्बुकण्ठीम् । माणिक्यमङजीररणत्पदाब्जां श्रीस्वामिनीं चेतसि चिन्तयामि ।। २९ ।।

मैं उन श्रो स्वामिनी का हृदय में चिन्तन करता हूँ जो सुवर्ण एवं मुक्तामणि के हार से शोभायमान हैं, जो चमकते हुए ग्रैं वेयक को घारण किए हैं जिनका कण्ठ कम्बु (गोलाई) लिए हुए हैं, जिनके पद कमल में माणिक्य झिलमिला रहा है और मञ्जीर घुँवह गुञ्जित हो रहा है।। २१।।

ततस्तौ मानसैदिव्यैरपचारैः प्रपूजयेत् ॥ २२ ॥ दत्त्वा मैंवेद्यमीशानिवै स्वदेवं समाचरेत् । मूलाधारे महाकुण्डे चतुरस्रं विचिन्त्य च ॥ २३ ॥

इस ज्यान के अनन्तर उन दोनों का दिव्य एवं मानस उपचारों के द्वारा पूजन करना चाहिए। हे ईशानि ! नैबेद्य देकर तब बिल वैश्वदेव करना चाहिए। मूलाधार रूप महाकुण्ड में चतुरस्र का चिन्तन करना चाहिए।। २२-२३।।

चतुभिरात्मिभः वल्ढप्तं संविदग्तिसमुज्ज्वलम् । जुहुयादाहुतीस्तत्र कामक्रोधादिकाः प्रिये ॥ २४ ॥

हे प्रिये ! उस अग्नि कुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में साघक को अपने काम, क्रोघ आदि का हवव करना चाहिए ॥ २४ ॥

कामः क्रोधक्च लोभक्च मोहक्च मदमत्सरौ। जुहुयाज्ज्ञानपावके ॥ २५ ॥ अधमन्तिमज्ञानं 💮 काम, फ्रोघ, लोभ, मोह, मद और मत्सर-इन अधर्म एवं असत्-ज्ञान को ज्ञान रूप अग्नि में हवन कर देना चाहिए ॥ २५ ॥

दग्धकामादिकलुषमात्मानं वासनात्मकम्। ध्यात्वा कृतक्षण। किञ्चिद्दत्वाचमनमेतयोः। २६।। काम आदि अपने वासनात्मक कालुष्य को (उस ज्ञानाम्नि में) जलाकर भगवान्

का घ्यान कर इनको आचमन देकर मोजन करना चाहिए ॥ २६ ॥

भुञ्जानौ मनसा ध्यात्वा दत्त्वा चैव पुनर्जलम्। ताम्बूलवीटिकां दत्त्वा यथाशक्ति जपेद्धिया ॥ २७ ॥

मन से ज्यान कर कि ये दोनो (स्वामिनी राधा और कृष्ण मोग जगा चुके हैं; उन्हें पुन। जल आदि देकर ताम्बूल को बीड़ा देकर यथाशक्ति मन्त्र का मन में जप करना चाहिए॥ २७॥

अन्तःपूजां समाप्यैवं बहिःपूजां समारभेत्। पूजायन्त्रं लिखेत् पटटे सौवणे राजते च वा ॥ २४ ॥ इस प्रकार अन्तः(पूजा (मानसोपचार) समाप्त करके बहि। पूजा प्रारम्भ करे। सुवर्ण या चौदी के एक पट्ट पर पूजा यन्त्र लिखना चाहिए ॥ २८ ॥

ताम्रे चापि महेशानि श्रीपणींचन्दनोद्भवे। षट्कोणमादौ निर्माय शक्ति निभिद्य विह्निना ॥ २९ ॥ अब्टकोणं ततः कुर्यात् तत्त्रकारं शृणुब्ब मे । चतुरसं लिखेदादी ऋजुरेखं मनोहरम्।। ३०॥ हि महेशानि ! ताम्र पत्र पर भी , और चन्द्रनोद्भव श्रीपणी प्र पूजा यान्त्रु

लिखा जा सकता है।

पहले एक षट्कोण बनाकर विद्व द्वारा शक्ति का भेदन करे। उसके बाद बाठ कोण बनावे जिसकी विधि मुझसे सुनिए। पहुछे चतुरस्र बनाकर एक सरल सीघी रेखामाक्व्य पार्वति। अनोहर रेखा बनाए ॥ २९-३० V

पूर्व रेखामू ध्वेभागाद् सन्धिभेदक्रमेण मध्यभागान्महादेवि

पूर्वरेखामध्यभागात् रेखामाकृष्य पार्वति । मध्यभागान्महादेवि सन्धिभेदक्रमेण च । दक्षरेखां विनिभिद्य बहिः किञ्चित्प्रसारयेत् । दक्षरेखामध्वगतामाकृष्य परमेश्वरि ॥ ३२ ॥

है पार्वति ! पूर्व रेखा के ऊर्व्याग से एक रेखा खीचे । हे महादेवि ! सिंघ एवं भेद क्रम से मध्यभाग से रेखा खींचे । हे पार्विति ! पूर्व रेखा के मध्यभाग से एक रेखा खोंचकर हे महादेवि ! सिंघ भेद क्रम से मध्य भाग से रेखा खींचनी चाहिए । दक्षिणरेखा को काटते हुए कुछ्बाहर की ओर फैलाए । हे परमेश्वर ! दक्षिण रेखा को ऊष्वंगत करके खींचना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

> प्रतीचिमानयेदाशां पूर्ववद् बहिरानयेत्। तामाकृष्योत्तरगतरेखां मूर्द्धानमानयेत्। १३३।।

पूर्व दिशा को रेखा लाना चाहिए और पूर्ववद् बाहर निकालना चाहिए। इस उत्तरगत रेखा को खींचकर मूर्खा की ओर निकालना चाहिए।। ३३।।

प्राग्वद्बिहः प्रसृमरां तामाकृष्य मुलोचने ।
पूर्वरेखोपिर स्थाप्य अग्रदेशेन मेलयेत् । ३४ ॥
पहले की भाँति, हे मुलोचने ! उस रेखा को खोंचकर पूर्व रेखा के ऊपर

अष्टकीणमिवं कृत्वा वेष्टयेद् वृत्तरेखया । तेल्लग्नमूलपत्रञ्चे लिखेद् द्वादशयन्त्रकम् । ३५ ॥

इस प्रकार आठ कोण बनाकर एक वृत्त से उसे घेर देना चाहिए। उस वृत्त से लगा हुआ कमल का पात्र बनावें जो बारह पंखुड़ियों (यन्त्र) वाला हो ॥ ३५ ॥

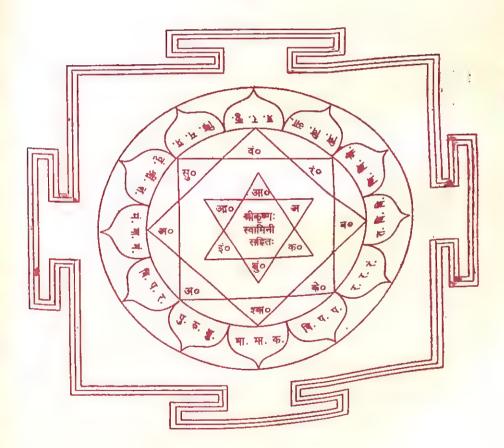
> तस्योपरि लिखेद् देवि वृत्तं पूर्णेन्दुसन्निभम् । चतुरस्रत्रयं कुर्याच्चतुर्द्वारं मनोहरम् ।। ३६ ॥

है देवि ! उसके अपरं पूर्णेन्दु के समान एक वृत्त बनावें । तीन चौकोण (चेतुरस्त्र) बनावे । फिर मनोहर चार द्वार यन्त्र पर अख्ट्रिद्ध करना चाहिए ॥ ३६ ॥

पूजापीठं समारोप्य पूजयेच्च ततः परम् । सामान्यविधिना देवि सामान्यार्चं प्रकल्पयेत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार पूजापीठ बनाकर उसके वाद उस यून्त्र की पूजा करनी चाहिए। है देवि ! पहले सामान्य विधि से सामान्य अर्घ की परिकल्पना करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

पूजा यन्त्र





स्ववामभागे देवेशि जलेन चतुरस्कम्। कृत्वाभ्यच्यक्षितेरक्तगैन्धचन्दनलालितेः ॥ ३८॥

पाद्यं एवं अघं विधि — १ : 😕 🤨 💎 🔑 हे देवेशि ! अपने वाम भाग में जल से एक चौकोर चतुरस बनावे। उस जल से बने चतुरस्र को पूजा अक्षत, रक चन्दन एवं गन्ध आदि से करे ॥ ३८ ॥

तत्राधारं प्रतिष्ठाच्य पूजयेद्वह्निमण्डलम्। शङ्खं वान्यतरत्पात्र तत्र संस्थाप्य सुन्दरि ॥ ३९॥ उस आधार पर प्रतिष्ठा कर वित्तु मण्डल की पूजा करे। हें सुन्दरि ! शहु एवं अन्य पात्रों को वहाँ यथास्थान रखे ॥ ३९ ॥

कलाभिः सहितं तत्र पूजयेत्सूर्यमण्डलम्। तत्र शुद्धोदकं पूर्व चन्द्रगन्धादिमिश्रितम् ॥ ४०॥ कलाओं (किरणों) के सहित वहाँ सूर्यमण्डल की पूजा करनी चाहिए। वहाँ चन्द्र एवं गन्धादि से मिश्रित शुद्धोदक पात्र को भरकर रख देना चाहिए॥ ४०॥

तत्र तीयन्ययावाह्य भित्वा सूर्यस्य मण्डलम् । अभिवन्त्रयाष्ट्रधा मूलमन्त्रेण कुनुमादिभिः॥ ४९॥ सूर्य मण्डल को भेदकर वहाँ तोथों का आवाहन करके पुष्प आदि एवं सूलमन्त्र से बाठ प्रकार से उसका अभिमन्त्रण करना चाहिए ॥ ४१ ॥

सुरक्या चामृतीकृत्य शङ्खमत्स्यी प्रदशंयेत्। अनेनैव विधानेन पाद्यमधं प्रकृत्ययेत् ॥ ४२ ॥ सुरिभ से अमृतोक्तत करके बाह्व एव मत्स्य (मुद्रा) का प्रदर्शन करना चाहिए। इस प्रकार के विधान से पाद्य एवं अर्घ को परिकल्पना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

कांस्यज मघुपकथि तथैवाचमनीयकम् एवं पात्राणि संस्कृत्य पीठपूजां समारभेत् ॥ ४३॥

कांस्य पात्र में मधुपर्क के लिए उसी प्रकार आवमनी एवं अन्य पात्रों की संस्कृत करते पीठपूजा प्रारम्भ करे ॥ ४३ ॥

मण्डूकाधारशक्ती च कूर्मोडनस्तवराहकी। पृथिवी च जलं तेजो वायुराकाश एवं च ॥ ४४ ॥ मण्डूक और आधारमिति—कूर्म और अनन्त वर्शाह, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश की पूजा करे।। ४४॥

<mark>अहङ्कारो महत्तत्त्वं प्रकृतिः पुरुषस्तशा।</mark> रत्नद्वीपो ब्रह्मनालः कल्पद्रुमवनं ततः।।४५॥

अहस्क्कार, महत्तत्व, प्रकृति और पुष्प की पूजा करे। इसके बाद रत्नद्वीय, प्रह्मनाल और कल्पद्रुम के वन की पूजा करे।। ४५।।

मन्दारोद्यानमीशानि पारिजातवनं ततः। हरिचन्दनमुद्यानं वैदूर्यद्रुमवाटिका ॥ ४६॥

हे ईशानि ! इसके बाद मन्दार के उद्यान और पारिजात पुष्प के वन की पुजा करे । हरिचन्दन के उद्यान और वैड्यंद्रुम की वाटिका की पूजा करे ॥ ४६॥

दिव्यमुक्तावनं चैव प्रवालद्भुमवाटिका। सूर्यकान्तद्भुभोद्यानं पद्मरागवनं ततः॥ ४७॥

दिव्यमुक्तावन और प्रवालद्रुम की वाटिका, सूर्यंकान्तद्र्म के उद्यान और इसके बाद पदारागमणि के वन की पूजा करे।। ४७॥

महापद्मवनं चेव मणिगृहमनुत्तमम्। चतुःषष्टिमणिस्तम्भमण्डपस्तु ततः परम्।। ४८।।

महापदावन की तथा मणि से निर्मित उत्तम गृह की पूजा करे। इसके बाद मणिगृह के अन्दर चौसट मणिनिर्मित स्तम्भों के मण्डप की पूजा करे।। ४८।।

> रत्नसिहासनं देवि सस्य पादचतुष्टये । धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वयं विह्निदिक् क्रमात् ॥ ४९ ॥

है देवि ! रहन से निमित सिंहासन की और सिंहासन के धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वयं रूप चार-पाद की पूजा विह्न (पूर्व) दिक् के क्रम से करे।। ४९।।

> एवं पीठाचंनं कृत्वा बब्वावाहनमुद्रिकाम् । स्वामिनीसहितं कृष्णं ब्यात्वायाकुलचेतसा ॥ ५० ॥

इस प्रकार पोठपूजा करके आवाहनी मुद्रा बाँधकर शान्त मन से स्वामिनी सहित श्रीकृष्ण का ज्यान करना चाहिए।। ५०॥

> हृद्यागतिमिति ध्यायन् सामरस्यमयं महः। नेत्रद्वारेण कुसुमं जलाक्षतसमन्वितम्।। ५१।।

स्वामिनी राघा और श्रीकृष्ण का सामरस्य (एकीकृत) विग्रह हृदय में विराज-मान है—ऐसा व्यान करते हुए नेत्र द्वार से पुष्प जल एवं अक्षत से युक्त पुष्प को मनसा चढ़ाना चाहिए॥ ५१॥ यन्त्रराजोपरि क्षिप्त्वा प्राणन्यासं समाचरेत्। आवाहनादिकां मुद्रां दर्शयेदथ पार्वति ।। ५२ ।।

(राघा कृष्ण के) यन्त्रराज के ऊपर (उन जल एवं अक्षत से युक्त पृष्पों को मन से) चढ़ाकर साधक को प्राण न्यास' करना चाहिए। हे पार्वति ! उसके बाद साधक को आवाहन आदि (नौ) मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ५२ ॥

पाद्यपात्रोदकेनेव पाद्यं दद्याद्विचक्षण।। अर्ध्यपात्रोदकेनैव दद्यादध्यं च मूर्द्धनि ॥ ५३॥

विचक्षण साधक को चाहिए कि पाद्य-पात्र के जल से ही पाद्य दे और मूर्घा पर बर्धि-पात्र के जल से ही बर्ध समर्पित करे।। ५३।।

मधुपकं ततः कृत्वा दद्यादाचमनीयकम्। पुष्पतैलं ततो दत्वा दर्शयेनमिणपादुकाम ॥ ५४॥

इसके बाद (उन यन्त्रराज का) मधुपर्क करके आचमन बादि कराए। इसके बाद पुष्प और तैल समिवत करके मिण की पादुका (खड़ाऊ) दिखाना चाहिए ॥ ५४ ॥

स्नानं दिव्यजलैर्देवि वासः खिवतरत्नकम्। भूषणादि समप्यीय दिन्यगन्द्रार्वणे ततः ॥ ५५॥ हे देवि ! दिव्य जल से यन्त्रराज को स्नाम कराक्य रत्न से जटित वस्त्र पहनाना चाहिए। इसके बाद आभूषणों को समर्थित कर पुनः दिन्य गन्व अर्पण करे । १८००

करे।। ५५॥

केतकवंकुलैरपि। करवीरैश्च चम्पकैः पङ्कजीर्जातिकुसुमैमीलतीमोगरैरिव पूजयेदान्त्रराजस्यं धूपं दद्याद्यथाविधि । निवेदयेत्ततो दीपमज्ञानहवान्तनाशनम् ॥ ५७॥ चम्पा, करवीर, केतको, बकुल, कमल, जाति पृष्पों, मालती एवं मोगर के हिंदी, करवीर, केतको, बकुल, कमल, जाति पृष्पों, मालती एवं मोगर के हिंदी के बाद विधिप्रकें के प्रस्ति के बाद विधिप्रकें के बाद विधिप्रकें के बाद विधिप्रकें के प्रस्ति के बाद विधिप्रकें के बाद कुसुमों से यन्त्रराजस्थ देवता की पूजा करनी चाहिए। इसके बाद विधिपूर्वक धूप देना चाहिए। इसके देना चाहिए। इसके बाद अज्ञानान्धकार के विनाश के लिए यन्त्रराजस्य देवता को दीप दिखाल करनी चाहिए। दीप दिखाना चाहिए ।। ५५-५७ ॥

दक्षिणे स्थापयेद्दीपं तैलदीपस्तु वामतः। तथोरेकतरेणापि दीपं दद्याद् यथारुचि ॥ ५४ ॥ यन्त्रराज के दक्षिण में एक तेल का दीपक स्थापित करे और वाम भाग में भी एक तेल का दीपक रखना चाहिए। उन दोनों से भिन्न भी यथारुचि दीपक दिखाना चाहिए। ५८ ॥

वामभागे तु देवेशि त्रिविधानचंथेद् गुरून्।
करुणानन्दनायश्च तरुणानन्द एव च ॥ ५९ ॥
भुवनानन्दनायश्च त्रीनेतानू हवंतो यजेत्।
द्वितीय।यां तथा पङ्कौ तदधः परमेश्वरि ॥ ६० ॥
मदनं मोहनं चैव मन्द्रं चैव यजेत्तः।
मन्दरं शङ्करं ताम्रं स्वगुरुं तद्गुरु तथा ॥ ६९ ॥

हे देवेशि ! वामभाग में तीन प्रकार के गुरुओं को अर्चा पूजा करनी चाहिए।
इस प्रकार साबक श्रोकरुणानन्दनाथ और श्रीतरुणानन्दनाथ तथा भुवनानन्दनाथ
नामक तीन प्रकार के गुरुओं का यन्त्रराज के अर्व्वभाग में यजन करे। हे परमेश्विरि !
गुरुओं की इस प्रथम पिंड् का के नीचे दितीय पिंड का में ६ प्रकार के—१. मदन
२. मोहन, ३. मन्द्र, ४. मन्दर, ५. शाङ्कार और ६. ताम्र नामक अपने गुरु
तथा उन गुरु के गुरु का साधक को यजन करना चाहिए।। ५९-६१।।

षटगुरूरव' महेशानि तदधः परिपूजयेत्। साध्यसाधकयोर्मध्यदेषः प्राचीति गद्यते ॥ ६२ ॥

है महेशानि ! छ: गुरुओं का उनके नीचे पूजन करना चाहिएं। साध्य एवं साधक के मंघ्यदेश को 'प्राची' कहा जाता है ॥ ६२ ॥

> क्लप्तप्राची समारभ्य सर्वत्र परिपूजयेत्। षट्कोणेष्वर्चयेद्देवि सुन्दरीमिन्दिरां तथा॥ ६३॥

इस प्रकार प्राची दिशा की कल्पना करके सर्वत्र पूजन प्रारम्भ करे। है देवि ! षट्कोणों में सुन्दरी और इन्दिरा नामक भगवान की दो प्रधान सिखयों का अर्चन करना चाहिए।। ६३।।

> आह्नादिनीमथानन्दामरुणां कर्यणावतीम् । रयामानङ्गानङ्गरेखा सुरङ्गा व्यञ्जुली रतिः ॥ ६४ ॥ बलाको केसराङ्गी च वसुकोणे प्रपूजर्यत् । ततो द्वादनपत्रंषु पूजनं प्रवदामि ते ॥ ६५ ॥

१. 'तद्गुरू'मम' इ० पाठा।

इसके बाद १. आह्लादिनी, २. आनन्दा, ३. अरुणा, ४. करुणावती, ५. श्याना ६. अनङ्गा, ७. अनङ्गरेखा, ८. सुरङ्गा, ९. व्यञ्जुली, १०. रति, ११. बलाकी कोग केसराङ्गी का पूजन वसु (= आठ) कोण में करना चाहिए। इसके बादः कमल की बारह पङ्ख्डियों में उनके पूजन की विधि कहता हूँ ॥ ६४-६५ ॥

चत्त्वारिशद् यूथमुख्यास्तिस्रस्तिस्र उदाहृताः। प्रतिपन्नं प्रयूज्ये द्वे स्वामिनीनित्यपार्वंगे ॥ ६६ ॥

तीन-तीन सिखयाँ चालिस के समूह की प्रधान कही गई हैं। अत। एक-एक-पङ्खुड़ियों में दो सखियां और तीसरी नित्य पार्थ्वं में रहने वाली स्वामिनीः होती है ॥ ६६ ॥

मालती माधवी नन्दा सुभद्रा इचिरानना। पुष्पावती रत्नरेखा पद्मवृत्दा विलासिनी ॥ ६७ ॥ मन्दारमधुरा माध्वी मञ्जनादा कलावती। श्रुङ्गारलतिका वृन्दा प्रमोदा मधुमालती ॥ ६८॥ किशोरी कुसुमानन्दा रसकुल्या प्रभावती। बाशावती विशाला च निस्तुला नीलकुःतला ॥ ६९ ॥ विद्युद्वणी निम्ननाभिः विरजस्का विहारिणी। रागिणी रङ्गलतिका तथा रत्नावतीति च। पद्मावती पद्मानी च पिकस्वरो ॥ ७० ॥

१. मालती, २. माघवी, ३. नन्दा, ४. सुभद्रा, ५. खिलरानना, ६. पुष्पावती ७. रत्नरेखा, ८. पद्मवृत्दा, ९. विलासिनी, १०. मन्दारमधुरा, ११. माध्वी १२. म्हजुनन्दा, १३. कलावती, १४. श्रृङ्गारलिका, १५. वृत्दा, १६. प्रमोदा १७. मधुमालती, १८. किशोरी, १९. कुसुमानन्दा, २०. रसकुत्या, २१. प्रभावती २२. आशावती, २३. विशाला, २४. निस्तुला, २५. तीलकुन्तला, २६. विद्युद्वणि २७. निम्चन्याला, २४. निस्तुला, २४. निस्तुला, २१. रखलिक-२७. निस्ननाभि, २८. विराजस्का, २९. विह्यारिणी, ३०. रागिणी, ३१. रङ्गलिका. ३२. रह्मली और ३६. पिकस्वयः ३२. रत्नावती, ३३. पदावती, ३४. पदागर्भा, ३५. पद्मगर्भा, ३५. पदावती, ३४. पदागर्भा, ३५. पदाग्रेमा, ३५. पदागर्भा, ३५. पदागर्भा, ३५. पदागर्भा, ३५. पदाग्रेमा, ३५. पदागर्भा, ३५. पदागर्भा, ३५. पदाग्रेमा, ३५. पद तीन-तीन के क्रम से इनका पूजन द्वादश दल में करे। इद् ७०॥

बहिर्वृत्ते च कूटस्थ' व्यापकं नित्यमव्ययम् । अखण्ड सचिवदानन्दं पूजियत्परमेइवरि ॥ ७१ ॥

^{&#}x27;अक्षरस्वरूपवर्णनमिदम्'।

हे परमेश्वरि ! वृत्त के बाहर अक्षर रूप क्टस्य, व्यापक, नित्य, अव्यय एवं अखण्ड सच्चिदानन्द का पूजन करना चाहिए।। ७१।।

> कालमेघालिकविरं स्फुरन्माणिक्यकुण्डलम् । दिव्यरत्निकरीटेन ज्वालयेव हविभ्राजम् ॥ ७२ ॥

काले मेघ के समान रुचिर अलकाविल वाले, माणिक्य जटित जाज्वल्यमान कुण्डल पहने तथा अग्नि की ज्वाला के समान दीप्तिमान एवं दिव्य रत्न से निर्मित मुकुट घरण किए हुए श्रीकृष्ण का पूजन करे।। ७२।।

> मुक्ताहारं चतुर्बाहुमुद्यत्सूर्यादणाम्बरम् । कोटिचन्द्रांशुसन्दोहप्रकाशपरमोज्ज्वलम् । ७३ ॥

मुक्तामणिनिर्मित हार पहने हुए, चार भुजा बाले, उदयकालीन सूर्य के समान अरुण वस्त्र घारण करने वाले, करोड़ों चन्द्रों की किरणों के समूह के प्रकाश से परम उज्ज्वल प्रतीत होने वाले ब्रह्म का पूजन करे।। ७३।।

> यदुन्मेषनिमेषाभ्यां , ब्रह्माण्डविलोदयौ । जगद्भ्रमस्याधिष्ठानं रजतस्येवे बुक्तिका ॥ ७४ ॥

जिन श्रीकृष्ण के पलक झपकने से ब्रह्माण्ड का विलय और पलक खोल देने से ब्रह्माण्ड का उदय हो जाता है, सीपी में चाँदी का अम होने की तरह जगत् रूप अम के अधिष्ठान उन श्रीकृष्ण का पूजन करे।। ७४।।

> अध्यारोपापवादाम्यां विदुषां ज्ञानगोचरम् । यत्सत्तयाप्यसद्भाति नामरूपविकल्पितम् ॥ ७५ ॥

जो परश्रह्म अध्यारीप एवं अपवाद के द्वारा विद्वानों को ज्ञात होता है। जिसकी सत्ता से नाम एवं रूपात्मक असत् जगत् का मान होता है उन कृष्ण का पूजन करे।। ७५।।

उपेतं रमया पञ्चवार्षिक्या सप्तवार्षिकम् । नवरत्नविचित्रश्रीमालयालङ्कृतं परम् ॥ ७६ ॥

पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष की बायु वाली उन रमा के सहित कृष्ण का पूजन करे जो रमा नौ रत्नों से बनो विचित्र एवं श्रेष्ठ वनमाला से अलङ्कृत हैं।। ७६॥

तेदबहिश्चतुरस्रे च प्रतिद्वारं सुरेश्वरि । पुरुषं प्रकृति कालं यज्ञं पूर्वादिवामतः ।। ७७ ।।

हे सुरेशवरि ! उस चतुरस्त्र के बाहर प्रति द्वार पर पूर्व से बाएँ पुरुष, प्रकृतिः काल एवं यज्ञ की पूजा करे।। ७७ ।।

> तद्बहिश्चतुरस्रे च वासुदेवादिकान् यजेत्। किरीटकुण्डलघरान् जलदश्यामलाकृतीन् ॥ ७४ ॥ शङ्खचक्रगदापद्मश्राजद् भुजचतुष्टयान्।

उस चतुरस्र के बाहर उन बासुदेव आदि देवताओं का यजन करना चाहिए. जो मुकुट एवं कुण्डल घारण किए हैं, जिनकी आकृतियां मेघ के समान श्यामः वर्णकी है ? कृष्ण जो अपने चार भुजाओं से शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म को घारण किए हैं ॥ ७८-७९ ॥

तद्बहिश्चतुरस्रेऽपि पूजयेच्च ततः परम्।। ७९।। अग्नेरीबानपर्यन्तं पञ्चभूतार्चनं क्रमात्। ईशानाद्वायुपर्यन्तं तन्मात्राः परिपूजयेत् ॥ ८०॥

उसके बाद चतुरस्र में ही अग्नि से लेकर ईशान पर्यन्त पश्वभूदों की क्रम से अर्चना करनी चाहिए। इसके बाद ईशान से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च तन्मात्राओं का पूजन करे ७९-८०।।

नैऋतेवायुपर्यन्तं पञ्चकमे न्द्रियाण्यपि । नैऋतादग्निपर्यन्तं पूजयेत् ज्ञानपञ्चकम् ॥ ८९ ॥

नैऋत कोण से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च कर्मेन्द्रियों की भी पूजा करे। नैऋत कोण से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च कर्मेन्द्रियों की पूजा करनी चाहिए।। ८१।।

पूर्वीदिक्रमतीर्चयेत्। इन्द्रमग्ति यम चैव नैऋंति च जलेश्वरम् ॥ ४२ ॥

उसके बाहर द्वार प्रवेशों में पूर्वादि क्रम से इन्द्र, अनिन, और यम, नैऋंति तथा वरण की पूजा करे।। ८२।।

रुद्रमूहवं ब्रह्माणमचयेत्। अधस्ताच्च तथानन्त तत्र वास्त्राणि वाहने। ॥ ४३ ॥

पवन, कुबेर, रुद्र और उसके बाद ब्रह्मा का अर्बन कर्ट्यभाग में करे। नीचे अनन्त की तथा वहीं पर उनके आयुधीं एवं वाहनीं की पूजा करे। ८३॥

पूजियत्वा ततो देवि ततो नैवेद्यमपंयेत्। भक्ष्यभोज्यान्नभरितं साधारं पात्रमुतमम् ॥ ८४ ॥ हे देवि ! इस प्रकार पूजा करके तब तैवेद्य समर्पित करना चाहिए ! भव्य--भोज्य अन्न से भरा हुआ आधार से युक्त पूर्ण पात्र उन्हें दे । ८४ ।।

सामान्यसलिलैः प्रोक्ष्य दत्त्वा पृष्पाक्षतान्दिकम् । ततो धेन्कामृतीकृत्य मूलमन्त्र' ततोऽष्टधा ॥ ८५ ॥

सामान्य जल से प्रोक्षण करके फिर पुष्प एवं अक्षत आदि देकर धेनु मुद्रा से उस नैवेद्य को अमृतमय बनाकर; मूलमन्त्र से आठ प्रकार करके नैवेद्य समर्पित करे।। ८५।।

पञ्चप्राणाहृतीर्द<mark>धात् ग्रासमुद्रां च</mark> दर्शयन् । जलपात्रं निवेद्याय विभृयादन्तरे पटम् ॥ ८६॥

इसके बाद ग्रास मुद्रा प्रदिशत करते हुए पाँच प्राणाहृतियाँ (प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा आदि) देनी चाहिए और जल पात्र उन्हें निवेदित करके एक पर्दा कर देना चाहिए।। दक्षा विकास स्वाहा अधिक स्वाहा स्वाहए।। दक्षा विकास स्वाहा स्वाहए।। दक्षा विकास स्वाहा स्वाहार स्व

पौराणीः प्राकृतैः स्तोत्रीः स्तुत्वा भुञ्जानमीश्वरम् । ध्यात्वा तृष्तमिति जात्वा दूरीकृत्य पटावृत्तिम् ॥ ४७ ॥ दत्त्वाचमनमीशानि गन्धचूर्णे स्नेकधाः । स्नेहापनोदनं कृत्वा हस्तयोः परमेशितुः ॥ ४४ ॥

पौराणिक या प्राकृतभाषा के स्तोत्रों द्वारा उनको स्तुति करके ईश्वर को भोग लगाना चाहिए। यह ध्यान कर कि अब तृधि हो गई होगी फिर पर्दे को हटाए। हे ईशानि! उन्हें आचमन के लिए जल देवर अनेक प्रकार के गन्ध-चूर्णों से स्नेह एवं अपनोदय करके परमेश्वर का हाथ धुलाना चाहिए।। ८७-८८।

> गण्डलान् कारयेत्पश्चात् कपूँरैमुंखशोधनम् । हस्तपादौ च प्रक्षाल्य हस्तवासस्ततोर्चयेत् ॥ ८९ ॥

इसके बाद उन्हें कुल्ला कराना चाहिए (इसके बाद) कर्पूर आदि द्रव्य से मुख गुद्धि करके हाथ पैर घुलाकर उनके हाथ पैर वस्त्र से पोंछकर अर्चन करे। ८९॥

> ततः प्रसन्नप्जान्ते लविङ्गैलेन्दुमिश्रिताम् । प्गाइमच्कंतिमिन्नां ददेत्ताम्बूलबीटिकाम् ॥ ९० ॥

इसके बाद पूजा के अन्त में प्रसन्त हीए और मगवान की लींग धीर इन्दु से मिभित सुपाड़ी एवं चूना डालकर ताम्बूल का बीड़ा दे।। ९०॥

सम्त्रार्थं पादुकायुग्म निधाय पुरतः शिवे । पुनः सिंहासनगतं दीपैनीराजयेत्ततः ॥ ९१ ॥ हे शिवे ! उनके आगे दोनों पैर की घरणपादुका रखकर प्रायंना करे। पुना सिहासन पर बैठे हुए भगवान की दीवक आदि से नीराजन करे।। ९१।।

> ईषत्पक्वसुपिष्टेन कुपिद्वेदाङ्गुलोन्नतान्। चतुरस्नान् गुभाकारान् नव सप्ताथ पञ्च वा । ९२॥ तत्रक्षत्रं चामरं च मायूरं व्यञ्जनं तथा। दर्पणं च ततो दश्वा प्रदक्षिणनमस्क्रियाम्॥ ९३॥

इसके बाद छत्र, चामर और मयूर पिच्छ का पेंखा उन्हें करके तथा दर्पण दिखलाकर उनकी प्रदक्षिणा करे तथा नमस्कार करे।। ९३।।

गीत नृत्यादिकं कृत्वा प्रीणयेत्परमेश्वरम्। इति ते कथितो देविपुजाया विधिरुत्तमः । ९४॥ गीत एवं नृत्य आदि करके नाना प्रकाय से अपने परमेश्वर को प्रसन्न करे। है देवि !- इस प्रकार मैंने आपसे पूजा की श्रीष्ठ विधि कही है।। ९४॥

मनः प्रसादकाले तु कुर्यात्पूजां समाहितः। न कालनियमञ्चात्र विद्यते परमेश्वरि ॥ ९५॥

मन की प्रसन्नता के समय समाहित एवं सावधान चित्त होकर पूजा करनो चाहिए। हे परमेश्वरि! पूजा के लिए कोई काल का नियम नहीं है (जितना भी समय लगे कोई बात नहीं है) ॥ ९५॥

इत्येतत् कथितं देवि त्वया पृष्टं सुलीचने । समासेन महेशानि कि भूयः श्रीतुमिच्छसि ॥ ९६॥ ॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे एकोनपञ्चाशत्तमं पटलम् ॥ ४९॥

——*——हे देवि ! हे सुलोचने ! जो आपने पूँछा तो उसे मैंने आपसे संक्षिष्ठ रूप के प्रतिपादित किया है। हे महेशानि ! अब आप पुन: क्या पूँछना चाहती हैं।। ९६॥ प्रतिपादित किया है। हे महेशानि ! अब आप पुन: क्या पूँछना चाहती हैं।। ९६॥

।। इस प्रकार श्रीनारदपा बरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तारखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मा जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के उनचासवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४९ ।।

रै. 'इति ते कथिता देवि पूजाया विधिष्ठतमा' इ० पा॰ ।

अथ पग्चाशत्तमं पटलम्

पार्वत्युवाच — देव नाय महेशान त्रिलोचन जगत्पते। पूजनस्यापि परमो विधिर्मे संश्रुतो महान्।। १।।

पार्वती ने कहा — हे दिव, हे नाथ, हे महेश, हे तिलोचन, हे जगत् के स्वामी ! पूजन की श्रेष्ठ हि देव, हे नाथ, हे महेश, हे तिलोचन, हे जगत् के स्वामी ! पूजन की श्रेष्ठ विधि भी हमने सुन ली ॥ १ ॥

> कूटस्थपूजने तत्र ध्यानमुक्तं त्वयाऽस्य हि । व्यापकं नित्यमव्यक्तमखण्डमिति शङ्कर ॥ २ ॥

कुटस्य (ब्रह्म) के पूजन में आपने जो व्यान कहा है उस ब्रह्म, को हे शङ्कर ! व्यापक, निश्य, अव्यक्त और अखण्ड जानना चाहिए ॥ २ ॥

> अखण्डं व्यापकं तच्चेत्तदानन्दगतं न किम् । केवलानन्दलीलायामङ्गीकारो विश्वव्यते ॥ ३ ॥

वह अखण्ड और व्यापक ब्रह्म आनन्दरूप कैसे है ? केवल लीला के अङ्गीकार करने से वह विरुद्ध हो जाता है।। ३।।

> अनङ्गीकारे देवेश व्यापकत्वं विचध्यते। ज्ञानरूपं तु कूटस्थमानन्दः पुरुषोत्तमः॥ ४॥

हे देवेश ! अङ्गीकार न करने पर वह व्यापक व्यापकत्व विरुद्ध होता। ज्ञान रूप कूटस्थ (ब्रह्म) आनन्द पुरुषोत्तम है।। ४।।

> मिथी विरुद्धी देवेश ज्ञानानन्दी सुरेश्वर। भेदशून्य यदा ज्ञान जायते कृष्णयोषिताम्॥ ५॥ रसस्तदा निवत्तंत निविशेषतया प्रभो। रसाभासकरं ज्ञानं कथं युज्येत तत्र हि॥ ६॥

है देवेश ! ज्ञान और आनन्द दोनों यदि विरुद्ध हो जाय तो हे सुरेशवर ! तथा जब कृष्ण और उनकी पित्यों में भेद का ज्ञान न हो तो, हे प्रभो तब निविशेष रूप से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार रसाभास रूप ज्ञान वहां कैसे युक्ति युक्त है ? ॥ ५-६ ॥

अखण्डव्यापकत्वादि धर्माणां तत्र का गतिः। एति जिज्ञासया देव मनो मे खिद्यतेतराम् ॥ ७ ॥ अखण्ड और व्यापकत्व रूप घमों की वहां (लीला में) क्या गति होती है। इस जिज्ञासा से, हे देव ! मेरा मन अत्यन्त व्याकुल है ॥ ७ ॥

शिव उवाच-

साध्य पृष्टं त्वया भद्रे जिज्ञासूनामभी प्सितम्। यच्छु त्वा तत्क्षणादेव जिज्ञासा विनिवर्त्तते ॥ ८॥

हे मद्रे ! तुमने बहुत अच्छा प्रथन किया है। यह तो जिज्ञासु लोगों का अभोप्सित प्रश्न है। जिसके सुनने मात्र से उसी क्षण जिज्ञासा नष्ट हो जाती है मं पा

कूटस्यं व्यापकं देवि व्याप्यं कार्यमिति स्थितम्। न कार्यं व्यापकं क्वापि न व्याप्यं कारणं भवेत्।। ९ से हे देवि । कुटस्य (ब्रह्म) व्यापक व्याप्य एवं कार्य है -- यही सिद्धान्त है। कार्य कभी भी ज्यापक नहीं होता और ज्याप्य कभी भी कारण नहीं होता ॥ ९ ॥

अल्पवृत्ति भवेद् व्याप्यं व्यापकं तु तदस्यथा।

व्याप्यव्यापकता चापि क्टस्थानन्दयोरपि ॥ १०॥ व्याप्य बस्तुतः अल्पवृत्ति (योहे में रहने वाला) है और व्यापक उसके विरुद्ध अधिक में रहने वाला है। अतः क्टस्थ और आनन्द होनीं की ध्याण्य और

व्यापकता भी वैसी ही कम ज्यादा है।। १०॥ विशेषं तत्र वध्यामि श्रुणु त्वं कमलिक्षणे। कामांशकणिकाव्याप्तं कूटस्थं ज्ञानस्पकम् ॥ ११ ॥ हे कमल के समान नेत्रों वाली ! उस व्याच्य-व्यापक में विशेष क्या है ? आप सुनें मैं कहता हूँ। व्यक्ति की कामनाओं के अंश का एक कण व्याप्य है और कूटस्य

कीत्यंते । कूटस्यमपरिच्छिन्नं विद्यते पद्यपि विश्वापि । १२॥ कानरूपात्मक है ॥ ११ ॥ सत एवं सैकड़ों श्रुति वचनों द्वारा उस क्रुटस्थ ब्रह्म को आनन्द कहा गया है यं जानमन्त्रें कर् (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) । हे प्रिये ! यद्यपि क्र्टस्य ब्रह्म अपरिच्छत्न (माप के योग्य) जहीं है । (क्रिये ! यद्यपि क्र्टस्य ब्रह्म योग्य) नहीं है। (फिर भी उसे समझने के लिए परिक्छिन कहते हैं)।। १२॥

तिरोहितमिवानन्दे कुह्नां बिम्बमिवन्दवम् । कामांशस्त्वपरिच्छिन्तमखण्डमवर्ल झुवम् ॥ १३ ॥ वह कुटस्थ बहा आनन्द में उसी प्रकार तिरोहित सा रहता है जिस प्रकार कुहरे में चन्द्र का बिम्ब छिपा रहता है। वह बिम्ब कामांश रूप से परिछिन्त अस्ट, अचल और घ्रुव है ॥ १३॥

सवंतो व्याप्य देवेशि स्वरूपेण प्रकाश्यते । चिदानन्दमयीलीला प्रोक्ता कामांशभावजा ॥ १४॥

हे देवेशि ! वह (व्याप्य) क्टस्थ ब्रह्म ही सब में व्याप्त होकर स्वरूपता प्रकाशित होते हैं। कामांश भाव से उत्पन्न उन कृष्ण की लीला चिदानन्दमयी कही गई है।। १४॥

अनुभूता पुरा देवि निगमैः प्राकृते लये। तस्माद्गोलोकलीलेति प्रोच्यते वरवर्णिनि ॥ ९५ ॥

हे देवि ! प्राकृत लय के समान निगमों के द्वारा वह लीला प्राचीन काल में अनुभूत हुई है। हे वरविणिनि ! उस लीला को ही 'गोलोक लीला' कहा गया है।। १५॥

ा पार्वत्युवाच-

कीदृशी सा भवेल्लीलानुभूता निगमै। कथम्। शब्दात्मकः कथं वेदो रसानुभवमहैति।। १६।। एतदाख्याहि भगवन् यदि योग्यं भवेन्मम्।

्रा पार्वति ने कहर्म १५५० ।

वह गोलोक लीला कैसी होती है ? निगमों के द्वारा वह कैसे अनुभूत हुई ? वस्तुत। वेद तो शब्द ब्रह्मात्मक है ? वह शब्द कैसे रस का अनुभव करता है ? है भगवन् ! यदि मुझसे कहने योग्य हो तो आप इसे बतलाइए । १६-१७॥

🐃 ़ शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि तव प्रश्तमनुत्तमम्।। १७॥

शिव ने कहा —
हे पार्वति ! आप सुनें ! मैं कहता हैं ! आपका प्रश्न अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥
सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे न स विभू बेह्या प्रजानां पतिनोंसूर्यादिगृहर्क्षसागरसरिद्धिश्वन्धराः पर्वताः ।
बृक्षा औषधयस्तदा न विबुधा दैत्या मनुष्या दिशो
गन्धर्वा न च राक्षसा मुनिवरा यक्षां न सिद्धोरगाः॥ १८ ॥

१. 'विश्वंभराः इ० पा० ।

२. 'साध्या' इ० पा०।

सृष्टि के विलय के समय वह प्रजामों के पालक विष्णु, कहा सूर्याद ग्रह अीर नक्षत्र, सागर, नदियाँ, विश्व को घारण करने व ले पर्वेत और वृक्ष एवं अीषित्रयाँ नहीं थे । देव, दैत्य, मनुष्य, दिशाएँ, गन्धर्व एवं शक्षस भी नहीं थे। श्रेष्ठ मुनि यक्ष एवं सिद्ध पुरुष या सर्पं आदि जीव जन्तु भी नहीं थे।। १८॥

नष्टं स्थावरजङ्गमं विधिकृतं शिष्टं न किञ्चित्तदा यः शिष्टः स विभृतिनाशरहितः कृटस्य एकः पृमान्ः। वेदा विस्मितचेतसोऽप्यथ विभुं तेऽन्तरश्चरा ब्रह्मवत् सञ्चित्याथ हुबास्तुवन् रहसि ते यं वाङ्मनोगोचरम् ॥ १९॥

उस समय सभी ब्रह्म कृत सृष्टि के स्थावर एवं जङ्गम नष्ट हो गए थे। उस विसर्ग में जब कुछ मी नहीं शेष या तब एकमात्र व्यापक विनागरहित और क्टस्थ एक पुरुष ही शेष था। बतः वेदों ने विस्मित होकर शब्द बहा रूप से (जो विमु के अन्त में विद्यमान हैं) उनका चिन्तन किया। फिर उन व्यापक ब्रह्म की हृदय से स्तुति की जो गुष्ठ रूप से वाणी एवं मन से देखें जाने वाले हैं।। १९॥

वेदा ऊचु:—

एकस्त्वमारमा पुरुषः पुराणी नित्योऽव्ययोऽनन्तगुणोः निरीहः। क्वचित्स्थतः क्वापि गतो न विद्यहे तं त्वां परं संवारणं गता वयम् ॥ २०॥

है बहा ! आप ही एकमात्र (सभी) प्राणियों के, आल्मा हैं। आप पुरातन पुरुष, नित्य, अन्यय और अनन्त गुणों वाले हैं। आप में कोई इच्छा नहीं है। आप में कोई इच्छा नहीं है। आप कही पर स्थित रहते हैं या कही चले गए - यह हम लोग नहीं जान सकते। ऐसे लाए लेक्ट ---ऐसे आप श्रेष्ठ पुरुष की शरण में हम लोग आए हैं ॥ २० ॥

यथा-बृहद्वामनपुराणेऽपि भूगगदीत् प्रति ब्रह्मणो वाक्यानि-षष्टिवषंसहस्राणि मया तप्तं तवा दुरा। नन्दगोपन्नजस्त्रीणाः वादरेणप्रकब्धये ॥ १ ॥ त्थापि न मया प्राप्तासी वै पादरेणवः। श्रुत्वैतद्बह्मणो व्यवसं भृगुः प्राहाय सादरम् ॥ २ ॥

वैष्णावानी पादरजो गृह्यते त्वहिचेरपि। भृगुख्वाच सन्ति ते बहुवो लोके वैष्णवा नारदादया ॥ ३॥ तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयापि यत्।
गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो॥ ४॥
ततो ब्रह्मा मृगुं प्राह चिन्तयित्वा पुरातनीम्।
कथां सर्वेश्रुतीनां च रहस्यं परमाद्युतम्॥ ५॥

बह्यावाच --

न स्त्रियो जजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल ।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समा क्वित् ॥ ६[॥
प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा ।
शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे ॥ ७ ॥
ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंजकः ।
निगुंणोऽनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरः ॥ ८ ॥
अक्षरं ब्रह्म परम वेदानां स्थानमुक्तमम् ।
तल्लोकवासी तत्रस्थे। स्तुतो वेदीः परात्परः ॥ ९ ॥
चिरं स्तुत्या तु सन्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरः ।
तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो प्राक्षा वरं यन्मनसीष्सितम् ॥ १० ॥

श्रुतय अनु।—

नारायणादिरूपाणि ज्ञाताम्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं बस्तुबुद्धिनं तेषु नः ॥ ११ ी। ब्रह्म ति पठचतेऽस्माभियद्भूपं भिगुणं परम्। वाक्नोगोंचरातीतं ततो म जायते तु तत् । १२ 11 यद्वदन्तीह **अ**निन्दमात्रमिति पूराविद। । तद्र पं देशयास्मानं यदि देयो वरो हि ना । १३ १४ श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोक त्रकृते। परम्। केवलानुभवानन्दमात्रमञ्जरमञ्ययम् ॥ १४ ॥ वृत्दावनं नाम वनं कामदुर्वेद्वं मैं। सर्वतु सुखसयुतम् ॥ १५ ॥ मनोरमंणीयकुञ्जाट्यं यंत्र गोवद्धाना नाम सुनिर्धरदरीयुतः। श्रीमान् सुपक्षिगणसकूलः ॥ १६ 🕩 🧻 रस्नघातुमया यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा। हंसपद्मालिसङ्कुला ॥ १७ ॥ रल्नबद्धाभयत्यो

नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् । तत्कदम्बकमध्यस्य किशोराकृतिरच्युतः ॥ १८ ॥ दर्शयित्वेति च प्राह ज त कि करवाणि वः । हष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् ॥ १९ ॥

ञ्तय अनु।--

कन्दर्पकोटिलात्रण्ये त्वयि हुन्दे मनासि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरश्रुब्धान्यसंशयः॥ २०॥ यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्वेन गोषिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽज्जनि नस्तथा॥ २१॥

श्रीभगवानुवान —

सुमनोर्थः। दुर्घटण्डीव युष्मानी मयानुमोदित्। सम्यक् सत्यो भवितुमह्ति ॥ २२ ॥ आगामिनि विरश्वी तु जाते मृष्ट्यर्थमुद्यमे। कल्पं सारस्वतं प्राप्य वृजे गोप्यो मविष्यथ। २३॥ पृथिव्या भारते क्षेत्रे मायुरे मम मण्डले। वृन्दावने मविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले ॥ २५॥ सुहढं सर्वतीधिकम्। मिय सम्प्राप्य सर्वा हि कृतकृत्या अविष्यथ ॥ २५ ॥ जारधर्मेण श्रुत्वैतिचिचन्तयन्तस्ते रूपं भगवतिष्विरम्। उक्तं कालं समासाद्य गोध्यो भूत्वा हिंच गताः ॥ २६॥ स्त्रियो वा पुरुषो वापि मुतृ भावेत केशवम् । हृदि कृत्वा गति यान्त श्रुतीनो नात्र संशया।। २७॥ तासां पादरजास्येव विह्ये वृत्कावते भूषि । तत्त्राच्य व्हकासनया यान्त्यही गोपिकाग्तिम् ॥ ३८ ॥ सन्दगोपञ्चलिकामतः वादरजो का मया । वाञ्चितं पुत्रकाः सस्यक् मतस्ताः स्त्रमा किल ॥ २९ ॥ श्चरवेतद्श्चवयो वावयं ब्रह्मणा सर्वातमता प्रसन्नाः स्या उन्तं च सनत्कुमारसंहितायां एकत्रिशे पटले--

भीमहादेव उवाच--

किश्वद्वः कुशलं विश्रा ब्रह्मणो विष्णुदेवयोः।

ध्यानयोगो तपो वेदाः कुशलाः सन्ति शाश्वताः॥ १॥

यदर्थमागता यूर्य तद्वदामि परिस्फुटम्।

एवं तु ऋषयो गुद्धं न विख्यातं मया क्वचित्॥ २॥

इदं च कथ्यते गोप्यं गुद्धाद् गुद्धतरं महत्।

श्रूयतां मुनिशार्द्वाः कृष्णधामसमुत्सुकाः। ३॥

वृन्दावनं महापृष्यं सर्वपावनपावनम्।

सर्वलोकबिहिमूँतं निराधारं परिस्फुरत्॥ ४॥

गुद्धं वस्तैश्च सवीतं प्रियं तं सुपरिस्थितम्।

तत्र संक्रीडते युग्मं लिलतादिसखीवृतम्॥ ५॥

पुनश्चोक्तं सनत्कुमारसंहिताया द्वाविशत्तमे पटले— सदाशिव जवाच—

वृत्दावनस्याद्धयायं वृत्दावनद्दनमुच्यते।

द्वितीये करणैर्जातं मधुरामण्डलं परम्॥६॥

तरसमो नास्ति तीर्थोज्यो न चेद्वेकुण्ठ एव च ।

किमन्यत्तीर्थंगणना अन्धकूपसमा मुने॥७॥

मथुरामण्डलं रम्यं सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम्।

तत्र वृत्दावनं रम्यं पश्चयोजनिवस्तृतम्॥८॥
प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वनः॥९॥

प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वनः॥९॥

प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वनः॥९॥

प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वनः॥१॥।

प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वनः॥१॥।

प्राणत्यागं च मत्यस्तिस्वज्ञास्तत्वदिश्वम्॥१॥।

प्राणत्यागं च विद्वां प्राप्तुवन्ति पदं जुमम्॥१॥।

पत्रे स्मरणमात्रेण सिद्धित्वं न मवेद्घ्रुवम्॥१०॥

मूमी च जीवसिद्धपर्यं रचितं वृत्दावनस्थकम्।

वन्यसूमी न बहुसा यथा वृत्दावने वरे॥११॥

सर्वे संत्यज्य गार्हस्यं सर्वेतीर्थंगणं तथा॥१२॥

सर्वे संत्यज्य गार्हस्यं सर्वेतीर्थंगणं तथा॥१२॥।

'गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं परमानन्दकारणम् । अत्यद्भुतरहस्य<mark>ानो रहस्यं परमं शिवम् ॥ १३ ॥</mark> दुर्लंभं सर्वमोहनम्। दुर्लभानां च पर्म देवि सर्वशास्त्रेषु गोवितम् ॥ १४॥ सर्वंश क्तिमयं सात्वतं स्थानमूदं न्यं विष्णोरेकान्तवल्लभम्। नित्यं वृत्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम् ॥ १५ ॥ नित्यमानन्दमव्ययम् । पूर्णंब्रह्मसुखैश्वयँ वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृत्दावनं सुवि ॥ १६॥ गोलोकैण्वयंयतिकंचिद्गोकुले तत्रतिष्ठितम्। वैकुण्ठवैभवं यच्च द्वारकायां प्रकाशितम् ॥ १७ ॥ नित्यवृन्दावनाश्रयम् । तद्देवि माथुरं मध्ये वृन्दावनविशेषतः ॥ १८ ॥ स्त्री लक्ष्मी। पुरुषा विष्णुस्तदंशांशी अभूवतुः। नित्यमानन्व विग्रहः ॥ १९ ॥ : तत्र किशोरवयसा अनन्तित्रगुणाश्रये । तत्कलाकोटिकोट्यं <mark>साः ब्रह्म</mark>विष्णुमहेश्वराः ॥ २० ॥

उक्तं च गोतमीतन्त्रे— तत्सर्वोपरि गोलोकस्तद्गोलोकोपरि स्वयम् । तत्सर्वोपरि गोलोकस्तद्गोलोकोपरि स्वयम् । गोविन्दोतुलनायकः । २१ ॥ विहरेत्परमानन्दो

जिन्तं च वाराहसंहितायाम् — विद्यं वृत्दावतेश्वरम् ॥ २३ ॥ वृज्दावतेश्वरं यद्र्पं नित्यं वृत्दावतेश्वरम् ॥ २३ ॥ वृज्दावतेश्वरं सात्वतिश्वर्यं वृजप्राणिकवल्लभम् ॥ २३ ॥ वृत्दावतेश्वरं ह्पं द्विभुजं गोकुलेश्वरम् । वृत्दावतेश्वरं ह्पायित्मगुं णस्यैककारणम् ॥ २४ ॥ वृत्दावतेश्वरं ह्यायित्मगुं णस्यैककारणम् ॥ २४ ॥ वृत्दावतेश्वरं वृत्वर्विष्यं वृत्वर्विष्यं ॥ २५ ॥ विद्युप्तव्ययम् ॥ २६ ॥ यदंशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीविष्यः ॥ २६ ॥ यदंशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति

1. 1

१. बाराहसंहिताया ।

कर्माणि तानीह गुणाश्च ते प्रभी
'नब्टानि सर्वाण्यद्यना न सन्ति।
क्विचिद्धतानि' क्व गता हि जन्तवी
ये यज्ञभुगृब्बह्मपुरोगमास्ते॥ २१॥

आपके वे (सृष्टि) कर्म और वे (सत्त्व, रज एवं तम आदि) गुण, हे प्रमु ! नष्ट हो चुके हैं। वे इस समय अब नहीं हैं। कहाँ वे समाप्त हुए और वे जीव-जन्तु कहाँ चले गये। जा यज्ञ भोक्ता ब्रह्मपुरोगम आदि थे, कहाँ चले गये ? ।। २१।।

> न सन्ति ते नवापि पुरन्दरादयो येऽस्मत्प्रदत्तानि हवींष्यदन् कृती । कामान् मनोज्ञान् हि ददत्यनारतं नाज्ञां गतास्तेऽपि न विद्यहे क्वचित् ॥ २२ ॥

वे इन्द्रादि देवता कहीं भी नहीं रहे। जो हमारे द्वारा यज्ञों में दिए गए इविष्यान्न का भोग लगाते थे ? कहाँ चले गए। असवरत जो मनोकामनाओं को पूर्ण करते थे, नाश को प्राप्त--वे भी नहीं जाने जाते हैं।। २२।।

ब्रह्मे शनारायणनामधेयः

करोषि सृष्टि हरणं च पालनम् । स्वयं गुणातीतगुणैस्त्रिभस्त्वं मनुष्यदैत्यान् विबुधान् विधासि ॥ २३ ॥

उक्तं च सनत्कुमारसंहितायां पश्चित्रशत्तमे पटले-सदामिव उवाच-

नन्दस्य गेहे सञ्जातं कृणांशं च तुरीयकम्।

बसुदेवेन यद्दृष्टमाराधितोऽन्यसंज्ञया ।। २७ ।।

यथा चतुर्भुं जो विष्णुस्तथा कोऽप्यपरः पुमान् ।

सोऽपि चतुर्भुं जच्येयः इति मोहेन मोहिता ।। २८ ।।

द्रोणो नन्दो महाकीतिर्थंशोदा सा यशस्विनो ।

तयोयोंगे च सञ्जातः कृष्णांशः 'कृष्णरूपघृक् ।। २९ ।।

चक्रतुस्तन्महारासं मुनिविस्मयकारकम् ।

बह्मविष्णुमहेशादीदुं विज्ञं देवताणणेः ॥ ३० ॥ इति ॥

- 'प्रमोऽनन्तानि' इं पा०।
- २. 'क्वचिद्गतानि' इ० पा०।

वत एव कृष्ण। पशुपांगजः गोपीसुतस्चेति कथ्यते ।

बह्मा, ईश और नारायण बिभवान आप ही करते हैं। सृष्टि, पालन एवं उनका संहार भी आप ही करते है। स्वयं तीनों (सत्त्व, रज एवं तम) गुणों से परे रहते हुए आप गुणातीत ही देवता, मनुष्य और दैत्यों की मृष्टि भी करते है।। २३।।

नमः कूटस्थरूपाय नमोऽनन्ताय वेधसे। व्याप्यव्यापकरूपाय वाच्यवाचकरूपिणे ॥ २४ ॥ आप क्टस्य (न बदलने वाले) रूप वाले के लिए नमस्कार है। विघाता व अनन्त आप के लिए नमस्कार है। आप व्याप्य और व्यापक रूप वाले त्या वाच्य एवं वाचक रूप वाले के लिए नमस्कार है ।। २४॥

> नमः शिवाय शान्ताय निगुंणाय गुणात्मने । सदसद्वयतिरिक्ताय' सदसद्वयिकहेतवे। ^१इच्छाप्रवित्तितजगद्वधापाराय रते नमः॥ २५॥

आप कल्याण करने वाले के लिए नमस्कार है। शान्त निर्गुण एवं गुणात्मक आपके लिए नमस्कार है। सत् एवं असत् से अलग एवं सत् तथा असत् व्यक्ति के कारण रूप आपके लिए नमस्कार है। इच्छाशक्ति से प्रकट किए गए जगत् के च्यापार में रत आप के लिए नमस्कार है ॥ २५ ॥

त्वय्युदितं त्वयि लीनं जगदेतद्धेम्नि कुण्डल यहत्। आदावन्ते यत्सत्तत्सन्मध्येऽप्यसत्तया सद्वत् ॥ २६ ॥

साप में हो उदित होने वाला और साप में ही लीन होने वाला यह जगत् उसी प्रकार है जैसे सुवर्ण में कुण्डल और कुण्डल में सुवर्ण मिला होता है। बादि एवं अन्त में जो सत् स्वरूप है वही सत् स्वरूप मध्य में असत् रूप से सत् के समान परिलक्षित होता है ॥ २६॥

तस्मिस्त्विय वचनानामेषा रचना विभाति नो नाथ। दीपविधिदिवसेश्वरिबम्बालोकाय निष्फलो यहत्।। २७॥

हे नाथ ! ऐसे आप में यह बाङ्मधी रखता सुशाभित है। यह स्तुति आप आलोक के लिए सूर्य को दीपक दिखाने के समान निक्कल है।। २७॥

तस्मात्प्रसीद भगवन् नोऽनुग्रहमुररीकुरः। स्वदुद्भवा वयं वेदास्त्विज्ञिष्ठास्त्वां कथं स्तुमः ॥ २८ ॥

^{&#}x27;सदसद्व्यक्तिरूपाय' इ० पा॰ । ₹.

^{&#}x27;ईक्षा' इ॰ पा॰।

अतः हे भगवन् ! आप प्रसन्त होडए और हमारे ऊपर अपनी कृपा हिष्ट कीजिए। हम श्रुतियो आपसे ही उत्पन्त हैं। अतः आपके रूप वाली हम आपकी । कैसे स्तुति करें ? ।। २८ ।।

स्तुबन्त एवं भगवन्तमव्ययं स्थिता हि वेदाः स्थिगितार्द्रमानसाः । महालये प्राकृतसंज्ञके हि ते बभूव गोव्योमिन तदा मनोहरा ।। २९ ।।

इस प्रकार अव्यय स्वरूप भगवान की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ आद्र हुदय होकर स्थिर हो स्थित रहीं। तभी प्राकृत नामक महालय में मनोहर आकाश वाणी हुई।। २९॥

शुण्डवं विभोवनियमेतन्मनोज्ञं वृण्डवं वरं मत्तु वेदाः प्रसन्नात् । प्रसन्ने परे मय्यलभ्यं किमस्ति न चापीह लोके परत्रापि शक्वत् ॥ ३०॥

इस मनोहारी आकाम वाणी को आप सुनें। हे वेद ! प्रसन्तता से आप मुझसे इस वर का वरण करें। मेरे प्रसन्त हो जाने पर इस लोक में या परलोक में कुछ भी अलभ्य नहीं है।। ३०।।

वेदा ऊचुः --

वरः कः परो योऽस्माभिरीडघो न चैतत्परं किञ्चिदस्तीह लोके।

यदस्तीह किञ्चित्परं तत्त्वमेव

प्रसन्तोऽसि चेहुर्शनं नो विधेहि॥ ३१॥

वेदों ने कहा-

जिसकी हम लोगों ने स्तुति की है उससे बढ़कर इस संसार में कुछ भी बड़ा वर नहीं है। खतः यदि आप मुझ पर प्रसन्त हों और कुछ अन्य तस्त्र आपसे बढ़कर है तो आप मुझे दर्शन दीजिए।। ३१।।

> अस्माभिर्वण्यंते नित्यं तव रूपाण्यनेकशः। ज्ञातान्यपि विशेषेण दृष्टानि बहुशोऽपि हि ।। ३२ ।।

> > 1 077 :

विदश्चिकताद्वंमानसाः इ० पा० ।

२. 'को ऽपदो' इ० पा०।

हम श्रुतियों ने आपके अनेक रूपों का नित्य वर्णन किया है। उन रूपों को हम जानते भी है और उनमें से बहुतों को हम लोगों ने देखा भी है।। ३२॥

आविभविन्ति लीयन्ते निगुंणे त्विय केवले।

निगु णातीतमात्मानं त्वदीयं दर्शयाद्यतः ॥ ३३ ॥ आप निर्णुण ब्रह्म से वे रूप अविभूत होते रहते हैं और उनका विलय भी होता रहता है। अतः निर्गुण से अलग अपने सगुण रूप का आप दर्शन कराएँ ॥ ३३ ॥

एवं प्रार्थयमानेषु वेदेषु बहुधा तदा । माविवंभूव सहसा लीला गोलोकविश्रुता ॥ ३४॥ इस प्रकार वेदों के बारम्बार प्रार्थना करने पर तब सहसा गोलोक नाम से प्रसिद्ध लीला बाविमू त हो गई।। ३४।।

सरित् प्रादुर्बभूवातिमनोहरा स्फुरन्महारत्नतटाच्छवालृका^९।

सुवर्णपङ्के सहशोभमाना

गभीरपीयूषज'लोमिमालिनी ॥ ३५॥ उसी समय वहाँ अत्यन्त मनोहर सरिता प्रकट हो गई। उस सरिता के निर्मेलः तट पर बालुका की रेती पर महान् रत्नों की छटा शोभित होते लगी। स्वणिम कमल शोभा पाने लगे। गभीर और अमृत युक्त जल की लहरों से वह सरिता. देवी व्यमान थी ॥ ३५ ॥ कि १८ कि १८

> युंत क्र सचिन्तामणिकल्पवादवैः। वन्दावनं तद्वरवृक्षवृन्दे-

शालेस्तमालैस्तरलै। कदम्बं जेम्ब्वा सप्लक्षेवंटिष्ट्पलाद्येः

.30 Fin "

जम्ब्वाम्रद्रक्षवटीप्पलाच । विस्तामणि से वह वृत्दाबब भीति-भौति के श्रेष्ठ वृक्षों के समूहीं से युक्त था। विस्तामणि से करण वक्षों भारत युक्त कल्प वृक्षों, शाल, तमाल, तरल, कदम्ब, जम्बू, आम, पाकड़ एवं पीपल आहि. के पेड़ों से यक्त वह कर्माल, तरल, कदम्ब, जम्बू, के पेड़ों से युक्त वह वृत्दावन था ।। ३६ ॥

कित्रिवित्वामलनालिकरेर्द्वत्यपूर्गः कदलैवेनेश्च। मनोहारिभिरन्यवृक्षेर्शोकपाटी रसुपारिश्वाते ।। ३७ ॥ कैषा, बेल, आमला, नारियल, अश्वतंब (पीपल) सुपाड़ी के पेड़ से तथा कदली

^{&#}x27;अम्बुबालुका' इ० पा०।

^{&#}x27;जवोमिं' इ॰ पा॰।

(किले) के बनों से वह युक्त था। अगोक, चन्दन, पारिजात तथा अन्य मनोहारी वृक्षों द्वारा जह वन गोमायमान था। ३७॥

मनोज्ञकुञ्जैबंहुभिः परीतं गोगोपगोपीनिल्यंदिपेतम् । आनन्दसन्दोहमिवोद्गिरद्भिमं छद्भिरानित्तपरूलवद्गुमम्।।३४॥ बहुत से मनोहर कुञ्जों से थिरे हुए गाय, एवं गोपी के यूथ से युक्त वह वन था। वायु के झोकों से इधर-उधर झूमते हुए इहाँ के पेड़ों के पल्लव एवं वृक्ष मानों आनन्द का सन्देह उगल रहे थे।। ३८॥

प्रादुर्भूतं वनं तत्र नानापक्षिगणाकुलम् । नातिदूरे वर्तमानो गोवर्धननगोत्तमः ।। ३९ ।। नाना प्रकार के पक्षियों के समूहों से मरा हुआ वह वन वहीं प्रादुर्भूत हो गया। उत्तसे कुछ ही दूर पर पर्वृतों में श्रेष्ठ गोवर्षन पर्वत भी प्रकट हो गए ।। ३९ ।।

सर्वर्तुंग्रणसम्पन्नो नानाद्यातुविचित्रितः। स्फूरत्सुवर्णेशिखरः सुद्यानिर्झरशीतलः।

वीक्ष्य तं विस्मयं प्राप्ताः स्वप्नोऽयं वा मनोभ्रमः ॥ ४० ॥

वह पर्वंत सभी ऋतुओं के गुणों से युक्त था। उसमें नाना प्रकार की चित्र 'विचित्र घातु-शिलाएँ थी। उस पर्वंत का शिक्षर सुवर्ण के समान देवीप्समान था। उसमें शीतल जल वाले झरने एकाएक प्रकट हो गए। उन्हें देखकर श्रुतियां अत्यन्त 'विस्मय में पड़ गई कि यह स्वप्न है या हम लोगों का मनोभ्रम है।। ४०।।

पारावताः कलरवाः कलराजहंसाः

कारण्डवा रयवदाह्नयकोकिलाद्याः ।

सारङ्गबहंगमनोहरपक्षिपूगास-

तस्थवंने हरिगणा इव तं स्तुवन्तः ॥ ४१ ॥

कबूतरों और कलरव करने वाले राजहंसों एवं बत्तसों से वह पर्वंत ग्रुक्त था।
रयपदा नामक एवं कोकिला बादि पक्षियों के यूथों से वह वन गुरुजायमान था।
ये पक्षिगण और सारक्ष मृग तथा मयूरों के एवं अन्य मनोहर पक्षियों के यूथ
उस वन में खड़े होकर मानों जय; विजय आदि भगवान के पार्थदगणों की मौति
उनकी स्तुति कर रहे थे।। ४१।।

चनस्यामरूपं प्रफुल्लाब्जनेत्रं किरीटा द्वितेस्त्रसद्भूकपोलम्। सुनासं सुवक्त्रं रणहेणुहस्तं सुवहवितसं हमापीतवस्त्रम्॥ ४२ ॥

किरीटाङ्गदाव्यं सस० इति पाठ: ।

काले बादल के वर्ण वाले, खिले हुए कमल के समान नेत्रों वाले, मुकुट और कानों के कुण्डलों से दीप्तिमान भोंहों और कपोलों वाले, सुन्दर नासिको एवं सुन्दर मुस वाले, हाथों से पकड़ कर मुरली बजाते हुए सुन्दर मयूर के पंख की कल्झी वाले और पीताम्बर पहने हुए श्रीकृष्ण को उन्होंने स्तुति को ॥ ४२ ॥

तमानन्दरूपे वने नन्दसूनुं तदानन्दरूपं प्रभ् तेऽभ्यपद्यन्। महावल्लवीयूयमध्ये चरन्तं त्रिभङ्गाकृतिभ्राजमानस्वरूपम्।। ४३॥ उस आनन्द रूप बन में तब नन्द के पुत्र आनन्दघन प्रमु श्री कृष्ण को उन्होंने देखा । इस प्रकार महान् वल्लवी (सिखयों) के समूह के मध्य में विचरण करने वाले, वीन ओर से टेढ़ो आकृति वाले और उज्ज्वल स्वह्म वाले भगवान् कृष्ण को उन्होंने देखा ॥ ४३ ॥

कोटचकंत्रभया विराजिततनु कोटीन्दुदर्पापहं कोटिस्फूर्जदनङ्गरङ्गवपुषं कोटचिव्यगाम्भीयंकम्। तं लावण्यनिधि विलोक्य सहसा पार्श्वस्थया राष्ट्रयो जुब्दं गोपिकया निरन्तरमितप्रेम्णाय ते विस्मितः॥ ४४ ॥

मगवान कृष्ण करोड़ों सूर्य की प्रभा से शोभायमान विग्रह वाले हैं, वे करोड़ों चन्दों के घमण्ड को नष्ट करने वाले हैं, दीधिमान करोड़ों कामदेवीं के समान शरीर की कान्ति वाले हैं, करोड़ों समुद्रों की गहराइ की भी जीत लेने वाले हैं। लावण्य के खजाने श्री कृष्ण के पाश्व में स्थित उन गोपियों एवं राधा के साथ नित्य अति प्रेम से रहते हुए एकाएक देखकर वे श्रुतिया अत्यन्त विस्मित हुई ॥ ४४॥

काचिद्गोपी संचमरकरा बीजयन्ती काचिच्चाग्रे करयुगपुट कृत्य तस्यो निरीहा। काचित् स्थाल्यां मणिगणमयीं कृत्य दीपावलिं तां राधाकुष्णप्रतिमुखगता कुर्वती दीपकृत्यम् ॥ ४५ ॥ वहाँ कोई गोपी हाथ में चँवर लिए हुए अपने प्रियं को झल रही हैं। कोई विना किसी हुए स्थापन

गोपी विना किसी इच्छा के दोनों हाय जोड़कर उनके सम्मुख खड़ी थी। कोई गोपो थाली में दीपकों की पिंड क्त एवं मिलियों से सजा कर राधा श्री कृष्ण के मान की कर्मा के मुख की बारवी उतार रही थो।। ४५।।

काचित्कृष्णमुखं निरीक्ष्य सुतरां चित्रापितेवाभवत् काचित्कृष्णकरं निगृह्य हृदये संस्थाप्य तस्यो मुदा। काचिचचवां झियुगं निगृह्य सदयं स्वेम्हन्यं झास्यन्मुदा काचिचचवां झियुगं निगृह्य सदयं स्वेम्हन्यं झास्यन्मुदा काचिन्नृत्यति कुष्णकीर्तनपरा घृत्वा करे तालिकाम् ॥ ४६॥

कोई गोपी श्री ऋष्ण के मुझ की शोभा देखकर चित्रलिखित सी हो गई थी। नोई श्री कृष्ण के हाथ को लेकर अपने हृदय में स्थापित कर प्रसन्तमुद्रा में खड़ी थी। कोई गोपी श्रो कृष्ण के दोनों दयायुक्त चरणकमलों को पकड़कर उन्हें अपने सिर में रखकर अत्यन्त आह्नादित थी। कोई गापी नृत्य कर रही थी। कोई गोपी वाली बजाकर भगवान कृष्ण का संकीर्तन करती हुई नाच रही थी ॥ ४६॥...

रासरसोन्मत्तं गोपिकायूयमध्यगम्। एवं वीक्ष्य वृत्दावने कृष्णं प्रणेमुः श्रुतयः समम् ॥ ४७ ॥ इस प्रकार रास के रसातन्द में उन्मत्त गोपिकाओं के मध्य वृन्दावन में श्री कृष्ण -को देखकर श्रुतियों ने प्रणाम किया ॥ ४७॥

ततः प्रसन्नस्ता आह बूत मत्तो वरं शुभम्। भवद्भिर्दृष्टमित्येव धाम गोलोकशब्दितम् ॥ ४८॥ तब उन श्रुतियों से प्रसन्नता पूर्वक श्रीकृष्ण ने कहा कि मुझसे आप श्रेष्ठ एवं कल्याणकर वर मांगिए। आप लोगों के द्वारा यह गोलोक घाम देखा गया ॥ ४८ ॥

श्रुतय ऊचुः— न वृणीमो वरं किल्चित्तालग्रस्तं विनद्वरम्। यदि दास्यति चेन्नाय तदा नोऽनुग्रहं कुरु।। ४९।।

श्रुतियों ने कहा -मुझे कोई अन्य वर नहीं चाहिए। क्योंकि सभी वर काल प्रस्त हैं और नश्चर ैहैं। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें।। ४९॥

विलसन्ति यथा गोप्यस्त्वतिप्रया भवता सह। जायते च तथास्माकं रिरंसाकुलितं मनः।। ५०।। जैसे आप के साथ आपकी प्रिया गोपिया शोभित होती हैं वैसे ही लालसा से हम लोगों का भी मन आकुलित है।। ५०॥

सम्पादय तथा काममस्माकं हृदयस्थितम्। कोटिकन्दर्पसुभगं वीक्ष्य स्थातुं न शक्तुभः ॥ ५१ ॥

इसलिए, हे नाथ ! बाप हमारी हृदयस्थित कामना की उसी प्रकार पूर्ति कोजिए। करोड़ों कामदेवों को भी लिजित करने वाले आपके सीन्दर्य को देखकर ्अब हम लोग व्याकुल होकर स्थित नहीं हो पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

निशम्य वेदगदितं किशोराकृतिरच्युतः। श्रुण्वन्तीनां च मोपीनां प्राह् प्रहसिताननः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार से वेद वचनों को सुनकर उन किसोराकृति श्रीकृष्ण ने हैंसते हुए उन श्रोता गोपियों से कहा ॥ ५२ ॥

> कामोऽयं निगमाः सत्यं खपुष्पमिव दुर्लभा। न प्राप्तुं शक्नुयात् कोऽपि स्वयं पुरुष बुद्धिभाक् ॥ ५३ ॥

हे निगमों ! यह कामना निश्चय ही आकाश पुष्प के समान दुर्लंग है। इसे स्वयं बुद्धि वाला पुरुष भी नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ५३ ॥

प्रियारूपं स्वमात्मानं जानन्मां प्रियमित्यथ । अत्युग्रविरहज्वालाज्वलिताकृतिरेति माम् ॥ ५४॥

प्रिया रूप अपने स्व (आत्मा रूप) स्वयं को 'मेरा प्रिय है' यह जानते हुए अति उग्र विरह की ज्वाला में विरहाकुल चित्त वाला सावक ही मुझे प्राप्त कर सकता है। (क्योंकि विरहावस्था में वह मेरे सन्तिकट झा जाता है) ॥ ५४ ॥

गोलोकसंजितः। नाद्यावधि ममेवायं प्राप्तः केनापि निगमा मदुक्तेनापि वरमेना ॥ ५५ ॥

आज तक मेरे इस गोलोक नामक धाम को मेरे द्वारा बताए गए वेदमाग से भी कोई नहीं प्राप्त कर सका ॥ ५५ ॥

तथापि वरदानाथं प्रोक्ताः स्थ वरदेन मे । तदपि स्यान्न मे वाक्यं व्यलीकं कहि चित्कवित् ॥ ५६॥ यद्यपि तुम्हें वर देने के लिए मैंने कहा है। किय सी मेरा कहा हुआ वाक्य

कभी भी या कहीं भी असत्य नहीं होता।। ५६॥

यदा चतुर्मुखो ब्रह्मा पद्मकल्पे भविष्यति। तत्सृष्टलोकमध्ये तु मायुरं मण्डलं शुभम्।। ५७॥

जब चतुमु ख बह्या पदाकल्प में होंगे। तब उनके हादा मुष्ट लोकों के मध्य शुभ भायुरक्षमण्डल प्रकट होगा ॥ ५७ ॥

तत्र वृन्दावनं दिव्यं भविष्यति रसाश्रयम्। गोलोकलीलेयं सर्वंबावतरिष्यति ॥ ५८॥

वहीं रसाश्रयमूत दिव्य वृत्दावन होगा। वहीं पर यह गोलोक लीला पूर्णछप से

अवतरित होगी ॥ ५८ ॥

मूलक्षं च मे तत्र स्वित्रियाभिषदेष्यति। भवन्तोऽपि विशेषेग पुरुषत्वं विहास च ॥ ५९ ॥ मेरे मूल रूप का वहाँ मेरी प्रियाओं के साथ उदय होगा। विशेषरूप से पुरुषत्व को छोड़कर आप लोग भी वहाँ रहेंगी।। ५९।।

कामिनीभावमापन्ना भविष्यय' व्रजाङ्गनाः। तत्रापि मुरलीनादश्रवणानन्दमोहिताः॥ ६०॥

वंजा क्रिनाएँ कामिनी माव में प्राप्त होंगी। वहाँ भी मुरलो के स्वर सुनने से वे स्नानन्द में विभोर हो जायँगी।। ६०।।

अतिक्रम्य स्वमर्यादां रासमण्डलमागताः। भविष्यथ तदा यूयं पूर्णकामा न संशयः।। ६९।।

व वर्गाङ्गनाएँ अपनी सामाजिक मर्यादा को छोड़कर उस रास मण्डल में आएँगी। तिमी आप सब की भी निःसन्देह रूप से मनोकामना पूर्ण होगो।। ६१।।

इत्युक्त्वान्तदेधे साक्षात्किशोराकृतिरच्युतः। ततः कतिपये काले पद्मकल्पे चतुमुंखे॥६२॥

किशोराकृति में साक्षात् भगवान् विष्णु इस प्रकार कहकर अन्तिहित हो। गए। इसके बाद कुछ काले बीतने पर पर्यकल्प में चतुर्मुख ब्रह्मा का आविभवि हुआ।। ६२।।

जाते तस्य व्यतिकान्ते पराद्ध प्रथमे ततः। द्वितीयस्यापि तस्यैव मध्ये लीलेयेमागता।। ६३॥

उन ब्रह्मा के आविभाव के बान प्रथम पराई के व्यतीत हो जाने घर द्वितीय पराई के भी मध्य में इस लीला का प्राकट्य हुआ। । ६३ ॥

द्विषट्सहस्रभेदेन स्वात्मानं च विभज्य ते। कामियीभावमापन्ना रासमण्डलमध्यगाः॥६४॥

भगवान कृष्ण ने अपने को ही बारह हजार भेद से विभाजित करके कामिनी भाव में आकर रास मण्डल के मध्य उपस्थित कर लिया ।। ६४ ।।

कृष्णित्रयाप्रसङ्गेन कृतकृत्या सभूविरे । इति ते सर्वमारूयातं यत्पृष्टोहं सुलोचने ॥ ६५ ॥

कृष्णित्रिया राष्ट्रा के साहचर्य से वे कृतकृत्य हो गए। हे सुलोचने ! इस प्रकार जो आपने पूँछा उन सभी को मैंने आपसे प्रतिपादित कर कह दिया है। इस्।

१. 'वरांगना।' इ० पा०।

कूटस्थहृदयं साक्षात् गोलोक इति विश्रृतः। तत्र क्रीडति गोपीभिः कामांशः पुरुषोत्तमः ॥ ६६ ॥

कूटस्य ब्रह्म साक्षात् रूप से हृदय में गोलोक रूप से प्रसिद्ध है। वहाँ गोपियां के साथ कामांश रूप से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा करतें हैं। ६६॥

आविर्भूतः सर्ववायं कृटस्थे परमात्मित ।
तिरोहितं तु चैतन्यं वर्त्तसे पृष्ठवोत्तमे ।। ६७ ॥
कृटस्य परमात्मा में सर्वव यह गोलोक आविर्भूत होता रहता है। चैतन्य
के तिरोहित हो जाने पर भी पुरुवोत्तम में यह लीला होती रहती है ॥ ६७ ॥

रसलीलारसाम्भोद्ये। पारं गन्तुं क ईश्वरः। दिङ्मात्रदर्शनं विद्धि यन्मया वर्णितं शिवे।। ६८॥

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे क्षिवोमासम्वादे पञ्चाशत्तमं पटलम् ।। ५० ।।

रास लींला के रस समुद्र को कौन पाय करने में समर्थ है ? हे शिवे ! जो मैंने यह बर्बन किया है वह तो एक दिङ्मात्र संकेत है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहिश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड ॥ इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहिश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड । इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहिश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड । इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहिश्चरतन्त्र' के उत्तरखण्ड । इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र वार्वती और भगवान शङ्कर के (ज्ञानखण्ड) में मा जगदम्बा पार्वती और भगवान शङ्कर के संवाद के पचासवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत सरला' हिन्दी व्याख्मा पूर्ण हुई ॥ ५०॥ सरला' हिन्दी व्याख्मा पूर्ण हुई ॥ ५०॥

१. 'पुरुवोत्तमः' इ० पा॰। ३२ मा॰

अथ एकपञ्चाशत्तमं पटलम्

शिव उवाच— अथान्यत्ते प्रवक्ष्यामि प्रकारं श्रुणु पार्वति । यस्य श्रवणमात्रेण जायते भावना शुभा ॥ १ ॥

शिव ने कहा— हे पार्वित ! घ्यान के एक अन्य प्रकार को मैं तुमसे कहता हूँ, उस घ्यान के श्रवणमात्र से ही आराधक की भावना गुद्ध हो जाती है ॥ १॥

भूमयो दश ते प्रोक्ता मया च वरवणिति।
पञ्चमी शयनीयाख्या तस्यां शेते निशास्विप ॥ २ ॥

हे वरविणिति ! हमने तुम्हें आयाधना की दश भूमियों को बताया है। उन्हीं में से पौचवीं शयनीय नाम की भूमि है जिसमें रात्रि में भी प्रभु सोते हैं।। २।।

> स्पूर्जंद्रत्नमयूखित्रविलसत्स्वणिच्छदण्डोद्घृत-भ्राजनमण्डपमण्डिते परिलसिह्व्योपधानैः सुखे। प्रान्तस्पूर्जंदनेकमौक्तिकमणिभ्राजत्पटीप्रावृते दिव्यामोदमनःप्रमोदसुमनःसौरभ्यसम्भाविते ॥३॥

देवीप्यमान रत्न की किरणों से विचित्र शोभा वाले, स्वर्णिम खम्भों से झूत मण्डप से मण्डित होने से आजमान एवं दिव्य उपधान (मसनद व तिकया) से सुशोभित सुखासन पर वे सोए थे। उस शय्या के प्रान्तभाग दीप्तिमान अनेक मुक्ता मणि से जटित चमकती हुई किरणों वाले पट से विरे हुए थे। वहाँ पर दिव्य सुगन्वित एवं मन को प्रसन्न करने वाले फूलों की सुरिभ व्यास थी॥ ३॥

> तल्पे तल्पसुखास्पदे परिलसन्मुक्तावितानोत्तमें हंसीतूलचिते स्फुरन्मणिगणप्रोच्चैः प्रदीपोज्ज्वले । स्वामिन्या परया विलासविविधक्रीडारसव्यग्रया रात्रो निर्भरमन्मथोत्सवसुखं शेते रसात्मा प्रभुः ॥ ४ ॥

गद्दे एवं मुखासनयुक्त गद्दी के ऊपर मुक्ताजिटत उत्तम आच्छादन सुशोभित था। मणियों के ऊचे पर स्थित प्रदीपों के जलने से प्रकाशयुक्त कक्ष में स्वामिनी

शाधा के साथ श्रेष्ठ विलास तथा विविध प्रकार की क्रीड़ा के रस में डूबे हुए रसात्मा प्रभु भगवान् कृष्ण रात्रि में पूर्णरूप से मन्मथ-सुख का उत्सव मनाते हुए सोवे हैं ॥ ४ ॥

> वीणामृदङ्गमधुरध्वनिगीतनादै। क्रीडागहं च परितः परिवृत्तमानाः। सख्यः त्रियं परिचरन्ति निज्ञावसाने प्राणप्रियेशपरिबोधनकर्मदक्षाः

क्रीडा गृह के चारों ओर घेरकर सखियाँ वीणा, मृदङ्ग एवं मधुर गायन की सुरीली व्वितियों द्वारा त्रिय की परिचर्या कर रही थी। रात्रि के अन्त में प्राणित्रिय कृष्ण को जगाने के कार्य में वे कुशलतापूर्वक सन्तद्ध थीं ॥ ५ ॥

कनकाङ्गी मञ्जुमुखी कलकण्ठी स्मितानना। आनन्दवल्लरी वृत्दा मित्रवृत्दा विशोकिती ॥ ६ ॥ चित्रवस्त्रा विचित्राङ्गी चन्द्रघण्टा विभावरी। मञ्जुमोदा विधुमुखी रत्नदन्ती मदालसा॥७॥ लावण्यलहरी लीलावती लावण्यमन्यरा। लिलताङ्गी कामवती पुष्पिणी पुष्पदन्तिका ॥ ८॥ हसन्तिका हसगितिः पुष्पवेणी मरुल्लता। मुदिना मोदिनी व्यामा तथा मुक्तावती रतिः॥ ९॥ हारिणी हरिणी हसी विहंसी हंसकुण्डला। अरुणाङ्गी रङ्गरङ्गा रसरङ्गा कुमुद्दती ॥ १०॥ कुङ्कुमाङ्गी कुन्दहासा चन्द्रहासा चरित्रिणी। आनन्दमञ्जरी मन्द्रा पद्मवृत्दा ज्वलन्तिका ॥ ११ ॥ कुन्ददन्ती रत्नकला जियनी स्वणमेखला। पुलिदिनी हेमवर्णा हरिणाक्षी रतिप्रिया।। १२॥ पद्मकोशा भृङ्गरावा गायनी मदमन्यरा। एकष्ठिमिताः सल्यो 'नियुक्ता बोधकर्मणि ॥ १३॥

प्राणप्रिय कृष्ण के उद्बोधन में संयतिवित्त इकसठ सिखयों के नाम इस १. कनकाङ्गी, २. मञ्जुमुखी, ३. कलकण्ठी; ४. स्मितानना, ५. आनन्द. प्रकार हैं -

^{&#}x27;ख्याताः' इ० पा० । 2.

बल्लरी, ६. वृन्दा, ७. मित्रुवृन्दा, ८. विश्वोकिनी, ९. चित्रवस्ना, १०. विचित्राङ्गी ११. चन्द्रघण्टा, १२. विभावरी, १३. मञ्जुमोदा, १४. विद्युमुखी, १५. रत्नदन्ती १६. मदालसा, १७. लावण्यलहरो, १८. लीलावती, १९. लावण्यमन्यरा २०. लिलताङ्गी, २१. कामवती, २२. पुष्टिपणो, २३. पुष्टितना, २४. हसन्तिका २५. हंसगित, २६. पुष्टवेणो, २७. मक्ललता, २८. मुदिता, २९. मोदिनी ३०. ध्यामा, ३१. मुक्तावती, ३२. रित, ३३. हारिणी, २४. हरिणी, ३५. हंसी ३६. विहंसी, ३७. हंसकुण्डला, ३८. अक्णाङ्गी, ३९. रङ्गरङ्गा, ४०. रसरङ्गा ४१. कुमुद्धती, ४२. कुङ्कुमाङ्गी, ४३. कुन्दहासा, ४४. चन्द्रहासा, ४५. चरि- १४. खानन्दमञ्जरी, ४७. मन्द्रा, ४८. पद्मवृन्दा, ४९. जवलन्तिका ५०. कुन्ददन्ती, ५१. रत्नकला, ५२. जिमिनो, ५३. स्वर्णमेखला ५४. पुलिन्दिनी ५०. हेमवर्णा, ५६. हरिणाक्षी, ५७. रतिप्रिया, ५८. पद्मकेशा, ५९. भृङ्गरावा ६०. गायनी और ६१. मन्दमन्थरा—ये इकसठ सिखर्या भगवान के उद्बोधन कार्य में नियुक्त रहती हैं॥ ६-१३॥

प्रातः प्रोत्थितमायतादिकमलप्रोत्तम्भितभ्रूलतं
जन्मामञ्जुमुखारविन्दविलसद्विम्बाधरोद्यस्मितम् ।
निद्रान्ताघूणेमानं समधिगतसखीवन्दमालोकयन्तं
दृष्ट्या वातेरिताम्भोरहमुकुललसच्छोभया निस्तुलाङ्गम् ॥ १४ ॥

प्रातःकाल सोकर उठे हुए कृष्ण की भौंहें विस्तृत कमल की पङ्खुड़ियों के समान उठी हुई हैं, जम्भाई लेते हुए मञ्जुल मुखारिवन्द एवं मधुर मुस्कान से लाल अधय शोभा पा रहे हैं, निद्रा के अन्त में वे अलसाए हुए चारों और पास में सखी वृन्द को देख रहे हैं। इस प्रकार श्लीकृष्ण की दृष्टि वायु के झोंके से इस प्रकार हिलते हुए कमल की शोभा को घारण कर रहे हैं जिसकी सुलना नहीं की जा सकती।। १४।।

स्फूर्जंत्काश्वनमण्डितामलमणिप्रोद्धासिते पात्रके श्रीमन्मङ्गलवस्तुनि प्रविलसच्छीरत्नदीपैः शुभैः। सस्यस्ता मृदुमञ्जुकङ्कणरणत्कारान्' समातन्विताः कान्ताः कान्तमनङ्गकोटिक्चिरं नीराजयन्ति प्रियम् ॥ १५ ॥

दीधिमान स्वर्ण से मण्डित निर्मलमणि से भासित तथा मङ्गल वस्तुओं से सजे धाल में शुम श्रीयुक्त रत्न प्रदीपों के द्वारा मृदु एवं मञ्जुल कञ्जण की रणत्कार से

रे. 'समातन्वती' इ॰ पा॰ ।

युक्त वे सुन्दरी युवितया करोड़ों कामदेवों के समान मनोहर लगने बाले प्रिय कृष्ण की आरती उतार रही हैं।। १५।।

तदनु झटिति रागादागतानन्दमञ्जय्यंनघकरसरोजे व्यादधत्' दर्गण च ।
प्रियसुभगमुखाब्जं दर्शनीयं तवेदं
ेअसितकणकृतश्री रम्यमालोकयेति ॥ १६ ॥

इसके बाद शीव्रता से आनन्दमञ्जरी अनुराग के कारण आई और अपने निष्पाप कर कमलों में दर्पण ले आई और कहा-हे प्रिय! आपका यह सुन्दर मुख कमल अल्यन्त दर्शनीय है। अतः कृष्ण कणों से युक्त मुख की शोभां का आप अवलोकन करें।। १६॥

> हादिनीनिहितरत्नपादुके पादपङ्कलयुंगे निद्याये च । रत्नपीठमुपसाद्यसुन्दर दन्तंधावनविधि करोतिं सः ॥ १७॥

ह्यादिनी रतन पादुका लाकर उन कृष्ण के दोनों चरणकमकों में पहनाती है। वह कृष्ण रतनपीठ के ऊपर बैठकर सुन्दर दन्तघावन की क्रिया करते हैं।। १७।।

दन्तधावनविधानयोजिते मन्द्रिणीति सुरसेति विश्वते । मन्द्रिणी धृतवती धुभं जलं हस्तवस्त्रममलं तथेतरा ॥ १८ ॥

दन्तधावन की क्रिया के लिए मन्द्रिणी और सुरसा नामक सखिया नियोजित हैं। मन्द्रिणी गुभ जल लेकर खड़ी रहती है और अन्य सखी सुरसा निर्मल बखों को हाथ में लिए रहती है।। १८॥

ततो लिविङ्गकर्पूरेच्रणैलापूगिमिश्रितम्। उपतिष्ठिति सत्पात्रे धृत्वा मदनमेखला । १९॥ इसके बाद लींग. कपूर का चूर्ण, इंलायची एवं सुपाड़ी से मिश्रित मुख्युद्धि द्रव्य को मदनमेखला नामक सखी सुन्दर पात्र में लेकर पास में खड़ी है।। १९॥

ताम्बूलमास्वाद्य ततः प्रसन्नः सखीजनप्रार्थनयातिकामम् । आश्रह्म रत्नोज्ज्वलपादुके है स्नानगृहस्याभिमुखः प्रयाति ॥ २०॥

१. 'व्यादघानश्तमदर्श' इ० पा०।

२. सुकृतिजनकृतिष्त्रं इ० पा०।

ताम्बूल का स्वाद लेकर प्रसन्न श्रीकृष्ण तब अत्यन्त कामना से सखीजन की प्रार्थना पर रत्नजिटत एवं उज्ज्वल दो खड़ाऊ पहनकर स्नान गृह की ओर जाते हैं ॥ २०॥

रत्नमौक्तिकवितानमण्डितं धूपितं स्वगस्यूपराजिभिः। कल्पवृक्षकुसुमालिसौरभोद्-

भ्रान्तभृद्गमुखरीकृताम्बरम् ॥ २१॥

रत्नों एवं मोतियों से जड़े हुए चैंदोने से मण्डित सुन्दर गन्च वाले तथा अगर की घम राशि से सुवासित उस स्नान गृह में कल्पवृक्ष केफू लों पर उनके सौरभ से आहुष्ट अमर गुड़जार करते हुए, अत्यन्त शोभायमान थे।। २१।।

सङ्जसर्वपरिचारिकागणं नृत्यमानबहुनत्तंकीगणम् । उल्लसद्विविधवाद्यगायनोज्जृम्मितप्रतिनिनादमञ्जुलम् ॥ २२ ॥

उस स्नान गृह में कृष्ण अल्पन्त सजी हुई परिचारिकाओं के समूहों से तथा नृह्य करती हुई अनेक नर्तिकयों के झुण्डों से विरे हैं। विविध प्रकार के वाद्यों की इबनियों से एवं गायनों से विजुम्भित मञ्जुल व्वति युक्त वह स्नान गृह है।। २२॥

स्तम्भलग्नमणिपुत्रिकागणं स्नानमण्डपमुपेत्य भास्वरम् । रत्नपीठमुपनीय दिश्चतं भामया समधितिष्ठति प्रभा ॥ २३ ॥

मणि की पुत्तलिकाओं के समूह जिन खम्भों पर चित्रित हैं ऐसे देदीप्यमान स्नान मण्डप में प्रभु आकर भामा के द्वारा दिखाए गए रत्नपीठ पर आसीन होते हैं ॥ २३ ॥

उत्तार्य भूषणकलापमयो मनोज्ञं तत्तरित्रयाकरयुगान्युपलम्भयित्वा नीराजितः स्वप्रमदोत्तमभूषणोद्यत् कान्तिच्छटाभिरिव दीपशर्तीवभाति ॥ २४॥

उन सिंबयों ने उनके मनोहर आभूषणों एवं सजावट के चिन्हों को उतार कर उनके प्रिय युगल हाथों को पकड़कर आरती करना प्रारम्भ किया : स्वयं प्रमदाओं के उत्तम आभूषणों से स्फुरित कान्ति छटाओं के द्वारा वे सैकड़ों दीपकों से मानों को भित हैं।। २४॥

यक्षकर्दं म' काइमीररजनीचणं मिश्रिते:। उद्वर्तनं चकारेलागन्धद्रव्यैमंनोहरै:।। २५ ।।

रै. कपू रागरकस्तूरी कु कुमं चन्दनं तथा।

महासुगन्धिरित्युक्तो नामतो सक्षकर्दमः । इति घन्वन्तिरः।

काश्मीर (केशर) एवं रजनी चूर्ण से मिश्चित यक्षकर्दम (कर्पूर एवं चन्दन आदि) से उन्हें उबटन लगाकर मनोहर गन्ध द्रव्यों से युक्त किया ॥ २५ ॥

> आतीय मणिपात्रस्यं गन्धतैलं मनोजवा। करोत्यभ्यङ्गमङ्गेषु स्वभावसुरभिष्वपि।। २६।।

मणि के पात्र में सुगन्धि युक्त एवं मन को जीत लेने वाले तैल को लाकर और स्वामाविक सुरिभयों से भी उनके अङ्गों में सिखयों ने मद्देन किया ॥ २६॥

मुक्तारत्नविचित्रहेमकलशैरापीडचमानैः शरत् पूर्णेन्दूज्वलहस्तिकुम्भशिखरारूढेः सुधास्पद्धिभिः। कस्तूरीद्रवयक्षकदेममहासौरभ्यसम्भावितेः

सख्यः पुष्पगणाधिवासितजलैः सस्नापयन्ति प्रियम् ॥ २७ ॥ पूर्णं चन्द्र को शरत्कालीन चाँदनी से स्पर्धा करने वाले मुक्ताः एवं रत्नजटित विचित्र सुवर्णं कलशों, कस्तूरी एवं यक्षकर्दम के महासुरिभ युक्त जल से उन सिखयों ने अपने प्रिय कृष्ण को नहलाया ॥ २७ ॥

स्मेरानना विद्युक्तला बल्गुनादा विहङ्गमा। 'सङ्गमाला स्मरानन्दा विश्वानन्द सुकुण्डला।। २८॥ तेजोवती हेमगर्भा तरुणी तपनावती। त्ताः प्राधान्यतः प्रोक्ता द्वादश स्नानकर्मण ।। २९॥

भगवान के स्नान कर्म में निम्नाङ्कित बारह प्रधान सिखयां संलग्न रहती है— १. स्मेरानना, २. विधुकला, ३. वल्गुनादा, ४. विहङ्गमा, ५. सङ्गमाला, ६. स्मरानन्दा, ७. विश्वानन्दा, ८. सुकुण्डला, ९. तेजीवती, १०. हेमगर्भा, ११. तक्णी और १२. तपनावती । २८-२९।।

गोफेनस्वच्छ्युचिना वाससाङ्ग सुकुण्डला।
प्रियस्याह्मादजननी 'प्रोच्छ्यत्यतिकोमलम्। ३०॥
प्रियस्याह्मादजननी 'प्रोच्छ्यत्यतिकोमलम्। ३०॥
पाफेन के समान स्वच्छ वस्त्र से सुन्दर कुण्डलों से युक्त प्रिय को बाह्मादित
करने वाली सिंखरा भगवान् के अत्यन्त कोमल अङ्गों को पोंछती हैं॥ ३०॥

स्नानवासः परित्यज्य तेजोवत्या निवेदितम् । काश्मीरराग्रहित्रं कटिवस्त्रं विभत्यंसी ॥ ३९॥ भगवान् अपने गीले कपड़ों को छोड़कर तेजोवती के द्वारा निवेदित काश्मीय (केशर) के रंग के समान मनोहर कटि वस्त्र को पहनते हैं॥ ३१॥

१. 'मंगलामाला' इ० पा० ।

२. 'त्रीस्थयति' इ० पा०।

पादुकायुगमारुह्य मन्दं मन्दं परः प्रभुः। भूषामण्डपमायाति प्रियाभिः परिवेष्टितः॥३२॥

वह श्रेष्ठ प्रभुदो खड़ाऊँ पहनकर मन्द-मन्द गति से अपनी प्रियाओं से घिरे हुए भूषा मण्डप पर बाते हैं।। ३२।।

रत्नराजितसुवणंकुट्टिमे स्फूर्जदंशुनिवहैस्तथोध्वंगैः।
शक्रचापरचमाचितान्तरे 'मण्डपे एफटिकपीठमाश्रितः।। ३३।।
रत्न जड़े हुए सुवर्ण की फर्श पर ऊपर की ओर निकलते हुए रिश्मजाल के
हारा इन्द्रधनुष की तरह राचित दिवाल वाले मण्डप में स्फटिक मणि के सिहासन
पर श्रीकृष्ण बैठे हैं।। ३३।।

केशाविलं कङ्कतिकामुखेन संशोध्यमाना ललिता प्रियस्य । निर्देग्धकालागहध्यधुपैः

सुवासयत्यत्र सरोजगन्धा । ३४ ।।
अपने प्रिय की लिलत केमों की लटें कन्धी के मृख से झाड़ते हुए तथा जलाए हुए
काले अगर के घूप से घूपित यहाँ सरोज गन्धा सुगन्धि से सुवासित करती
है ॥ ३४ ॥

सिन्दूरपूरारुणिमानमुच्चैवंहन् महोठणीषमन ङ्गरेखा । प्रान्तेषु मुक्तागुणगुम्फितं तदा व्यापारयामास तदुत्तमाङ्गे ।। ३५ ।। जिसके किनारे मुक्ता जड़े हुए हैं और सिन्दूर से परिपूर्ण अठण रंग की आमा बाले हैं ऐसी पगड़ी को अङ्गरेखा लिए हुए हैं। उस पगड़ा को भगवान के शिर पर उसने पहना दिया है। ३५ ॥

> सुवर्णरचितं प्रान्तं मुक्ताजालपरिस्कृतम् । पद्मरागं मध्यनीलमुष्णीषाग्रे बबन्ध सा ॥ ३६ ॥

उस उष्णीष के आगे सोने के घागे से रिचत प्रान्त भाग है। मुक्ता मिण के समूह से वह पगड़ी जटित है। उसके मध्य में पद्मराग मिण और नीलम जड़ा हुआ है। उस सखी ने उस उष्णीष को भगवान के सिर में बाघ दिया।। ३६।।

अनेकमुक्तामणिराजमाने निजेच्छया स्वीकृतहंसकुण्डले । तिडित्प्रभापुञ्जिमिनोद्धमन्ती श्रृतिद्वयस्याभरणीवकार ॥ ३७॥ अनेक मुक्ता एवं मणि से देदीप्यमान, अपनी इच्छा से स्वीकार कर कानों में

 ^{&#}x27;चिताम्बरे'।

२. 'चद्वहन्ती' इ० पा०।

हंसकुण्डल पहने हुए श्रीकृष्ण ने विद्युत की प्रभा के पुच्ज का मानों वमन करने काले पोनों कर्ण को आभूषणों से विभूषित किया।। ३७॥

नवरत्नमयीं मालां ग्रैवेयाभरणं हृदम्बुजे लम्बमाननं चतुष्काभरणं तथा।। ३४।।

नवीन रत्नमयी माला एवं गले का आभूषण पहने हुए श्रीकृष्ण के हृदय तक चतुष्काभरण लटका हुआ था।। ३८॥

केयूरयुगलं कटकाङ्गदमुद्रिकाः। उन्मिषद्रत्नरचितं का चीसूत्रं महद्धनम्।। ३९॥ निर्यद्भूषांशुनिचयैः किमीरितमिवोत्तमम्। निः स्वामहारिवसनं स्वेतं स्निग्धं मनोहरम् ॥ ४०॥ सुशोभनम् । नवीनजलदस्निग्धमुत्तरीयं अन्दर्यमौक्तिकमणिश्राजत्प्रान्तचतु ब्टयम्

वे दोनों हाथों में बाजूबन्द एक कटकाङ्गद और अंगुलियों में अंगुठी तथा रत्नों से बनी हुई करघनी पहने हुए थे। आभूषणों से निकलने वाली चमक से चित्र-विचित्र के समान देदीप्यमान, श्वेत एवं मनोहर और चिकना वस्त्र वे पहने हुए थे। उनका उत्तरीय नवीन मेघ के समान हिनाब और सुशोभित था। उस उत्तरीय के चारों किनारों पर अनध्यं मुक्तामणि जड़े होने से वह अत्यन्त आजमान य ।। ३९-४१ ॥

अनेकदिव्याभरणात्यङ्गे व्रियतमस्य हि। शृङ्गारचमत्कृतिमुपेयुषः ॥ ४२ ॥

प्रियतम श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की अनेक दिव्य आधूवणों से सजाया गया था, जिससे उनका शृङ्गार एक चमत्कृति को प्राप्त हो गया था।। ४२।।

इति सिंजतशृङ्गारो गायद्भिः परितो वृतः। सखीवृन्दे: वाद्यहस्तैभींगभूमिं प्रयाति सः॥४३॥

इस प्रकार से श्रङ्कार कर उनके चारों और गान करती हुई सिखयों का अपने हाथों में -- र समूह अपने हाथों में बाद्य लेकर भोगभूमि को उन्हें के जाता है।। ४३॥

पाकशालास्वधिकृता ललिताङ्गादिकाः प्रियाः। तिष्ठिन्ति यत्र सुभगाः किशोराकृतयः शतम् ॥ ४४ ॥

लिलताङ्गा आदि प्रिया पाक शाला की अधिकारिणी सिखरो हैं। उनके रिक्त सैकडो अपनियत है। अतिरिक्त सैकड़ों सुन्दर आकृतियों वाली किशोर बालाएँ वहाँ उपस्थित है ॥ ४४॥ स्वर्णपीठं समास्थाय तिष्ठति पुरुषोत्तमः। सौवर्णविमलं पात्र साधारमति विस्पृतस्।। ४५ ॥ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वर्णपीठ पर आकर बैठते हैं। उस पाकशाला में सुवर्ण के चमकते हुए पात्र आधार के सहित विस्तृत थे ॥ ४५ ॥

परितस्तस्य सौवर्णपात्राणां च सहस्रकम् ।
स्थाप्यन्ते तेषु ते भोगाः स्निग्धा हृद्याः पृथग्विधाः ॥ ४६ ॥
श्रीकृष्ण के चारो स्रोर हजारों सुवर्ण के पात्रों में स्निग्ध एवं हृद्य भोगसामग्रीः
स्रालग अलग उन सिखयों द्वारा परोसी जा रही थी ॥ ४६ ॥

जातीकोरकपुञ्जविभ्रमकरं स्वन्नं च मव्यस्थितं वामे ऽस्याढकमुद्गमोदनमथो प्राज्य घृतं माहिषम् । सूपापूपहयञ्जवोनविलसस्पक्कान्तरमभाफलै-मुक्तालड्डुकपूलिकाशिखरिणीदघ्यक्तमाषान्नकैः ।। ४७ ।।

जाती पुष्प की कलियों का पुञ्ज मध्य में स्थित सुन्दर अन्त के विश्रम की उत्पन्न कर रहा था। श्रीकृष्ण के बाम भाग में प्रचुर मात्रा में मूँग से निर्मित तथा भेंस के घृत से सना हुआ मोदक विद्यमान है। वहाँ सुन्दर पूआ, मक्खन से क्योभित पक्वान्न तथा केले का फल रक्खा था। मोतीचूर का लड्डू, पूड़ी, श्री खण्ड तथा दही बड़ा आदि भोग सामग्री वहाँ रक्खी गई थी।। ४७॥

वह्रस्युष्णशकांरयुतं मणि गत्रसंस्थं दुग्धः च पायसमथा घृतशकाँरःक्तम् । पूर्णन्दुचन्द्रकाचतः मधुराम्लतिक्त नानारसाम्बरसमाक्षिकगोस्तनीकम् ॥ ४८ ॥

श्री ऋष्ण के दाहिने तरफ मणिपात्र में शकरामिश्रित गरम दूध और घी एवं शकरा से सना हुआ खीर रक्खा गया था। पूर्ण चन्द्र के समान चित्रित सा मीठा, खट्ठा तथा तीता नाना प्रकार का रस, आम का रस, माक्षिकडच्य एवं गोस्तनी परोसे गए थे।। ४८।।

क्षमाण्डवृन्ताकपटोलविम्बी-शिम्बीसुकौशातिकसूरणाद्यै।।

मृद्धग्नितापेन सुपाचित्रं युंतं

हिङ्ग्वामरी वादिसुवासितैर्भृशम् ॥ ४९ ॥

कोहड़ा वृन्ताक (बैयन), पटोल (परवर) बिस्बी (कुन्दरू) शिस्बी (सेम), सुन्दर कीसातिक एवं सूरन आदि की तरकारी हींग एव मरिच आदि मशालों से अन्यन्त सुवासित कर छौंकी हुई तथा मन्द आंच में बनाई होने से स्वादिष्ट थी।। ४९॥

चतुर्विधानं परिवेश्यमाण-

मानन्दमानन्दमयौऽपि भुङ्कुक्ते।

प्रियाः समस्ता अपि त समन्तात्

प्रहासयन्त्यो बुभूजुः स्वपात्रैः ॥ ५०॥

इस प्रकार झानन्दमय होने पर भी आनन्दघन कृष्ण आनन्द से परोसे गए चतुर्विध अन्त का भोजन चारो ओर से घिरे हुए रहकर कर रहे हैं। समस्त प्रियाएँ भी उन्हें चारों ओर से अपने अपने पात्र से हंसती हुई खिला रही हैं।। ५०॥

भोजनान्ते ततः कृष्णं मणिपीठे तु दक्षिणे। गुद्धाङ्की स्वर्णभृङ्गारजलेनाचमनं ददौ ॥ ५१॥

भोजन के बाद शुद्धोदक से हाथ धुलाने वाली शुद्धाङ्की सखी ने मणिपीठ के दक्षिण ओर स्वर्ण निर्मित भृङ्गार (टोटी दार) पात्र से उन्हें आचमन आदि कराया ॥ ५१ ॥

स्नेहापनोदनार्थाय गन्धचूर्णं शुभं ददौ। दन्तकाष्ठं च कर्पूरशशाङ्कशकलास्तथा॥५२॥

चिकना छुटाने के लिए शुभ गन्ध-चूर्ण, दांत खोदने के लिए खोदनी सीर कपूर्य का घवल खण्ड दिया ॥ ५२ ॥

गण्डूषाचमनीयान्ते केसराङ्गी तु बीटिकास्। पञ्चवाद्यपुर:सरव् ॥ ५३॥

कुल्ला एवं आचमन कर लेने पर केसराङ्गी सखी ने पान का बीड़ा दिया । फिर पाँच प्रकार के (ढोल, मजीरा आदि) वाद्यों को आगे-आगे बजाती हुई
सक्तिम सिखयां खड़ाऊँ पहना कर उन्हें ले गई ॥ ५३॥

परमानन्दविग्रहम्। स्वामिनीप्रमुखाः सर्वाः मुक्ताभिः समवाकिरन् ॥ ५४॥ परमानन्द के मूर्तस्वरूप कृष्ण को अन्य पीठ पर स्वामिनी प्रमुख आदि समीह

सिखयों ने मुक्ता विखेरते हुए बैठाया ॥ ५४॥

दुर्वादिधप्रभृतिमाङ्गिलिकोपचारैः। मुक्ताविचित्रचतुरस्रसुवर्णपात्रे **झारोपितैः** स्थिरिश्खैः शुभरत्नदीपै-नीराजयन्ति निजनाथमकामकामम् ॥ ५५॥

मुक्ता मणि जटित होने से विचित्र प्रतीत होने वाले चौकोर सुवर्ण पात्र में रक्के दूर्वा एवं दिव मिश्चित माङ्गिलिक उपचारों से उन्होंने श्रीकृष्ण की परिचर्या की । 'रक्के दूर्वा एवं दिव मिश्चित माङ्गिलिक उपचारों से अपने नाथ श्रीकृष्ण को उन्होंने 'फिर स्थिर लो वाले शुभ रत्न निमित दीपिकों से अपने नाथ श्रीकृष्ण को उन्होंने 'अस्यन्य प्रसन्नता से आरती उतारी ॥ ५५ ॥

शृङ्गारहास्योद्भृतमोदमानः प्रियानुरोधेन ततः परेशः। विश्रम्य तत्रैव मुहूर्तमात्रं प्रयाति भूमि शयनीयसंशाम्।। ५६।।

म्पुङ्गार एवं हास्यपूर्वंक आनन्द लेते हुए परमात्मा श्रीकृष्ण प्रिया के अनुरोध से वहां कुछ ठहरकर शयनीयभूमि के लिए प्रस्थान करते हैं ॥ ५६॥

मृदुवाद्यादिगीतेन गीयमानः त्रियाजनैः। चित्रया वीजितः शेते मृदुव्यजनहस्तया।। ५७।।

मन्द-मन्द वाद्यों एवं गीतों को गाते हुए वियाओं के द्वारा कृष्ण को सुलाने का उपक्रम किया जाता है। फिर मृदु पंखा हाथ में लिए हुए चित्रा उन्हें पंखा अलती है।। ५७।।

> सुष्तोत्थितः परिजनैः सह नृत्यभूमी सिंहासने विमलरत्नमयूखचित्रे । स्थित्वा प्रियाविलसनादिकनृत्यगीतं पद्यस्तुनोष यदपि स्वयमेव तोषः ॥ ५८ ॥

सोने के बाद उठकर अपनी सिखयों के साथ कृष्ण नृत्यभूमि में विमल रत्नों से जिटत विचित्र सिहासन पर बैठते हैं। वहाँ पर श्रीकृष्ण यद्यपि सन्तुष्ट हैं, फिर भी उन प्रियाओं के विलास पूर्ण नृत्य एवं गीत को देखते हुए सन्तुष्ट हैं। होते हैं। ५८॥

अखिष्डतशरच्चन्द्रस्मयाप'हारमण्डलम् । मिहिला छत्रमाधत रत्नदण्डरुचोज्ज्वलम् ॥ ५९ ॥

शरत्कालीन पूर्णचन्द्र के समान गोल मण्डल वाले तथा रत्न जटित दण्ड वाले एवं कान्ति से उज्ज्वल छत्र को मिहिला नामक सखी ने घारण कर रक्खा है।। ५९॥

व्यजनं पादुके चार चामरे दर्पणादिकम् । द्यानाः परिसेवन्ते पूर्वोद्दिष्टाः परात्परम् ॥ ६० ॥ इसी प्रकार पंखा, पादुका, सुन्दर चैवर और दर्पण आदि वस्तुओं को एक के

^{🍕. &#}x27;अयस्मार' इ० पा० ।

बाद पूर्वोक्त संखियों ने परिचयर्थि घारण कर रक्खा है ॥ ६० ॥

ततो विमानप्रवरं नाम्ना चित्रध्वजं महत्। सखीसहस्रीरास्थाय गत्रश्चान्द्रमसं वनम्।। ६९॥

इसके बाद महान् चित्रव्वज नामक श्रेष्ठ विमान पर सहस्रसिखयों के साक्ष्य आरूढ़ होकर श्रीकृष्ण चान्द्रमस कन को जाते हैं ॥ ६१ ॥

> कदाचित्रीलविपिने कदाचित्युष्पदन्तके। कदाचिदानन्दवने हेमक्टेऽपि कहिंचित्।। ६२॥।

इस विमान पर चढ़कर वे कभी नील विपिन में, कभी पुष्पदन्तक वन में,. कभी आनन्द वन में, और कभी हेमकूट पर्वत पर जाते हैं।। ६२।।

> कदाचित्तारकूटाख्ये गारुडे नीलपर्वते । कदाचित्पुष्परागाद्रौ माणिक्याद्राविप क्वचित् ॥ ६३ ॥

वे कभो तारकूट नामक पर्वत पर, कभी गरुड और कभी नील पर्वत पर जाते हैं। कभी पुष्पराग पर्वत पर कभी माणिक्य की शिखर पर जाते हैं।। ६३।।

मन्दारविषिने क्वापि पारिजातवनान्तरे। हरिचन्दनकोद्याने वैदूर्यविषिते क्वचित्॥ ६४॥

वे कभी मन्दार वन में और कभी पारिजात वन के अन्दर जाते हैं। कभी हिपचन्दन वाले उद्यान में और कभी वैदूर्य के विपिन में जाते हैं।। ६४।।

महामुक्तावने क्वापि प्रवालोद्यान एव च। पद्मरागवनोद्याने महापद्मवने तथा।। ६५॥

श्रीकृष्ण कभी महामुक्ता के वन में, कभी प्रवाल (मूँगा) के उद्यान में विहार करते हैं। कभी वे पदाराग वन के उद्यान में और कभी महापदावन के बगीचे में जाते हैं।। ६५।।

कदाचिच्चम्पकवने क्वचित्कत्पद्रकानने । अनेकविद्यलीलाभिः क्रीडते पुरुषोत्तमः । तत्रश्चान्द्रमसादेत्य विमानेन महौजसा । ६६ ॥

वे कभी चम्पक वन में और कभी कल्पद्रुम कानन में जाते है। इस प्रकार आनन्दघन परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अनेक प्रकार की लीलाओं के द्वारा क्रीड़ा करते हैं। इसके बाद वे पुनः महान् तेजस्वी विमान से चान्द्रमस बन में लीट आते हैं। ६६॥

र. 'वैड्र्यमणिकानने' इ० पा०।

महाद्वारपुरोवित्त मण्डपेऽपि स्थितः 'क्षणः । चतुःषिटमहास्तम्भां मूलभूमिं समाश्रितः ॥ ६७ ॥ अग्रभाग में महान् सिहद्वार परक्षण भर उसके मण्डप में ठहर कर चीसठ -स्तम्भों वाले भवन 'मूलभूमि' में श्रीकृष्ण आते हैं ॥ ६७ ॥

> रत्नसिहासनगतं तदैवेच्छाविमोहिताः । स्वामिनीत्रमुखाः कृष्णं प्रार्थयामासुरुत्सुकाः ॥ ६८ ॥

रत्न जटित सिहासन पर बैठकर अपनी स्वेच्छा से मोहित हुए श्राकृष्ण स्वामिनी राघा आदि से उत्सुकता से प्राणित होते हैं।। ६८।।

तत्तु सर्वं मया प्रोक्तं पुरा ते वरवर्णिनिः अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ॥ ६९ ॥ हे वरवर्णिनि ! यह सब हमने पहले कह दिया है। अतः अब मै उसके बाद बहुँगा। आप एकाग्रमन से उसे सुने ॥ ६९ ॥

यथानेन प्रकारेण प्रियाः परिचरन्ति तम्। तथैव काश्चन व्यग्नाः स्वामिनीसेवनादिषु॥ ७०॥ जिस प्रकार से ये प्रिया सिलयो मगवान कृष्ण की परिचर्या करती हैं उसी प्रकार स्वामिनी रावा की भी सेवा में कुछ सिलयों संलग्न रहती हैं॥ ७०॥

> नीराजनस्नानवस्त्रगःधमाल्यविभूषणैः । शयनासनताम्बूलैं। सख्यः परिचरन्ति ताम् ॥ ७९ ॥

आरती, स्नान, वस्न, गन्ध—द्रव्य, माला एवं आभूषणों के द्वारा तथा शयन के समय आसन एवं ताम्बूल आदि देकर सिखयाँ उनकी भी परिचया करती हैं।। ७१।।

> द्विषटसहस्रसंख्याताः याः परिचरन्ति ताम् । षट्सहस्राणि कृष्णस्य परिचर्यापराणि हि ॥ ७२ ॥

छः सहस्र सिवयों के दो गुट हैं। उनमें से कृष्ण की परिचया में छः हजार सिवयौ रहती हैं।। ७२।।

स्वामिन्याः षट्सहस्राणि वर्त्तन्ते परिकमंणि। तासां यूथानि देवेशि चत्वारिशन्मितानि हि।। ७३।। हे देवेशि ! छः हजार सिखयां स्वामिवी राघा की भी परिचर्या कर्म में संलग्न

रहती हैं। उन सिखयों के झुण्ड चालीस-चालीस सख्या में हैं।। ७३।।

१. 'कृतक्षणः' इ० पा०।

तासां सोधानि दिव्यानि सहस्राणीति द्वादश ।
एकैकं योजनाद्धेनायामिविस्तारसंयुतम् ॥ ७४ ॥
उन सिवयों के लिए बारह हजार दिव्य भवन हैं। एक एक भवन अर्व योजन
के विस्तार से युक्त है। ७४॥

एकैकस्याः प्रियायास्तु मन्दिरे मन्दिरे प्रिये । शतं शतं प्रवर्त्तन्ते सेवार्थं परिचारिकाः ॥ ७५ ॥ हे प्रिये ! एक-एक प्रिया के एक एक मन्दिर में सी-सी परिचारिकार्षं सेवा के लिए संलग्न हैं ॥ ७५ ॥

प्रियासीधबहिर्भागे तत्क्रमेणैंव भामिति।
परिचारिकावर्गसमं मन्दिराणि पृथक् पृथक् । ७६ ।
हे भामिति ! प्रिया के भवन के बहिर्भाग में परिचारिका वर्ग के भी अलग अलग समान गृह हैं।। ७६ ॥

> योजनार्द्धप्रमाणेन किञ्चिदप्यधिकेन च। विस्तारयामयुक्तानि त्रिभौमानि द्युमन्ति च ॥ ७७ ॥

अर्घ योजन से भी कुछ अधिक विस्तृत प्रमाण वाले तीन दीप्तिमान आंगन मी वहीं हैं ॥ ७७ ॥

> प्रियासोधानि दिव्यानि नानावणीकृतीनि च । चन्द्रामृतोद्गारवन्ति चन्द्रकान्तोद्भवानि तु ॥ ७४ ॥

उन प्रियाओं के मवन नाना प्रकार के वर्णों की आकृति से वितित हैं। चन्द्रकान्त भवन चौदनी की तरह चमकते हैं ॥ ७८ ॥

> कानिकृष्णानि रक्तानि कृष्णरक्तानि कान्यपि। कानिचिद्रक्तकृष्णानि स्वेतरक्तानि काचिचित् ॥ ७९ ॥ स्वेतानि चैव रक्तानि रक्तस्वेतानि कान्यपि। एवं धूम्राणि कृष्णानि धूम्रकृष्णानि कानिचित् ॥ ८० ॥

कुछ भवन काले हैं और कुछ लाल रंग के हैं, कुछ भवन काले और लाल मिश्रित हैं। कुछ लाल एवं काले मिश्रित हैं। कुछ म्वेत-रक्त वर्ण के हैं। कुछ म्वेत हैं। कुछ प्वेत हैं। कुछ प्वेत हैं। कुछ प्वेत हैं। इस प्रकार प्वेत है, कुछ रक्त वर्ण के हैं और कुछ व्या रक्त म्वेत वर्ण वाले हैं। इस प्रकार उछ धूम्र कृष्ण वर्ण के हैं और कुछ धूम्र कृष्ण मिश्रित हैं।। ७९-८०।।

कुष्णधूम्राणि देवेशि सर्वसीधेष्वयं क्रमः। एकैकमन्दिरे देवि मज्जनागारमायतम्।। ८१॥ हे देवेशि! कुछ भवन कृष्ण में धूम्रमिश्रित वर्णवाले हैं। इस प्रकार भवनों का यही क्रम है। हे देवि! एक-एक मन्दिर में विस्तृत स्नान गृह है।।८१॥

नानोपकरणैर्युक्तं दिव्यरत्नवितानकम् । भूषागृह कथैकत्र महाकुट्टिममण्डपम् ॥ ४२ ॥ नाना प्रकार के उपकरणों से युक्त वे भवन दिव्य रत्न जटित वितान वाले हैं। उनमें एक सुन्दर फर्श एवं महान् मण्डप वाला भूषागृह भी है ॥ ८२ ॥

भूषागृहस्य पूर्वे तु गन्धालेपस्य मन्दिरम्। नानागन्धविभेदादिसमृद्धं बहुयुक्तिकम्।। ८३।। भूषागृह के पूर्व में गन्ध लेप करने के लिए भवन हैं। यह भवन नाना प्रकार के

गन्ध-द्रव्य एवं वहु सुविधा से समृद्ध है ।। ८३ ।।

महानसं तु देवेशि वत्तंते वह्निकोणगम्। ईशान्ये तुसभासद्म दिव्यासनविराजितम्॥ ४४॥

हे देवेशि ! विह्निकोण (दक्षिण-पूर्व के कोने) में उन भवनों में एक रसोई घर भी है। उस भवन के ईशानकोण (पूर्व-उत्तर के कोने) में सभागृह में दिव्य सिहासन पर भगवान कृष्ण विराजमान है।। ८४॥

> एवं कृष्णप्रियासोधस्थितिष्का तवानघे। द्रवीभूतरसः कृष्णः प्रियाभावात्मकस्तु यः ॥ ८५ ॥

हे अनचे ! इस प्रकार हमने कृष्ण प्रियाओं के प्रासादों की स्थित का बूंबर्णक किया । मैंने उन कृष्ण का स्वरूप बताया जो द्रवीमूत रस वाले और प्रिया के भाषारमक स्वरूप वाले हैं ॥ ८५ ॥

अाविर्भूय प्रियावृन्दैः कीहते प्रतिमन्दिरम्। स्वामिनीमन्दिरेपि च घनीभूतस्तु केवलम् ॥ ४६॥

वे कृष्ण प्रत्येक मन्दिर रूप गृहों में प्रिया के समूहों के साथ फ्रीडा करते हैं।
मात्र स्वामिनी राधा के मन्दिर में वे घनीभूत होकर रहते है (अन्य स्थानों में
द्रवीभूत होकर मावात्मक रूप से उपस्थित रहते हैं)।। ८६।।

न स्वामिनीं विना कृष्ण। त स्वामिनी कृष्णं विना।
न तिष्ठति क्षण देवि ह्यन्यथा लुप्यते रसः ॥ ८७ ॥
स्वामिनी राघा के विना कृष्ण और कृष्ण के विना स्वामिनी राघा एक क्षणः
भी नहीं रहते हैं, अन्यथा, हे देवि रस का ही लोप हो जायगा॥ ८७ ॥
अत्र ये मणयो मुक्ताः कृसुमानि लतां द्विपाः ।

लत्र य मणया मुक्ताः क्रुसुमानि लता। छवाः । विद्रुमस्वर्णरजतनानाभेदाश्च धातवः ॥ ७८ ॥ सूर्या चन्द्रमसी देवि पशुपक्षिसमीरणाः। भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयभेदा ह्यनेकशा ॥ ७९ ॥ भोवनुभोग्यविभागव्च ज्ञानुज्ञेयादिक तथा। रसंग्पेवेति विज्ञाय न मुह्यति कदाचन ॥ ९०॥

यहाँ पर जो मणिया, मोतियाँ, पुष्प, वायु, भौरे, मूंगा, सुवर्ण, चाँदी और नाना प्रकार की घातुएँ हैं, अथवा हे देवि ! सूर्य और चन्द्रमा, पशु-पक्षि तथा मन्द-मन्द वायु एवं अनेक प्रकार की मक्ष्य, भोज्य लप्सी या चूसने की अथवा पेय आदि भोजन सामग्री है वह सभी रस ही रस है। भोक्तु एवं भोग्य (भोग सामग्री और भोग लगाने वाला) विभाग तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय का विभाग सभी को रस समझ कर कभी भी उसमें सामक मोहित नहीं होते हैं ॥ ८८-९० ॥

न कालगणना तत्र वत्तते परमेश्वरि । न सूर्यचन्द्रताराणामुदयास्तादिकं भवेत् ॥९९॥

हे परमेश्वरि ! वहां रस समुद्र में काल को बणना नहीं होती। वहां सूर्य चन्द्रमा या तारों का उदय या अस्त भी नहीं होता है।। ९१।।

> उदयास्तादिभावाश्च प्रतीयन्ते तथापि हि। लीलासभयभेदार्थमेवं जानीहि पार्वति॥ ९२॥

यद्यपि उदय एवं अस्त आदि के भावों की प्रतीति होती है। हे पार्वेति ! इस सब को लीला एवं समय के भेदार्थं जानना चाहिए।। ९२॥

एतन्मयोदितं साध्वि त्वया सम्यक् श्रुतं किल । न वाच्यं कस्यचिद्देवि सर्वोपनिषदां रहः॥ ९३॥

हे साध्व ! यह सब हमने आपसे कहा । और आपने अच्छो प्रकार से सुनकर समझ लिया है । हे देवि ! यहो सभी उपनिषदों का गहस्य है अतः इसे किसी से नहीं कहना चाहिए ॥ ९३ ॥

एतन्माहेश्वरं तन्त्रं सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम्।
रसिन्णयसम्यन्तं समाधी यच्छुतं मया।। ९४।।
रसिन्णयसम्यन्तं समाधी यच्छुतं मया।। ९४।।
यह माहेश्वरं (प्रोक्तं) तन्त्र है जी सभी उत्तम वैष्णव उन्त्रों में बत्यन्त
यह माहेश्वरं (प्रोक्तं) तन्त्र है जो मैंते सुना था उस (आनन्द) रस के निर्णयः
का प्रतिपादन हमने किया है।। ९४॥

३३ मा०

मया' प्रकटितं तेऽच पुत्रयोरपि गोपितम्। वासना एव तुष्यन्ति श्रुत्वा साध्वीं कथामिमाम् । १५ ॥

उस आनन्द रस को मैंने आज आपसे कहा है जिसे अपने पुत्र से भी छिपाकर रखना चाहिए। हे देवि, इस गुद्ध (सुन्दर) कथा को सुनकर सभी वासनाएँ शान्त हो जाती है।। ९५ ।।

> अस्पाः कृपा विवर्द्धन्ते ज्योत्स्नया कि समुद्रवत् । हरिणा एव तुष्यन्ति गानं श्रुत्वा न गर्दभाः ॥ ९६ ॥

(वासनाएँ इसलिए शान्त हो जाती है) क्योंकि समुद्र के समान चांदनी के द्वारा क्या छोटे-छोटे कूएँ पैंदा होते हैं सुन्दर गान को सुनकर हरिण प्रसन्न होते हैं गदहे नहीं ।। ९६ ।।

> तस्मात्परीक्ष्य वक्तव्यं सहसान प्रकाशयेत्। श्रद्धधानाय शान्ताय कुलीनाय महेश्वरि ॥ ९७॥

इसिक्रिए हे देवि ! इस रहस्य को सहसा किसी से प्रकाशित नहीं करना चाहिए। सम्यक् रूप से परीक्षा करके ही इस ज्ञान को योग्य शिष्य को देना चाहिए। हे महेश्वरि! इस ज्ञान को श्रद्धावान्, शान्त चित्त एवं कुलीन व्यक्ति को ही दे॥ ९७॥

> विनीताय कृतज्ञाय क्रियाशुद्धाय दीयताम्। श्रद्धाभक्तिविहीनाय कृतघ्नाय दुरात्मने ॥ ९८ ॥

विनीत, कृतज्ञ तथा क्रिया से बुद्ध हुए साधक को ही यह रहस्य बताना चाहिए। श्रद्धा भिवत से विहीन, कृतध्त तथा दुरात्मा व्यक्ति को इसे कभी भी नहीं देनी चाहिए ॥ ९८ ॥

> असम्भावितचित्ताय वृथार्थेकप्रवृत्ताय

गुरुभक्तिविहीनाय हेतुवादरताय च। विपरीतार्थवादिने ॥ ९९ ॥ वेदशास्त्रार्थमानिने। दाम्भिकायातिदुष्टाय विषयाक्रान्तचेतसे ॥ १००॥

गुरु मिनत रहित और सदैव सवाल जनान करने वाले, असम्भावित चित्त वाले तथा सदैव विपरोत कार्यं करने वाले, वृथा ही कार्यं में प्रवृत्त रहने वाले,

अनेन ज्ञायतेऽस्य तंत्रस्यातिगोष्यस्वान्नाममात्रमपि न क्वापि ९४ तंत्रेषु प्राकट्यं ृहसमाहेश्वरतंत्रं तु मिन्नविषयकमिति मे मतम्।

चेद एवं शास्त्र के ज्ञान का अभिमान करने वाले, दम्मी, अश्यन्त दुष्ट तथा विषयासक्त चित्त वाले, अनिवकारी व्यक्ति को कमी मी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए॥ ९९-१००॥

> न देयः सर्वेषा देवि तन्त्रार्थः पराद्भुतः। तन्नास्ति त्रिषु लोकेषु यद्दत्त्वाप्यनृणी भवेत्।। १०१॥

हें देवि ! इस परम अद्भुत तन्त्र के अर्थ को सर्वथा किसी को एकाएक नहीं दे देना चाहिए। तोनों लोकों में यह ऐसो वस्तु नहीं है जिसे देकर अनुण हो जाय ।। १०१ ॥

> प्रभोर्देवस्य सर्वस्वं मयेदं ते प्रकाशितम्। अतः परं तु देवेशि ज्ञातव्य नावशिष्यते ॥ १०२ ॥

हे देवि ! प्रभु देव के सर्वस्व ज्ञान को हमने आपसे प्रतिपादित किया है। है
देवेशि ! अतः इसके बाद अब कुछ भी ज्ञातन्य नहीं रह जाता है।। १०२।।

तस्मादिदं मुबिजाय रहस्यं कृष्णयोषिताम् । स्वयमेव परानन्दनिमग्ना भव सुन्दरि । १०३॥

इंसलिए सम्यक् रूप से कृष्ण की प्रियाओं का यह रहस्य जानकर, हे सुन्दिर, आप स्वयमेव पराल्पर आनन्द रस में निमग्न हो आइए॥ १०३॥"

अतः परं तु देवेशि पष्टव्यं नैव किञ्चन। नित्यं ध्यायामि यच्चित्ते तदेतत्ते निवेदितम् ॥ १०४॥

हे देवेशि ! अब इसके बाद कुछ भीं पूँछने योग्य है ही नहीं, क्योंकि जिसका | मैं नित्य व्यान करता हूँ उसे ही मैंने आपसे निवेदित किया है ॥ १०४॥

इत्युक्तवा च तदा शम्भुस्तूष्णींभूत्वा च संस्थित: । वर्णमानमहालीलाममुद्रे मन सादधे ॥ १०९॥

इस प्रकार कहकर तब भगवान शङ्कर चुप होकर तथा आपके इंग्रा वर्णित लोला के महान् समुद्र में मन को निमग्न कर समाविस्य हो गए।। १०५॥

> स्मितोमिरिवाम्भोधिः पुलकाङ्गः सुलोचना। बभूव देवदेवेश। कृपासिन्धुक्षमापतिः॥ १०६॥

देवदेवेश, क्रमसिन्धु सुन्दर लोचन वाले, पुलकित-गात उमापति आनन्द समुद्र के लहेशों के समान स्तिमित हुए ॥ १०६ ॥

एवमानन्दसन्दोहनिमग्नं वीक्ष्य शङ्करम् । सर्वोपचारविधिना (पूजयामास पार्वती ॥ ९०७ ॥ इस प्रकार आनन्द समुद्र में निमान मगवान् शङ्कर को देखकर भगवती पार्वतीः ने विधिपूर्वक सभी उपचारों से उनको पूजा की ॥ १०७॥

दण्डवत्प्रणनामैषा कृतार्थास्मीति वादिनी । तुष्टाव शङ्कर भूयः कृपानिधिमनुत्तमम् ॥ १०८ ॥

उन्होंने यह कहते हुए कि 'मैं कृतार्य हूँ' दण्डवत् प्रणाम किया और पुना कृपानिधि अनुत्तम भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट किया ॥ १०८ ॥

त्व द्विव सर्वविद्यानामुपदेष्टा गुरुः स्वयम् । त्वयि भक्तिवतामेव मन्त्रयन्त्रादि सिघ्यतु ॥ १०९ ॥

हे देव झाप सभी विद्याओं के उपदेष्टा एवं स्वयं गुरु भी हैं। जो आ ११ में भीवल भाव रक्खेगा उसके मन्त्र और यन्त्र सभी सिद्धि को प्राप्त करेंगे।। १०९॥

इत्युक्त्वा पार्वती चित्ते कीलामाद्याय वर्णिताम् । अवाप परमानन्दे हर्षाश्रुपुलकाङ्किता ॥ ११० ॥

।। इति श्रीमन्माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे एकपञ्चाशतमं पटलम् ॥ ५१॥

वादितः रलोकानां समष्टचंकाः ॥ ३०६० ॥

।। समाप्तमिदं श्रीमाहेश्वरं तन्त्रम् ।।

यह कहकर पार्वती ने अपने चित्त में उन सुनी हुई लीलाओं का आधान करके हुवातिरेक से पुलक्षित शरीर होकर परमानन्द को प्राप्त किया ॥ ११०॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाचरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में मा जगदम्बा पावंती और भगवान शङ्कर के सम्बाद के इक्यावनवें पटल की डा॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५१ ॥

[,] दण्डवस्पणतामेषा० इति पा•।।

व्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	प्रह ा।	ब्लोका। प्रव्ठाः
अ ऐ कचटतपसषाः	२८७	अञ्जहीनो रसस्तद्वत् २३२
अकथ्य। पारमार्थ्येन	२६२	सङ्गुलीयाम्यङ्गुलिषु ३६०
अकारः। परमं बहा	२८१	सङ्गुष्ठतर्जनीभ्यौ _{तः अङ्ग} ्र३७०
अकार केवलं ध्याये	२८८	अचऊचलतडितस्कोटि ९६, १२९
अकिञ्चनाय शुद्धाय	7	अज्ञातः कीटवीड विच
अकुण्डितमहाबाघा	१७	अज्ञातैव यथारज्जुः १९१
अक्षरं यस्त्रया प्रोक्तं	مر ج	अज्ञानं यन्मथा प्रोक्तं ६४
अक्षरा परमात्मा च	68	अज्ञान प्रकृतिमधि।
अक्षरः परमात्मायं	86	अज्ञानप्रभवं विश्वं ' १९१
अक्षरस्य मनोवृत्ति	886	अज्ञानाद् रजतं भाति ६
अक्षरस्य तु या चित्त	१०६	अज्ञानान्निखल जात 🚎 🔑 🦎
अक्षरस्य तु सा प्रोक्ता	२०२	अण्डं चतुर्विशति तश्व जातं रे
अक्षरातीत रूपोऽसो	२८२	अतः परं तु देवेश ४५६, ५१४
अक्षरात्मनि सा लीला	२३६	अतः परंच भजने। २५१
अक्षरात्मा तु भगवान्	90	अतः पर प्रवक्ष्यामि 🧢 ३९७
अक्षराभासमात्रस्वात्	२५१	अतः परं न मे कार्यं, 🔑 ३२१
अक्षरे ज्ञानतन्मात्रे	२०३	अतस्त्वां कथिष्यामि ४५७ (२)
अक्षरे पर्मानन्दे	६५	अत एव श्रति मतैः ४८१
अक्षरे सृष्टिकतृ त्व	68	अतलं वितलं
अखण्डं व्यापकं तच्चेत्	860	अत एवासु सर्वासु 🍦 🦠 🐪 🤻 🤻
अखण्डमाणिक्यशिला	४०७	अतस्तरमाज्जगगज्जातं २१२
अक्षण्डव्यापकत्वादि	२२	अतस्त्वौ परिपृच्छामि २१४
अखिण्डतशर्चनद्र०	404	अतिक्रम्यशरक्षेप २९५
अस्तयो वायवश्वान्ये	१११	अतिक्रम्य स्वमयदि। ४१६
	११२	अतिदिव्यं सेब्यमाना २०० २००
अविनमध्यात्समुद्भूता	४७७	वतीतानागतभव ४५४ (३)
अग्नेशीशानपर्यन्त अग्नी क्षिप्त मया रेत	११२	अतीव मूषाम्बरवैपरीत्य ४१३

			ere = Tr
प्लोकाः -	पृष्ठाः	श्लोकाः	विट्या
अवीतानागता चासी	२३२	अद्वीतं भावयोन्नित्यं अद्वीतः	
सतोऽन्यत् मृणु देवेशि	२०६	भावनिष्णातः	४६१
सतोऽन्यथा प्रवत्तंन्ते	858	अधरामृतसं सिक्त	880
अत्यु ग्रविरहावेशा	१५२	अवरेऽपि द्वयं न्यस्य	४५९
अ त्यातुरमिति ज्ञात्वा	880	अधिकं वा समंन्यूनं	₹60
अ त्यन्तदीनहृदयं	र्दन	अधिकारोति विज्ञेयस्तस्मै	५२
ज त्यूग्रतरसन्ताप ०	88d	अधिष्ठाय प्रिये गैताः	368
अत्रापि सयोगवियोग	१२३	अधिष्ठेयान्यधिष्ठातृ	२०५
धत्र ये मणयो मुक्ताः	५१२	अधुना विप्रलम्भात्मा	३२१:
अत्रापि नैव विहत	366	अधृत्वा तुलसीमालाम्	
अत्रापि क्रीडते कृष्ण	थहर	अधृत्वायुषलिङ्गानि	४६०.
अथ ते नैव मार्गेण	228	अधोधः कल्पितं सप्त	३८५.
अथ तेषां वचः श्रुत्वा	४१	अधोमुद्धाहिसाज्ञेया	260
व्यय सन्दगृहे जातः	१०९	अ घ्यारोपापवादाम्यां	४७६
लाध बीजं न्यसन्माहन	२८४	अध्यारोपापवादेन	६३
ब्रथवा दर्णे यदत्	345	अन क्लकोटिसीन्दर्यं ०	४४५
अधवा नैव जातेय	२२८	अनङ्गमेखला माध्वी	१००
अथ वायोरभूदिनः	७१	अनङ्गीकारे देवेश	860
अथ विक्षेपशक्तिः सा	६९	अनञ ्जन [े] च नयनं भालं	₹ €
ज्या मानवतीर्वीक्य	१४७	अनन्तत्वादात्मतत्वाद्	२७९
वाय श्रदेश संखावान्य	९९	अन र्थ्यं रत्नजटितत ०	840 (2)
- मङ्तिसदन	१२८	अनष्यं रत्नविलसन्	४६५
चा सातकाण	880	अनथऽर्थहश मूढां	४५४ (२)
अथान्यते प्रवह्माम	४९८	अनहैं रुपदिष्टा ये	43:
अथेदानीं श्रृणु शिवे	{ 4 = E	अनाचारेण मालिन्य	२५२
अयदाना १०७	११७	अनादिः शब्दब्रह्माख्यो	Ęo
सदण्डे च्यप्यपापेषु	२०८	अनाद्यभेदो देवेशि	86.
सदर्भय चत्र मु [°] जा	206	अनावृतोऽपि पूर्णात्मा	Ę ę.
सदर्भय नित्र नेत्राच	३०९	अतित्या वाय नित्या	१०१
ू के वितिया भागा	68	·	
Secretary of the second		धनिराकृत्य तान् सर्वान्	१ ≒३
मद्भ्याउपस्य	२३	अनिर्वाच्यमिदं तस्मात्	Ę.W.

थलाका ।	पुरुवा:	श्लोका ः	<u> हन्याः</u>
अनुकुलो दक्षिणश्च	३८१, ३५७	अन्यथा न ददाम्येव	? ३७
अनुग्रहदश पश्येत्	886	अन्यथा मत्स्वरूपस्य	₹७१
अनुगृहीता नाथेन	४५६ (२)	अन्ययाविश्य चित्तं ते ४६	२ (२)
अ नुह्इय फल देव	१६०	अन्त वै प्राणिनां प्राणाः	₹७०
अनुभूता पुरा देवि	४८२	अन्तादिकाङ्क्षया क्वापि	१८७
धनुमान प्रमाणेन	86	अन्नान्युत्पाद्य तपसः	800
अनुष्ठाने फल नास्ति	१६२	अन्नाभिकाङ्क्षिणो येन	१७ १
अनुसन्धान रहिता	४४६	अन्यन्तिवेद्यतां कृत्यं	30
अनुतं तु तदज्ञानं	५८	अन्यस्यां बद्धचित्तोऽपि	328
अ नेककुञ्जगहने	₹८4	अन्यापि गृहमानीय	848
अ नेककुट्टिमोत्तुङ्ग ॰	३२६	अन्येन क्रियमाणे हि	थह
अनेक कोटि ब्रह्माण्ड	३४	अन्येनैवाम्भसा कुर्यान्	२९८
अ नेकजन्मकलुषी।	288	अन्येऽपि सन्ति पाषण्डा	860
अ नेकदिव्याभरणा०	५०५	अन्येपि स्यन्दनवरा	४२५
अने कपक्षिसङ्घात ॰	४१२	अन्योऽन्यं वादिभिरिव	Roz
अ नेकपोत्तसंस्थासु	४०५	अन्योऽन्यपिङ् क्तस्थितहर्म्यलम्ब	
अनेकमुक्तामणि राजमाने	५०४	अन्योन्यप्रतिबिम्ब	८९
अनेकविघलीलाभिः	५०९	अपरस्मिन् महेशानि	= = =
अने कसूर्यं सङ्काश ०	४४२	अपरोक्ष' लौकिकं च	48
अन्तः पूजां समाप्मैवं	४६९	अपरोक्षकरी विद्या	208
अ न्त।स्थारत्नसिकता०	४०१	अवश्यदक्षरः स्वटनं	१५१
अन्तरिक्षस्थितान् दिव्य•	४६४ (२)	अपाङ्गस्फुरण तावत्	280
अन्तदु ह्टा बहिः स्वच्छा	₹७६	अपि प्रिये केतककुड्मलीया।	\$ \$ \$
अन्तद्धानं क तत्रापि	१४६	अपिक्रिये त्वद्विरहानलोत्य	\$ \$ \$
अन्तम् ते परमानन्दे	288	अपूज्यस्त्वं तु लोकेषु	580
अन्तर्बहिस्त्र मुक्ता	४१६	अप्रबुद्ध प्रबुद्धो वा	868
अन्तहिते प्रिये कृष्णे	२७२	अप्रबोधो यथा स्वप्ने	43
अन्तस्तापोष्णिनश्वासो	₹ ± \$	अत्रार्थनीयतमामान्ति	66
अन्ते तुनरकार्यव	२४६	अप्सरोदर्शनसुब्ध	888
अन्ययाद्विदलः सोऽयं	२३०	अब्द्धिपूर्वकालापः	886
अन्यथा ध्यायमानस्य	888	अबोधयस्पूर्वकामं	180

*		इलोकाः	वृष्ठाः
_{ए १ ३} श्लोकाः	. पुष्ठा।	अवशिष्ट: कर्य कामो	१५५
अब्रुवन् घैर्यमालम्ब्य	१४३	अविशिष्टानि तत्त्वानि	२७१
अभिलाषवती भूयात्	358		Ę
अभिलाबस्तथा विन्ता	325	अवशिष्यते परं ब्रह्म	१७४
अभिलाषे समुत्पनने	३३०	अवश्यं नाशमायाति	३०३
अभिवर्षन् स्वयमपि	7 F F 8	अवस्थास्विप सर्वासु	₹ 9
अमूतमेव देवेशि	२३५	अवाग्विषयमत्युग	·
अभेदसूचनार्थाय	०७६	अवाच्यं तत्तु जानीहि	\$ \$ \$
अम्भोजकणिकावच्च	७६	अविचारितमेवेह	११५
अर्थ ब्रह्मा हरिरयं	४६१	अविचारितवक्तारो	१४३
अयं त्रिलोकेशगुरुः	१६	अविद्यमानं यतिकञ्चिन्	२३४
अहच्युत्पादनार्थाय	206	अविद्वानिय तद्विद्वान्	884
अरुणाङ्गी रङ्गरङ्गा	४९९	अविनाभावसम्बन्ध	३०८
अर्थं च पाद्याचमने	798	अविश्वस्ताय देवेशि	२१२
अद [*] बिन्दुसमायोगा	२७९	अशक्यविति मत्वान्ये	१८३
अद्धाङ्गदानतो जाने	५५	अधित भूमिशयने	१८९
अल्क्षन् गौतममुनि	१७०	अशीचं निदंयस्वं च	88
अलङ्कलङ्को ज्ञितपूर्णचन्द्र	386	अश्रद्दधानात् धर्मेषु	१६१
अलम्यं कन्दमूलादि	960	अष्टकोणमिदं ऋत्वा	४७०
अ लोलुपत्वमास्तिक्य	२५७	अष्टकोणं ततः कुर्यात्	४६९
अ लोलुपः सुशीलाश्च	२६७	अष्टवाह्वाद्युपाधि च	205
अलोलुपाय शान्ताय	305	अष्टादशसहस्राणि	४२६
बलोलुवाः सुशीलाश्च	३७३	असत्कर्माणिसर्वाणि	२२५
अलौकिक लौकिकं च	48	असच्छू त्या तथा देवि	२३४
अलौकिक वपुः कृत्वा	725	असत्यभाषण चैव	२२१
अलौकिक हि सन्दिग्ध	६०	असत्य सत्यवद्भाति	५६
अल्पवृत्ति भवेद् व्याप्यं	85 \$	असुराणां विनाशार्थ	१०७
अवगाहे च मनसि	३४७	बसुरा समसज्जन्त	288
अवतारदिनेष्येव	२६२	बस्नातोऽघीतपादो वा	२६०
अवतीयं क्षितितले	860	अस्ति दक्षिणतस्तस्य	३६४
अवघृत्यो भवेत्साक्षात्	३१६	अस्माभिगु [°] णहीनाभिः	३९२
अविश्वष्टस्य कामस्य	१५१	अस्माभिवंष्यंते नित्यं	४९०

म्लाकानुक्रमणिका

	_	इलोकाः	वृष्ठा।
एकोका ।	प्रदुर्ग।	बहं दुखाकुली दोना	४५५
अस्मिन् सिद्यति मिचित	13	अहं नाथ त्वदीयास्मि	568
अस्मिन्तज्ञान पथोषी	65	अहं ममाय मित्येषः	884
अस्मिन् ब्रह्माण्डगोले हि	२१६	अहं ममाय (गर)	ų
अस्मिन् सोपानमार्गेऽपि	४१०	अहं ममेत्य सद्भावी	रं, १५६
अस्वतन्त्रताः एराघीना	२०२	सहं लोकगुरा सामान्	३८५
अहङ्कारगतं सर्व	३३९	वहं विचिन्वती तत्र	688
अहङ्कार गृहीतेन	३३८	अहं जी मत्पतिश्वाय	२१
अहङ्कारमयो ग्रन्थि	'२११	अहं हृदि त्वया च्याता	३०२
अहङ्कारस्तु रेखान्त	260	अहिसा सत्यमस्त्येयं	३५
अहङ्कारस्य कतृ स्वं	280	बह्ना क्षयमजानन्वे	\$72
अहङ्काराश्रितायास्ते	888	आकाशस्तु हकारस्यो	३८९
अहङ्कारेण भिद्येत	288	आगण्डामि यदि स्वरं	२०३
अदङारो महत्तत्व	863	आग्रहमात्री देवेशि	४६४
अहङ्कारो विश्वबीजं	₹४,३	क्षाचम्य च शिक्षां बच्चा	२५७
अहन्ताशिशुमारेण	34	आचारसेवनस्येह	२५३
अहमध्यस्त एवायं	388	अध्वाररक्षणं तस्मात्	548
अहमप्यस्य रूपेण	१२४	आचाररहिता दुव्हा आचाररहिता दुव्हा	२५३
अहमाकण्यं वै तेषा	३ २	आचारतीत न पुनान्त बेदा	२५३
अहो कत्याणि वचनं	89	आचारः कथितः सद्भिः	२५२
अहो चित्तमिदं भाति	28	क्षाचारः प्रथमो धर्म	२६८
अहोऽत्र प्रमानन्दः	६२	आज्ञारा सद्गुरोदेवि आज्ञया सद्गुरोदेवि	१२
अहोदेव महादेव	184	आत्मतस्व कषुद्ध चर्थ	€ •
खदा देवेश भगवन्	88	आत्मत्वेनैव गृह्णिति	1887
अदो धन्यासि धन्यासि	१४, ४४	आत्मस्ययः प्रवृत्तानां	₹७१
धहो सिख यदीत्यं त्वं	१७	आत्मादर्शे यथा सम्यक्	२३
कार मीते प्रभुः साक्षात्	888	शात्माद्याः चुत्वा	799
अहं चापि च ते। साध	36	अात्मनोन्त ब्रह्म	२६
वर्तं तत्रागीमध्याम	१२७	बात्मानं गहंचामास	608
अहं तु तिहत्रया साक्षात्	३३०	धातमान वामन टर्स	
सन्त श्रवणदिव	३७ ४	आत्माप ह्रवमापन	345
अह त्वां शरण प्राप्तः	२६८	आत्मा शुद्धोऽव्ययः	665
अह (ना	146		

म्लोकाः	पृष्ठाः	प्लोकाः	वृष्ठाः:
आदायाज्ञां ततो देवि	४५८	आविभंवति लीलेयं	ं २३६
भादिजोवो महाजीवो	६७	आविभविन्ति लीयन्ते	3 888
जादिष्टा देवदेवेन	१०५	आविभवान्त लायन्त	₹ १ ७-
आदी तु मानसीं कृत्वा	३०१		205
भावी शब्दाहमक विश्वं	१९९	वाविभू ताक्षरे शक्ति	· २१६
आदी शिष्यस्य देहं	700	शाविभू ता तता निन्द्रा	890-
अधिपत्ये वनस्यास्य	¥₹₹	आविभूतः सदैवायं	488
आनन्द भुक्त्योरन्तराले	४२७	आविभू य प्रियावृत्देः	₹४५.
आनन्दरूपासामग्रो		बासाद्य विरहावस्था	
जानन्दसागरी द्वे ल	३३२	वासुरेध्वेव भावेषु	३५६
धानन्दाख्यं कुल प्राप्त	९६	आहारो यत्र पीयूषं	₹१७-
	२७४	आह्वादिनीमथानन्दां	808
क्षानन्दानुभवस्तेन क्षानन्दांशस्वरूपाय	७२	इ	
आनियमिष्यात्रस्य आनीयमिष्यात्रस्यं	४५१	इईए ल छ ठ थ फ	२८७
आवस्तेज: समुद्भूता	५०३	इच्छया ससुजे निद्रा	99
आभासस्तदवाच्छिन्नो	७१	इच्छाज्ञान क्रियात्मा च	२८०
	६१	६च्छा प्रलापदाहित्य	३०३
वामोदमोदितदिगन्तरभृङ्गसङ्घ		इच्छा प्रवर्त्तते देवि	२३६
जाया स्यन्तसमुद्वाष्ट्र	४व	इच्छामय्यस्तु शयने	200
षायुर्देहि प्रजा देहि	२९६	इच्छाशक्त्या तु देवेशि	ं २४३
आयुर्वषतं लोके	३०९	इति कंससमादिष्टो	808
आर ब्धे तु जपेद्देवि	३१६	इति तर्कयता देवि	२४४
आहरोह ततस्तुण	३८५	इति ते कथितं देवि ७४,	१०८, २०६
आलम्बनादि विषुरो	306	इति तेऽभिहितं देवि	হ ৩ হ
आलम्बनानुभावाश्च	२३१	इति तेषां न गृणतां	28
आलिङ्गतीविहायान्या	१४७	इति ते सर्वमाख्यातं	४४५
<mark>आलिङ्गनानि</mark> चुम्बानि	१५१	इति पाण्डित्यचातुय	३८९
<mark>आलिङ्ग घ</mark> रयालिङ्ग घमान:	220	इति प्रामाणिक स्तर्के	40
आलिलिङ् गुस्तथा	300	इति मत्वाहमुत्याय	₹⊏₹
आवयोरन्तरं नास्ति ३७२,	•	इति मानिनि यत्प्रहटं	३८८
ष्ठावाच्यमपि ते विचम	१९७	इति कथितं देवि	
कावाज्यनाय ते वाचम <mark>क्षाविर्भवति देवेशिः</mark>			१८५
नाग्याचाल द्वाश	२३७	इति यद्भवता प्रोक्तं	१११, १६७

ग्लोकानु द्र	मणिका
---------------------	-------

५२३:

म्लोकाः	प्रष्ठा।	एलोकाः	ट्र व्हा ाः
इति श्रुत्वा वचस्तासा	३६८	इत्येतन्महदाश्चयं	१९५
इति सज्जितशृङ्गारः	५०५	इत्येतनमे समाख्यातं	d.R.
इति सत्येन बचसा	393	इत्येता दश आख्याता	४४३
इति संशयमग्नं स्व	358	इत्येता विरहावस्था	886-
इतः क्षणं वा ततः क्षणं वा	· ·	इत्येतैर्र्सणैर्देवि	₹ ९ ० ₹००
इत्यं तया निगादता	390	इत्येतीहपचारेश्च	20 G 20 p
इत्य प्रियामनुनयन्	१३५	इत्येव कोटिशः स्याताः	१ ६
इत्यं स्मरन्ती सततं	888	इत्येव सन्दिहाना सा	३२०∞
	२०१	इत्येवं कथितं देवि	४१, २४२
इत्यद्वीतं श्रुतिशतीः	१२८	इत्येवं ते मया ख्यातं	₹७९
इत्यादि मम वाक्यानि	४४५	इत्येवं नास्तिका मूढा	228
इत्यादि विविधालापाः	३३३	इत्येवं पन्त्रमूतानां	48
इत्यादि विविधां चेण्टा	2 × 4	इत्येवं मङ्गले जाते	१२५
इत्यावेदिमाकण्यं		इत्येवं राज्या प्रोक्ता	40
इत्यावेदितहादस्ताः	१२४	इत्येवं विष्णुना प्रोक्ता	२२२
इत्याहुरपराः सख्यः	• <i>0 5</i>	इत्यवं शास्त्रसिद्धान्तः	₹₹₹ ₹ ४५ ;
इत्युक्त यत्त्वया देव	५६	वर्विरमत्युप	₹88.
इत्युक्ता सा तदा लक्ष्मोः	२३	वाहविरादाय	88.
इ त्युक्तास्ताः प्रियाः सर्वाः	< 8	अन्त वस्था	40
इत्युक्ताहं स्थिता तत्र	३८६	~ nず 51 4	१५७
इत्युक्ते सीतया तूर्णं	११५	4 - 3MU 4	४१६
इत्युक्तो नृत्यति स्मासी	१२०	24040	808
इत्युक्तो मोहितमति	१०३		४०५
इत्युक्ता रमया देव्या	१९	- SEKUINGII	388
इत्युक्तवा ता मुनिश्रेष्ठा	१९३	इंन्द्रियाणां विकारे तु	३१२
इत्युक्तवान्तदंधे साक्षात्	४९६	triT 43.11	
इत्युक्त्वा भगवत्वादं	२४		२६०
इत्युक्तवा मध्यगस्तासा	१४६	इन्द्रियाय राज्य इयत्त्रियाऽपरिच्छेद्यम्	80
इत्युक्त्वा सखीवरीण	१८, ५१४		888.
इत्येत्कधितं देवि	२३३, ४७९	इयं कान्ताय इयोजंलङ्मीलावण्य •	838
इत्येतद्वनं श्रुत्वा	३७६	ह्वाजल्य	
श्यतद्वन श्रुत्य	250		

250

इत्येतन्तिण्याज्ञाना

माहेण्करतन्त्रे ज्ञानखण्डे

	4	7	8
--	---	---	---

प्रकोकाः	वृष्ठाः	इस्रोकाः	वृष्ठाः
द्ध		उपदेवानग्दशत	.१९७
- ईट्टन्ताहगितिगिरा <u>ं</u>	86	उपयंघ: स्थितास्तेषां	, ३९ ९
ईश्वरध्यानयोग्यश्च	१७३	उपयु परि विन्यस्त०	३८४, ४०७
- ईश्वराज्जीवपार्थं क्य	200	उपर्यक्तिम णिक्लृट त ०	४०३
ईश्वराय निरोगाय	४५२	उपवेश्य पुनः पाश्वे	२७६
- ईषत्पक्यसुपिष्टेन	868	उपादान प्रपन्तस्य	304
ਚ		उपेत नव खण्डैश्च ्	388
उच्चावचासु योनिषु	१८६	उपेतं रमया पञ्चवाषिक्या	४७६
्डिच्छिष्टो न ₹पृशेत् ववापि	२५६	उभयव्यापिनी सा तु	२०३
उज्जूम्भिताथ हुनिघा	948	उभयात्मकः प्रपष्टचोऽयं	१९९
उत्तमं पुरुष पश्येत्	३२०	सभयोश्च तथा सह	२९६
- उत्तमे पुरुषे पूर्णे	४२२	उभयोः कूलयोस्तस्याः	388
उत्तर्भयन्ती भ्रूवरुली	3 96	उवाच वचन कृष्णो	१४६
उत्तरोष्ठे स्थिता छज्जा	8	उवाच वचन क्रुद्धो	্
उत्तार्यभूषणकलापमयो मनोज्ञ	40.2	उवाच मायया विष्णुस्ते	ू १८२
उत्कृष्टत्वाद् विशुद्धत्वात्	६६	र्कीमकाः प्रस्फुरद्रत्न	३५९
उत्पत्रिम् गीवृन्दैः	४४२	報	
उत्सवे गुणगानादि	२६०	ऋषिसङ्घः परिवृतो	302
उदरे पद्म चक्राणि	४५९	ऋषि। शिरोस विन्यस्य	२८४
- उदासीनारिमित्रेषु	१६६	ऋ ऋ ओ घझ ढ घ भ	२८७
उदिताकं मिवान्य त्र	८३	Ġ.	
उदिते तु परे ज्ञाने	३७	एक एव पतिः सेव्यो	१५९
उद्भिन्नतालोवन जान्यकार	३४=	एकतः सकला घमा	१७०
· उद्यन्मयूखमयशुद्ध सुधातिवर्षेः	८२	एकधा च पुनस्त्रेघा	6
· उद्रिक्ततमसो देवि	२२०	एकदा कृष्ण एवंका	१३८
उद्विग्नभावाकुलितान्तरया	३३४	एकदा जानकी हुन्दु	383
उन्मज्जनते विभज्जनते	६२	एकदा तु कुमार्यस्ता	. १३६
उन्म् तानङ्गमातङ्ग	३५९	एकदा पुरुष साक्षात्	68
उन्मादनं सुघास्यन्दि	४२६	एकदा पुष्प रागादी	.३८३
उपचारविधानेन	86	एकदा मे वित्तकोऽसूत्	. 888
उपचारेजॅलमयी	₹७९	एकपत्नीव्रतघरो ,	३८३

बलोकानुक्रमणिका जङ्गा क ्षानुक्रमण्डा			456
श्लोका:	प्रष्ठा:	एलोकाः	प्रष्ठाः
एकमेव परंजहा	ं २०१	एवं चानेकलीलामी	8862
एकमेवाद्वितीयं	. ४६३	एवं तादेवदेवेश	883
	208	एवं ताः प्रत्युदोयि	३६९
एकमेवावशिष्येत	823	एवं नानाविधा लोलाः	१४९ .
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः	३६३	तेवं नानाविघास्तापान्	१८९
एकस्मिन्नायके साध्य	740	एवं निश्चित्य ते सर्व	३०
एकान्तसेवाभिष्विर	*	एवं पद्धतिशाख्याता	568
एकार्थमेव तत्सवं	६९	एवं पीठार्चनं कृत्वा	४७३ -
एका क्रिस्टा च प्रकृति।	२१६	एवं प्रार्थयमानेषु	४९१
एकेनोनं च शतक	808	एवं प्रबोधिता सम्यक	३४५
एकेकस्याः व्रिययास्तु	५११	ं गोहात्सम्दम्त	48.
एकैका विन्यसेद् वाम	४५९	तत्व यः स्तीति दवास	४५५
एकोनैकोनप ञ्चाशत्	२७९	तानं रहस्य क्रेटस्या	383
एतत्तन्त्रार्थविज्ञाने	240	तनं रासर्सान्यत	868.
एतत्तुम्यं समाख्यातं	770	तर्वं बक्रीक्तिमाश्राच्य	1306
एतत्ते सर्वमाख्यातं २०५, २	२०, ३२७	तनं विधगणेयु क्तः	\$66.
•	४२८	ं ध्वतरहारात्र	580.
एतत्सर्वं महादेव	२१५	ः ज्यानि स्रेर्	,२७ <i>५</i>
एवत्साधनसम्पति	३०२	: Farta H 4	88.
एतन्मन्त्रार्थं विज्ञान	263		१२९ .
एतदाख्याहि भगवन्	४८२	·erriud.	[:] २६८
एतदाचक्व नो ब्रह्मन	३२		568.
एतदाचक्व मगवन्	१९६	एवं सम्भावितास्तेन	१७६
एतिसमन्तन्तरे देवि	286		580.
एतेऽन्ये च त्रयीबाह्याः	१द३		288
			३७७ -
•	७०, ५१४	एवा सकाराव्य एषु स्थानेषु देवेणि	787
एवमुक्तं तया साध्वया	180	एषु ^{स्थाग} ें औ	
एवं कूटस्थपुरुष	• • • • •	- नं रहा	808.
एवं कृष्णप्रियासीव॰	५१२	भीग्रसेनिस्तु तं ह्यु। भीदासिन्यं भयं कोघं	३१२:
एवं कोटिचतुष्काणि	े ४२१	भीदासित्य भेष करा	111.
एवं क्रीडारसानन्द•	805	WI.	
एवं चतुर्विधेष्वेषु	इनर		

रलोका ः	घृष्ठा:	म्लोकाः	पृष्ठाः
布		कदाचिद् रयमारुह्य	४२४
कटाक्षसखीनिर्यंद्	१२९	कदाचिन्नीलवि पने	409
-कटिदेशे न्यसेच्छिनत	२८४	कदा चिन्म णिगेहस्य	55
-कटिमध्येऽतलमस्ति	ب	कन काङ्गी भञ्जुमुखी	858
- कण्ठदेशे तथा वाम	४५९	कन्दमूलफलै। पत्री।	3 8 8
-कण्ठे मालो दधो रम्यां	३६०	कन्याविक्रयिणश्चेव	246
कथता बोघमाप्स्यन्ति	_२ २१५	क पित्थ बिल्वा मलना लिके	री ४९१
- कथाश्रवणजानन्दी	3 3	करिष्यन्ति यदा पीडां	४७
कथ खेदयसे बिम्बं	ዿ ጾጾ	कत्तंव्यं सहजं कर्म	१६३
कथं ते वेदितुं सकताः	46	कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वं	३३८
क्यं तैः केवलानग्दः	३३ २	कर्पु रगन्धा काश्मीरी	₹ 0 0
कथं नित्येति तां वनतुं	२२८	कर्मणामिह भोक्त चेद्	३३६
कथं पश्यसि भेदेन	२३	कर्मणि क्रियमाणे हि	३३६
क्यं प्रियाणां च तथा	१२२	कर्मण्येतानि देवेमा	२२२
कथं वा माहनाशेऽपि	५६	कमेंबन्धस्ततो जातो	१८७
कथ विस्मृत्य सहसा	३२७	कर्मं ब्रह्मोभयभ्रष्ट	१६४
कथं वकुण्ठागमनं	२२३	कर्माणि तानीह गुणाश्च	
कथं सा सगता में स्यात्	१ २३	कलहान्तरिता जाता	४१
कथं सुखेन वर्त्तेत	४०	कलापिनो हुष्टिचताः	888
कदम्बकल्गद्रुम् ०	४२०	कलाभिः सहितं तत्र	४७१
कदम्बपारिजाताम् ०	४१७	कलावति कलाभिन्ने	३८६, ३९१
- कदम्बाशोकपुन्नाग	३५४	कलावति प्रिये मानो	₹50
कदलीकाण्डमारूढा	४२२	कलावति महाप्राज्ञे	३८३, ३८९
कदाचित् क्रीहते तत्र	¥30	कलावती ततो गरवा	305
कदाचित् क्रीडनं तत्र	३५३	कलावती यदा कान्त	398
कदाचिच्चम्पकवने	५०९	कलावतीवंचस्तध्य	393
कदा चिज्जल खेलाम्ते	, ४२०	कलाविष महापापे	8 5 9
कदा चित्तत्र भगवान्	888	कल्स्तु सुमहान् पाप	1 45
<mark>कदा</mark> चिश्तारकुटाख्ये	404	कली जनिष्यमाणानां	
कदाचित् पुष्परागादौ	३२५	कल्पद्र कुसुमामोद॰	१•८
कदाचित्र्रार्थयामासुः	344		W30 W30
मुद्रास्प्रसम्बद्धाः ५५	717	कल्पद्रुकुसुमास्वादु	४३९, ४३१

थलोका :		_	
	पुष्ठाः	प्लोकाः	पृष्ठा:
कस्य हैतोनं कुरुष	९=	का हानिस्तत्र देवेशि	१६४
कस्यापि न भयं भीव	१२७	कांस्यजं मघुवकथि	४७१
काङ् सत्यप्याश्रमं गन्तुं	३३३	किन्तु तस्यावसिष्टं बा	१२
काचित् कृष्णमुखं निरीक्य		किमन्यज् ज्ञाप्यते तुम्यं	१७१
सुतरा चित्रार् <mark>वितेवाभ</mark>	वत् ४९३	किमर्थमागताः सर्वाः	\$88
काचिद्गोपो सचमरकरा		किमर्थं हिंसी भो जीवान	3 2 3
बीजयन्ती स्वकान्त	४९३	किमायुवा च दोवेंग	१२
काञ्चने मध्यकलशे	३८४	किमुता विषशचान्ये	₹9
काञ्ची कलापरुचिरा	25	किमेतत्साधुचरिते	११६
कात्व कस्यासि वामो र	263	कियत्य एवात्र न सन्ति राध	१३२
कानि कृष्णानि रक्तानि	५११	कियांस्तत्र गतः काल	२१५
कामकोदण्डकु टिल	२८९; ४३१	किरोटनः कुण्डलिनः	38
कामक्रोघ महालोभ	३६	किशोरी कुसुमानन्दा	४७५
कामरूपी सदानन्द।	२०३	किशोरी परमेष्टा च	२७३
कामसङ्कलपरहितं	१६०		२५, ३३३
कामिनोभावमायन्ना	४९६	to activity and another f	848
कामोऽयंनिगमाः सत्य	४९५	कि जल्पसि मुघा नाम	340
कामः क्रोधाश्च लोभश्च	866	कि त्वं ध्यायसि देवेश	₹0
कारणं शृणु तत्रापि	580	कि धनीविभवा कल्पैविभवै:	[88
कारणं तद्विजानीयात्	 	कि व्यायसि चिरं तात	33
कार्यकारणयोर्भेदः	68	कि च्यायसि रहः स्थित्वा	28
कार्यापाधिमिक्षष्टत्वाद्	E E	कि ज्यायसि रह इति	89
कालदण्डभुजङ्गेन	२६६		१५६
कालमायागृहीताङ्गा	१५४	कि न कुर्वन्ति ते मूढाः	
कालमाया हुतातूर्णं	१३९	कि मानिनि बहुक्तेन	₹ ८ ०
कालमायांशयोगेन	6	कि वजनिर्घातहता	१४२
कालमेघालिद्विरं	४७६	कि रहस्य किमाध्यासम्य	₹ ₹
कालो महान् व्यवीवोऽयं	250	किंशुकामांमांशुकच त्या	{ 8 \$
काश्विन्मृदङ्गवीणाद्य ।	داع	की हशी सा भवेल्लीला	३८२
काश्चिन् मधुरवीणासि।	४१३	कीर्ति प्रियो हि भगवान्	886
काश्चिनमुख्य हर्वान	358	कुक्षिव्वस्य समुद्रा वै	8
344411	111	कुङ्कुमाङ्गी कुन्दहासा	866

पुडठा: एलोकाः पृष्ठा। इलोकाः 840 कृष्णं कमलपत्राक्ष १३० क्चोपरिलसन् मुक्ता र्दर कृष्णं विभूषयामास कुट्टिं मह्यमी शानि 288 834. कृष्णं सरोवराम्यास० 808 **कुट्टिम निकटा रूढाः** 6 30 कृष्णः प्रीतमनास्तम्यो कुट्टमान्तः स्थिताः 800 323 के के वान हता देवि कुट्टिमा यत्र भूयांसः 838 38. केचित्पत्राशनरता कुत्र सङ्गतिरेतेन 838 38 केचिदष्टाङ्ग योगेन कुन्ददन्ती रतन कला 899 230 केचिदाहुनिगु णस्य कुमारीरानयामास 286 केचिन्नीलवरूथेषु कुमायों द्वादश प्रोक्तः 188 824 केचिद्रक्तवरूथेषु कुमार्यः कृष्णचरितं १३६ まえ. केचिन्मुण्डितमुण्डाश्च क्टस्यपूजने तत्र 850 348 केतकेश्चम्पकेश्च तैः **कूट्टस्य**स्वप्नसम्बन्ध 888 २४६ केन प्रयुक्तस्त हरि कूट्टस्थ हृदयं साक्षात् 830 348 केयूरयुगल चार बूट्टस्यं व्यापकं देवि ४८१ 350 केयूरयुगलं बाहो कूर्मरूपेण यः पृष्ठे 009 843 **क्षूरुमाण्डधृन्ताकपटोलबिम्बी**० केवलानन्दरूपाय 408 कंवलेन शरोरेण 88 कृतदोषोऽपि निःशङ्क ३५१ 388 केवलं भवतः पूजा कृतस्नानं समाह्य २७० केशावलि कङ्कतिकामुखेन 408 कृतं महत्तपश्चोग्नं २५ कोटिकल्पायते रात्रिः 838. कृष्ण कृष्णेत्यमुं मन्त्र १२६ कोटिकल्पेषुपापिष्ठा २८३ कुष्ण घूम्राणि देवेशि 488 कोटियोजनविस्तोण 388. कृष्णि प्रयाप्रसङ्गेन 89 € कोटोन्दुविस्फुरचन्द्र ० कृत्णप्रियाः कृत्णरूपा 880. 8 5 8 कोट्यकंप्रभयाविराजिततनु कृष्णमालङ्गयामासु 820 कोटीन्दुदपपिह कृष्णमूर्ति प्रपश्यामि 883 174 काट्यधंयोजनायाम 388 कृष्णसेवानुसेवन्त 154 क्जत्रयसमायोगा २८० कृष्णवसांसि नो देहि १३६ कोऽयं वह्निस्पूर्वीऽयम् 39 239 कृष्णरूपमभूतत्र 2= को वेदास्य पर चित्ते कृष्णस्तामागतो हड्डा 234 कोऽसी त्रिलोकगुरुणां 24. कृष्णसीणां विप्रयोगे 306 कोऽहं कथमिदं जातं 304 कृष्णस्येति इढाम्यास 266

	श्लोकानु क्र मणिका		
ग्लोका:	पृष्ठा।	ग लोकाः	पृष्ठाः
कोऽहं कथमिदं जातं	३०५	क्षीरसागरकल्लोल०	४६६
कंसस्त्वरितमागम्य	१०६	क्षुत्तट्परीता वै काश्चित्	१६९
क। शिकः को हरिक्वं ह्या	४६२	क्षरः सर्वेप्रपन्त्रोऽयं	२७३
क्रमयोगेन तच्चावि	१३	खगा मृगा लता वृक्षा	838
क्रमयोगेन देवेशि	२१९	ग	
क्रियावान् पुरुषः श्रोष्ठो	१६१	गण्डूषाचमनीयान्ते	400
क्रोडते तत्र भगवान्	३५३	गण्ड्षान् कारयेत् पश्चात्	४७८
क्रीडतेऽहापि भगवान्	४१९	गजीभिरिव मात्रको	४३२
क्रीडमानोऽपि सर्वाभिः	366	गते द्वादशमे वर्षे	338
क्रीबार्यमागतस्तत्र	४०३	गत्वा निवेदयिष्यामी	₹≒
कोडासरः स्फुटमुदः वित कुडज	होन- ८१	गन्धलेपक्षयकर	२९५
कृ द्धचित्तावुमौदेवि	२४७	गन्धलुब्धो यथा मृङ्गः	२७०
क्रुद्ध। शापं प्रतिददी	२४७	ग न्धवीनन्दशतकं	१ ९७
क्लुप्तप्राचीं समारम्य	४७४	गलद्बाष्पाम्बुपूणिक्षः	58
म्वण्टकनकमूषाच्यः	. 68	गवाक्षमालापथचारिभिर्महा	द३
नवणन्तू पुरसंशाभि	२८९	गव्यूरयद्धं युतः श्रीमान्	४१८
ववित् वविच्छोभिताभि।	३२६	गहिते ह्यक्षरे देवि	१५८
ववचित् पर्यस्तमुक्तालिः	<i>७७</i>	गाढमालिज्जितः कण्ठे	835
क्विविद्यमणिज्योत्स्ना	द३	गात्राणि शिथिलायन्ते	68
क्विचिदिन्दीवरवन-	888	गालितं शोधितं तोयं	79.0
ववचिद्धर्म। ववचिचछोको	\$20	गीतनृत्यादिकं कृतवा	860
वविद्विह्ङाः स्फटिकातले	४३६	गीतं वाद्य तथा नृत्यं :	266
क्विचिन्नवादिकरणं	२२१	गीयमानयशा गायन्	¥₹ ६
वविद्नीलं वविद्रक्तं	348	गुञ्जद् अमरशङ्कार	इ५३
म्विन्मसादिमरणं	२२४	गुरुजद् भ्रमचपुष्पालि	366
ववित्मनुष्य रूपेण	२९०	गुणलील। दिरक्षायुक्	843
क्षाचारमञ्ज		गुणानुरूपाञ्च गति 💎 🥏	3 56
	२३८	गुणाना कीर्तनं चैव	325
क्षणेश्व पत्वभिः काट्ठा	१६	गुरुष ह्या गुरुविष्णुः	388
सणं तद्विरहं सोदुम्	200	गुरूक्तं चापि वेदोक्तं	६१
सत्रियान दुर्नेयान ह्या	१७७	गुल्फे महातलं तस्य	٥
क्षिति रन्ना दिसम्पूर्णा	(00		

३४ मा०

व लोका।	पुरुगः	म्लोका ।	वृष्ठाः
गुह्यशीच पादशीचं	२५७	चतुर्दिक्षु लसत् स्वर्ण	800
गुह्याद् गुह्यतरं शास्त्रम्	११, १५४	चतुरात्मभिः क्लृप्तं	४६५
गृहीते स्वकरे यत्या	३९३	चतुर्विधान्त परिवेश्यमाणं	५०७
गृहे गृहै समभवन्	808	चतुर्विंशतिसाहस्र ४०५, ४	
गोत्रमुक्त चिदानन्द	२७३	चतुः षष्टचा मणिस्तम्भै।	840
गोवा गोप्यो ययुह् छा	909	चतुःषष्टिमहास्तम्भ	३६२
गोपितव्या ततो यत्न	१९७	चतुःषष्टीनि तन्त्राणि	२४४
गोफेन स्वच्छ गुचिना	407	चत्वारस्तस्य व पादा	२५५
गोमेदकमहारत्न०	४३६	चत्वारिशत्तया चाशी	388
गोमेदखण्डे यमुना	388	चर्वारिशत्तु यूथानि	888
गौतमाश्रमे रम्ये	१ ६९	चत्बारिशत् लक्षाणि	398
भौरो चित्राम्बरा तस्वी	200	चत्त्वारिशद् यूथमुख्याः	४७५
गलपयन्ति वपुर्वल्ली	१३१	'चन्द्रकान्तशिलावलुप्त	838
गंभीरावर्तनाम्युद्य	९५	चन्द्रको भद्रकश्चैव	४२४
ग्रामारण्यादिसम्भूतै।	३००	बन्द्रगीरे महाश्रुङ्ग	३५२
ग्रैवेयामरणोद्दी श	99	चन्द्रचूडं पश्चल्रदाः	३५२
घ		चन्द्रद्वैतं प्रतीयेत	४५२
घटिकैका तु विज्ञेया	२३८	चन्दनागरुकस्तूरी	१२९
चनश्यामरूपं प्रफुल्लाब्जनेतं	865	चन्दनैरङ्कगलितै।	३२६
ं च		चन्द्रप्रभह्नदे रम्ये	३२६
चक्रादिघारणं कुयत्	२९८	चन्द्रमा गुरुभायीयी	३१३
चक्रे रामकथाः पुण्या।	११३	चम्पकै: करवीरीम्च	१७३
चुक्रोघ रक्तनयना	११५	चम्पकोद्यानकुञ्जेषु	830
अक्षुव्मत् पद्मरागोऽय	४०२	चेरव्वं तानुवाचेदं	१८२
चण्डतिरमांशुतापेन	४६	चस्कन्द रेतस्तस्याशु	288
चतुर्घाविष्णुरेवोक्तो-	209	चाक्षुवश्चेति मनवो	२३९
चतुमु जः कञ्जपलाशलोचन।	943	चित्रव्वजं वजकूटम्	४२६
बतुर्यं गी व्यतिक्रान्ता	२३९	चित्रवस्ता विचित्राङ्गी	888
चतुर्यं गीसहस्रोण	२३९	चिदन्तयामि रूपाय	४५१
चतुरस्रा दिव्य रत्ना	884	चिदातमा पुरुष: साक्षान्	२०७
वतुर्दिसु महासीध	३५५	चिदानन्दमयी भूमि	240

	रलाकांनुका	मणिका	५३१	
≅लोकाः .	पृष्ठाः	श्लोकाः	ब्रह्मा	
चिदानन्दानन्दभूम्योः	ं ४२६	जले शयानेकसुवर्णरहन	386	
चिदानन्दमहीन्याधा	808	जहास गोपोक्रणस्य	828	
चिदानन्दी तू कूटस्ये	845	जाग्रत्येतत्त्रवीयेत	€ \$	
	७६	जाग्रतस्थानगताज्ञानं	६७	
चिद्र पं ब्रह्म परमं	३३३	जाग्रत्स्वप्नाविभेदेन	200	
चिन्तामग्नो यथा सर्वे	888	जाग्रतस्वप्ने विछीयेत	६७	
चिन्तारत्नविचित्रान्तः		जाग्रतस्ववनं गताः सर्वाः	808	
चिन्तैवोद्धे गभावेन	३३३	व्याहती सपुप्तयादी	१३म	
चीराणि चैव नीलानि	१८२	लाह्य मम घियो मिद्याद्	४२३	
चुम्बितालिङ्गिता प्रेम्णा	383	वाजाणि पृष्पाण	900	
चेटापितो मया ह्यातमा	२९०	- सनीकोरकपूरुजावभ्रमकर	५०६	
चैत्रे शुक्लनवस्या	2 5 3	जाते तस्य व्यक्तिकान्त	४९५	
3 ,		नान मस्कर्प	883	
छन्दोनुष्टुप्समाख्यातं	२८४	लातामि घम न हि म प्रवृत्तिः	४५८	ļ
ज		भगनतदावंश	२६४	
जग्राह निगडे चोभी	808	- भोरतं भवतीः प्रम	१४६	
ब टीवल्कलसंवीतो	११४		२८६	
जनयन् मन्युमिन्द्रस्य	१३८	विता पाप	४४६	
जन्मदुःख जरादुःख	१८७	तश्मानाप	38	
जपपूजासनं कुर्यात्	308	C -enaited	१४६	
जपस्यैव दशांशेन	३१५	C-> C-ZIII O CIACO	₹१0	
जपः छिद्रमवाष्नोति	388	० न उसे जिता काना	२५४	
जम्बीरैनिम्बुकैष्चंव	850	गालम्पाकात्व	260	
जम्बूदुम्बरजं काष्ठं	२९६	जिह्ना यत् देवेशि जीवगं यत् देवेशि	२१२	
जम्बद्धन्य रच स्ट्रांवा	286		508	
जयोपाय प्रकुर्वाण	१५३		508	
जरासन्वादिकान् हत्वा	888		288	
जलक्रीडावसाने तु	१५१	जीवाना (प्राचीविव	३३७	
जलकीडां ततश्चक	The state of the s	जीवानां विषयेष्वेव	888	
जलबन्द्रे यथा तस्य	च् च्	जीवा। सर्वे वयं तहर्	Ę	
·जलजाकृतिमत्यम्ब	4 3		₹ - ₹	
[,] जलबृद्बुदतुल्योऽयं	१७३	जीवा जामा	1 - 1	i
-जलादी तीर्थमानश्च	٩	3"		

थलोका !	प्र <u>ष्ठाः</u>	म्लोकाः	वृष्ठा
जनमाध्यमिकाना च	३७४	ततस्तत्सम्प्रदायेन	२१८
ज्येष्ठे शुक्ले द्वादश्यां	२६२	ततस्तदन्तरुद्यानं	४३४
ज्योतीष्यस्योरः स्थले	9	ततस्तन्निकटं गत्वा	४३
হা`		ततस्ते कृतसंङ्केताः	१७७
ज्ञातापरावः शपयान्	328	ततस्तीमानसंदिव्यै।	४६८
ज्ञात्वा तत्तु जलं देवि	२९७	ततस्ताः सहसा हिल्वा	\$80
ज्ञात्वापि त्वाभिन्दिरेति	३५७, ३७५	वतो गुणास्त्रयो जावा	20%
ज्ञात्वापि प्रियविश्लेषं	880	ततो ग्रामाद् बहिर्गच्छेद्	284
ज्ञात्वा भजन्ति देवेशि	२०२	ततो द्वादशगण्डूषैः	794
ज्ञानमूमिमथाप्लाव्य	४२७	ततो द्वादशवषन्ति	₹७६
ज्ञानमार्गे तु देवेशि	३३७	ततो नाना विद्यां चक्रु	344
ज्ञानवेराग्यसम्पन्ना	२५ ५	ततो नारदवावयेन	808
ज्ञानारिमका स्वतः शुद्धा	२०४	ततो निबैन्धनिविण्णा	\$ o.
ज्ञानिस्वमास्मनो लोके	१७९	ततो निष्कासिता पोरी	890
ज्ञानेनाज्ञाननाथे तु	208	ततो ुनीलाद्रिशिखरा	३७६
ज्ञानं तत्तु विजानीयात्	ë,&	ततो रहो रहम्बैव	२७६
ज्ञानं वैराग्यमत्युग्र	२५५	ततो लब्धवराः सर्वा	₹३=
त		ततो लविङ्गकपू र॰	408
तच्चरणोदकघारा	२९६	ततो विमानप्रवरं	408
तच्छतेन भवेद्देवि	१९८	वतोऽस्य पादयुगले	₹७१
तच्छतेन भवेद्वेषः	२३७	ततो हृदम्बुजे ध्यायेत्	४५७
तिच्छखायाः समुद्भूतः	२७	तत। क्रमेण देवेशि !	४४६
तज्ज्ञात्वा पुरुषः श्रेष्ठः	८९	ततः खादिरकीलांश्च	₹११-
तटस्योद्यानशोभाभिः	34 3	ततः परं कारणमेव तस्य	१०
तहित्प्रकाशवसन	१५०	ततः प्रम्नोत्तरं प्राह	३८६
तत बाचमनं कृत्वा	790	वतः। प्रसन्न पूजान्वे	208
ततम्च तारक्टाख्यं	४२०	ततः प्रसन्नो भगवान्	230
ततश्च प्रणमेत् कृष्णं	४५५	ततः प्रियेण सहिता	368
ततस्य रचयामास	340	ततः प्रोचुमु निवरा।	१९१
ततश्च रयमानाराः ततश्चेन्द्रादयो देवा	२७	ततः प्रोवाच वचनम्	29.
ततश्चन्द्रादया प्या _{ततश्} कन्नं चामरं च	४७९	ततः सावमयं प्राप्य	२२७
त्त्राक्षण जागप ज	3-1	Mark and a second	110

प्लोका।	पुष्ठाः	म्लोकाः	पृष्ठाः
चतः सोपानमार्गेण ४०४, ४१	0, 888	तत्राधारं प्रतिष्ठाप्य	898
	886,	तात्रापि त्वं चित्रणीति	्रि४७
तत्कामपूर्त्तये साक्षात्	280	तत्राभासमयो जीवो	७३
तत्त्रागंश्च ताः सर्वाः	थ ३७	तत्रेतीन्दिरा नाम हिस्बा	३७ ५
तत्तरप्रकारसंवीत	४२९	तत्रीकं नगरं दिव्यं	१९०
तत्तद्वर्णविलोपन्तु	रद७	तत्रैवास्तु च ते शापः	288
त्तत्तपो वह्निना विश्वं	३७	तत्रोक्तं यस्वया देव	१५५
तत्तु तत्त्वं कथयसि	५ ५	तत्वज्ञानाधिकारण्यो	५१
तत्तु सर्वं मया प्रोक्तं	५१०	तत्वज्ञेनोपदिष्टा ये	५३
त्तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि	ह०इ	तत्वानि हृदयाम्भोजे	20 4
त्तत्प्रकाशाय देवेश	₹	तत्तत्वज्ञान सामध्याद्भोगाः	५५
त्तत्प्रतीविनिरासे तु	286	तत्सच्यश्चापि सङ्जाताः	९९
तत्प्रतीति निराकत्	336	तत्सुखाम्मोनिधेर्देवि	४इ
तत्त्राङ्गणं कुङकुमयपङ्कपिष्छलं	८५	तत्स्रधानिधिपीयूष	366
तत्त्राणैरपिबद् बालान्	288	तत्सयोगादिइहसास्य	२४०
्त्तत्त्रयायाऽभवत्कामो	२७२	तत्स्यन्दमात्रौ यमुनौ	३९९
तत्र चन्द्रप्रभो नास्ना	3 28	तथा कुर्यान्महेशानि	२६४
तत्र जाता इमे लोकाः	७, ९३	तथा कृष्णप्रिया देवि	३२३
तत्र जाता वयं सर्वे	१९२	तथा अक्षरं परं ब्रह्म	४५६
तत्र तत्र विचित्राणि	२२१	तथाऽक्षरे परे ब्रह्म(णि)	Ę
तत्र तोर्थान्यथाबाह्य	४७१	तथा नारायणं रूपं	९३
तत्र धर्मस्य निन्दाभि।	१५७	तथापि कथयिष्यामि कृतस्ते	४७
तत्र प्रियाभि। सम्प्रश्ने	३७६	तथापि कथयिष्यामि प्रकारं	80
तत्र मामागतौ सुभू	३८६	तथापि प्रकृती साक्षात्	333
तत्र मे संशयो जातो	३७५	तथापि देवदेवेश	३६३
तत्र या याः कृताः क्रीडा	३८५	तथापि भोक्तुभोग्याभ्या	३०८
तत्र वृन्दावनं दिव्यं	४९५	तथापि वरदानाथं	४९५
सत्र सिहासनं देवि	४१०	तथा प्रपञ्चलीलेय	238
तत्रस्था मत्तु रहाम ०	20	तथा प्रियारसं मी च	308
तत्र हस्तान्तरे देवि	४२१	तथाविस्मारितज्ञानान्	9
लत्रागस्त्याश्रमं रामो	£ \$ \$	तथा संसरण जीवे	288

माहेण्वरतन्त्रे	ज्ञानखण्डे
-----------------	------------

५३४	माहेण्वरतन्त्रे	ज्ञानसम्ब	
	पुष्ठा ।	एलोका ।	विव्याः
4.00	१६२	तदेन्दिरा सखी काचित्	३५६
सथेतरे दुरात्मानः	३२८	तदेयं सुन्दरी साक्षाद्	३९ ४
तथैव वासनारूप॰	\$	तदेव यदि वा लब्बम्	१२
तथैवाऽखिललोकोऽयं	320	तदेवाकुशलं विद्यः	३ २
तथैव शकराबुद्धिः	ĘŞ	तदेवात्माक्षरः साक्षात्	e
तदज्ञानस्य शक्ती हो	48	तदेवाविभवत्येषा	२४१
तदज्ञानं तु देहादिख्पैः	41	तदवाविभवरम्या	1838
तदनु झटिति रागादागताः	to a D	तदेव कृष्णा सङ्केतं	३४६
নন্दমহুজ্৹	409	तदैवमानसी सेवा	१ २१
तदन्तः संस्मरेद् दिव्यं	४३७, ४४६	तदंगभूतास्ताः सर्वाः	१९१
	688	तदंशभूतजीवानाम्	३५५
तदन्तः संस्मरेहिव्या ४३२,		तद्गीतानन्दसन्दोह	२२४
तदन्तः संस्मरेद् देवि	22:- 8\$0	तद्गुणश्रवणे हुव्टा तद्गोपितं स्याद्धमिये	१७२
तदर्थहरणं चैव	ः २२५	तद्गापित स्वाद्धारम् तद्दहिसत वित्ताना	90
	१६९, २६५ १७	तद्भानदृष्टपदहृष्टियः प्रस	
तदा कथं तु हरिणा	· * * * * * * * * * * * * * * * * * * *	तद्बहिद्वरिदेशेषु	800
तदा किमपरी कार्य	85	तद्बहिभान्ति देवेशि	४२३
तदा कुलाञ्जनाः पुत्र	, ३२०	तद्बहिश्चतुरस्रं च	४७६, ४७७
तदा च नियमा। सर्व	३१६	तद्बहिश्चतुरस्र ऽपि	४७७
तदा भैग समालस्वय		तद्भोगार्थं पुनः सर्वा।	१८६
तदानन्दो हि देवेशि	१९७		
तदा प्रबोध समयो	. २४१	तद्रक हिसतेन्दुमण्डलम् वि	
तदा प्रभृति देवेशि	588	तद्भद्राणि वाज्ञानं	ĘĘ
तदा प्रिया सङ्गो। प्राह	३९५	तद्वाचकान्यक्षराणि	240
तदा मया क्रत। प्रश्नः	३८६	तद्वारिपूर्णं यत्रास्ते	३९७
तदा मां तूर्णमासाद्य	१०४	तद्वासनावासिताया	85
तदा विद्यादात्मब्रोध	१६३	तद्वासनास्वासु छीना	१५४
तदाविष्टः सस्ती वर्गो	384	तन्न पश्यामि लौकेस्मिन्	३३१
तदा सिद्धाः समायान्ति	- 786	तन्नाशितं त्वयैकेन	₹४:
वदा सुबसमुद्रस्य	4	तन्त्रायोंऽयं रहस्यार्थी	२४३ः
तदा ह्यनर्थ एवाय	१३६	तन्मध्यदेशगः श्रीमान्	४२१
ददीय विरहज्वाका	240	वन्मध्यतो जयति कथिवद	नथ्यं मुक्ता ८५
			-

ब्लोका नुक्रमणिका		मणिका ।	य ३५	
म्लोकाः	पृष्ठा।	इलोकाः	पुष्ठाः	
तन्मध्यभूमी देवेशि	806	तस्मात्वं तु विशेषेण	४५	
तन्मच्ये दीचिका दीर्घा	४२२	तस्मात्वं स्वीयवचनं	३५६	
तन्मध्ये देव देवेशि	340	तस्मारवयापि देवेशि	१०२	
तन्मध्ये भारतं वर्षं	९३	तस्मात्तु गोपयेत् विद्वान्	8	
तन्मध्ये संस्मरेद् देवि	३५४	तस्माद्रद्यक्षराद्रुव्वं	७६	
तन्मालिन्यनिरासार्थं	४४५	तस्माद् गोप्यतरं भद्रे	5.5	
तपश्वरत्तु सर्वेषु	१८१	तस्मात्प्रपञ्जविभ्रान्तां	३०६	
तपस्तपस्य श्रीभ्यां च	880	तस्मात्प्रवृत्ता सरसो	३९=	
तपस्यति रमादेवी	30	तस्मात् प्रसीद भगवन्	४८९	
तपंदातं किया योगः	१६७	तस्मारिप्रयाभोष्टभावा न्	२३२	1
त्वीविद्याधृतिधयो	११६	तस्मात्सदंशतो देवि	558	
तपः प्रभावमास्थाय	१७२	तस्मात् सम्प्रब्द्रमिच्छामि	ş	
तपा कुर्वन्तो यत्नेन	११२	तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन	१८४, २१३	
तप्तकान्जनवर्णामा	४३२	तस्मात्साघय नः कामं	98	
तसका चायारा	१३०	तस्मात्सृष्टिर्वणंमयो	२७९	
र्तमानन्दरूपे वने नन्दस्तु	४९३	तस्मात् संश्रोतुमिच्छामि	४७४	
तमानन्दर्भ पर्व देवि	199	तस्मात् स्वरूपं विज्ञाय	358	
तिमश्चर्यां तमोमय्यां	१५८	तस्मादनुग्रहीतगरम	३६३	
तया विहितविज्ञानो	१४म	तस्मादनुभवारूढ	98	
तकंशेषस्तथाष्यस्ति	३७१	तस्मादन्तेन सद्धां	१७१	
तकशवस्त्याच्यार	४९५	तस्मादपिहायंत्व	500	
तल्पे तल्पमुखास्पदे	१०६	तस्मादपूज्यो लोकेषु	580	
तव मास्तु भयं क्वापि	858	तस्मादवास्तवं दुःखं	863	
तव रूपानुरूपोऽयं	७५, १९६	तस्मादलङ्कुरु स्वयं	\$ 80	•
तव स्नेहवशाद् देवि !		तस्मादधंमनधं च	३५८	5
तस्करैर्वस्त्रभूषादि	828	तस्मानवश्यमेवत	84	Ę
तस्मानव्हामणिमंनत्र	२०८	तस्याग्यस्य कतेरेषः	38	9
तस्माच्छाब्द प्रबोघोऽयं	१६३	तस्माद्हङ् कृतेरेषः	`	ړلو
तस्मात्काम्यं परित्यज्य	१६२	तस्मादह ते तपसा		3
तस्मानच्चेतनं बहा	७४	तस्मादाहारमाकु चय		
तस्मात्तिननकटं याहि	१२७	तस्मादित्यादिकं सर्वं		45
तस्माच्वदन्यो वै कश्चिद्	33		8	40

435

माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे

म्लोकाः	पृष्ठाः	ग्लोकाः	वृष्ठाः
तस्मादिमे लिङ्गदेह	286	तस्य मे विश्वजीवस्य	२०
तस्मादुत्तिष्ठ तत्पार्श्व	३व९	तस्य मे सङ्गमोपायं	१२५
तस्मादेवाक्षरे जाता	२०३	तस्य शब्दो गुणश्चासीत्	90
तस्मादेवं विनिष्टिचत्य	48	तस्य संस्पशंमात्रेण	१८५
तस्माद्देवाल्पपुण्याहं	28	तस्योपि लिखेद् देवि	800
तस्माद् देवियथा काल	२३६	तादात्म्यादेकरूपच्यात्	२३१
तस्माद्धन्याः स्त्रियो लोके	१७	तानाश्रयन्ते देवेशि	२२५
तस्माद् बुभुत्सुभिः	१८७	वानि प्रोक्तानि सर्वाणि	२४६
तस्भाद् भजनाङ्गतया	४६३	तानि विस्तरतो देवि	२४५
तस्माद्भजस्य गोविन्द	१४५	तानुवाचाहँतो मम	१८१
वस्माद् युक्तिनं कर्तव्या	46	ताम्रे चापि महेशानि	४६९
तस्माद्वणिश्रमाचार	१६२	ताम्बूलगन्घपुष्पादि	\$30
तस्माद्विश्वस्य रक्षायं	¥0	ताम्बूलपूर्णवदनं	४६७
तस्माद्वेदान्तवाक्यैश्च	Ęo	ताम्बुलमास्वाद्य ततः प्रस	নঃ , ५०१
तस्माद्वैकुण्ठनिलय	₹●	तारक्टमहं वस्दे	४२०
तस्माद्व्रजं स्त्रियो यात	१४२	तारा कुरङ्गनयना	200
तस्मान्त मी न च विधि	१७	तालवृत्तेन कि कार्यं	१६७
तस्मान्त सशयः कार्यो	५इ	तावत्तद्वर्धनार्थाय	१४०
तस्मान्नारायणो जज्ञं	१९९	तावत्पपात सहसा	900, 304
तस्मान्मद्वचने श्रद्धा	350	तावस्वं स्वर्गमातिष्ठ	390
तस्मान्मदात्मकं प्रीम	346	तावस्वं तं च समयं	४९
तस्मान्मानिनि मानस्ते	₹८%	तावदेनाभ्यसेल्लीला	२९२
त्रमान्मे श्रवणानन्दोः	३७४	ताबदव हरि: साक्षात्	१८
तस्मान्मे संशयो जातः	४६१	तावद्दे हानुबन्धित्वात्	१६४
तस्माल्लज्जां परित्यज्य	३५७	ताबद्धयप्रदोऽज्ञानं	9
त्तस्मिन्नज्ञान ससर्गः को	५६	तावन्निमेषमारभ्य	280
तस्मानगरम् सस्यः का			
*	२९७	तावत् संसारभावस्याद्	8
तस्मान्वमान प्रवरे	४८४	तासामेकां च परमा	285
तस्मस्त्वयि वचनाना	888	तासां गृहाणि दिव्यानि	४१८, ४२०
तस्य त्वं शमनोपायं	२९	तासा द्वादशसाहस्री	200
तस्य नामेरमूत्पद्म	286	तासा सौघानि दिव्यानि	488

	^{इलाका} नु क्र मणिका		
श्लोका ঃ	वृद्धाः	प्रलोका।	पुष्ठा।
त्तासी सीघानि गुम्राणि	808	तेवतीणां वजभुवि	288
तासु सर्वासु यत्त्र म	३९ ३	ते विचित्रेण दैवेन	११३
तां त्वा प्रह्मादया देवा	२०	ते वै वैडालिनो देवि	२६४
तो सर्वाः पूजयामासुः	388	तेषामपि महादेव	३५३
तास्ते बवीमि सङ्क्षेपात्	१८१	तेषामन्तं न पश्यामि	२२२
विरोधानानुग्रहो तु	२०९	तेषामासुरजीवानां	१६५
तिरोभूय च शनके	२७२	तेषां नारायणः साक्षात्	२०१
तिरोहितमिवानन्दे	86\$	तेषु भेद तु या कुर्यान्	१६०
विरोहितानन्दधर्मी	३२३	तेष्वनुग्रहमाघस्त्व	११७
तिलस्नलसन्नासा॰	४६७	तं खण्डयन्ति यस्माते	१८३
तिष्ठन्त्यत्र महोद्याने	803	तं देवदेवं जगतां शरण्यम्	१०
नीर्थं सप्तकमीशानि	४०१	तं ह्या विरहाकान्ता	१५०
वीर्थाना परमं तीर्थ	२२४	तं सर्वेकालावयवं पुराणं	20
बरीयातीत रूपाय	४५२	स्यजस्यहङ्कृति सद्यो	386
तुलसीकाष्ठसम्भूतै	३०१	त्यजन्तः शोधनकर्म	१६४
_{वस्त्र} ण्डलयोगेन	46	स्यजन् देहमवाप्नोति	२५०
- नार्वर्त्तम्थाकाश	११९	हयज प्रकृतिदीर्बल्यं	३२३
न्ता हेरप्यनादान	३०२	स्यजिन्मित्रमममँ श	२७०
क्षारं विन्यसंह्लिंग	२८५	त्रयीक्लेशं समुत्सृज्य	१ ८२
तेजीवती हेमगर्भा	५०३	त्रयेणैवोत्तरं प्राहः	२३८
ते देवनिहताः सर्वे	800	त्रयादंश सहस्राणि	8 58
तेन लोकाः सुसन्तशाः	३०	त्राहि त्राहि मुने प्राप्तान्	001
तेन सम्भावनीयास्ते	808	त्रिघास्त्रीसङ्गतित्यागात्	388
ते सवे स्वात्मबोधाय	१५७	त्रिलोक्यां यदि कञ्चित्	२२
तेन सार्कं गते कुष्णं	१५२	त्रिशल्लक्षजपे सिद्धे	386
तेन स्पृष्टाः प्रजाः सर्वाः	२५६	त्रीणि दक्षस्तने युज्यात्	४५९
तेनाविष्टास्तता सख्यः	२२४	हविच्चतो रहिस स्थित्वा	28
तनाविष्टारसः व	३८७	त्वदन्यं नैव पश्यामि	२२९
तेनेयमिन्दिरा साक्षात्	४०५		३७२
तेम्यो ददी महाहाणि	११०		१५६
ते मन्दभाग्याः कुधियो	३६३	त्वदीयविरहै राधे	8 2 8

श्लोकाः	पृष्ठाः	यलोका.	वृष्ठाः
रवदीयहृदये भाति	१२१	त्वं गता सिखिभि: सःघं	२०
त्वद्वागमृत्ततृप्तोऽहं	188	त्वं गुरुः सर्वं लोकस्य	५५:
रवद्वागमृतपानेन	३०८	त्वं मे प्राणाधिका चासि	३७२, ३७७
रवद्वियोगार्तिमासाद्य	४५२	त्वं सर्वंसाक्षी जगदन्तरात्म	रह क
रवन्नामस्मरणाच्चाह	१२८	त्वं स्वामी च वयं दास्यो	₹ ₹ ७-
त्वन्निमित्तमिदं सीते	११४	द	
स्वत्पाववं नय मां नाय	788	दकारं च शकारं च	२८५
रवत्सङ्गविरहात्कृष्ण	१२६	दक्षरेखा विनिमिद्य	४७३
रविंदिहासनमारूढा	३५६	दक्षिणे स्थापयेद् दीपं	₹७४
त्वमण्यत्रीय सन्तिष्ठ	३८६	दक्षिणोत्तरभागेन	४२१
त्वमादिदेव पुरुषः पुराणः	: २८	दक्षिणोत्तरमध्यस्थ०	४१५
त्वमाद्यः पुरुषः पूर्णः	२९	दग्धकामादिकलुषम्	४६९.
त्वमेकः सर्वलोकानां	१९	दग्दवा तानि पुनः सोऽयं	१७३
त्वमेका मम सर्वस्वं	328	दण्डकारण्यमासाद्य	११२
त्वमेव मातृपित्रादि०	४५३	दरवाचमनमोशानि	804
त्वमेव सर्वधमाणां	१४६	दस्वानैवेद्यमीशानि	238
स्वयानुभूतमेर्ताद्ध	१ ९२	ददर्श नगरं दिव्यं	328
त्वया नृत्यं तदा कार्यं	३५६	ददर्श।प्रयमञ्जस्थ	88
त्वयापि गोपनीयं हि	२२७	ददशींसी तदात्मानं	60
त्वया प्रोक्तानि वन्त्राणि	æ	ददौ हालाहला लिप्तं	290
त्वया सृष्टमिदं विश्वं	२९	दघार सप्तमं गर्भं	१०५
त्वयाहं तोषितः पूर्वः	१०५	दन्तधावनविधान योजिते	५०१
रवयाहं दीननाथेन	ą	दन्तानां शाधन कुर्याद्	२ ९६
रवय्युदितं स्विध लीनं	४५९	दन्दश्केमृ गन्यात्रः	***
त्विय गताया यावन्तः	१२६	दम इच्युते देवि	३०४
रवयीन्दिरे सुन्दरीति	३५७, ३७५	दयालुः सर्वं भूतेषु	३१०
त्वयोवतं यन्मयोक्तं	७७	दयावतापि लोकस्य	२४६
स्थमनादृत्य ये पापाः	१५५	दयां कुरु महादेव	₹,
रवामहं विस्मृता नाथ	२९०	दर्पणछद्मना सस्या	३७१
त्वामाह्मायितुमेवाहं	360	दर्पणालोकनं चैव	: २९९
रवामेकां घ्यायते चित्ते	१६	दर्शयामास वेदास्या	206
			1 400

श्लोकानुक्रमणिका

			erento -
म्लोकाः	वृह्य	पलोकाः	पुष्ठाः
दशवाहुं च पश्चास्या	२०८	दिन्ग द्विष्यसाहस्र :	२३८
दशिभ पञ्चभिः पक्षः	२३८	दिव्यैर्भनोभनैः पुष्पै।	३००
दशलीला विहाराय	४५३, ४५३	दिशः कर्ण प्रदेशस्य	९ . १३३
दशावस्था भवन्त्येताः	३२२	दिशां मुखेषु प्रमदे स्वदीयां	१ ७२
दशेन्द्रयाणि बृद्धिश्च	७३	दीनानां धुवायात्ताना	१५२
दाहिमीपुष्पसङ्काशं	३२५	दीवंचरमिति प्रोक्त	886
दाहिमीबोजसन्देह	१२	दीवंतापारिन संतधं	348
दानं दमो दया चेति	२ ६	दीर्घिकासु लसत्स्वर्ण	68.
दिक्कालाद्यनविख्यन	२	दीर्घिकाभिश्च दीर्घा	806.
दिक् वाताक प्रचेतोऽस्व	७२	दीघिकास्तेषु दिव्यन्ति	२३१
दिहका ह्यक्षरस्यासी	८९	दोघिकोपवनाराम	१९६
दिदृक्षितान्तः करण	१२३	दुःखकामः। कथं तासु	₹8 ₹
दिनं तु बोडशं चेव	२३९	दुःखाकुला रुद्धवाची	868.
दिवारात्री तु रहसि	१२७	दु खितादु:खपायोघी	३९५
दिव्यक्रीडारसानन्दो	98	दु:खातिदु:खिमिति व।	426
दिव्यगन्धानु लिक्षां गो	९५	द:खानुभव एवास्ति	२६६
दिव्यचन्दनलिप्तां कु	२८९	दूर्लभा गुरवो देवि	88
दिवयदेहानपि स्यवस्वा	२१व	द:शालं दुर्नय दुष्ट	३७९
दिव्यन्ति यत्र सुरसिद्धदुराप			83
दिव्यपक्षिकृतावासः	४०२	दु सहः क्षणावरकारणां दूरादिहादितनये कमलाकराणां	348.
दिव्यपुष्परजा पुरुज	४३१	स्टब्याऽविषमया दाव	8₹
दिच्यपुष्पाम्बरकरुपैः	४१३	हरस्वा तो च तथाभूत।	828
दिव्यमाणिनयमुक्ट	१३९	ह्या तांस्तु पुनः साध्या	१८.
दिव्य मालाम्बारघरं	११०	हष्टा प्रबोधमापनन	863
दिव्यमुक्तावनं भैव	४७२	क्या विकासि पापानि	२व
दिव्यरत्निकरोटं तु	४६५	ह्यामरास्ते परमासन स्थय	34
_	888	ह्यारमत वे किष्चत्	136.
दिव्यश्रङ्गारवेषाळा	इप्प	ह्या वृन्दावने रम्यं	१०६
दिव्यसीधानि मणिभिः	२२६	देवकी प्रसर्व प्रातः	•
दिध्यस्पर्शं च विषयं	84	देवदेव कृपासिन्धी	£ 8.
दिव्यहीरालिदशनः	४६६	देवदेव ! महादेव !	48,6
दिव्याञ्जरागसीरम्या	011		

यलोकाः।	पृष्ठाः	श्लोकाः	विब्धाः
देव देव महेशान	२२८	द्विपराद्वीवसानेस्य	२१५
देवनाथ महेशान	860	द्विषट्सहस्रभेदेन	४९६
देवासुरनरा नागा	२७	द्विषट्सहस्रसंख्याता	५१०
देवाः क्षमार्जवोपेताः	इ७३	द्विषन्त्याचारमास्तिक्यं	
देविनिर्बन्धमापन्ना	४२	द्वीपं मणीनां च तदन्तरु चन्	३४⊏
देवेश त्वत्प्रसादेन	₹ ₹	द्वैतमेव प्रशंसन्ति	२०१
देवेश परमेशान	१४३, ३४३	द्वैताद्वैतमहामोह •	४५२
देवेश भगवन् शम्भो	१ ५५, ३०७	द्वैताद्वैतविचारेऽस्मिन्	२०२
देवेशि मन्त्रराजोऽयं	२७७	व	
देव्याग्रहवती पुंसी	२२	घनैः प्राणैः शरीरैश्व	२३
देशजाति कुलाना च	१८४	घन्यासि कृतकृत्यासि	१६
देहगेहादिका चिन्ता	3 9 0	वन्यासि दवदेवेशि	१५६
-देहत्यागं न चेच्छन्ति	१७३	घन्यासि देवि गिरीन्द्रजे	३०९
देहलीं च नमस्कृत्य	२९९	घर्मकर्मविहीनानां	१६६
देहातीता गृहातीता	१४४	ग र्मार्थंकाममोक्षाणी	१७३
-देहाध्यासी मीहकृतः	३२द	घ र्म: कृष्णप्रियाणौ हि	४५६
वेहान्ते कर्मसम्बन्धो	२२०	घाम्नोभिमुखमी शानि	८६
देहामिमाने गलिते	१६६	घिक् जीवितं स्त्री रहितस्य	88
्यमणिमणिसमुचत्कान्ति		धिक्कुर्वन्तमिव प्रोधत्	४६६
सन्दोहरम्याः	७९	घिक्कुलं घिग्धनं तस्य	३०९
द्रवीभूतः घनीभूतो	738	घुन्वन् पयोदाविलिविस्फुरन्तस्	838
द्रोहमत्सर्यहिसादि	२२१	धं न्यसेद्ङ गुलीव्वेव	२८६
द्वादशावृत्तिसञ्जप्त'	२९६	ध्यात्वान्तर्यामिन चित्ते	३०४
द्वादशैव सहस्राणि	58	च्यात्वैवं स्ववपुदिव्य	268
द्वापरान्तेऽष्टाविशतिमे	४ ७	ष्यानवरमें नि संलीन	१४
द्वारपूजी वता कृत्वा	४६३	घ्यानानन्दरसे लीनं	४३
द्वारस्य दक्षिणे वामे		घ्यायन्ति केचन	
द्वारापसन्यसन्यस्थी	४१०, ४१४		25.0
द्वितीये जन्मनि तथा	808	निमीलितपक्ष्मभारा	258
	१०५	व्यायामि त्वा दिवारात्री	१३२
द्विधाविदीर्णदेहाश्च	११५	ष्यायेल्लीलां जपश्रान्तो	३१५
ेन्द्रिपङ्क्तिमाञ्जित्रस्याणि	४०४	घ्येयं ममैनत्तवपादपङ्कवं	838

म्लोका ।	ere=110	market.	
न	पृष्ठा।	प्रलोकाः	र्वेश्य€ः
ा न कथ-खन देवेशि	200	न ते विन्दन्ति तत्तत्वं	₹ ₹
	२१९	न त्वया तद्रहा कार्यं	₹ ₹
न कारणं ताबदुवैति शान्ति	१०	नत्वा बृहस्पति देवि	₹ १
न कार्पण्यं न दुःश्चं च	१९४	न स्वं देहो न स्वद्देही	२७३ -
न कुर्यादेव तैः सार्क	२५९	न स्वं नाहं न वै किन्बिद्	. 4
न कीतुकंत्वया कार्यं /		नदत्सु पश्ववाद्येषु	₹७•-
न गुरुं तं विजानीयात्	२६९	नदन् मत्तमयीलासु	₹ ₹
न गुह्यापि पुत्राय	\$ 8	न दर्पणे च जले तैले	४५८
न गृही ज्ञानमात्रेण	₹0₹	न दानेवी तपस्तीर्थैः	3 \$ \$
न ग्राह्यापि बुधैदें वि	288	न देवाः पितरः सन्ति	∄ै२४ ५ ः
न चधुषा निरीक्षेत्	३१५	न षायां सुखिमचछिद्धः	\$ \$8-
न च तत्वस्य निर्घार।	848	ननाम दण्डवद् भूमो	४३
न च ता विश्वसत्कवापि	११६	न नास्तिकभ्यो घ्रतेभ्यो	\$05.
न च विप्रादिको वर्णैः	३२३	न निन्देन्मनसा वाचा	१५८, २५८.
न चान्यों में प्रियतमः	२२	न निवतंत तिमिरं	१ ६३ ⋅
न चास्मान्मे भयं शुर	१०४	न निवायीः कदाचिद्वा	88€
न चास्यास्ते भयं वीय	१०३	न निवृत्ता यथा वेगः	980-
न जप च्यान पूजासु	286	न निवृतास्च भी सल्यो	394
न जानाति तथा देवि !	46	न निषिद्धाः स्वरूपेण	१४१
न जीवो वास्तवः कश्चित्	३२८	मन्दगृहे पुत्र जनि	880 ·
न जोवं परमार्थेन	700	नन्दगोपव्रज प्राप्ताः	१०१
न तच्चित्रं स्विय विभो	५५	नन्दः स्नातः शुचिवित्रा	१०९
न तयोविद्यते भेद	278	न पद्माये हरिः प्राह	११
न त वैज्ञानिनं मन्ये	१ ६४	न पिबेत्तत्र पानीय	२५९
न तस्यादन्य संसाध्या	36	न पुनस्तस्य देवेशि	२३५
न तस्माद्रसलीलायाः	१२२	न प्रतारियतुं योग्या	78
न तस्मिन्वासनालेशो	199	न प्रोमिण बाधकं किन्धित	1884
न तस्येच्छा न कर्तव्या	6	न बहिर्गमनं कुर्यात्	398
न तास्तर्केण युञ्जीते	46	नभसे तु द्वितायायां	२६३
न तुलामिबगच्छान्त	१७०	न भेदो विद्यते बिन्दी	720
न तु वो वास्तवं ज्ञानं	१७९	न मनो घावनं कुर्याद्	३३८

माहेश्वयतम्बे ज्ञानखण्डे

24	४२
----	----

	पुष्ठा।	इलोका ः	पृष्ठाः
इलोका।	३६९	न वाच्यं यस्य कस्यापि	५६
न मया विद्यते भेदो	740	न वादितकंविषयं	५७
न ममाणि वदेद् देवि	5	न वासनायाः संसारो	388
नुमुश्चन्द्रकलावारिन्	8	न विद्वान् स्त्रीवश गण्छेद	११६
नमस्ते सर्वदेवाना	४५	न विना कतृ सम्बन्धं	२२३
न मित्रं स्त्रो समं मन्ये	६२	नवीनजलदस्निग्धम्	404
न मुच्यन्ते कदाचिद् वा	. 43	नवीनयौवनोत्तुङ्ग	358
न मे त्वता परं कि खित्		न वृणीमो वर्ग किस्तित्	888
तमो नमस्ते जगदेककत्र	२८		३३१
नमो मल्स्यकूर्मादिनानावतारै।	३९	न वेदैह्ददिव्देन	દ્ધ
नमो वेदान्त वेद्याय	२	न मन्यस्तदभावोऽपि	३५२
नमोऽस्तु गुरुवे तस्मै	२९४	न शठोऽयं न घृष्टोऽयं	89
नमः कूटस्थरूपाय	४८९	नष्टं कुलं कुतनयात्	81
नमः शिखायां विन्यस्य	२८६	नष्टं स्थावरजङ्गमं विधिकृतं	_
नमः शिवाय शान्ताय .	868	शिष्टं किञ्चित्तदा	४८३
नमः बुद्धाय पूर्णाय	806	न सन्ति ते क्वापि पुरन्दरादयो	228
न यत्समोऽन्यो लोकेऽस्मिन्	१५	न सन्देहस्त्वया कार्यो	१०३
न यत्र शोको न भयं मृतिवा	92	न स विभुवं ह्या प्रजानी पति०	828
नय मा गोकुलं यत्र	१०६	न सा सन्तोषमायाति	88
न यस्य स्वपरो वापि	११४	न स्त्रीन पुरुषः कष्टिचत्	00 ह
न यान्ति योगिनो योगैनं	३ ३	न स्थातुमही: कि कुमी	१७८
- नर्त्तंक्यो यत्र न्त्यन्ति	808	न स्वामिनी बिना कृष्ण।	485
नमंदायास्तटे वापि	\$ 8 0	नागमिष्यति चेल्कान्तः	\$ 30
नलिनीपत्रसंहत्या।	१२३	नागपुन्नागमन्दारैः	४२०
नवखण्डात्मके तत्र	840	नाग्रहः सति कर्त्तव्य	१८१
नवमी दूरलक्षा च	*83	नाण्वप्यन्तरं वापि	३५७
नवरत्नयीभिस्तु	७६	नादिबन्दुगुणान् हुत्वा	२७१
नवरत्नमयीमाली	348	नादबिन्दुमयत्वेन	२०९
नवरत्नमयीं माली	404	नादबिन्दू शिव: शक्ति	205
नवरत्नविचित्रामा	३८४	नाद्याविष ममैवायं	४९५
नव वर्णेषु तदा कश्चित्	२७२	नानाकेलिकलापूर्णं	२८८
न व्यथेन्निन्दया चित्त	२५६	नः क्रीडारसासका	४१३

मलोकाः	पुष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः
नानादिव्यलताकुञ्जैः	७७	निक्षिप्य भूते भूतोत्थं	
नानादैवतसःद्भवत्य	१५६	निगमागमवाक्येषु	३२३
नानाघातुमयः श्रोमान्	३९७	निध्नती बालकाम् जातान्	३०४
नानानमं विनोदैश्च	¤ ९	निजधास्ति वदा लीला	\$80
नानापक्षिगणाड्यान०	888	निजवास्नि महानन्दे	२४ १ १९४
नाना मन्त्रप्रयोगेश्व	205	निजनाथ वियोगाग्नि	880
नानालङ्कारसुभगं	२८९	निजालयं मन्दिरमद् भुताकृति	८२
नानायोनिषु देवेशि	193	निजं घामं रसानन्दं	७६
नानावणैर्महाचित्रैः	68	नित्यमेव प्रकुवंन्ति	२०९
नानाविधानस्दविहारमूमिक	T ८२	•	242
नानाविहारसङ्केते	266	नित्यानित्यं न जानन्ति	200
नानुसन्धानमाधत्ते	१२७	नित्यं च त्वत्कथालापः	१२४
नानोपकरणैयु क	५१२	नित्यं नेमित्तिकं कर्म	१६२
नाभाषे नावलोकेत	२५३	नित्यं नैमित्तिक कार्यं	२२०
नाममात्रेण कलहो	६९	नित्य नैमित्तिकं तस्मात्	982
नाम्नाहमिन्दरा साक्षात्	304	नित्यं नैमित्तिकं देवि	848
नारदीयं च श्रीप्रश्न	१४५	नित्यं लीलारसानन्द	308
नारायणमुखेनैव	484	नित्यं विवदमानीता	280
नारायणस्तु पुरुवा	१०९	नित्यं वृन्दावनं यत्र	३५०
नारायणादिजीवन्ता	EE	नित्यं वै वासनात्यागः	308
नारायणादिरूपाणि	७५	नित्यं सङ्क्रीडतोरेव	390
तारायणेघिदेवेन	२१२	निह्यं स्वरूपस्तन	853
नारायणेन रूपेण	\$19, 190	नित्य। प्रपन्त एवेति	200
क्षारायणोपाधिकं यत्	EU	निद्रया नष्टमायुष्यं	४२
मावयोरन्तर किश्वित्	१२८	निद्रांशस्यापि शेषत्वात्	२१८
नावयोविद्यते भेदो	३८७	निद्रोपलब्ध भावानां	202
नावनाति मृदमानस्दी	288	निवाय स्वामिन चित्ते	
नासत्तु कारणत्वेन हा प्युव	म्बात ६४	निनाय गोकुले नन्द	35
नासत्यो देवता तत्र	७२	निमग्ना मोहजलघौ	308
नास्तिकानां च घूर्तानां	२७४	निमग्ना इव तिष्ठन्ति	303
नास्माकं पत्य। पुत्राम्	838	निम्लोबा नामता ख्यांता	१५२
			850

४लोकाः	पृष्ठा:	प्रलोकाः	वृष्ठाः
निरय प्राप्य तैरेव	१८३	निषेदुम्लानवदनाः	₹ ₹
निरावरणमेवैत	२५४	निषेधयन्ति चाकारं	530.
निरीहस्यापि देवस्य	299	निषेधयिष्यति रमा	36
निरूपयत्यस्ब्धत्वाद्	१ ३६	निषेधमुखतो वेदा	२६८
निगुंणा व्यापिका शक्ति	२०७	निष्ठीवनं प्रलापं च	२६७
निर्गु णेप्यक्षरातीते	२२९	नीचसम्भाषणे देवि	\$ \$ 8.
निगुंणे या भवेल्लीला	२२९	नीलकु श्वितसुस्निग्धा ०	४६७
निगुंणे स्यात्कयं लीला	२२८	नोलहीरादिमणिभिः	३५५
निगुँण तु परं सुक्म	२३०	नीलाद्रिकान्ति सन्दोहैः	68:
निर्दश्वागरसद्धूम	१ २८	नीलाद्रिशिखरादेत्य	३६४
निर्घारत्वे वासनाया	₹७८	नीलोद्यानेऽपि देवेगा	800
निर्मिन्नाहि लक्ष्यन्ते	82	नीराजनस्नानवस्त्र०	480
तिमेलाय निराशाय	3	नृत्यकलापिनिकर	888
निर्यद्भूषांशुनिचयैः	५०५	नृत्यद्भिः स्त्रीगणैः सम्यक्	३२५
निविध्तस्य विपापस्य	₹₹	नृत्यन्ति सुजदलघु घ्वनिन्युराण	ं ५५
निवर्त्तथ परमा साध्वी	३६	नृत्यमाना इवाभान्ति	854
निवारिता बहुविधैः	२०६	नैकट्य जातमरणा	880
निवारितो लक्ष्मणेन	888	नैकवासा जपेन्मन्त्र	३१५
निवृत्ता जानकी तत्र	११ ३	नैतज्ज्ञान वरारोहे	3 :
निवृत्तिमेहि तपसो	४३	नं रात्म्यवादिनः सवे	123
निवृत्ते संशये देवि	६१	नैऋ ते चिन्तयेत्खण्डं	388
निवेदयतु जिज्ञासु	283	नैऋ तेंवियुपर्यन्तं	800
निवेदयध्वं कत्तंव्यं	३२	नैव ते मुक्तिमायान्ति	३४
निशस्य वचनं तस्य	१ ३७	नेत्रयोरश्रु संवाहः	88.
निशस्य वेदगदिवं	४९४	नेत्रे गृहीतः कृष्णः	३५६
निशस्यापनोति तनिषठां	१५९	नेश्वरो न शिवश्चापि	ą
निशि स्त्रियो वयं प्राप्ता	१४५	नोक्तवान् परमं तस्वं	२५
निःशङ्को निर्भयो भूत्वा	२५०	नोचितस्ते प्रिये साध्वि	393
निश्चलालिकुलाकार	98	नो चेत्स्वतन्त्रः कि कुमं।	३५८
निश्चलाल समाक्रान्त॰	४३४	नोपदिष्टादूनचित्ता	३७०
निषिद्धाचरणं देव	२२२	नोपदिष्टं तु तद्वेति	४द.

क्लोकानु क्रमणिका		५ %५	
श्लोकाः।	पृष्ठाः	श्लोका।	पुष्ठाः
नोपाजितोऽपि सद्धर्माः	\$08	परमानन्दसम्मग्नो	286
च्यग्रोधमूल संस् त •	४०३	परस्रोपरधनलोभाय	१६८
न्यसेन्दाच ततो नेत्रे	224	परस्पर वीक्ष्यमाणां	498
4		परंस्परं प्रणमेदेवं	२६१
पञ्जे कस्तूरिका बुद्धिः	३२७	परात्मा मगवांश्चापि	808
पःचित्रशतु लक्षाणि	386	परानन्दे प्रिये ज्ञाते	880
पञ्चपादत्वमापनना	२०९	परापवादविमुखो	५२
पञ्जाणाहुतीदंचात्	४७८	परापरविभागेन	98
पञ्चमूतात्मकेरेव	२९३	पराद्धः प्रथमो जातो	२१६
पञ्चमश्चीव षष्ठश्च	२८७	पराद्धः प्रथमोऽतीतो	२३९
पञ्चमी शयनाल्या	४४३	परिचर्या करिष्येहं	१७४
पश्चम हेम क्टारूयं	805	परितस्तस्य देवेशि	880
पञ्चरात्रादया मागाः	२४६	परितस्तस्य सीवर्णः	५०६
पञ्चसु प्रतिविम्बोऽमू	२०न	परितो वनमालाभि।	840
पणबन्ध तत्रचक	३५६	परिपन्थी न चान्योऽस्ति	385
प तत्पर्वात्रपक्षीत्थ ०	३२६	परिवृत्ती। स्मरेत्तस्य	१५१
पत्तत पद्मरजः पु ^{ङ्ज}	४०१	परीक्षाः लक्षणैदेवि	२६९
पतितैः कर्मचाण्डालः	३१४	परीक्षिताय वक्तव्यं	२०६
पति परिचरेद्यस्तु	१६०	परेषां दु।खमालोक्य	३०३
पत्या प्रमबहिमू वा	78	परं बिस्मयमापन्नाः	30
पद्मकोशा भृज्जरावा	४९९	पलायन्ते च ते सर्वे	४६२
पद्ममूहाह्यं वाम	४६०	पवनं घनदं रुद्रम्	800
पदारागाकैवदूय	४०५	पवित्र। संशयच्छेता	२६७
प्यात पादयोर्भत्तुः	३६१	प्शवः पक्षिणस्चैव	É
पपुलविण्यमधुरं	3 5 8	व्यक्तीटपतङ्गार्यः	६७
पप्रचल तो ससी प्रेम्णा	१ २६	पश्यता सर्वलोकाना	843
पयः फेनिनमं तत्र	800	पश्यन्ति ये शठिवयो	२६२
परकायात्रवेशं च		पाकशालास्वधिकृता	404
परकायान	396	पाखण्डवादनिरता	१५७
परद्रव्यपरद्राह	१८०	पातिव्रत्यमिदं देवि	१५९
परब्रह्मरसः कृत्याः	355	पादपाः पत्रविस्तीणीः	343
परमाणुह्यमणुः ३५ मा०	२३७	diame comme	
4.			

घलोकाः	पृष्ठा:	ग्लोका :	वृष्ठाः
पादयोः कटके दिव्ये 🛒	३६०	पुनः कथय देवेश	368
पादादिजानुपर्यन्तं 🕟 🦠	२८६	पुनः पत्रच्छुरौत्सुव या	<i>७७</i>
पादुकाञ्जनसिद्धि च	386	पुनः चुनः क्रमादेतैः	४०५
पादुकायुगमारुह्य मन्दं	५०४	पुरक्रियां विघोपेतां	308
पाद्यपात्रोदकेनैव	४७३	पुरः प्रकाशः पश्चात्तं	888
पानीयं तीयमाचामं	. २९९	पुराणन्यायमीमांसा	१८४
पापपुण्यतटोन्न द्वो	३४	पुराणेब्बितिहासे षु	३३२
पापभीतो भवेद द्वेषो	५२	पुरा देवासुरयुद्धे	१८१
पापरूपं विजानीयात्	२५४	पुरा द्वादशवाणिक्या	१ ६९
पारावताः कलरवाः कलरा	जहंसाः ४९२	पुराह्यविद्यमानस्वात्	्२२८, २३४
पारिजातवन क्रोडा	४३५	पुरुषानन्द शतकं	388
पारिजातवनी कुञ्ज	४३४	पुरुषोत्तमानुग्रहतः	323
पारिजातवनं यत्र	. द६	पुरुषं मन्त्र जप्तारं	२८२
पाणिवं विषयं देवि	२२६	पुष्पदन्तभिष्ठो यत्र	888
पाद्यंदभयोस्तस्य	४२९	पुष्परागमयभ्राज	798
पावमानात्पतन्ती	३९८	पुष्परागमये खण्डे	800
पावमानं महारम्यं	इ९७	पुष्परागशिलाक्लृप्त•	४३९
पिककोलाहलैदिव्यै	26	पुष्पशय्यासु रुचिरं	४६
विकाश पारावताश्चैव	ः ३५५	पुष्पावती हेमलता	200
विपासबो नटान् यान्ति	३६	पुष्याकं चैव हस्ताके	२६२
पीठान्तरगतं कृष्णं	400	पु स्त्रोरूपविभागाभ्याः	360
पीतवासा घनस्यामः	१०५	पूजियत्वा ततो दे व	थ७४
पुत्रमित्रकलवादि	. १८६	पूजयेत्पूर्ववद् देवि	268
पुत्राः पौत्रा घन घान्यं	388	पूजयेद् यन्त्रराजस्थं	४७३
पुत्राः पीत्राम्च सुहृद।	. ३३०	पूजागृह समीपं तु	४५८
पुनरक्षरचित्तवृत्ति	१५०	पूजापीठं समारोप्य	800
पुनग्रमिं पुनिवत्तं	१७२	पूरयन्ती पुनस्तस्मात्	
पुनर्जातं ततः सर्वं	· ₹ १७	पूर्णशारदाराकेशा	388
पुनन् है महादेव			958
	ृर६ ६	पूर्णस्येवासकामस्य	१९५
पुनश्चतुर्भिः प्रहरेः	े २३८	पूर्णानन्दे पूर्णकामे	३७९
पुनस्त्रेषा कृष्णप्रजा	३००	पूर्णानन्दं पूर्णकामं	\$ \$ \$

घलोका:	पुष्ठाः	प्लोकाः	पुष्ठाः	
'पूर्वपश्चिमगं सूत्र'	३५२	प्रतिविद्याद् देवदेवेशि	१५८	
पूर्वंवत् पूजियत्वाध	४५७	प्रतीचिमानयेदाशी	७७४	
पूर्वं वद्देव देवेशि	४५६	व्रतीच्यां नीलमणिभि	३४९	
पूर्वरेखामध्यभागाद्	४७०	प्रतीयते वासनायां	385	
पूर्वरेखामूर्ध्वभागाद्	४६९	प्रत्यक्वृत्तिरन्तरङ्गा	385	
पूर्वानुभूता रासलीला	760	प्रत्यक्ष लीकिके सिद्ध	Ęo	
पूर्वीक्तवचने चोक्ते	३१८	प्रत्यक्षं चानुमानं च	५९	
पूर्वीक्तेन प्रकारेण	883	प्रत्यवायी स विज्ञयो	१६३	
पृथिव्यधिपतित्र ह्या	७२	प्रयन्सय पुनः सर्व	६४	
पृथिव्यादीनि भूतानि	४६५	प्रपश्चबीज भूतायाः	358	
ष्ट्रियदी भारमूतोऽयो	१७३	प्रपञ्चो बहातन्मातं	४६१	
पृथ्वोरत्नेन सम्पूर्णा	808	प्रफुल्लचाम्येय बनोल्लसल्लता	96	
पीनःपुन्येन छील।याः	980	प्रफुल्लमस्लिकाम्भोज	१३८	1
पौराणीः प्रकृतीः स्तोत्री।	SON	प्रबोधयेति द्वितीयं	₹७९	
चौष्पैः कृतश्रीः भगवान्	४३५	प्रबोधसाधनी भूतं ू	284	
प्रकाश मूमिका यत्र	३५०	प्रबोधाद्विलयं याति	45	
प्रकाशयन्ति मुढात्मा	५३	प्रबोध्यैवं गुरुस्तस्मन्	704	
प्रकाशा चा पकाशा च	१३८	प्रमुखशीयं याद्याः	355	
प्रकाशानन्द सूम्योऽस्तु	३५२	प्रमाणराजी निगमा	8.8	
प्रकाशितं हरेद्वमं	१९६	प्रमाणराजी यद्याहक्	98	
	२६३	प्रलापाः शतशः सन्ति।	२३१	
प्रकुर्यादुत्सव देवि	96	प्रवर्तते मानसी सा	386	
प्रच्छन्ताभिः प्रकाशाभिः	१७६	प्रवालकेसयोद्धासि॰	50	
प्रजाः स्थानानि भेजुस्ताः	१५८	प्रवालदेहलीकानि	68	
प्रणमेन्मनसा वाचा	४२	प्रवालनीलमाणिन्य	368	
प्रणम्य पुनरायाताः	२९४	प्रवालस्तम्भशोभादय	288	
प्रणम्य मन्त्रयुग्मेन	96	प्रवालोद्यानकु ञ ्जस्य •	880	
प्रतप्रजाम्बूनदसुन्दरस्वि षः	४२	प्रविशित्यरविन्दासः	888	
प्रतिक्रियां करिष्यामि	858	प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च	808	
प्रतिप्राकारामीणानि	260	प्रवृत्ते छिषिकारे तु	188	
प्रतिविम्बवदाभास 	२३९	प्रश्नोत्तरवसाने च	356	
श्रतिमन्वन्तरे देवि	•			

५४८ माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे

इलोकाः पृष्ठाः इलोकाः	5/2
प्रसङ्गात् प्रकृतेर्देवि २०२ प्रार्थयेतः पिय तत्र	२८%
प्रसन्नानन्दजलघो ३९६ प्राह देवीं हरि: प्रीत्या	88
प्रसारोत्सृजन्ती सा १३९ प्रियप्राप्तेरुपायस्य	332
प्रसाद्य पितरं कृष्णो १५३ प्रियसङ्गार्हमेतासा	988
प्रहर्ष परमं जन्मु ३७२ प्रियस्विय प्रयाताया	360
प्रहृष्टवदनाम्भोजी ३९१ प्रियस्य वचनं श्रुत्वा	340
प्राग्वद्बहिः प्रसृमरा ४७० प्रियः सरसि सर्वाभिः	३६५
प्राणकीम इति स्थातः ७३ प्रियाकटाक्षच पके।	837
प्राणनाथ प्रिया वेडद्य १९३ प्रियाणी वासनाश्चेको	२६४
प्राणनाथ प्रिययास्ते ९७ प्रियादर्शे रसः पश्येत्	२३२
प्राणनाथ वियोगेऽपि ४५४ प्रियाभिः प्रेमयुक्ताभिः	833
प्राणादण्यधिके साध्वि ३७८ प्रियाराज्ञोऽपि तद्वृत्त	883
प्राणादप्यचिवल्लमस्य ३३३ प्रियारूपं स्वमात्मानं	४९५
प्राणायामेन युक्रजानं २७ प्रियासि त्वं परानन्दा	358
प्राणिभिश्च द्विरेफार्चः ३०० प्रियसेवा प्रियाचमा	३४६
वर्गोहिटयमनश्चेष्ठा १४ प्रियासीघ बोहुभाग	
अधारा विकेशि ४५७ प्रियासामा परण्यान	
	१९०
प्रातः प्रोत्थितमायतादि० ५०० प्रियाः शृणुत मे वाक्यं	90
प्रातः त्रारं वर्षः वर्षः प्रातः वर्षः प्रातः वर्षः प्रातः वर्षः प्रातः प्रातः प्रतः	858
प्रादुबस्वारि परिष्य ३७३ प्रिये घन्यासि घन्यासि	846
प्राद्भवार्य :	3
महमात विन प्रत	280
मध्यस्य वित्र वण्डाप	३६९
पान्तपल्लवावमाण्य	200
व्यवस्थानम्बद्धाः विकास	३६९
नापादमत् । संप्रकारम	२६४
चाद्य नारायण द्वार	398
च्याविकानि व्यवपूर्वानि	२६३
दिन्तिर्देशिया स्वा विषय	744 788
C : = 1 個 マリ ペラ	288
प्राधित पु । अप प्रतिकास्तासा २०७ प्रोत्थापवेत् प्रभुं सुप्त	412

यलोका ः	वृष्ठाः।	म्लोकाः	् रिब्हा।
त्रात्थापिता पुनस्तेना	२९१	वैहालिकानामक्षपा	३७४
त्रोत्फुल्लकमलामोद*	३४३	बोघयेत्तद्घुदाम्भोजे 🔧	२० १ १दर
फ		बोद्धश्रावकानियु न्याः	१८२
फलपुष्पादिहस्तम्च	२६८	बौद्धापदेशस्य ग्रहो	286
फलापह ्नुतच ञ्चश्री	४०२	मजस्तु साक्षाद्देवेशि	२३७
फले विलम्बमाज्ञा	३९६	ब्रह्म केनात्र संसाध्यं	' ६०
ब		षहाक्षत्रिय विट्शूद्राश्चेते	44
बकवृतांश्च यान् तान्वै	१८३	बह्मगुह्ममिदं देवि	
बद्धहस्ताञ्जलिः प्राह	११७	प्रह्मचर्यं वानप्रस्य	६२
बद्धाञ्जलिपुटास्तूष्णी	80	ब्रह्मज्ञानेन मुच्येत 💎 🔧	१६न
बन्धमोक्षविभागश्च	ų	ब्र ह्मज्ञानैकनिष्ठानो	१६७
बन्ध् केहंयमारैश्च	४१९	ब्रह्मणापि मया चापि	40
बभूव द्विभुजः सद्यः	१०६	ब्रह्मणो दिवसे जाता	२३९
बलाकी केसराङ्गी च	४७४	ब्रह्मणो निगु णत्वाच्च	२३०
बलाद् रुद्धा अपि जहुः	१४१	ब्रह्मणो यन्मया प्रोक्त	580
बहिवंत् भासते विश्वं	९ ३	ब्रह्मणो वापि रुद्रस्य	१५
बहिवृ'त्ते च कूटस्थं	૪७ ५	बहाण्यज्ञानसम्बन्धः	७५
बहिरङ्गातु या वृत्ति	३४३	ब्रह्मण्यपि तथा द्वैतम्	४६२
बहिः प्रकाशं विचिछद्य	१ ३९	ब्रह्मन् पितासि न। काम	. 885
बाललीलाविनोदेन	७६, ११९	ब्रह्मरण्डापया तस्मिन्	२७५
बानलीला विलोकार्यं	388	ब्रह्मरन्त्रे गुरुं ध्यायेत्	२९३
बालहत्या सहस्राणि	8	ब्रह्मरधे परब्रह्म	२७१
बाह्वो केयूरयुगलं	५०५	ब्रह्मलोकाद्यदाचो ध्वं	458
बिन्दुः शून्यात्मको ज्ञेय	२१०	ब्रह्मलोकं गतो ब्रह्मा	48
बिम्बभूतस्वरूपस्य	३२८	ब्रह्मवादेषु वाचाला	१८५
बिम्बाघ रस्फुरणतो	३७९	ब्रह्मवादः कलियुगे,	१६७, १६९
	७३	ब्रह्मविद्या परा देवि	२७४
बुद्धिज्ञानेन्द्रिययुं को	Ę७	ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्ये	५७९
बुद्धिवृत्तिस्त्रिषा यद्व	२७७	बहासत्तावशाद् देवि	236
ब्रुहितंच महेशान्	२९३	ब्रह्महत्या सहस्राणि	8
ब्रूहि सेवाप्रकार मे			20
बृहत्सेनस्य राजधे	850	ब्रह्माण घरणं जग्मुः	, 4

	इलोका ।	वृह्या	प्रलोकाः	पृष् ठा ः
	बह्या त्वं हरि कद्रोऽसि	ą	भित्यन्तर्गत चित्राणि	88
	मह्मादिस्थावशन्तेषु	३०४	भुञ्जानी मनसा ज्यात्वा	४६९
		१९=	भुवनानन्द नाधश ्च	४७४
	ब्रह्मानन्दमयं विश्वं	२७३	भूतजुद्धि वि घायेत्यं	४६५
	ब्रह्मानन्दरसज्ञानां ब्रह्मासमया जीवा	Ęo	मूतिमूषितदेहाय	१
	ब्रह्मासासमयः कश्चिद्	240	भूमयो दशते प्रोक्ता	886
	ब्रह्माभासो निविकारो	780	भूमयः सप्तदेवेणि	३५०
	ब्रह्माविष्णवादिरूपाणि	२०९	भूमिकासु सखोवृन्दै	66
	ब्रह्मीयरुजायस्यानः मधेयं	866	भूमिभराय तज्बन्म	808
	ब्रह्म व सर्वनामानि	३०५	मूम्यम्बुतेजोनिलस्वात्मकं	39
	श्रह्म य सम्पानाम .		भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि	२२१.
	भक्तिज्ञनं च वैराग्य	१७२	मूबागृहस्य पूर्वे तु	488
	भगवन् करणासिन्धो	३२	भेदोऽथाभेद एव स्यात्	६९
		१६६, २८४	भोक्तृभोग्यस्वरूपेण	३०७
1		३७३, ४५६	भोगायतनमात्र हि	३३८
1	भगवन् लोकनायेश	५५	भोज्यस्यैव चतुर्वां शो	₹ 0 ३
	भगवल्लोकमात्मानं	२१८	भी नाथकरुणासिन्घो	२६८
	भगवल्लोकर्वे कुण्ठे	२१८	भो नाथ पुरुषश्रेष्ठ	३६६
	भगवन् श्रोतुमिच्छामि	74, 889	भो मो स्वामिन्परमानन्द	90
	भगवनपि पूर्णात्मा	३७२	भो महेश विधे ब्रह्मन्	४१
	भजनाञ्ज सदाचारः	२५२	भौतिको विषमा देहः	३३६
	भोजनान्ते ततः कृष्ण	400	भ्रमद्भ्रमरसंशोभि	386.
	मजनीयो हि सवव	288	भ्रमाम्यहं दिवारात्री	880.
	भजन्तोऽपि न ते सुभ	२०	भ्राजस्कपाटरत्नालि •	888
	भवतीनामयं तकीं	३७१	भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा मनुष्येषु	829
	भवतीमियंदुक्तं भी	३६८	भ्रामयन्ति जनान् सर्वान्	२६९
		988	म	
	भवत्प्रसादाद् दुःखाब्धि	१२१	मङ्गले सम्पदाधिक्ये	२६२
	मबद्भिनंष्टमज्ञान	१५७	मञ्चे फलकमापन्ना	२४३
	मविता फलस्परच	254	मणिकाञ्चनसन्नघा	४०५
4	मविष्यति ततः काले	243	मणिकुट्टिमास्फुरदमन्द०	४३७
-	गावसंगुद्धिमेवैका	117	THE STATE OF THE S	0 1 3.

प्लोका ।	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः
मणिदर्पं णदर्पं धन	१२९	मनोज्ञकुञ्जैबँहुभिः परीतं	४९२
मणिमजोरिसह्रदि	९६	मनोनु सा रिगमनं	४८६
मणिमण्डपयुक्तानि	800	मनोबुद्धिरहङ्कार	७२
मणिमन्दिरमत्युचचै:	३२४	मनोम्लानौ बुद्धिलय	१७१
मणिमन्दिरमध्यस्य	३२०	मनोरयश्च यश्चासोत्	१८६
मणिमुक्तान्वितानावम्	३२५	मनोरथविघातेन	30
मणिरत्नशिलाबद्ध	20	मनो विकारे भाव।रण्ये	४४७
मण्डपोपरि तच्छारवाः	880	मनःप्रसादकाले तु	४७९
मण्डपं प्रविशेत्सद्यः	३५५	मन्त्रजन्मजन दें वि	२९७
मण्ड्काघारशक्तो च	४७३	नन्त्रचूडामणि ज्ञात्वा	२८२
मता प्रबोधिता सम्यक्	388	मन्त्रमाहाम्यमेतत्तु	२८३
मतिनं देहविषया	ं३३६	भन्त्रराजप्रसङ्ग्रीन	४५६
मत्स्वरूपमिद प्रोम	३६८	मन्त्रराजिममं देव	७० ६
भदनं मोहनं चैव	४७४	मन्दमास्तसंसर्गं •	४१६
मदन्यः पुरुषो नास्ति	ইদও	मन्दारकुञ्जक्रीडार्थं	833
मदात्मभेदाः शतशः	२०९	मन्दारमकन्देषु	833
मधुपकं तत। कृत्वा	१७३	मन्दारमन्दसीरम्य •	४३ ३
मधुरोल्लापमाधुर्यं	88	मन्दारमघुरा माध्वी	४७५
मधुश्रीमाधवश्रीका	*\$\$	मन्दारविषिने क्वापि	408
मध्यन्दिनावधि जपे	२१५	मन्दारोद्यान कुञ्जेषु	833
मध्य बिन्दुसमायोगा	२७९	मन्दारोद्यानमीशानि	५७२
मध्यवीयोनि सौघानि	४२३	मन्दास्मित प्रभोदारं	86
मध्योल्लसद्विपुलविद्वु मदेहलोक	63	मन्दिर परितः पङ्क्ति	348
मध्या खण्डः पद्मराग	388	मन्तिमेष क्रमेणापि	280
मनन विश्वविज्ञान	२८२	मन्बन्त र विभेदेन	586
मनसस्तु बहुस्यामि	। २१०	मपावणी स्कन्धयुगे	328
भनस्यापि लयं याते	380	मया त्वनुग्रहीतानां	280
मनस्यानस्यसम्पूर्ण	१४९	मयापि च तव स्तेहा	740
अनांस्यास् _{रप्रसन्ना} नि	48	मयापि सत्कृता देवि	38
मनुते चेत्त्रियस्त्वेकां	३८१	मयि विरक्तः सततम्	20
मनोजापाञ्चला लिस्य	200	मगूरमृगचक्राह्व	858

			_
श्लोकाः	वेश्याः	मलोका ।	वृष्ठा:
मय्येतत्तु कथं नाथ	४४५	माघबुक्लतृतीयायौ	२६३
मरालीयूय मध्यस्य	३५२	माणिक्यकन्दलाक्रान्ता	855
मरीजिकाजलं पीरवा	३२७	माणिक्यखचितस्वणं	354
मक्लसत् पल्लवसाजिराजि॰	४३६	माणिक्यपुष्प विद्योतन्	258
मर्त्यं लोक गताना च	४५५	माणिक्यभूमिपविता	855
भलयालेपनं देहे	१ ३१	माणिक्यमुक्तामणिभिर्	३५९
महद्वाल्पतर वापि	१९९	मात्सयं मुग्नल ं गूल	२५६
महर्जनस्तप इति	৬	माध्वीकश्रवणां दिव्या	808
महाजनैश्च विपिने	१८८	माव्वी मृदङ्गघोषेण	३६६
महत्तत्वं त्रिधा प्रोक्तं	288	मानाद्रिशि ख रारूढा	३९२
महादु:खतमस्तोम०	४४५	मानां घतमसध्वंस	३९५
महाद्वारपुरोवत्ति	५१०	मान्यत्र गच्छते माता	१२०
महाद्वार बहिर्माने	४२३	मान्यो मानिनि नायकः प्रमदया	३७९
महाद्वारमहं वन्दे	48	मामेव शरणं याती	5 80
महानसे तु देवेशि	५१२	मायाकायं विद्यमाने	१९३
महानीलामणि घाजद्	४३३	मायाकालुष्य हीनाय	४५२
महानौलमणिस्तम्भी	४१६	मायाग्रस्तमिदविश्वं	२६६
महानीलं ददी वासः	३५९	मायाञ्जमण यन्त्रस्था	४५३
महापद्मवने दिव्ये	३२६	माथामात्रमिदं विश्वं	33
महापद्मवनं चेव	४७२	मायाप्रवञ्चदूराय	४५१
महापद्मवनं यत्र	20	मायावृतं परं ब्रह्म	982
महापद्माटवीमध्ये	४४२	मायावेशाद्धिचत्रत्वं	90
महामरकतक्लुप्त०	३१, ४३१	मायालवणपाथोधि ०	४५४
महामारकतं दक्षे	३४९	मायिक वर्णितं सर्वं	२४५
महामुक्तावने क्वापि	409	मार्ग एव महेशानि	४२९
महामोहस्य मञ्जूषा	११६	मालती माघवी नन्दा	४७५
महामीक्तिक खण्डश्च	३५०	मा शोषय वपू रम्यं	४६
महावज्रमणि आजद्	४३८	मासः पक्षद्वयेनोक्तः	२३८
महासिहासनं देवि	४१२	मासान्ते फलदानाय	१३६
महासीवाञ्जण ञाजन	४२५	मासि भाइपदे देवि	२६२
सहेश श्रोतुमिच्छामि	२४३	शिवदीहात् गुरुद्रोहात्	٧

	श्लोकानुक्रमणिका		
इलोका।	वृष्ठा।	श्लोकाः	वृष्ठा
	860	मृदुमन्दगर्जितवययोनमण्डली	४३७
मिथी विश्वद्धी देवेश	१९१	मृदूनि नवनीतानि	११९
मिथ्या स्वय्नोऽपि राजवि	366	मेघनादो महानादः	४२४
मुक्तकेशा वस्त्रहीना	३६५	मेघा: केशेषु हु दये	8
मुक्ताजटितसीवर्ण	¥3 °	मोहनाशे मविष्यन्ति	१५४
मुक्तानि कुञ्जभुवन ०	४०८	मोहयामास योगातमा	१८१
मुक्ताप्रवालरचितं	५०३	मोहरूपं तदज्ञानं	९२
मुक्तारत्नविचित्रहेम०		मोहशान्ती भविष्यन्ति	9
मुक्ताविचित्रचतुरस्रसुवर्णपात्रे	५०७ इ २५	मोहसृष्टिसमुद्भूताः	१६१
'मुक्तावितानको मुद्या		मोहाण्डं प्रविशन् साक्षी	२७२
मुक्तावितानशोगानि	४२६	मीनी स्वगृहमागत्य	२९५
मुक्ताहारलसद्वसुः	९५	मंगी वर्णी च देवेशि	२६५
मुक्ताहारं चतुर्बाहुं	४७६	म्लेच्छान्न पानपुष्टाङ्गा	१६८
मुक्तिकामस्य देवेशि	३०४	a a	
मुखराट्टहासपरिपूरिताम्बरः	४३७	यकारे देवदेवेशि	२८१
मुखामोदविलुब्बालि	९६	यक्षकद्र्वम काश्मोय	५०२
मुखेन्दुमण्डल प्रोचत्	४६७	यक्षा कृष्विनिशाचरी	266
मुखेत्रदर्शयामास	१४९	यजातमुत्सवे कि चित्	२६१
मुखोद्गते हि विश्वासी	३५८	मन्जात्वा ह्यचिरादेव	१६५
मुद्रादिघारणं कुर्यात्	४५९	यज्ञदानतपस्तोर्थं	१२
मुनिः स्तेहवशाद्बद्धः	<i>૧૭૭</i>	यतो नारायणोद्भूतो	₹88
मुसुद्यः पुष्पवर्षाण	५०		२२८
भूलभूमिस्तु प्रथमा	४४३	यत्त कालत्रयादाध्यं	१५
मूलमन्त्राक्षरन्यासं	४५६	यत्वदं प्राप्तुमिच्छन्तः	64
मूलरूपंच में तत्र	884	यत्र कार्त्तंस्वरमयी	36
मूर्तिमद्भिस्तया वेदै।	२७	यत्र खेलन्ति बहुशो	54
. मू।तनान्त्ररणना पदा	६२	यत्रजाम्बूनदस्तम्भ	34
भूलाज्ञानमिव देवि	६३	यत्र पङ्कोषु निमंग्ना	_
मूलोपाधि विशुद्धश्च	२५८	यत्र पान्यो भुजङ्गेन	#6
मृता नहि योग्या स्याद्	284	यत्र भू! का खनी दिव्या	889
मृतिकां जलपात्रं च	368	यत्र मत्स्यगणान्	36
मृदङ्ग महनत् माष्वी मृदुवाद्यादिगीतेन	५०८	यत्र वाष्यः सुम्रापूर्णाः	800

	म्लोकाः	प्रदेशः	घलोका;	विब्द्धः
	यत्र वैड्यंवृक्षेषु	४३८	यथादृष्टश्रुताथिना	३०२
	यत्र सा निश्चल वपुः	४२	यथानधंस्य रत्नस्य	366
	यतस्था परिगायन्ति	४२४	यथानेन प्रकारेण	५१०
	यत्र हेममयी सूमि	886	यथा न सत्यादन्तात्	५इ
	यत्र हंसगणास्तूणं	३५	यथा प्रकाशितं द्रव्यं	१९७
	यत्रानन्दस्वरूपस्य	90	यथामृतेन तृष्ठस्य	१६७
	यत्रानुक्लयं दम्पत्यो	४२	यथामृदि घटस्येव	२३५
	धन्नांभ मानिनी वेश्या	३६	यथायस्तान्तसान्निध्ये	७३
	यत्रामृताम्भोनिविमध्यविस्फुर	52	यथार्थं वादिना पुंसां	११६
	यत्रास्ते सततं राका	४३३	यथालब्बैविनिष्पाद्या	३०१
	यत्रेन्द्रनीलमणिनिर्मितनीलपद्ये	5 §	यथावर्णविभेदेन	२६१
	यत्रैव कुञ्जसदनानि हसन्मुखानि	60	यथावर्षं यथाज्ञानं	२५८.
	यश्रेव चम्पकववनानि जयन्ति		यथा वायुवशाद् देवि	E
	विष्वक्	5	यथा विरक्ती देवेश	३३६
	यत्रोदेध्यन्ति पाषण्डा	१६८	यथा विरक्तो न विधिष्वधिकृतः	३३४
	यश्रोचानलताकुल्या	60	यथा वेदास्तथा तन्त्रं	१८४
	यत्रीन्नदन्तः शुकसारसाद्याः	७७	यथाशयानः पुरुषः	93
	यस्वयोक्तं पुरा मोहो	५ ६	यथा समोरवेगेन	१०१
	यस्वयोक्तं महादेव	३७५	यथेन्दोश्चन्द्रिकायाश्च	90
	यत्सीन्दयं रसाम्भोघी	१२४	यथैव व्योम्नि नीलं च	304
	यथा कल्लोलजालेषु	३४३	यथोपाधिद्धयाभावे	६६
	यथा कालिमसम्बन्धनात्	१८०	यदय विरहो जातो	२५१
	यथाकाशादमूहायुः	90	यदा चतुर्मुं स्ती ब्रह्मा	४९५
	यथा कृष्णः प्रसन्तः स्यात्	४४९	यदात्य देव तत्सत्यं	३७
	यथा क्रीडन्तमात्मानं	३२५	यदात्वां नैव पश्यामि	२०
	यथा कारण विवास स्वल्पो	६९	यदा निवेदितान्नेन	248
	यथा जह्यात् शर्नरम्भः	१६६	यदानुभूतया सम्यक्	328
	यथा जलाय में स्वरना	4 6	यदा परिणमेद् देवि	२०४
	यथा जागरणे स्वप्नः	999	यदा मनोरथं नैव	२६
	यथा तदुद्धवेष्ठान	३०५	यदा यदा महामोह	368
	यथा तरङ्गक्लोर्ज	४५३	यदालवालव द्भाति	80\$.
1	यया दाहमयी योषित्		h and an an an arrival	0 - 4.

म्लोकाः	वृष्ठाः	यलोकाः	पुष्ठाः
यदा वेदपन्थास्तव दोपः पुराणः	38	यमुनायाः परे कूले	८६
यथा सर्वेन्द्रियाणां च	३५४	यमुनासप्ततीर्थेषु	२९१, ३२४
यदि चेद्वासनाजीव	२६९	यमोधिदेवता तत्र	80
यदि जानाति वै कश्चित्	१३६	ययाति कुलजातस्य	\$6.
यदि युक्त्या प्रमाणैश्च	ह १	यशोदानन्दनं कृष्णं	\$58
यदि वा नास जानासि	३५६	यशोदी च महाभागं	१०९
यदि सूर्य सहस्रागां	₹ 9	यस्त्वया दासनासर्ग	₹08
षदि स्वल्पोपराघोऽपि	११७	यस्मिन् चित्त समाधाय	१५
यदुक्तं देवदेवेश	२१४	यस्मिन् हब्टे ममांगेषु	658.
यदुद्धेगो देवि प्रियविरह जन्मा		यस्य चेतस्य यं देवो	१५
सभुदित₹	३३५	यस्य विज्ञानमात्रेण	३०७४
यदुन्मेषनिमेषाभ्याः	४७६	यस्याधस्तात् समाभाति	803
यदेनामवलम्ब्यंव	३९४	यस्याधिकारो यद्धमे	5.8.R.E
यदेश्वरगुणान्वक्तु	२५३	यस्याः प्रान्तचतुष्केषु	४२१
यदेश्वरगुणान् श्रोतुं	२५४	याचकाशा हता येन	२३:
यदेश्वरं मूर्तिमन्त	२५३	याता महावनं भ्रान्ता	१८९.
यदैव निद्रया घूणी	२०७	यान भूतवादित्यबद्व्योक्ति	१८२
यद्गृहे स्त्री विख्दा	80	यामा छ नावशिष्टायां	\$48
यहोर्घविटपालम्ब०	४०२	या लक्ष्मी परमा शक्ति।	१३
यद्यज्ञानवशात् शिष्यो	२७०	यावत्तापोदयो न स्याद्	३२२
यद्यत् करिष्यामि शुभाशुभं वा	४५६	यावन्न जायतेऽप्येका	886
यद्य वा मनसोऽभीव्टं	३२	यावन्न जायते ह्योषा	<i>ጸ</i> ጸጸ.
यद्यत्येका प्रजायते	880	या वेदबाह्याः स्मृतयो	१८४
यस्यवा प्रति	३६७	या स्त्री पतिवृता लोके	84.
यद्युपाधिकृता प्रीति	888	युक्तियुक्तैश्च वचनैः	₹82
यद्येषा विरहावस्था	ૡૡ	युगान्ते तमसा ग्रस्तान्	800
यद्रामायं न च प्राह		यूर्यविराजितं विष्वक्	56
यन्तित्रवभवा नद्यः	४२७		१७
यन्त्रराजापरि क्षिप्तवा	४७३	ये चापि त्रिषु लाकेषु	२६७
यमुनानिलसंसर्ग	388	येन केनापि सन्तुष्टः	987
यमुनाभिमुखे यस्य १	१०९, ४१४,	येन संतुष्यते भर्ता	₹0₹
	४२०, ४२३	ये प्रवर्तन्त एवैते	406

माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे

श्लोकाः	पृष्ठाः	म्लोक ।	वृष्ठाः
येन प्रसन्तो भगवान्	78	रतिमुत्पादयामास	२०६
ये लोकरञ्जनाथीय	४६३	रत्नकुल्याविनिगंच्छत्	४१७
यैः सेवाप्रह्मणादीनि	२२४	रत्नच्छदा घनीभूताः	४१७
योगमायात्रपश्चोऽपि	१४०	रत्नपङ्कजसंशोभै	= ₹
योगमायासमावेशान्	२१७	रत्नमौनितकविता नमण्डि तं	५०२
योगमायो द्भवाकाशे	१४०	रत्नराजितसुवर्णं कुट्टिमे	५०४
योगमायोद्भवं स्वप्न	838	रत्तनसिंहासनगतं	५१०
योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः	१५५	दत्नसिंहासनसोन।	९४
योगिनो हि विरक्तस्य	३४६	रत्नसिंहासने स्थाप्य	३६०
थोगीश्वराय योगाय	7	रत्नसिंहासनं देवि	४७२
योजनायुतमू ड ैन्यः	४१२	रत्नस्तम्भाविलभ्राजत्	४२६
·योजनाद्ध [*] प्रमाणेन	488	रस्नाङ् गुलीयनिवही	१२९
योजनेत् सेघविस्तार •	३२६	रथाः सन्ति महादिव्या	४२४
यो नादादुत्तरं तं तं	१४९	रमयस्वाद्य रुचिरं	884
थो यो यद्देवता भक्तः	४६०	रमादेवी जगच्छक्तिः	३८
योषित्धापि तथा लोके	१५९	र∓यैमँनोहरैभविः	346
योऽसौ दाशरियमू त्वा	206	रसरूप निगुँगं च	२३२
यं पूजयन्ति सततं	१६	रसहपस्य कृष्णस्य	४६०
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	२२०	रसरूपं भवेद् ब्रह्म	२ २९
₹		रसलीलारसाम्भोधे:	४९७
रकारेऽग्निरहं देवि	768	रसस्तदा निवर्त्तेत	850
रक्षस्व नाथ लोकास्त्व	३९	रसस्ताहिक्वा देवि	२३१
रजतस्वर्णवज्ञेन्दु०	४१५	रसस्वभाव एवाय	१२२
रजस्ततुभयारमत्वा	784	रसानन्दाङ्कुरोद् पूत•	४६७
रजःप्रधानमूतेभ्यो	७२	रसानन्दात्मनां यत्र	800
रजा प्रघानहारिण	7.0	रसावेशस्तदाभूयान्	२६०
रज्जुत्त्वेन तु विज्ञाता	Ę	रसावेशो भवेद्यत्र	२६३
जोगुण प्रधानात्तु	७०, ७९	रसोत्पादनसामग्री	२३१
रजोनुविद्धास्वना	७१	रसोऽहं मूर्तिमान् साक्षात्	३८७
तिज्ञमिव तं मत्वा	१२०	रसः परिणतः सोऽयं	\$ 819
तिभूमि प्लावयन्ती	396	रसः श्रङ्कार एवाक्तो	१२२
तिवास न्याययाचा	4 40	A SALANI	* , ,

S		श्लोका ः	
एलोका।	वृद्ध	ललनावृन्दम <u>घ्यस</u> ्थ	हेब्या:
रसः श्रृङ्गार एवादी	३२१	ललने ललितं रूपं	२५९.
रहस्यस्वान्मया नोक्तः	२७७	लहर्याः सल्लिस्येव	- २१
रहस्यरमणङोके	२३६	छलिता प्राणनाथेन	₹९₹
रागविद्यासु कुशलता	३६६	नावण्यलहरी नीना	२९१-
रागिणी रङ्गलविका	868	लावण्यलहरी साक्षाद्	888.
राजपुत्रो यथा देवाद्	३२२	लांगुलमस्य चेंध्वयं	395
राजसादिन्द्रियाण्यासन्	२ १ ६	लिङ्गशीच च तिसृभिः	२५५
राजस्यम्बापि वैरच्यं	२२५	लीनायां लक्षमायायां	३९५
राज्यप्राप्ति च मनसा	इरव	लीलामनुभवन् तिष्ठेत्	१ ९०
राज्यं देय शिरो देयं	3	लीलावचांसि यानीह	२५१ .
राधिकाये प्रणामं मे	१२८	लीलावलोकनार्याय स्रोहावलोकनार्याय	३६६.
रामस्य दर्शनं चक्र	223		२४०
रामे च भगवत्येते	286	लु लु अङ्गणनम	२८७.
रामः श्रुत्वाय तो वासी	११५	लेखियच्वा ददेनमन्त्र	२७८
रावणं समरे हत्वा	११३	लोकभ्रंशः कर्मलोपात्	५३.
रासलीलाप्रविष्टस्य	२७७	व	
यां सलोला विलासो मि॰	843	वकारे सलिल विष्णु	२८१
हिन्दोशुतडिद्दीप्त ०	800	वष्त्रकृटं कलासारं	856
रुदन्ती करणादोना	266	वज्रकल्पतमहा०	४१७
रदन्तीना मुखान्यश्रु	१५०	बदने जनलोकोऽस्य	8
रुद्धः कवाचितित्रयया	१३०	वनचराणामस्माकं	\$86-
बद्रानन्द्रमातेनोक्तः	१९८	वनभानतो यथा कश्चित्	३३२
रूक्षं वचनमाश्रुत्य	१४३	वनितारूपमास्याय	340
रेज राधासनगता	830	वने चान्द्रमसे देविं	803
	* * *	वनेष्पवनेष्वेव	₹8.
ल	968	वनं चान्द्रमसं नाम	808
लकारे पृथिवी तत्वं	88	बपुःकाश्ये चेन्द्रियाणि	१७३
लक्षणानि तु मे विचम		वमद्भिरिव सत्त्रोम	४३५
लतापरिमलोद्गार•	888	वयं गोप्यो भवद्दास्य	
लब्धानस्य इवाभासि	33		\$ 88
लच्चे विस्तामणी देवि	२८३	वयं तु न गमिष्याम	884
लब्दवा मन्त्रं गुरो। सम्यक्	\$\$0	वरार्थं प्रार्थ्यमानोऽपि	₹₹.

	(TEXT)	Torbona.	वृष्ठाः
इलोका:	वृहरू:	श्लोकाः	३२६
विषय साहितको देवी	७१	वायुह्तपरागोर्घः	६२
वरः कः परो योऽस्भामिरी	डयो ४९०	वायूपशमने देवि	४२३
वजंयेदासनं मन्त्री	३०१	वाय्वान्दोलितपत्रीघ॰	१०३
वर्णरूपं वपुष्ययित्	२८६	वारितो वसुदेवेन	१६३
वर्णारमाविभवति	२१२	वात्तीमात्रेण विज्ञानं	# 88
ः वर्णाश्रमक्रियायुक्तो	₹११	वासना तदवच्छन्ना	₹ ₹
वित्तवण्यं ततो भद्रे	२४१	वासनां सहस्रोश्च	च २२६ - २२६
वितव्यं त्वया मद्रो	२्३	वासनालिङ्गमेतासा	१७९
वमं तु पुरुषस्येह	३३२	वासना समभूत्तेषां	२६४
वर्षद्वादशकं योऽसी	236	वासनासु रसावेशः	99
वर्षाम्या सत्रियं	२६९	वासनांशौर्गताः सर्वाः	
वलयागदकेयूरी	९५, ४६६	वसांसि परिघायैव	२९इ
ववन्दे चरणी मातुः	१५२	विकर्मणि प्रवृत्तिस्तु	१६४
ववी वायु: सुखस्पशौ	49	विकसन्नयनाम्भोजा	40
वन्ने नृत्यविघानायं	, १२६	विकारेऽहमिति भ्रान्तिः	588
वसन्तलोलारसिकः	४३२	विकिरेत्सर्षपान् दिक्षु	३११
वसन्ते कुकुमाम्भोभि	66	विगाढमाने मनसि प्रविष्टे	₹४७
वसन्तः सन्ततं तत्र	8 \$ 8	विचरन्ति यथा कालं	२१७
वसुदेवस्तु तं हष्ट्वा	१०५	विद्नाः सवे पलायन्ते	३१६
वस्देव तृतीयेस्मिन्	१०५	विचारयन्तमात्मानं	26
वह ्न्नुष्णशकंरयुतं मणिपाः	तसंस्थं ५०६	विचायं वृहि मे देव	३६९
बाक् पाणिपादपायूप	90	विचित्र दिव्य सलिले	३२६
वाक्यपीयूषवर्षेण	. १२	विच्युतात्मानुसन्धाना	१८६
वाङ्मनः कायकौटिस्यं	३१५	विज्वराः सन्तु विप्रा।	१७४
वामपाश्वे तथा चैका	849	विज्ञाप्नोति वैराग्य	३३९
वामभागतां तस्य	४६७	विदीणंसदाहिमबीजसंहती:	४१२
वामभागे तु देवेशि	808	विद्यते वेदसिद्धोऽयं	46
वामरेखास्यितो ब्रह्मा	४५व	विद्याविधे स एवोक्त	208
बायव्ये सस्मरेत्खण्डं :	340	विद्युद्वणी निम्नाभिः	४७५
	२७८	विधिना केन देवेश	٧ ٤
वायुवीजं ततः पश्चात्	२ ४२	विधि: सर्वोऽपि कत्तंब्यो	২৩=
ब्रायुस्तेन युवा देबि	717	व्यापः स्वाधान क्षाव्या	, -

श्लोका नुक्र मणिका			
^{म्ला} का:	प्रन्या।	प्लोकाः	५५९
विना दुखं न च सुखं	98		हुन्छ।
विना अमिनरासेन	76	विशुद्धस्त्रीस्वभावा ये	२५९
विना वैराग्यमत्युग्र	* *	विशुद्धस्फटिकमयी यत्र	४४१
विनाशमेष्यति अगत्	२२६	विशुद्धे निमंले देवि विशेषं तत्र देवेशि	338
विश्रयोगे तु विज्ञाते	79		७३
विभ्रमामि भ्रमविष्टा	३०८	विशेष तत्र वक्ष्यामि विशक्तियोजनाना	855
विमधे णात्मनश्चापि	३३०		858
विमर्ष तस्तथान्योऽज्य	२८	विश्वस्मिन् विततं पश्य	२०
विमानान्यपि दिव्यानि	१७७	विषयानन्दसन्तुष्टा	22
वियद्वितानित्रिमव	४२५	विषयानुसगरहिते	३३९
वियोगदलमाश्चित्य - वियोगदलमाश्चित्य	885	विषयेम्यो निवृत्तोऽपि	३१२
वियोगन	३९५	विषयं रूपमासाच	२२६
वियोगदावानल एष एव	१३ ३	विषयं शब्दमासाद्य	२२६
विरञ्चेत्र'ह्मणः पूर्वं	२१५	विस्मरिष्यथ मां तत्र	३९६
विरचीमुक्तिमापनी	२४७	विहाय मायामालिन्यं	२८३
विरला गुरवो देवि	366	वीणामृदङ्गमधुरहवनि॰	866
विरहाग्निमहाज्वाला	१२५	वीणारवघृणादायि	१२९
विरहाग्निशिखात्युष्णं	१३०	वृक्षेभ्य इव पुष्पाणि	358
विरहानलनिदंग्वा	१२६	वृथा किमर्थं ते बालान्	308
'बिरहानलसन्तस्प _०	845	वृन्दावनं तद्वरवृक्षवृन्दैः	868
विरहाहिविष प्राण	१ ३२	वृन्दावन नित्यमुक्तं	३७३
विरहे प्राणनायस्य	888	वृषभानुगृहे जाता	99
विराजीत ब्रह्मपुरे	७६	वेत्रजं तालपत्नं वा	३०१
विराट् तस्य वपुः स्थूलं	6	वेदप्रणवभेदेन	280
वियोचयन्तीं प्रभया	35	वेदबाह्यणगोमन्त्र	308
विरोधिनः क्रूरिचत्तान	749	वेदविक्रयणं चैव	777
विलपन्ति यथा गोप्य।	868	वेदवेदान्तसङ्गीत।	880
विलोकय कुपादृष्ट्या	790	वेदशास्त्रपुराणादि	808
विलु पन्तः क्रिया। सर्वा।	१६५	वेदशासार्थः तत्वश	407
विवेकविद्याविनयप्रसाद	१२२	वेदस्थित्यर्थमेवासौ	988
-विशाला व्यापिका चेति	200	वेदागमपुराणेषु	88€
-विशालाहारिणीकण्ठ	306	वेदाद्यागमरूपाय	848

वृष्ठाः	यलोकाः	पृष्ठा:	
86	व्यतीयुः सप्त कल्पास्ते	-	यलोका।
308.		880	वेदिकापरितो भान्ति
२३५.	व्यर्थयन्ति महामूढा	880	वेदिकायां विशालायां
३०३	व्यवहारार्थमित्येषा	880	वेदिकाया समुद्भूते
२६४	न्यवहारेषु सर्वेषु	४१६	वेदिमध्ये तु कलशा
943:	व्यवहायं यथायोग्यं	च च	वेदे कर्मप्रधानं हि
व्य	व्याचेन शरसंस्पृष्टः	358	वेष्टितं मणिमुक्तादि
44	च्यावहारिकी वास्तवी	४३८	बंडूयँद्रुमकुञ्जेषु
	व्योम्न: सदाशिव। प्रोक्त	888	वैद्यंपत्र द्युतिपुञ्जप्रितं
१६२	হা	३२५	वैदूर्यंपियानी खण्डैः
65	शङ्कापङ्काङ्कमलिने	69	वैदूर्यमयवल्लीनो
	शक्तिद्वयसमापेत	४१४	वैदूर्यंरत्नविलसत्
१८१	शक्या जे तुं सुराः सर्वे	वध्वक ८०	वेद्यंवीरुष इह प्रतिभान्ति वि
800	ग तयोजनमानेन	४१६	वैदूर्यंस्तम्भयुगल•
४१६		298	वैरच्यानन्दशतक
380	शतवर्षं भवेद्याव	219	वैरस्याच्च विचित्रत्वे
840	शब्दब्रह्म परव्रह्म	३३६	वैराग्यस्योदये देव
888	शब्दब्रह्ममयं प्राहु	३०२	वैराग्यं च विवेकश्च
२६८	शब्दब्रह्मशरीचोऽसी	२६२	वेशाखे शुक्लपक्षे तु
Ę o	शब्दातीत पर बहा	284	वैष्णवान्यपि तन्त्राणि
3 60.	शब्दोपाधी कथं तच्च	२२५	वैष्णवधाम यास्यन्ति
383	सयीत सूमी शय्यायां	₹ ४ ५	वेहायसं तया ज्ञानं
368	शरच्चन्द्रप्रभागीरं	१५०	व्रजलोला विधेमीव
३६५.	शरच्यन्द्रांशुधवलं	११९	व्रजस्था गोपिकाः सर्वाः
१७१	शरी रमूलमन्नं हि	222	व्रजस्था। शिशवो ये च
\$03	शरीररक्षणायास:	388	वजस्य सीलानुकृति
६४	शशशृङ्ग नरशृष्	१२०	व्रजेश्वरसुतं नीत्वा
	शास्त्राबद्धसुवणेश्च ृङ्खललसद्	१९०	त्रोहिताघोमुखो बाला
808	दोलाधिरूढाञ्जना	३६६	वंशीवासन लावण्य
४२३	शास्त्रामृगैः शशैः क्रोडैः	३७७	व्यक्तीकुवॅन्निज प्रेम
१५३	शापदग्घघियः सर्वे	२०७	व्यचीनोत्पञ्चमा देखि
२८२ :	शाब्दं वपुः परानन्द	406	व्यजनं पादुके चार
	दोलांबिरूढाञ्जना शास्तामृगैः शमैः क्रोर्डः शापदग्ववियः सर्वे	३६६ ३७७ २०७	वंशीवासेन लावण्य व्यक्तीकुवंग्निज प्रेम व्यक्तीनोरपञ्चषा देखि

Trebma.			
ष्ठोकाः -	र्वेट्य	एलोका।	<u> विष्ठा</u> ६
शास्त्रदुष्ट भावदुष्टं	२५७	शृषु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि	308
मिशिरतुँ भजेत् तत्र	880	शृणु वहवामि देवेशि	३३७
शिशुमार भयोद्विग्नाः	३६	शृणु सुन्दिश यत्नेन	40
भोतकालेजले मग्ना	- २६	शृणु सुन्दरि वहयामि	२५
शोतोब्जवात वर्षाम्यां	. ×£	श्रुणु स्वामिनी प्रवध्यामि	३५३
शुक्तपारापतस्क्रींच	. ४४१	शोभमानामृतज ला	७७
शुके। पारावत्तहँसैः	348	शोभगानं चतुद्धीयं	348
गुक्तिका राजतेनेव	३२७	ं शंखचक्रगदायय •	४७६
ET CONTRACTOR OF THE PARTY OF T	ं ४३३	श्यामोदरचुतिसयोजवनीस्याभिः	68
शुक्ती रजतमित्येषा	२३५	श्रद्धाहीनाय दुष्टाय	212
गुद्धितसस्य देवेशि व्यक्ति		श्रद्धोद्द्यिनी यत्र	३५
गुद्धसरवप्रवाना हि		श्रावणे बहुले पक्षे	२६३
शुभवादी शुभाचारः	२६७	श्रावयेदुत्तरं वासा	3 8 10
शुभासने समारोप्य	120	श्रीकारं कण्ठदेशे तु	२६५
शुक्की विस्वाधरी तस्या			१०९
शून्यत्वेऽवस्तना रेखा	260	श्रोकृष्णदर्शनानन्द	२७८
शून्यागारे गिरौ रम्ये		श्रीकृष्णप्रमान्द्र	२७३
श्रुक्ताणि तस्य देवेशि	* ३१० **३५२	श्रीकृष्णस्य त्रिया चासि	336
श्रु क्राररसह्याणी		श्रीकृष्णं हृदये जीन	308
	\$88	श्रीमद्भागवतं प्रोक्तं	३७१
श्रृङ्गारसह्त्वाय श्रृङ्गारससम्वर्ण	४५०	श्रुतिगीवमिदं वद्व	280
	१९६	श्रुति ह्या कुमार्यश्च	
श्रृ ज्ञारहास्योद्भुतमोदमानः	406	श्रुतिसिद्धी भवेरनामा	223
शृणु त्वं देवदेवेशि	२८४	श्रुतीना चापि सर्वासा	88
श्रृणु देवि परं गुह्य	356	श्रुतेविरोधमा गङ्क्ष	230
श्रृणु देखि प्रवहवामि ७५, १९	६, २९३	श्रुतं मया महेगान	\$3
२४३, २४७, ३७	५, ४६१	श्रुतं मया विशेषेण	388
भ्युणु देवेशि वस्थामि	388	श्रुरवा कलावती बाक्यं	३५०
श्रृणुव्वं त्रिदशाः सर्वे 💛 📉	43	श्रुत्वा कृष्णकयालापं	860
शृणु व्वं विभोवन्यिमेतन्मनोज	890	श्रुवा तत्व कथा वादं वपू	42
श्रुण पार्वति बक्ष्यामि ६४, ११	4, 779	श्वास्थान के वेदना	१०३
	३६४	श्रुरवारममृत्यं देवनवा	346
RS TTO		श्रुविन्दिशावाक्यमति प्रग लभं	716

प्रलोका ः	वृष्ठा।	म्लोका ।	वृष्ठा।
श्रुत्वेवं वचनं तस्य	386	सजातीयविजातीय	१२२
श्रीयसा परिपत्थिन्यो	११५	स जातो यत्र कुत्रापि	१०म
श्रोतव्यानी च परमं	२१४	सज्जसर्वंपरिचारिकागणं	५०२
श्रीतत्वाज्जन्यनाशस्य	२००	सक्तिनतं क्रियमाणं च	२२३
श्वपुच्छालम्बनं यद्वत्	१ ६२	सत्कृते सदने रम्ये	. १२८
श्वाश्रुपातसन्ताप ०	४४६	सत्यवद्भासते वापि	६५
श्वेतद्वोपस्य तु च्छाया	२ ३७	सत्यागादसदासङ्ग	288
श्वेतानि चैव रक्तानि	4 2 9	सत्वप्रघानभूतेम्यो	७२
घ		सत्वं रजस्तम इति	53
बोडशस्यम्म विञ्जाज	798	सस्वानुविद्धान्नभसो	, 60
वट्गुरूश्च महेशानि	808	सत्त्वोपाधिगतं बहा	४६३
षट् सहस्राणि देवेशि !	***	सदसद्व्यतिरिक्ताय	४५ ९
स !		सदसन्त्यपि कर्माणि	. २२४
स अध्यस्ती वासनासु	383	सदंशबीजमूला च	१२२
स एवं च त्रिमा जातो	785	सद्गुरोश्चरणं क्षेत्रं	२७४
स एव यक्षरक्षांसि	14	सद्गुरोः शरणं यायात्	२६६; ३४४
स एव सर्वरूपैश्च	१५९	सद्य । प्रत्य यहेतू नि	588
स एवेदं नमूवाग्रे	146	सन्तोष भूसिको प्लाब्य	३९८
सकुण्डला कुण्डलिनी	१००	सन्तोषयेद् गुर्व भनत्या	२७५
सुखीनां च सहसाणि	३७९	सन्तोषानन्दभूम्योस्तु	३९७
सखीना चापि सर्वासा	३७६	सन्धिकार्येककुशली	३७८
सखीभिविरहे दुःख	1948	सन्व्याकाले व्यतिक्रमन्ते	\$? ¥
सक्तीनामपि सर्वासा	३६७	सन्नियम्येन्द्रियगणं	१ ४
सुबागगंसमस्तोऽपि	३७८	सपादलक्षयोजन	३९८
सखीश्च दहश सर्वा	144	स पाप्मा महिषाकार	३५५
संखीसहस्रसङ्कीणं •	४२७	सप्तकोटिमहामन्त्रा	२७७
संखीसहस्र रायाति	३ ५५	सप्तरीर्थैदिव्ययतन	UU
पुरुषः कुशेशयदशोविलसद्		सप्तद्वीपवतीं पृथ्वीं	? ९७
विभूषा	20	सप्तवंयः समभ्येत्य	५०
चावृत्यचिदाभासं	३३९	समन्तत। परिक्लृप्त०	४१५
चितन्यस्य कार्यस्य	₹•४	समाघावीवश्वरेणोक्त	388

	श्लोका	नुक्रमणिक <u>ा</u>	५६३
श्लोका ।	ट ब्टा।	श्लोकाः	1000
समाधिस्थेन देवेशि	588	सर्वेषामेव जन्तुना	ीप्टण्डा २० २
समानवेषामरणाः	\$.8. \$	सर्वं कुष्णमयं व्यायेद	386
समानासनसमासीनी	१३१	सर्वे ब्रह्ममयं पश्यन्	408
समाप्ती वापि जुहुयात्	३१६	सर्वं सहेत पर्षं	२५८
समासन महेशानि	२९२	सवस्त्रभूपणाकल्पं	198
समाहिताभगवता	શ્ પ ફ	स वेदारमोप देवोऽपि	ૃંદ્દ
समुद्रमेखले देवि	254	सन्यापसन्ययोर्यस्य	ંટલ
समुद्रवद्री प्रथिती जगत्या	१३३	सहसवास सेवामि	ે
सम्पादय तथा कामं	888	सहसहस्य श्रीभ्या तु	880
सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे	४८२	साक्षाल्पश्यति देवेशि	386
सम्प्रार्थं पादुकायुगमं	४७८	साङ्गिनं तु परित्यज्य	२०३
सम्प्रेषयामास तदा	306	सा तपश्चरते तीव	३८
सम्भावयामास तदा	१७५	सा तयो लोकभयदं	३०
सयोगरसमध्यस्था	′३२२	सात्विको याजसम्बैव	(90
सरसः पुनरुद्भूय	४२७	साहशाभावती लोके	६०
सरस्यो विलसत्स्वणं•	४३४	सामु पार्वती ते प्रश्न	४४९
सदांसि यत्र भूयांसि	68	साघु पृष्टं त्वया भद्रे	२२३, २६६,
सरः चरवयोमंध्ये	\$ 6	- 1	828
सर्व एते सहस्राध्व०	858	साधुवेषेण शिक्षाभिः	₹७ ९
सर्वतो व्याप्य देवेशि	४८२	साधुसङ्गेन देवेशि	२५०
सर्वतः किंकिणी नालै।	374	साधक मनत्रराजस्य	३२१
सर्वतः पाणिपादान्तं	286	साध्योभाव। साधन तु	: 6243
सर्वथा न प्रमाणत्वे	२४९	साध्वी चकार प्रतिमा	२५
सवंतु गुणसम्पन्नो	४९२	साध्वेतद्व्याह्त देव	१ ६७
सर्वसाधनहीना मा	४५३	सा प्रोवाच वचा मुद्धा	200
सर्वस्वदक्षिणां दत्वा	704	सामभिविविधिश्वापि	28
सर्वातमना सर्वदापि	₹•₹	सामरस्यमयीं प्राहु	२०३
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य	१ =३	सामरस्येच्छ्या शक्त्या	586
सर्वास्वेतासु घटते	३७६	सामान्यतो विदुस्तासौ	388
सर्वा। सस्योऽपि वैद्याँ	888	सामान्यसिललै। प्रोक्ष्य	805
सर्वेन्द्रियचरो भूत्वा	-	सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य सामान्यसायस्य	
	385	साद्ध त्रिकारद्वारा	363

प्रकोकाः	पृष्ठाः	इस्रोक ाः	वृष्ठाः
साद्ध योजनविस्तारो	288	मुरभ्या चामृतीकृत्य	808
साद्ध दियोजनोत्सेघं	398	सुवणं पङ्कजवनै	३५३
साष्टाङ्ग च ततो देवि	२७६	सुवर्णमुक्तामणिहार शोभी	४६८
सिद्धा योगेश्वरा रुद्रा	१ ६	सुवर्णर व नाचव्यन्	४६५
सिद्धा विद्यावरा: सवे°	888	सुवर्णरिचतं प्रान्तं	५०४
सिन्दूरपूरारुणिमानमुख्यैः	408	सुवर्णसूत्रविद्योतत्	३६५
सिसृक्षोन हाण। पूर्व	२५५	सूक्ष्मार्थानामध्यभावो	६८
सिहासनस्य परितो	३६४	सुते कार्यात्मकं विण्डं	६६
सीताया रामभायाया	323	सूर्यं कान्तम णिवलु ध॰	
सीते यथार्थमुक्तैतत्	११६	सूर्यंकान्तमणिच्छाया	४३६
सीत्कतान्यसृजन् गोप्यः	186	सूर्यं कान्तमणिश्राजत्	880
सीदन्तीं कलिले वीक्य	१७८	सूर्यस्यावरणे शक्तं	40
सुखदु।खादिकं सवंम्	३३७	सूर्योऽस्य चक्षूषि गतः।	8
सुखदुःखादिमोहोत्य•	३२व	सूर्यः सञ्ज्ञानलः स्वाहा	१९९
सुखे वा यदि वा दु।खे	*4	सुजते संहरत्येष:	6
सुसेषु विद्यमानेषु	२५६	सृष्ट्यर्थं ब्रह्मरूपोऽसि	\$
सुखं दुःखं भयं क्रोघो	३३९	सेवया तद्गतं चेतः	888
सुगन्धद्रव्यसम्भन्ना	३६५	सेवां कतुं मशक्तम्चेत्	४५७
सुघामा घुर्यं विक्कार	186	सेवित सर्वतः श्रीमद्	१३९
सुधारसादप्यधिकै:	३५५	सेव्यमाना सुखस्पर्शे।	<i>66</i>
सुघासिन्धी मणिद्वीप०	३२४	सैका बभ्राम नगरे	१८८
सुनासी सुदतीं सुभू	16	सोऽहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो	\$87
सुन्दरोगुणमाहारूम्य	३९२	सौघमण्डपयोर्दे वि	288
सुन्दरी स्वर्णवर्णा च	800	सोघाङ्गणचतुर्दिक्षु	४० দ
सुन्दर्यामघिकः प्रेम	388	सौवणीं राजतीं शैलीं	798
सुन्दर्येव प्रियंका च	३७७	संख्यया परितो देवि	95
सुप्ता सोत्थाय तन्नीव	२६	सभूता भारतेवषे°	१८६
सुप्ताहिमिब जग्राह	220	संयुक्तयोस्तु संयोगी	१२२, २२९
सुक्षोत्थित। परिजनी सह नृत्यभूम		संयोगवित्रलम्भाख्य	२४१
सुप्तं प्रबोधयेद् बुद्धो	43	संवत्सरस्तु ह्ययन	२३८
सुमुखोललिताचास्तु	३६१	संसारारण्यवीथीषु	४५२
33"			

श्लाकानुक्रमणिका

्रष्ठोकाः	् पृष्ठाः	मलोकाः	पुष्ठाः
स्तम्भलग्नमणिपुत्रिका गणं	407	स्फूर्जत् काञ्चनमण्डिता 🔊 🤍	400
स्तम्भैश्चतुभिषद्भाग्तं 💮 💮	४२१	स्फूजंद्रत्नमयूख॰ 💮 💆	1886
स्तुतिनिन्दापि देवेशि	२२५	स्फूर्जंन्मणिप्रवितिविवनोति 🥦	1112 2 47
स्तुतिः प्रसादनकरी	840	राज समी	60
स्तुवन्त एवं भगवन्तमन्ययं	890	स्मराशुगीभूतविलोचने हे	१३४
स्त्रीगोबाह्मणसाधूनां 📶 🕬	80	स्मितपूर्वमुबाचेदं 💮 📆	३७०
स्त्रीणामपि पुरो धर्मा 📨 🖘	78 1	स्मितमाघुर्यविजित	९५
स्त्रीणां जातिस्वभावोऽयं	388	स्मितोदपादशितदन्तपङ्किः	438
स्त्रीत्वच।ञ्चल्यमुत्सृज्य 🌃	२६	स्मितशोभिमुखास्भोजः	४३९
स्त्रीदुष्टान् समयभ्रष्टान्	749	स्मृति विना तु देवेशि	386
स्त्रीधर्मं सहसा हित्वा	१४२	स्मृत्यवस्थैव देवेशि	३४६
स्तन्यं हालाहलमयं	888	स्मृत्यां वै जायमानाय	380
स्त्रीपुंभावात्मिका जाता	203	स्मृत्यवस्योदये देवि !	884
स्त्रीमूलं सर्वं घर्माणां	88	स्मृत्यवस्थोदयो यावत्	888
स्त्रीषु हास्येषु धृत्तेषु	३५५	स्मरेत् तदानन्दसुधासमुद	३४७
स्त्री साहाय्येन जेतन्या	88	स्मरेदथो महादेवि	856
स्युलायाँपसत्तिकालो	46	स्मरेदयो महानन्द०	886
स्नानदानदयादाक्ष्य	907	स्मरेदथो महेशानि	858
स्नानवासः परित्यज्य	५०३	स्मरेदयो वनं दिव्यं	868
स्नाने त्रिषु कालेषु	२६	स्मेरानना विधुक्ला	403
स्नानं दिव्यजलैर्देवि	४७३	स्वकरालूनकुसुमा•	४३५
स्तेहाद्वाधनलोभाद्वा	907	स्वगुणास्यानमीशान	555
स्तेहावनोदनार्थाय	400	स्बच्छ दर्पणवत् प्रेम	358
स्तेहाल्लोभाद्भयाद्वापि	48	स्वदेहं भावयेद् देवि	888
स्पशंषु चाष्टमश्चैव	260	स्वटनहरुढेषु लोकेषु	355
स्फटिकस्यैबरागित्वं	288	स्वव्नभूतप्रपञ्चे स्मिन्	888
स्फाटिके हि यथाऽव्यस्तो	238	स्वदनलब्धगजाकार	१८६
	३५१	स्वप्नविद्युन्तिभाः पश्येन्	२५८
स्फुरस्कोटीन्दुविलस	386	स्वप्ने ददर्श सततं	75
स्फुरन्ति सकला विद्याः	७९	स्वप्ते यथा तथा भाति	
स्फुरन् मयुखमालाभिः	३३४	स्वप्रकाशे यदज्ञानमावृत्ति	396
स्फुरन् मीतान् वारिष्विव	440		पह

श्लोका।	प्रव्हा।	म्लोका ।	विब्धाः
स्वप्रकाशं गुणातीतं		स्वामिनी वासना जाता	१२१
स्वप्रकाशं यथा दीप		स्वामिनीवासना राघा	१२३
स्वप्रकाशं समभ्येत्य		स्वामिनीसहिताः सर्वाः	९७
	३२७	स्वामिन्या एव ताः सख्यः	366
स्बबुध्या सुन्दरी चापि		स्वामिन्या च समासाद्य	888
स्वमन्बद्रोहिणं हन्तु		स्वामिन्याधिलष्टवामाञ्ज	४५०
स्वभालिशिखि विद्योत		स्वामिन्यः षट्सहस्राणि	480
स्वभावशीत है रम्यै।		स्वायम्भुवं कापिलं	२४५
स्वयं प्रादूरभूत्तस्मिन्		स्वीयोपिर प्रम की हश	३७१
स्वयंवेद्यमिदं भाति		स्त्रजं शुक्ति समावृत्य	48
स्वरम्चतुर्थंस्तन्माया	२७९	1581 1 1038 HE	
स्वरूपावबोघो हि	६५	€	
स्वणंपात्रे स्थितं दिव्यं	३६६	हत्वा वंसं मल्लयुद्धे	१५२
स्वर्णंपीठं समास्याय	५०६	ं हत्वासुरमरं पृष्ट्याः	१५३
स्वर्णप्राकारसंवीता	४३०	हयशीष तन्त्रमाद्यं	284
स्वर्णभक्तिविचित्राणि	800	हरिषन्दनद्रु मनिकुञ्जमण्डले	थहर
स्वधुँनी स्वर्णसोपाना	\$ 20	हरिचन्दनस्फुरदमन्दसुन्दर	४३६
स्ववस्त्राभरणाग्यस्यै	३५६	हरिस्त हप्रेम परमं	88
स्ववाममागे देवेशि	४७१	हव्यैर्देवान् पितृन्कव्यैः	१७६
स्ववासनाकामशेषो	888	हसन्तिका हंसगतिः	888
स्वसङ्कोतं समागस्य	३९३	हसन्तो हासयन्तम्च	Ros
स्वसंवेदः समादिष्टः	२७४	हारकुण्डलकेयूर०	४३५
स्वस्मिन् स्त्रीभावना नश्येत्	248	हारिणी हरिणी हंसी	899
स्वस्वमोहेन सख्यस्ता	388	हासकीडावसाने ता	३९४
स्वस्वरूपभ्रमो देवि	६५	हासयन् प्रहसन् कृष्णो	१४६
स्वागतं भो सुरा। सवे°	9 6	हाहाकारो महानासीत्	8 8 6
स्वाचारमाचारेतप्राज्ञो	२५६	हितं मेध्यं सुखं चेति	३०३
स्वाध्याय।ध्ययनैदनि।	६२	हिमांशुमण्डलप्रख्यं	३६५
स्वामिनीत्थं विमृष्य स्वे	३७६	हिरण्मयोद्भिन्नपतत्पतत्रि	₹४७
स्वामिनी वामभागस्था	४०५	हिरण्यगर्भ जगदीशितारं	80

श्लोका नुक्रमणिका			५६७
म्लोका।	प्रच्याः	श्लोकाः	विद्या
हिरण्यगर्भं तं प्राहु।	. ও४	हंससारसकारण्ड॰	७६
हिसिता चेनुरवला	१७८	हंसिनी चित्रिणी चित्रा	200
ही रालिद शनज्योतस्ना	४६६	ह्त्वाथ पूतनाप्राणान्	288
हेमकुट्टि मविञ्राजद्	886	हृदयस्थानि तत्वानि	२७१
हेमप्राकारकलितमिदं	808	हृद्यागतिमिति च्यायन	४७३
हेमप्राकारसंवीत	898	ह्यादिनीनिहितरस्नपादुकं	408
हेमप्राकारसंवीत	४१९		५०१

तहत्रशास्त्र-ग्रन्थाः

कपूरस्तवः। महाकालप्रणीतः श्रीमद्क्षिणकालिकावः। पण्डित रंगनाः	4
विविद्याचार विकास्य टीक्या तथा साहित्याचार पण्डित नारावण-	-
णास्त्री स्टिस्ते कत परिमल नामिकया टीकया समन्त्रितः । साहित्याचा	र्य
डा॰ मुधाकर मालवीय कृत 'सौरभ' नामिकया हिन्दी व्यास्वा सहित	: 1
	5≈00
ऋमदीं पिका। केशवभट्टप्रणीत । विद्याविनोद श्रीगोविन्द भट्टाचार्यकृ	<u>ল</u>
विवरण सहित । डा० सुधाकर मालवीयकृत सविमर्ग 'सरला' हिन	दी
•याख्या । श्रीमद्वैष्णवाचार्य श्रीनिवासाचार्यप्रणीत लघुस्तवराजस्तोव	T
बैध्यव पुरुषोत्तमप्रसाद कृत 'गुरुभितिमन्दाकिन्यास्यया' ब्याह	या
सहित । व्या€याकार—डा० स्धाकर मालदोय १	2×-00
तारा-रहस्यम् । 'शिवदत्ती' हिन्दी यास्योपेतम् । (तारापचागतारातन	त्र-
ताराउपासना-तारापूजापद्धति रूपात्मकम् । सम्पादक-पं शिवदत्ति सिध	₹9-00
रुद्रयामलतन्त्रम् । (उत्तरतन्त्रम्) क्लोकानुक्रमणिका सहित । सम्पा०	den d
डा॰ रामकुमार राय (साधारण हृदयामलम् उत्तरतन्त्रम् के के	वर्ष
६२ पटल ही मिलते थे, किन्तु कुछ बंगला पांडुलिपियाँ ऐसी भी मि	ली
हैं जिसमें ६३ पटल तक मिलते हैं। अतः हमने २२वें पटल के बाद ।	市可
में बंगपाठ के पटलों को भी अपने संस्करण में सम्मिलित विया है।	
प्रकार हमारे संस्करण में पटलों की संख्या ६३ हो गई है।) र	60-06
शाक्तदर्शनम् । पिष्डत चक्रेश्वर भट्टाचार्य	£1-00
षट्चऋनिरूपणम् । पूर्णानन्दयतिविरचित । काली वरणकृत 'इलोकार्थ वि	₹-
ब्कारिणी'-शङ्करकृत ंषट्चक्रभेदिटिप्पणी'-विश्वनाथकृत 'षट्चक्र	-
त्रिवृत्ति' संस्कृत-सविम र्श ' प्रह्लाद' हिन्दी ब्याख्या सहित । हिन्दी-ध्य	स्या-
	¥0-00
उड्डी शन न्त्रम् । 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार	
पं शिवदत्त मिश्र शास्त्री	84-00
दत्तात्रेयतन्त्रम् । 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार	
आचार्य पण्डित शिवदत्त मिश्र शास्त्री	82.00
धनदा-यक्षिणी-तन्त्रम् । 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहितम् (सद्यः	
लक्ष्मी-प्राप्ति एवं दारिद्रच-विनाश का सर्वोत्तम गाधन । संस्कर्ता	
सम्पादकश्च आचार्य पं० शिवदत्त मिश्र शास्त्री	₹6-00